स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MASY-04

भारतीय समाज : निरन्तरता एवं परिवर्तन

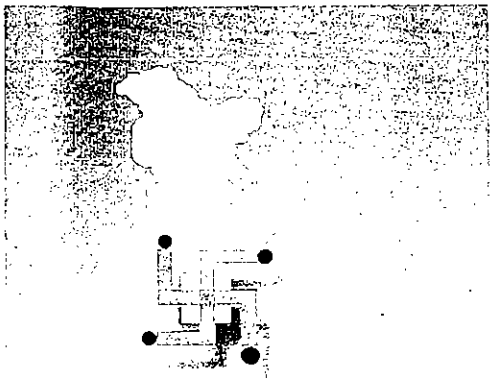
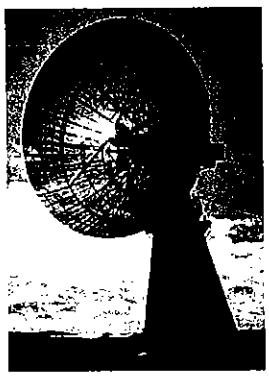
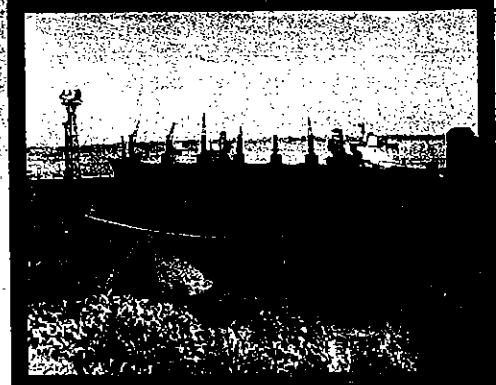

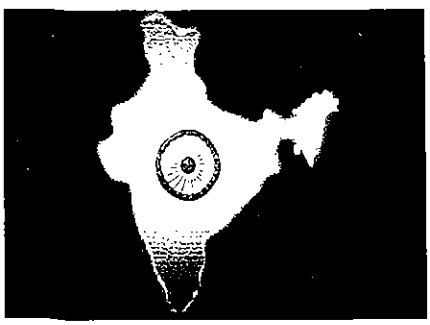
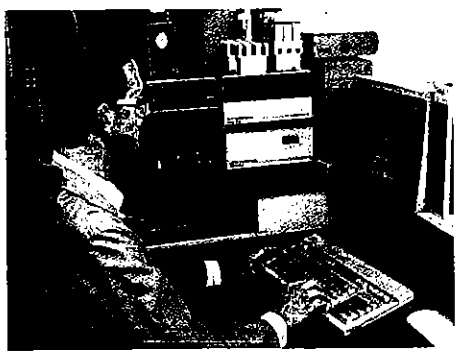
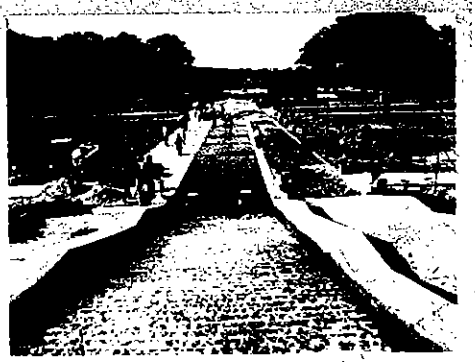

प्रथम खण्ड : हिन्दू समाज के दार्शनिक आधार
द्वितीय खण्ड : विवाह एवं परिवार
तृतीय खण्ड : स्तरीकरण व्यवस्था : वर्ण जाति एवं वर्ग
चतुर्थ खण्ड : इस्लाम एवं ईसाइयत तथा सुधार सम्बन्धी आन्दोलन
पंचम खण्ड : भारतीय समाज में निरन्तरता एवं परिवर्तन

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MASY - 04
भारतीय समाज: निरन्तरता एवं परिवर्तन

खण्ड
1

हिन्दू समाज के दार्शनिक आधार

इकाई 1

धर्म एवं पुरूषार्थ

इकाई 2

वर्णाश्रम व्यवस्था एवं संस्कार

इकाई 3

कर्म एवं पुर्नजन्म का सिद्धान्त

इकाई 4

हिन्दुत्व की मान्यताएं एवं अनेकता में एकता

संदर्भ ग्रन्थ सूची

इकाई 1 धर्म और पुरूषार्थ

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 धर्म एवं रिलीजन में भेद

1.3 धर्म के विभिन्न अर्थ

- 1.3.1 धर्म का धात्वर्थ
- 1.3.2 धर्म और न्यास
- 1.3.3 ऋत एवं धर्म
- 1.3.4 आचार संहिता के रूप में धर्म
- 1.3.5 स्वभाव के अर्थ में धर्म
- 1.3.6 धर्म का शास्त्रोक्त अर्थ
- 1.3.7 निष्कर्ष

1.4 पुरूषार्थ के रूप में धर्म

1.5 धर्म के स्परूप

- 1.5.1 सार्वभौमिक पक्ष
- 1.5.2 विशिष्ट पक्ष

1.6 आपद्धर्म

1.7 स्वधर्म

1.8 पुरूषार्थ

- 1.8.1 पुरूषार्थ की आवश्यकता क्यों?
- 1.8.2 पुरूषार्थ का अर्थ
- 1.8.3 पुरूषार्थ विवेचन
- 1.8.4 चारों पुरूषार्थोंमें कौन सा श्रेष्ठ है?

1.9 सारांश

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची / उपयोगी पुस्तकें

1.11 सम्बन्धित प्रश्न

1.12 प्रश्नोत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

* धर्म के विभिन्न अर्थ तथा धर्म एवं रिलीजन की तुलना कर सकेंगे।
* धर्म के स्वरूप की व्याख्या कर सकेंगे।
* आपद्धर्म का परिचय, कर सकेंगे।
* पुरूषार्थ की आवश्यकता, धारणा और उनकी तुलनात्मक श्रेष्ठता पर टिप्पणी सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

हिन्दुत्व में धर्म एवं पुरूषार्थ के विचार का उदय हिन्दू जीवन को सुगम एवं वैज्ञानिक बनाने तथा लौकिक और पारलौकिक समृद्धि को हस्तगत करने एवं नियंत्रित जीवन बिताने के लिए हुआ। उक्त दोनों धारणाएँ जीवन को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ती हैं। इनमें भौतिकता का नकार भी नहीं है। धर्म द्वारा मानव क्रियाओं का निश्चय एवं उनका मूल्यांकन किया जाता है।

1.2 धर्म और रिलीजन में भेद

प्राय: अंग्रेजी के शब्द रिलीजन का हिन्दी में अनुवाद धर्म के रूप में होना है जिससे संस्कृत के धर्म शब्द के लोग रिलीजन का समानार्थक समझने की भूल करते हैं। वास्तविकता यह है कि धर्म और रिलीजन में मौलिक भेद है। धर्म शब्द हिन्दू परम्परा में दो अर्थों में व्यवहृत हुआ है। प्रथम एक पुरूषार्थ के रूप में और दूसरे, कर्तव्यों के समुच्चय के रूप में। रिलीजन सम्प्रदाय का द्योतक है और इस अर्थ में संकुचित है। रिलीजन शब्द ईसाइयत और इस्लाम के लिए अधिक उपयुक्त है न कि हिन्दुत्व के लिए। धर्म शब्द का अर्थ व्यापक है, यह तो समस्त मानवता के लिए है। रिलीजन का केन्द्र कोई न कोई अलौकिक शक्ति अथवा समाजोपरि शक्ति है। इस शक्ति में विश्वास रिलीजन का मुख्य तत्व है। इस अलौकिक शक्ति की पूजा करने की विधियों का भी रिलीजन में समावेश है। धर्म का संबंध अलौकिक शक्ति से नहीं है। धर्म तो जीवन यापन का तरीका है जो व्यक्ति के जीवन को एक व्यक्ति की हैसियत से और समाज के सदस्य की हैसियत से नियंत्रित करता है।

1.3 धर्म के विभिन्न अर्थ

धर्म शब्द अनेक अर्थों से गुजर चुका है। अनेकार्थी होने के कारण इसमें कुछ अस्पष्टता आ गई है, साथ ही अर्थ में व्यापकता का प्रवेश हो गया है। धर्म का प्रयोग सभी प्रकार की माह्नव क्रियाओं को निश्चित करने तथा उनका मूल्यांकन करने के लिए हुआ है। उचित कर्तव्यों को ही डा0 राधाकृष्णन ने धर्म की संज्ञा दी है। जिमर के अनुसार धर्म समस्त नैतिक क्रियाओं की विधि अथवा दर्पण है। धर्मराज युधिष्ठिर सत्यवादन को ही धर्म बताते हैं। महाभारत में यह वर्णित है कि श्रेष्ठ पुरूष जिस मार्ग का अनुसरण करे वही धर्म है (महाजनों येन गता स पन्था:) ।

1.3.1 धर्म का धात्वर्थ — धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है धारण करना, आश्रय देना, सहारा देना, रोके रहना, गिरने न देना, बिखरने न देना। अत: जिसमें धारण करने की क्षमता हो वह धर्म है (धारयतीति धर्म:)। महाभारत के कर्ण पर्व में धारण करने की क्षमता के कारण ही इसे धर्म कहा गया है। धर्म प्रजा को धारण करता है। जो धारण के साथ संयुक्त है वह निश्चय ही धर्म है (धारणत्धर्म मित्याहु धर्मो धारयते प्रजा:। यत् स्याद्धारण संयुक्त स धर्म इति निश्चय:)।

समाज शास्त्र में धर्म शब्द का प्रयोग समाज को धारण करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। धर्म एक ऐसा तत्व है जो समाज को थामे हुए है और समाज को बनाये रखने में सहायक है। **समाज धर्म से पोषित होता है, फलता-फूलता है।** अधर्म समाज को नष्ट करता है, उसे विकार ग्रस्त बनाता है। इस प्रकार धर्म एक सद्गुण है और समाज का सहारा है।

1.3.2 धर्म और न्याय— न्याय का विधान धर्म के हाथ में है। धर्म भी औचित्य पर बल देता है और न्याय में भी औचित्य पर जोर है। इस प्रकार धर्म का प्रत्यय न्याय के समकक्ष है। धर्म में मनुष्यों को पुरस्कृत करने एवं दण्ड देने की योग्यता है। इस अर्थ में धर्म को न्यायाधीश या दण्डाधिकारी माना जा सकता है।

1.3.3 ऋतु एवं धर्म — धर्म को वैदिक 'ऋतु' की धारणा के समकक्ष माना गया है। ऋत संसार की उचित व्यवस्था के अर्थ का संकेतक है। ऋत वस्तुओं के सत्य का सूचक है। डा0 राधाकृष्णन 'द हिन्दू व्यू आव् लाइफ' में लिखते हैं कि धर्म वस्तुओं के सत्य के समरूप है। अधम्र उसका उल्टा है। नैतिक अनिष्ट सत्य के समरूप नहीं है। कीथ ने ऋत को ब्रह्माण्ड की व्यवस्था कहकर पुकारा है और वह अनृत के विरूद्ध नैतिक अवस्था का सूचक भी है। ऋत एक विश्वशक्ति है और ईश्वर भी उसके नियमों के अधीन है। **पी0 वी0 कर्ण का कहना है कि वैदिक ऋत की धारणा काफी उच्च और श्रेष्ठ है और बाद के धर्म सिद्धान्त का यह बीज है।**

1.3.4 आचार संहिता के रूप में धर्म— धर्म का प्रत्यय काफी व्यापक है और यह मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करता है। पी0 वी0 कर्ण ने धर्म को एक ऐसे जीवन ढंग अथवा आचार संहिता के रूप में समझा जिसने एक मनुष्य के कर्म और क्रियाओं को समाज के एक सदस्य के रूप में और एक व्यक्ति के रूप में नियंत्रित किया जिसका उद्देश्य व्यक्ति को धीरे धीरे विकसित करना तथा इस लायक बना देना था कि वह अपने जीवन के चरम उद्देश्य को प्राप्त कर ले।

1.3.5 स्वभाव के अर्थ में धर्म — धर्म शब्द किसी वस्तु के आन्तरिक गुण अथवा स्वभाव का भी सूचक रहा है। उदाहरणार्थ आग का धर्म जलाना है,, सांप का धर्म काटना है, साधु का धर्म क्षमा करना है, रस्सी का धर्म बांधना है, नदी का धर्म बहना है, तालाब का धर्म शान्त रहना है, उक्त उदाहरणों में धर्म शब्द मौलिक गुण अथवा स्वभाव का परिचायक है।

1.3.6 धर्म का शास्त्रोक्त — कुछ शास्त्रकारों ने भी धर्म के अर्थ को खोलने का प्रयास किया है। पूर्व मीमांसा में जैमिनि कहते हैं कि धर्म वह है जिसमें प्रेरणा देने का लक्षण पाया जाता है। (चोदनालक्षणार्थो धर्म:) । वैशेषिक सूत्र के मत से 'धर्म वह है जिससे अभ्युदय और नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है।' (यतोभ्युदयनि:श्रेयस सिद्धि: स धर्म:)। अभ्युदय का

मतलब लौकिक सुख, समृद्धि से है। नि:श्रेयस का अर्थ पारलौकिक उपलब्धियों से है। अत: धर्म वह है जिससे इस लोक और परलोक दोनों जगह सुख प्राप्त होता है। कल्याण के हिन्दुसंस्कृति अंक में सुख और आनन्द का मूल धर्म को बताया गया है (धर्मे सुखमासीत)।

1.3.7 **निष्कर्ष** — धर्म के उक्त अर्थ इस बात के प्रमाण है कि धर्म अनेक संक्रमण कालों से गुजरा है और अनेक भिन्नताओं के बावजूद भी धर्म का इस्तेमाल सब कहीं सुदृढ़ सामाजिक संगठन के लिये अनिवार्य कर्तव्यों और दायित्वों के अर्थ में किया गया है। यांत्रिक नियमों की भाँति धर्म की धारणा कोई स्थिर सिद्धान्त नहीं है अपितु एक गतिशील विचार है।

1.4 पुरूषार्थ के रूप में धर्म

चार पुरूषार्थों में धर्म का स्थान मिला है। मानव जीवन काल में अर्थ एवं काम का सेवन करना चाहता है। कहीं वह अर्थ एवं काम के अनुचित सेवन में न लग जाय इसलिए पुरूषार्थों में धर्म का विधान करके मनुष्य की इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने की व्यवस्था कर दी गई। धर्म की परिधि में रहते हुए अर्थ एवं काम का भोग स्वीकृत है। धनार्जन एवं काम सुख धर्म के नियमों के अनुकूल होना चाहिए। उदाहरण के लिए बैंक लूटकर, चेन खींच कर, अथवा फिरौती द्वारा धन कमाना धर्म विरूद्ध एवं अनुचित है। उचित साधनों से धन कमाने की छूट धर्म के अन्तर्गत है। स्वदारा में संतोष धर्म विहित है। **पर दार रत होना धर्म विरूद्ध है। इस प्रकार पुरूषार्थ के रूप में धर्म नैतिक नियमों की व्यवस्था है।** नैतिक नियम सदाचार पर बल देते हैं। ये नैतिक नियम व्यक्ति को नियंत्रित कर सामाजिक संतुलन को बनाये रखते हैं। धर्म एक नियमन करने की भी शक्ति है। इस अर्थ में धर्म की भूमिका सारथी अथवा चरवाहे जैसी है। सारथी के रूप में धर्म की भूमिका रथ में जुते काम रूपी अश्वों को उस दिशा में हाँकना जिससे अर्थरूपी रथ में बैठे मनुष्य को उसके अभीष्ट मोक्ष की गति प्राप्त हो जाय। चरवाहा (सेफर्ड) जानवरों को रखाने का काम करता है, उन्हें लहलहाते हरे भरे खेतों की ओर आकृष्ट होने से रोकता है। मनुष्यों के लिए सुरा, सुन्दरी और संगीत लहलहाते हरे भरे खेतों के समान हैं। यदि मनुष्य इनमें फँस जाता है तो वह अपना मार्ग भूल सकता है। इसके अलावा राजनैतिक और आर्थिक लोभ आधुनिक सांसारिक हरियालियाँ हैं। इनसे बचना है नहीं तो जीवन यात्रा अधूरी रह जायेगी (सब मुसाफिर यहाँ, सब सफर पर यहाँ, ठहरने की इजाजत किसी को नहीं)। यह धर्म रूपी चरवाहा मनुष्य रूपी पशु का मार्ग दर्शक (गाइड) है। महाभारत में वेदव्यास ने शायद इसीलिए धर्म को सभी पुरूषार्थों में श्रेष्ठ माना है। स्वर्गारोहण पर्व मेंडु कहद्दा गया है कि जब धर्म से ही अर्थ और काम प्राप्त होते हैं तो धर्म का सेवन क्यों न किया जाय अर्थात धर्म का सेवन अवश्य किया जाय।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्माद् अर्थश्च कामश्च स कितर्थं न सेव्यते ।

धर्म हमें बताता है कि अर्थ और काम साध्य न होकर साधन मात्र है। वह जीवन जो अर्थ एवं काम की अमर्यादित तुष्टि पर बल देता है अवांछनीय एवं खतरनाक है। अत: यह आवश्यक है कि जीवन मोक्ष प्राप्ति के आदर्श द्वारा अनुशासित एवं नियंत्रित हो और इसी कार्य के लिए धर्म की आवश्यकता बताई गई है।

1.5 धर्म के स्वरूप

कर्तव्यों के समुच्चय के रूप में धर्म शब्द के दो पक्ष हैं (1) सार्वभौमिक पक्ष और (2) विशिष्ट पक्ष।

1.5.1 सार्वभौमिक पक्ष —कुछ धर्म मानव मात्र के लिए हैं। मनुष्य होने के नाते कुछ कर्म ऐसे हैं जो सभी देशों एवं कालों के मनुष्यों को करने पड़ते हैं। जाति, अवस्था, लिंग, प्रजाति, धर्म, भाषा आदि का असर इन सामान्य धर्मों पर नहीं पड़ता है। ये धर्म उक्त तत्वों पर निर्भर नहीं करते हैं। दुनिया में कहीं भी रह रहे मनुष्यों के लिए इनका विधान है। इसीलिए ये सार्वधर्म कहे जाते हैं। सामान्य धर्म और मानव धर्म के नाम से भी इन्हें जाना जाता है। मानव धर्म के नाम से साधारण एवं शाश्वत नियमों की रचना की गई थी इसके पीछे धारणा यह है कि देश, काल गुण और भ्रम के भेद होने पर भी मानव जीवन सर्वत्र समान हैं जिसके कारण कुछ आधारभूत नियमों एवं सिद्धान्तों से बंधा है। यही सर्वव्यापी आधारभूत नियम और सिद्धान्त मानव जीवन का निचोड़ है। और मानव के सुखी जीवन के आधार हैं। महाभारत, मनुस्मृति एवं योग सूत्र (पतंजलि द्वारा रचित) में इन सर्वव्यापी धर्मों का उल्लेख मिलता है। महाभारत के शान्ति पर्व में उल्लेख है कि सनातन धर्म यही है कि मनुष्य काल सच बोले, दान दे, तप करे, पवित्र हो, संतोषी हो, लोकलज्जा युक्त हो, क्षमाशील हो, उसके व्यवहार में सरलता हो, वह ज्ञानपूर्वक कार्य करे, उसमें शान्ति हो दया हो और ध्यान एकाग्र करने की प्रवृत्ति हो।

(अक्रोध: सत्यवचनं संविभाग: क्षमा तथा। प्रजन: स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव
च आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्व वर्णिका: । शान्ति पर्व 60.7-8)

मनुस्मृति में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय निग्रह सभी वर्णों के धर्म बताये गये हैं। इसके अलावा मनुस्मृति (6/92) में धर्म के दस लक्षणों (नियमों) की चर्चा है। इनके पालन में समाज व्यवस्थित रहता है और लौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती है। ये दस लक्षण इस प्रकार हैं- धैर्य, क्षमा, दम (संयम), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (आभ्यन्तर एवं बाह्य शुद्धि अर्थात् सब प्रकार की शुद्धि), इन्द्रिय निग्रह (इन्द्रियों पर नियंत्रण), धी (बुद्धि द्वारा विचार करके कामों को करना, विद्या (सब प्रकार के ज्ञान विशेषकर आत्म ज्ञान की प्राप्ति का प्रयास करना), सत्यवादन, अक्रोध (जहाँ क्रोध करने का अवसर हो वहाँ भी क्रोध न करना (धृतिक्ष क्षमा दमोडस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रह: । धोर्विद्या सत्यम क्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्। अपने योग सूत्र में पतंजलि ने पाँच यम और पाँच नियमों (धर्म के नियमों) के पालन पर जोर दिया है। पाँच नियम - शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश प्राणिधान (ईश्वर में विश्वास और उस पर भरोसा)।

ऊपर कहे गये धर्म के नियम सब मनुष्यों के लिए हैं। अत: इन्हें मानवधर्म अथवा सामान्य धर्म कहना अधिक अच्छा होगा।

1.5.2 विशिष्ट पक्ष— कुछ धर्म ऐसे हैं जिनका पालन सभी को नहीं करना है, केवल वे ही उनका पालन करेंगे जो विशेष रूप से उनसे संबंधित हैं। उदाहरण के लिए विद्यालय के प्राचार्य पद पर आसीन व्यक्ति ही प्राचार्यत्व के धर्म का निर्वाह करेगा न कि उस विद्यालय का अध्यापक, लिपिक अथवा चतुर्थश्रेणी कर्मचारी। समाज में अपने विशिष्ट पद के अनुकूल कर्तव्यों के पालन को विशिष्ट धर्म कहा गया है। एक व्यक्ति समाज में अनेक पदों को धारण किये हुए हैं। इन सभी पदों के योग को स्थिति संकुल नाम समाज शास्त्र में दिया गया है। अत: स्थिति संकुल से जुड़े करणीय कार्यों को विशिष्ट धर्म कहा गया है। वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, स्त्री धर्म, मित्र धर्म, राजधर्म और अपद्धर्म आदि विशिष्ट धर्म की श्रेणी में आते हैं। वर्णधर्म और आश्रम धर्म की विवेचना इस खण्ड को अगली इकाई में प्रस्तावित है।

(1) स्त्री धर्म —स्त्री धर्म के दो भाग किये जा सकते हैं— सधवा स्त्री के धर्म और विधवा स्त्री के धर्म। पति सेवा और पति-भक्ति सधवा स्त्री के धर्म हैं। अधिकांश धर्मशास्त्र विधवा स्त्री को दूसरा विवाह करने की आज्ञा देते हैं। इच्छा हो तो दूसरा विवाह करे, अन्यथा ब्रह्मचर्य से रहकर वैधव्य के नियमों का पालन करे। ब्रह्मचारिणी विधवा के जीवन के यम और नियम वैसे ही हैं जैसे अन्य नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के होते हैं (पाराशरस्मृति 4/31) । ब्रह्मचारिणी विधवा सभी प्रकार के भोग विलासों से दूर रहे और तपस्या का जीवन जिये।

(2) मित्र धर्म— आवश्यकता पड़ने पर काम आये वही सच्चा मित्र है। मित्र धर्म का निर्वाह करने के लिए मित्र व्यक्ति अपने मित्र के दु:ख से दु:खी हो और उसके सुख से सुखी है। अपने मित्र के दु:ख -सुख में भागीदार होना मित्रधर्म है। गोस्वामी जी मित्र धर्म पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं (जे न मित्र दु:ख हो हिं दुखारी। तिनहि बिलोकत पातक भारी') । वह मित्र जो अपने मित्र को उसके सामने तारीफ करता है और पीठ पीछे बुराई करता है वह अच्छा और सच्चा मित्र नहीं है। ऐसे मित्र का साथ तुरंत छोड़ देना चाहिए। मित्र के लिए जीने मरने वाला साथी सच्चा मित्र कहलाता है।

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत ताहशं मित्रं विषकुम्भंपयोमुखम् ॥

(3) राजधर्म— राजा के कर्तव्य प्रजा (सामान्यजनों) से भिन्न होते हैं। मनुष्य के विचार से राजा का यह पहला कर्तव्य है कि वह देखे कि प्रजा अपने धर्म का पालन कर रही है या नहीं। सत्यमित्र दुबे ने अपनी पुस्तक 'मनु की समाज व्यवस्था' मे राजा के दो प्रकार के कर्तव्यों का बखान किया है।

(1) धर्म संस्थापनार्थ दण्ड का प्रयोग और

(2) दण्ड प्रयोग की सामर्थ्य, क्षमता तथा योग्यता रखना।

प्रजा के समुचित पोषण की व्यवस्था करना, उसके हितों की रक्षा करना, उसके कल्याण के निमित्त कार्य करना - जैसे कुँआ खेदवाना, बाग लगवाना, सड़कों के किनारे छायादार वृक्ष लगवाना, ठहरने के लिए धर्मशाला बनवाना, पाठशाला बनवाना आदि, उद्देश्य सिद्धि के लिए कुटिल नीति का सहारा लेना आदि राजधर्म है।

1.6 आपद्धर्म

यह धर्म हिन्दुओं की परम उदारता और लौकिक जीवन में निष्ठा का परिचायक है। यह धर्म पाश्चात्य विचारकों के इस चिंतन को आघात पहुँचाता है कि हिन्दुओं में जीवन रक्षण (लाइफ अफिर्मिंग) की नीति नहीं है बल्कि जीवन त्याग (नकार - लाइफ डिनाइंग) का दृष्टिकोण मुख्य है। जीवन रक्षा में गहरी दिलचस्पी दिखाने के लिए ही इस आपद्धर्म की व्यवस्था हिन्दू समाज में की गई है। यहाँ जीवन रक्षा को धर्म रक्षा से भी श्रेष्ठ स्थान दिया गया है क्योंकि जब जीवन ही नहीं होगा तो धर्म पालन कैसे होगा। मनु कहते हैं कि यदि भूख से प्राण निकलने की स्थिति हो तो मांस खा लेना भी वर्जित नहीं है। आपद्धर्म से तात्पर्य ऐसे धम्र से है जो मुसीबत या अपत्तिकाल के लिए हो । उदाहरण के लिए जीवों को न मारना (अहिंसा) एक सामान्य धर्म है पर नरभक्षी बाघ को मारना हिंसा नहीं है, प्लेग फैल रहा हो तो चूहों को मारना अधर्म नहीं है। आपद्धर्म अल्पकालिक होते हैं। मनु का कथन है कि 'आपत्तिकाल में प्रयोग करते हैं वे परलोक में उसका फल नहीं पाते।

1.7 स्वधर्म

धर्म पालन को लेकर कोई विभ्रम न हो इसलिए स्वधर्म की धारणा का विकास किया गया। समाज के निर्विध्न चलते रहने एवं व्यवस्थित रहने के लिए स्वधर्म का पालन ही आवश्यक है। सभी लोग अपने अपने धर्म का पालन करें। वें दूसरे के धर्म-पालन से दूर रहें। अंपने धर्म पालन में कमी रह जाती है तो भी अच्छा है। पर दूसरे के धर्म का पालन स्वयं धर्म पालक और समाज के हित में नहीं है। स्वधर्म पालन की महत्ता और दूसरे धर्म पालन से उत्पन्न विपत्ति (खतरे) की व्याख्या और समझने के लिए एक छोटी सी कहानी प्रस्तुत है। एक धोबी थ। उसके पास एक कुत्ता था और एक गधा। धोबी के कुत्ते के बारे में यह कहावत जग जाहिर है कि 'धोबी का कुत्ता, न घर का, न घाट का'। धोबी कुत्ते की देखरेख एवं उसका पालन पोषण ठीक से नहीं कर रहा था। कुत्ता अप्रसन्न था। एक रात धोबी के घर चोर घुसा। कुत्ता अप्रसन्न होने के कारण नहीं भौंका। गधे ने कहा कुत्ते से कि भौंक कर स्वामी को जगा दो। कुत्ते ने उसका कहना नहीं माना। इस पर गधे ने ढीं पों, ढीं पों चिल्लाना शुरू किया। धोबी की निद्रा टूट गयी। वह डंडा लेकर उठा और गुस्से से गधे को मार डाला। गधे ने कुत्ते के धर्म का पालन किया जो उसका धर्म नहीं था। इसलिए दुर्गति को प्राप्त हुआ। गीता कहती है कि 'स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:'। अत: हिन्दू समाज में स्वधर्म पालन पर जोर है और यह एक अच्छी बात है।

1.8 पुरूषार्थ

पुरूषार्थ एक नैतिक व्यवस्था है जो व्यक्ति को समाज एवं समाजेत्तर आयाम से जोड़ती है। चारों पुरूषार्थों की पूर्ति द्वारा मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष की पूर्ति होती है। उसका सर्वांगीण विकास होता है।

1.8.1 पुरूषार्थ की आवश्यकता क्यों? — उपनिषद का कथन है कि "संसार को पूजने वाला अंधकार में हैं लेकिन उससे भी अधिक अंधकार में वे हैं जो केवल ब्रह्म को पूजते हैं, जो दोनों को पूजता है वह अमरत्व को प्राप्त होता है'। पुरूषार्थ सिद्धान्त मनुष्य को संसार और ब्रह्म दोनों से जोड़ता है। अत: सांसारिक कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए मोक्ष प्राप्त करने हेतु इस सिद्धान्त की हिन्दू मनीषियों द्वारा रचना की गई।

1.8.2 पुरूषार्थ का अर्थ — मनुष्य इस दुनिया में और परलोक में जो कुछ पाना चाहता है उस सबकी अभिव्यक्ति ही पुरूषार्थ है। यह मनुष्य के प्रयोजन एवं उसके प्राप्य का द्योतक है। पुरूषार्थ मनुष्य के उद्देश्य अथवा लक्ष्य का विषय है। यह वह मुख्य प्रयोजन है जिसकी प्राप्ति या सिद्धि के लिए प्रयत्न करना मनुष्य के लिए आवश्यक एवं कर्तव्य हो। पुरूषार्थ संख्या में चार हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। पुरूषार्थ के अन्तर्गत उन सभी क्रियाओं का समावेश है जो इस जीवन को सुखमय, समृद्ध एवं सार्थक बनाती है। पुरूषार्थ में तात्कालिक और चरम उद्देश्यों को स्थान प्राप्त है। पुरूषार्थ मानव जीवन को संतुलित स्वरूप प्रदान करते हैं। उसकी ऐच्छिक एवं पारलौकिक इच्छाओं को पूरा करने के लिए पुरूषार्थ के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया गया। पुरूषार्थ का एक अर्थ उद्यम अथवा प्रयत्न है। इस प्रयत्न या परिश्रम को करने वाला पुरूषार्थी (उद्यमी) कहा जाता है। पुरूषार्थ का सिद्धान्त **'काम करो'** है। निरूद्यम दु:ख का कारण बनता है। निरूद्यम से दूर रहने या बचने की सलाह पुरूषार्थ के माध्यम से मनुष्य को दी गई है। 'बनता बस उद्यम ही विधि है' यह पुरूषार्थ का मुख्य तत्व है। परवर्ती पौराणिकों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने को पुरूषार्थ कहा है। अत: पुरूषार्थ अपने सभी अर्थों में मानव जीवन को सफल एवं सार्थक बनाने का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। पुरूषार्थ लौकिक और पारलौकिक जीवन का आधार है।

1.8.3 पुरूषार्थ विवेचन — 'त्रिवर्ग' की धारणा का विकास मनु द्वारा किया गया है जिसमें तीन पुरूषार्थ - धर्म, अर्थ एवं काम- सम्मिलित है। चौथा पुरूषार्थ मोक्ष है। यह चरम पुरूषार्थ है, मूल्यों का मूल्य है।

(1) धर्म — पुरूषार्थ के रूप में धर्म की व्याख्या इसी इकाई में हम कर चुके हैं। धर्म एक नियंत्रक शक्ति है। इसे एक डंडा या चाबुक कह सकते हैं। जो मानव रूपी पशु की पाशविक प्रवृत्तियों पर अंकुश इसलिए लगाता है कि कहीं वह अर्थ एवं काम के सेवन में अनैतिक एवं अनुचित साधनों का प्रयोग कर पथभ्रष्ट न हो जाय। धर्म मनुष्य को अपने न्यायोचित पथ पर चलते रहने के लिए बाध्य करता है। दुर्खीम ने बाध्यता को सामाजिक तथ्या का एक विशेषता बताया है। अत: धर्म एक सामाजिक तथ्य है अथवा नैतिक नियमों का ठेकेदार। नैतिकता

एवं न्याय की रक्षा के लिए धर्म का विधान है। अनैतिकता उसी प्रकार से धर्म से घबराती एवं भयभीत रहती है जैसे मोर पक्षी से सांप। जहाँ मोर होते हैं वहाँ या तो सांप रहते नहीं हैं और रहते भी हैं तो दबे दबे और सहमे सहमे । अनैतिकता नैतिकता के सामने सर उठाने का साहस नहीं करती। धर्म वह लक्ष्मण रेखा है जिसके बाहर जाने से जीवन रूपी सीता का अधर्म द्वारा अपहरण हो जाने की सम्भावना है। अत: अर्थ एवं काम की पूर्ति करते समय मनुष्य को धर्म की परिधि में रहने के लिए कहा गया है। इसी अर्थ में धर्म मानव जीवन का अनुशासक एवं नियंत्रक है और इसी अर्थ में उसकी उपमा चरवाहे अथवा सारथी से दी जाती है। संक्षेप में, **धर्म नैतिक नियमों की एक व्यवस्था है।**

धर्म का कार्य मनुष्य की संग्रह वृत्ति और भावनात्मक अभिलाषाओं को दिशा प्रदान करना है। धर्म का यह मार्ग दर्शन जीवन के आनन्द एवं मोक्ष में ताल मेल स्थापित करता है। सांसारिक हितों एवं आध्यात्मिक स्वतंत्रता में संगति बैठाना (लाना) धर्म द्वारा विहित अनुशासन से ही संभव है।

(2) अर्थ — अर्थ से तात्पर्य मनुष्य के आर्थिक और राजनैतिक जीवन, शक्ति और सम्पत्ति की इच्छा से है। अपने अर्थशास्त्र के विवेचन में पीगू अर्थशास्त्र को धन का शास्त्र बताते हैं। **धन सब कुछ नहीं है पर कुछ अवश्य है।** मानव इच्छाओं की पूर्ति के लिए (भोजन, कपड़ा एवं मकान के लिए) धन आवश्यक हैं। शिक्षा एवं सुख सुविधाओं की प्राप्ति के लिए धन का सहारा लेना पड़ता है। उद्योग, व्यापार तथा उत्पादन के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार धन के अन्तर्गत उन आर्थिक एवं अनार्थिक क्रियाओं को सम्मिलित किया गया है जिनमें धन की आवश्यकता पड़ती है। अर्थ द्वारा सांसारिक समृद्धि को हस्तगत किया जा सकता है । सांसारिक समृद्धि **धन और शक्ति** से संभव है। कपाडिया ने अर्थ को संग्रही वृत्ति के रूप में अर्थ को परिभाषित किया है। अत: मानवीय आवश्यकताएं और उनकी पूर्ति के साधनों का संगठन पुरूषार्थ का अर्थ पक्ष है।

(3) काम — काम के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक इच्छाएं और प्रवृत्तियां सम्मिलित हैं। संकुचित अर्थ में काम का अर्थ यौन इच्छाओं की पूर्ति है। विस्तृत अर्थ में काम से आशय मनुष्य में विद्यमान उन सभी इच्छाओं से है जिनका संबंध इन्द्रियों की संतुष्टि एवं सुख से है। काम का संबंध भावनात्मक और सौन्दर्यात्मक जीवन से भी है। शुद्ध यौन कामना के रूप में काम की अभिव्यक्ति उसकी निम्न स्तर पर अभिव्यक्ति है। कुछ भी हो यह ध्रुव सत्य है कि काम की निम्न स्तर पर पूर्ति के बिना मानव प्रजाति एवं समाज के सातत्य को बनाये रखना कठिन ही नहीं असम्भव है। यही कारण है कि इस काम की संतुष्टि कोधर्म द्वारा नियमित कर दिया गया है ताकि अनाचार, दुराचार और कदाचार को रोका जा सके।

(4) मोक्ष — इकाई 4 में हिन्दुत्व की मान्यताओं का बखान करते समय मोक्ष या मुक्ति के विषय में बताया जा चुका है। मोक्ष वह दशा है जब जीव ब्रह्ममय हो जाता है अथवा ब्रह्म से उसका एकाकार हो जाता है। वह जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। इसका अर्थ है बन्धन मुक्त। सासारिक बन्धनों से बंधकर मनुष्य ईश्वर में विलीन नहीं हो सकता। ईश्वर में विलीन होना ही मोक्ष है। मुक्ति निर्वाण, कैवल्य, परमपद और आश्यात्मिक स्वतंत्रता इसके पर्यायवाची शब्द हैं। मोक्ष से ही मनुष्य शाश्वत आनन्त को प्राप्त कर सकता है। लौकिक आनन्द इस

शाश्वत आनन्द के कण है। याद रहे सम्पूर्ण आनन्द की अनुभूति शाश्वत आनन्द में निहित है।

1.8.4 चारों पुरूषार्थों में कौन सा श्रेष्ठ है? — श्रेष्ठता एवं महत्ता प्रदिपादित करने के लिए उपयोगिता - अनुपयोगिता को कसौटी माना जा सकता है। यह सच है कि उपयोगिता और अनुपयोगिता का विचार अलग-अलग व्यक्तियों में अलग हो सकता है जैसे कामी को स्त्री प्रिय होती है और प्रेम प्रसंग को ही उसके लिए उपयोगिता है, वहीं लोभी को दाम (धन) से प्यार होता है और दाम ही उसके लिए सर्वस्व हो सकता है। इसके भगवान के प्रेमी के लिए भगवान ही सर्वस्व है। यहाँ व्यक्ति के हिसाब से उपयोगिता और अनुपयोगिता के निर्धारण से काम नहीं बनेगा। भारतीय समाज एवं हिन्दू चिंतन में जो उपयोगी है वही महत्वपूर्ण हैं। चारों पुरूषार्थों में वही सबसे श्रेष्ठ है जिसमें कतियाँ न हो और जो असीमित हो।

काम और अर्थ तो मूल्यवान नहीं हो सकते हैं क्योंकि इनमें सीमितता और कमियों के दोष हैं। चारों पुरूषार्थों की श्रेष्ठता पर अलग-अलग विचार करके हम इसका निर्णय करेंगे कि चारों में कौन श्रेष्ठ है?

(1) क्या काम मूल्यवान है? — चार्वाक दर्शन एवं कामी व्यक्ति की दृष्टि से काम मूल्यवान हो सकता है पर काम दु:ख का कारण बनता है इसलिए मूल्यवान नहीं है। मनुष्य अपनी अनन्त इच्छाओं की पूर्ति न कर पाने से दु:खी होता है, निराशा एवं अधान्ति का शिकार हो जाता है। जिससे जीवन अशान्त हो जाये उसे मूलयवान मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। दु:ख निराशा एवं अशान्ति के अलावा भी कारण है जो काम को परम पुरूषार्थ का दर्जा देने से रोकते हैं। भोग भोगने से भोगने की क्षमता का क्षय होता है यह अर्थशास्त्र का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है। विषय भोगों से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं जैसे एड्स जैसा भयानक एवं प्राण लेवा रोग। विषय-सुख टिकाऊ न होकर क्षणिक होता है। अति कामी पुरूष का उत्तरार्ध जीवन दु:खमय होता है। अत: काम को परम पद का दर्जा नहीं दिया जा सकता।

(2) क्या अर्थ मूल्यवान है? — नहीं, इसमें भी अनेकानेक कमियाँ हैं। यह सच है कि भौतिकवादी व्यक्ति को अर्थ की महत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है। पैसा से ही पेट पालन होता है। पर ध्यान रहे कि पैसा का एक सीमा तक महत्व है उसके बाद नहीं। 'साईं उतना दीजिए जामे कुटुम समाय। न मैं भूखा मरूँ, न कोइ भूखा जाय' यह उक्ति धन प्राप्ति के विषय में सटीक लगती है। अधिक पैसा नाना प्रकार के जंजालों में फँसता है। सुख-चैन और नींद हराम करता है। धन संचय करके उसका भोग न कर पाये तो ऐसा धन व्यर्थ है। भर्तृहरि कहते हैं कि धन की तीन गतियाँ होती हैं। दान, भोग और नाश। धन आने पर धन का भोग करना चाहिए। भोग से बचे धन को दान कर देना चाहिए। जो ऐसा नहीं करते हैं उनके धन की तीसरी गति (अर्थात नाश) अपने आप हो जाती है। धन होने पर चोर, डाकुओं, लुटेरों और फिरौती मांगने वालों का भय सदा बना रहता है जो भय और चिंता का कारण हो उसे मूल्यवान कैसे माना जा सकता है?

(3) **क्या धर्म मूल्यवान है?** — हम सबके बनें और सब हमारे हों, हम सबकी सहायता करें और दूसरों की इच्छाओं को भी पूरा होने दें। ऐसा तभी होगा जब मनुष्य कुछ नियमों पर चलेगा। **धर्म इन नियमों का ही नाम है**। धर्म के विषय में इसी इकाई में हम बता चुके हैं कि इससे इस लोक में और पर लोक में सुख मिलता है। इस दृष्टि से तो धम्र सर्वश्रेष्ठ मूल्य ठहरता है। इस पर भी धर्म एक साधन है न कि साध्य।

(4) **क्या मोक्ष मूल्यवान है?** — चक्रवर्ती सम्राट और साधारण सम्राट में कौन श्रेष्ठ है? यह बताना सरल है। चक्रवर्ती सम्राट बड़ा है क्योंकि वह सम्राटों का सम्राट है। इसी तरह धर्म और मोक्ष में मोक्ष श्रेष्ठ है क्योंकि धर्म एक मूलय है जब कि मोक्ष मूल्यों का मूल्य है। भारतीय चिंतन के अनुसार मनुष्य अजर अमर होना चाहता है। संसार उसका वास्तविक निवास स्थान नहीं है बल्कि उसका वास्तविक निवास स्थान ईश्वर है। शाश्वत आनन्द और शाश्वत शान्ति मोक्ष द्वारा ही संभव है और यह अपने से उच्चतर किसी साध्य का साधन नहीं है। अत: मोक्ष सर्वश्रेष्ठ पुरूषार्थ है।

निष्कर्ष:

याद रहे मोक्षार्थी पुरूष के लिए मोक्ष सर्वोच्च मूल्य है पर बुभुक्ष के लिए धर्म सर्वोच्च मूल्य है। धर्म अर्थ और काम इन तीनों में धर्म सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि धर्मानुकूल चलने से कल्याण होता है।

1.9 सारांश

इस इकाई में सबसे पहले धर्म एवं रिलीजन में भेद बताया गया है। फिर धर्म के विभिन्न अर्थों पर तथा इसके बाद धर्म के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसके बाद आपद्धर्म एवं स्वधर्म की चर्चा हुई। इसके बाद पुरूषार्थ सिद्धान्त की आवश्यकता, पुरूषार्थ के अर्थ एवं महत्व का विवेचन हुआ है।

1.10 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. श्रीवास्तव, हरिशचन्द्र, भारतीय समाज संरचना, 1970, समाजशास्त्र प्रकाशन वाराणसी
2. कणे पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, वाल्यूम दो, भाग दो
3. प्रभु पी. एच., हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन
4. दुबे, सत्यमित्र, मनु की समाज व्यवस्था
5. भट्ट, गौरीशंकर, भारतीय संस्कृति
6. आत्रेय, भीखन लाल, भारतीय नीति शास्त्र का इतिहास
7. महाभारत (कर्ण पर्व एवं अनुशासन पर्व)
8. मनुस्मृति
9. पाराशर स्मृति

1.11 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय –

1. धर्म सिद्धान्त की आवश्यकता क्यों हुई? समझाइये।
2. धर्म के धात्वर्थ पर प्रकाश डालिए।
3. पुरूषार्थ के रूप में धर्म की महिमा की विवेचना कीजिए।
4. सामान्य धर्म की धारणा स्पष्ट कीजिए।
5. अर्थ क्यों एक सर्वश्रेष्ठ पुरूषार्थ नहीं है? समझाइये।

दीर्घ उत्तरीय –

1. धर्म के विभिन्न अर्थों को सविस्तार स्पष्ट कीजिए?
2. चारों में कौन पुरूषार्थ सर्वश्रेष्ठ है और क्यों?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न –

1. त्रिवर्ग में कौन सा पुरूषार्थ सम्मिलित नहीं है।

   (अ) धर्म (ब) अर्थ (स) काम (द) मोक्ष

2. शृष्टि को धारण करने के अर्थ में किसका प्रयोग हुआ है?

   (अ) धर्म (ब) अर्थ (स) आपद्धर्म (द) मोक्ष

1.12 प्रश्नोत्तर

1. द
2. अ

इकाई 2 वर्णाश्रम व्यवस्था एवं संस्कार

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 वर्णाश्रमधर्म

2.3 वर्ण व्यवस्था का अर्थ

2.4 वर्णधर्म

- 2.4.1 ब्राह्मण धर्म
- 2.4.2 क्षत्रिय धर्म
- 2.4.3 वैश्य धर्म
- 2.4.4 शूद्रधर्म

2.5 वर्ण प्रदान करने का आधार

2.6 वर्णव्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व

2.7 आश्रम व्यवस्था

2.8 आश्रम के प्रकार

2.9 गृहस्थ आश्रम

2.10 वानप्रस्थ आश्रम

2.11 संन्यास आश्रम

2.12 संस्कार

- 2.12.1 संस्कार का अर्थ
- 2.12.2 संस्कारों की संख्या
- 2.12.3 प्राग जन्म संस्कार
- 2.12.4 बाल्यावस्था के संस्कार
- 2.12.5 यौवन कालीन संस्कार
- 2.12.6 विवाह

2.13 सारांश

2.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.15 संबंधित प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप —

* वर्णाश्रद्द धर्म की परिभाषा को स्पष्ट कर सकेंगे।
* वर्णाश्रम के समाजशास्त्रीय महत्व की व्याख्या कर सकेंगे।
* आश्रम के प्रकार स्पष्ट कर सकेंगे।
* संस्कार का अर्थ और विभिन्न संस्कारों पर टिप्पणी कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

व्यक्ति एवं समाज के संबंध की समस्या विश्व के हर समाज के समाज वैज्ञानिकों के लिए केन्द्रीय महत्व की होती है। यहाँ व्यक्ति और समाज अलग नहीं माना गया है। समाज के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति की महिमा यहाँ है। उन्हें एक ही सिक्के के दो पहलू माना गया है और इसीलिए समाज में ऐसी व्यवस्था लागू की गई है जिससे व्यक्ति और समाज का बिना किसी बाधा के विकास होता रहे।

2.2 'वर्णाश्रम' धर्म

वर्णाश्रम धर्म अथवा व्यवस्था का निर्माण दो व्यवस्थाओं का सूचक है— वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था। वर्ण व्यवस्था एक प्रकार का कार्य विभाजन है। इस कार्य विभाजन का आधार गुण और कर्म रहे हैं। रूचि और योग्यता को भी इस श्रम विभाजन में यथेस्ट महत्व दिया गया है। कोई भी कार्य कुशलता अथवा दक्षता के साथ पूरा होता रहे इस हेतु व्यक्ति को योग्य बनाने की जरूरत है। व्यक्ति अपने जीवन के पग-पग पर अशुभ बातों को त्यागता चले और शुभ का वरण करे इस हेतु उसे पूरे जीवन भर और जीवन समाप्त होने के बाद संस्कारों के दौर से गुजरना पड़ता है। इन्हें जीवन पथ के संस्कार कहना अधिक उचित है। जीवन जीना एक आसान सा खेल नहीं है। जीवन जीना तो एक योग्यता है। योजना बनाकर योजना के अनुसार जीवन जीना अच्छा है। अनियोजित जीवन अर्थहीन होता है। जीवन की योजना दो स्तरों पर तैयार की जा सकती है - प्रथम व्यक्ति के स्तर पर और दूसरे समाज के स्तर पर। हिन्दू व्यवस्थाकारों ने समाज के स्तर पर जीवन योजना बनाई और उसे आश्रम नाम दिया। श्रम विभाजन के आधार पर समाज को स्वरूप दिया। समाज के इस स्वरूप को वर्ण व्यवस्था नाम दिया गया। पद भूमिका के आधार पर वर्ण एवं आश्रम व्यवस्थाएं प्रतिष्ठापित हुई। वर्णों के पद (स्थान) एवं कर्तव्य निश्चित कर समाज की व्यवस्था बनी तथा जीवन के चार सोपानों के कर्तव्य निश्चित कर आश्रम व्यवस्था रूपायित हुई। वर्णाश्रम व्यवस्था को वर्णाश्रम धर्म इसी लिए कहा गया है। क्योंकि दोनों व्यवस्थाओं में कर्तव्यों के पालन पर जोर है। प्रत्येक वर्ण एवं प्रत्येक आश्रम के लोगों के लिए करणीय कार्यों की सूची तैयार की गई जिन्हें करना उनका कर्तव्य घोषित किया गया।

2.3 वर्ण व्यवस्था का अर्थ

वर्णों के कर्तव्य एवं स्थान निश्चित करने वाली व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था कहते हैं। वर्ण सोपान क्रम में ब्राह्मणों का स्थान उच्च है, इसके बाद क्षत्रियों को स्थान दिया गया। इसके बाद वैश्यों को स्थान मिला। सबसे बाद को सबसे नीचा स्थान शूद्रों को मिला। यह स्थान उन्हें उनके कार्यों के महत्व के आधार पर मिला। पढ़ने और पढ़ाने का कार्य ब्राह्मणों को मिला क्योंकि ज्ञानार्जन और ज्ञान प्रदान करने के लिए वे ही अपने स्वभाव, गुण एवं रूचि के आधार पर उपयुक्त थे। ज्ञान कोष की रक्षा का कार्य उन्हें सौंपना लाचारी थी क्योंकि उनके अलावा इस कार्य को कुशलता पूर्वक पूरा करने की शक्ति और सामर्थ्य अन्य किसी में नहीं थी। ज्ञान कोष की रक्षा का कार्य किसी भी राष्ट्र या समाज के लिए सर्वोपरि महत्व होता है। इसके बाद सुरक्षा का कार्य महत्वपूर्ण होता है। समाज की सुरक्षा अथवा रक्षा के लिए क्षत्रिय उपयुक्त पाये गये। क्योंकि क्षत्रियों में साहस था और उनकी भुजाओं में बल था। निर्बल किसी की रक्षा नहीं कर सकता। रक्षा के कार्य की कुशलता क्षत्रियों में थी। अत: रक्षा का भार उन्हें सौंप दिया गया। विशेषीकरण की दृष्टि से धन कमाने एवं पालन पोषण के कार्य के लिए वैश्य सबसे अधिक निपुण थे। अत: उन्हें कृषि, व्यापार और गोपालन के कार्य आवंटित कर दिये गये। सेवा का कार्य सबसे बाद को आता है। सेवा के लिए शूद्रों को चुन लिया गया क्योंकि सेवक ऐसा होना चाहिए जो प्रसन्नतापूर्वक सेवा का कार्य करे, सेवा करने से उसे जरा भी कष्ट न हो। हर्षपूर्वक्त्त सेवा का कार्य करने का भार शूद्रों को सुपुर्द कर दिया गया। सेवा करने वाला सदैव स्वामी के हितों की सोचता हैस्। सेवक को सेवा का कोई लाभ नहीं मिलता। सेवा का लाभ तो उसके स्वामी अथवा सेवा के अधिकारी को मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चारों वर्णों का यह उत्तरदायित्व था कि वह अपने-अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों को करें। यहाँ ध्यान की बात यह है कि इन सभी प्रकार के कार्यों का महत्व समान है। समाज व्यवस्था तभी तक चलती रहेगी जब तक समाज के चारों अंग स्वधर्म (अपने अपने कर्तव्यों) का पालन करते रहेंगे। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वर्ण व्यवस्था एक आदर्श श्रम विभाजन की व्यवस्था थी।

2.4 वर्ण धर्म

सभी वर्णों के लिए मनुस्मृति एवं गीता के अनुसार निश्चित कर्म इस प्रकार थे।

2.4.1 ब्राह्मण धर्म — पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना,ब्राह्मणों के निश्चित कर्म थे (मनुस्मृति) । शान्त रहना, दमन, तपस्या, शौच, शान्ति अर्जन (सरलता) ज्ञान विज्ञान एवं अस्ति का भाव ब्राह्मणों के गोतोक्त स्वभाव जनित कर्म हैं।

2.4.2 क्षत्रिय धर्म — प्रजा की रक्षा करना, अध्ययन करना, दान दे॰॰ यज्ञ करना और विषय भोगों से दूर रहना मनुस्मृति वर्णित क्षत्रियों के कर्तव्य हैं। शौर्य, दृढ़ता और कौशल प्रदर्शित करना, तेज से युक्त होना, युद्ध से न भागना, दान देना और ईश्वर भाव से सम्पन्न होना गीतोक्त क्षत्रिय कर्तव्य हैं।

2.4.3 वैश्य धर्म — पशु पालन, यज्ञ करना, पढ़ना, दान देना, व्यापार करना, सूद पर रूपये बॉटना और कृषि करना मनुस्मृति वर्णित वैश्य के कर्तव्य हैं। वाणिज्य, कृषि और गोपालन वैश्य के गीतोक्त कर्म हैं।

2.4.4 शूद्र धर्म — गीता और मनुस्मृति दोनों ग्रन्थों में सेवा का कार्य वैश्य के हिस्से में आवंटित किया गया है। अत: उन्हें परिचर्या का एक मात्र कार्य दिया गया है जिसे उन्हें निष्ठापूर्वक एवं प्रसन्नता पूर्वक सम्पादित करते रहना है।

2.5 वर्ण प्रदान करने का आधार

'चातुर्वण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागश:' 'कर्म क्रिया विभेदेन चातुर्वण्यं प्रतिष्ठितम,' आदि गीता एवं महाभारत के श्लोकों से यही प्रमाणित होता है कि वर्ण का निश्चय गुण और कर्म के आधार पर होता है। कर्म को आधार मानने में कुछ कठिनाइयाँ दिखती हैं। इन कठिनाइयों में पहली कठिनाई यह है कि कर्मों का मापदण्ड क्या हो? यह कैसे तय हो कि किसके कर्म ब्राह्मण वर्ण में जाने के लायक हैं और किसके शूद्र वर्ण में दूसरी कठिनाई यह है कि वर्ण विशेष में जाने के लिए कर्मों का निर्धारण कौन करेगा? मान लो समाज सम्मत कमेटी बनाकर इस समस्या का निदान कर लिया जाय तो भी कठिनाइयाँ हैं। प्रथम, कमेटी भय और लोभ से अप्रभावित रहे इसकी सम्भावना जीवन में नहीं दिखती। दूसरे कमेटी के निर्णय को सभी मान लेंगे इसकी सम्भावना तो और भी बहुत कम है। फिर इतिहास में इसका कोई विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि कोई कमेटी ऐसी रही हो जो गुण कर्मों की परीक्षा करके वर्ण प्रदान करने का कार्य करती रही हो।

अब जन्म ही वर्ण निर्धारण का एक विकल्प बचता है। प्रारम्भ में शील, प्रतिभा एवं वैयक्तिक उपलब्धि के आधार पर वर्ण मिलने की बात का आभास मिलता है। कालान्तर में जन्म के आधार पर वर्ण मिलने लगे हो ऐसा सही प्रतीत होता है। वर्णोचित सम्मान मिलता रहे इसके लिए सभी वर्णों के लोगों से यह अपेक्षा की गई होगी कि वे अपने अपने वर्णानुसार कार्यों को सम्पन्न करते रहें। किसी वर्ण में जन्म ले लेने से वर्णोचित सम्मान नहीं मिलेगा। सम्मान तभी मिलेगा जब व्यक्ति अपने वर्ण के कार्य करेगा अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए ऐसा शूद्र जिसमें ब्राह्मण के लक्षण हों वह द्विजवत सेव्य माना गया ।

2.6 वर्ण व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व

वर्ण व्यवस्था की योजना एक उपयोगी सैद्धान्तिक योजना थी। यह एक तर्क संगत व्यवस्था थी। प्रथम वर्ण व्यवस्था एक आदर्श श्रम विभाजन की व्यवस्था थी। इसका कर्तव्य प्रधान होना इसका दूसरा गुण है। कार्यों की गुरूता के आधार पर श्रेणी करण इसे और तर्क सम्मत बनाकर इसके महत्व को विगुणित करता है। यह व्यवस्था एक मुक्त व्यवस्था थी जिससे इसमें स्थिरता और बेलोचपन के दुर्गुण नहीं आ पाये। अन्त में शक्ति का विकेन्द्रीकरण इस व्यवस्था में और अधिक जान डाल देने का कार्य करता है। इस व्यवस्था में शिक्षा शक्ति, आर्थिक शक्ति, राजनीतिक शक्ति एवं सेवा शक्ति का विकेन्द्रीकरण कर उसे और अधिक सशक्त बना दिया गया ।

यह व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था थी जिसमें विवाद विग्रह प्रतियोगिता आदि के लिए कोई स्थान नहीं था। यह प्रतियोगिता एवं संघर्ष मुक्त व्यवस्था थी।

2.7 आश्रम व्यवस्था

मनुष्य को अच्छा एवं अर्थपूर्ण जीवन जीने के लिए इस व्यवस्था को बनाया गया। यह जीवन की एक सुविचारित योजना थी। जीवन के उद्देश्य दो भागों में बाँट लिये गये। तात्कालिक उद्देश्य और अन्तिम उद्देश्य।

तात्कालिक उद्देश्यों में इसी संसार में सुख सुविधा प्राप्ति को स्थान दिया गया। अन्तिम उद्देश्य के रूप में मोक्ष का विधान है। इसके लिए यह जरूरी था कि इस संसार में कर्मनिष्ठ जीवन जीकर अन्त में मोक्ष की ओर उन्मुक्ता पर ध्यान केन्द्रित किया जाय। कुमार स्वामी आश्रमों 'पूर्णता' प्राप्ति का साधन मानते हैं। ऐक्षिक और पारलौकिक जीवन में, आश्रम व्यवस्था द्वारा, अनुठा समन्वय स्थापित हुआ है।

आश्रम का अर्थ

हिन्दू मान्यता के अनुसार मनुष्य का जीवन एक प्रकार से शिक्षा एवं आत्म संयम का जीवन है। इस शिक्षा की अवधि में उसे प्रशिक्षण के चार स्तरों से गुजरना पड़ता है। इन स्तरों को आश्रम कहा गया है। आश्रम शब्द की रचना संस्कृत की 'श्रम' धातु से हुई जिसका अर्थ उद्योग करना या परिश्रम करना है। यहाँ परिश्रम के दो अर्थ अभिप्रेत हैं। पहला, वह स्थान जहाँ परिश्रम किया जाता है और दूसरा परिश्रम करने की क्रिया का बोध कराता है। पहले अर्थ के अनुसार आश्रम रूकने, ठहरने के स्थल हैं। जीवन के ये पड़ाव स्थल या विश्राद्र स्थल इस उद्देश्य से बनाये गये हैं कि मनुष्य अपनी जीवन की यात्रा से उत्पन्न थकान को वहां दूर कर सके और भावी यात्रा तय करने की शक्ति एकत्रित कर सके। पी. एच् प्रभु कहते हैं कि अपने अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य द्वारा की जाने वाले जीवन यात्रा के मध्य पड़ने वाले विश्राम स्थल के रूप में आश्रमों को मानना चाहिए।

आश्रम के प्रकार

जीवन के कुल चार पड़ाव स्थल हैं - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास।

2.8 ब्रह्मचर्य आश्रम

यह जीवन का प्रथम सोपान है। जीवन के प्रथम 25 वर्ष तक इस आश्रम में रहकर शिक्षा प्राप्त की जाती थी। यह आश्रम शिक्षा से जुड़ा है। उन दिनों शिक्षा का अर्थ वेदाध्ययन था। आज जैसी शिक्षा व्यवस्था उस समय नहीं थी। विद्यार्थी ज्ञानार्जन के लिए गुरूकुल में रहते थे। गुरू को जब यह मालूम हो जाता था कि शिष्य में ज्ञान प्राप्त करने की उत्कट इच्छा जाग्रत हो गई है तब वह उसे वेदों के ज्ञान से अवगत कराता था। शिक्षित होकर वह जीवन के दूसरे आश्रम में प्रवेश करता था। गृहस्थ आश्रम का जीवन उत्तरदायित्वों से भरा हुआ होता था। इन उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए बालक को इस आश्रम में तैयार किया जाता था।

ब्रह्मचारी को संयमित जीवन बिताने की शिक्षा प्रदान की जाती थी। उसे अलंकरण, विलासिता की वस्तुओं और प्रमाद एवं आलस्य उत्पन्न करने वाले पदार्थों से दूर रहने की सलाह थी। इस आश्रम में रहकर वह उन कर्मों को करे जिससे उसके नैतिक चरित्र का निर्माण होता रहे।

ब्रह्मचारी के कर्तव्य — मनु ने विद्यार्थी के लिए कुछ कार्य करने की अनुमति दी है और कुछ कार्य उसके लिए वर्जित ठहराये हैं।

- ब्रह्मचारी यज्ञोपवति (उपवति सूत्र) आर्जन (मृगचर्म, मेखला और दण्ड को नियमपूर्व धारण करता रहे)।
- भिक्षा मांगकर भोजन करे तथा भोजनाधिक्य से बचे।
- प्रतिदिन स्नान करने के बाद देवता औरऋषियों को जल दे।
- मधु, मांस, सुगंध, माला, रस, स्त्री, सभी प्रकार के आसव और प्राणियों की हिंसा से दूर रहे।
- शरीर में उबटन, आँख में अंजन, जूता और छाता के प्रयोग से दूर रहे।
- काम क्रोध और लोभ से बचता रहे।
- नाच, गाना, बजाना से दूर रहे।
- जुआ खेलना, कलह, निंदा, झूठ, स्त्रियों को सकाम दृष्टि से देखना एवं उनका आलिंगन करना आदि सब मना है।

प्रमुख कर्तव्य — ईश्वर के बारे में ज्ञान प्राप्त करना, पवित्र जीवन बिताना, शरीर और मस्तिष्क को अनुशासित रखना, धम्र का साहित्य पढ़ना, वेदों का अध्ययन करना, सादा जीवन एवं उच्च आदर्श को अपनाना ब्रह्मचारी के मुख्य कर्तव्य हैं।

2.9 गृहस्थ आश्रम

समावर्तन संस्कार के पश्चात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का विधान था। यहाँ उसे वैवाहिक जीवन यापन करना होता था, क्योंकि घर वही होता है जहाँ घर वाली हो (न गृहं काष्ठ पाषाणै: दायिता यत्र तद् गृहम्) विवाह इसलिए आवश्यक था क्योंकि विवाह गन्दगी और विकारों को धोकर मानव को निर्मल एवं उज्जवल बनाता है। इसका प्रभाव संस्कारक होता हैं। विवाह सेवा एवं परोपकार की भावनाओं में वृद्धि करता है। इसके अतिरिक्त 'पुत्' नाम नरक से बचने और पितृ ऋण से अऋण होने के लिए भी विवाह की अनिवार्यता थी। विवाह मोक्षदायी माना जाता था।

वैदिक युग से लेकर धर्मशास्त्रों तक पंचमहायज्ञों को करना गृहपति का प्रमुख कर्तव्य बताया गया है। पाँच यज्ञ - ब्रह्म यज्ञ, पितृ यज्ञ, देव यज्ञ, भूत यज्ञ और नृ यज्ञ पाँच यज्ञ है जिनका अनुष्ठान गृहस्थ को प्रतिदिन करना चाहिए। ऋणों को चुकता करने के लिए इन पांच यज्ञों के अनुष्ठान की व्यवस्था की गई थी। पाँच महा यज्ञों की परिभाषा मनुस्मृति में बहुत सुन्दर एवं सरल ढंग से की गई है। श्लोक प्रस्तुत है।

अध्यापनं ब्रह्म यज्ञ: पितृ यज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमोदैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ॥

2.9.1 ब्रह्म यज्ञ — इस यज्ञ को करने से ऋषि ऋण से मुक्ति मिलती है। ऋषियों द्वारा रचित साहित्य के अध्ययन एवं अध्यापन पर ब्रह्म यज्ञ में जोर दिया गया है। इस यज्ञ का असली प्रयोजन वैदिक ज्ञान और परम्परा को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाना है।

2.9.2 पितृ यज्ञ — गृहपति परिवार जनों के अतिरिक्त मनुष्येतर प्राणियों (पितरों और देवताओं से भी जुड़ा है ऐसी मान्यता है गीता कहती है कि जिन पितरों को जल और पिण्ड नहीं प्राप्त होते हैं के पितर लोक से गिर पड़ते हैं अर्थात् वे वहाँ नहीं रह पाते हैं (पतन्ति पितरौ ह्येषां लुप्त पिण्डोदक क्रिया: 1/42) पितृ यज्ञ के माध्यम से पितरों को जल मिलता रहता है।

2.9.3 देव यज्ञ — गृहपति का यह कर्तव्य है कि देवताओं को प्रसन्न रखे क्योंकि वे वांछित फलदाता है उनके अशुभ फलों से बचने और शुभ फलों को पाने के लिए उन्हें प्रसन्न रखना आवश्यक है। उन्हें प्रसन्न रखने का तरीका होम अथवा हवन है। इसीलिए हवन करने को ही देवयज्ञ बतलाया गया है। हवन में डाली गयी आहुति सूर्य को मिलती है। सूर्य से वर्षा, वर्षा से अन्न और अन्न से प्रजा होती है। इसी कारण गृहस्थ का यह कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन होम करें।

2.9.4 भूत यज्ञ — सबको खिला पिला कर खाने की भावना भूत यज्ञ का निचोड़ है। इस यज्ञ में सभी प्राणियों को बलि (भोज्य पदार्थ का गोलक) अर्पित करने का विधान है। यह बलि हाथ से सफाइ करके पानी छिड़क कर पवित्र की गई भूमि पर रख दी जाती है। यह बलि देवतद्यओं, दिवाचर और निशाचर प्राणियों, पितरों कीड़े-मकोड़ों, पशु पक्षियों आदि के निमित्त होती है। इसमें विशाल प्राणि समूह के पोषण का भाव निहित है।

2.9.5 नृ यज्ञ — अतिथि पूजन ही नृ यज्ञ है। अतिथि का यहाँ अर्थ ऐसे मनुष्य से जिसके आने और जाने की तिथि का निश्चय न हो (न विद्यते तिथिर्यस्य स: अतिथि)। मनु के अनुसार गृहस्थ के चर एक रात ठहरने वाला ब्राह्मण अतिथि कहलाता है। अतिथि को देव तुल्य माना गया है। भारत आज भी अपने अतिथ्य के लिए विश्वविभ्रत है। अतिथि पूजन से धन, आयु, यश तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

पंचमहायज्ञों के अतिरिक्त गृहस्थ का दायित्व था कि वह ब्राह्मणों को दान दे अन्य आश्रम के लोगोडु को भिक्षा दे। पशु, पक्षियों एवं कीटों को संतुष्ट करना उसका कर्तव्य था। गृहस्थ की जिम्मेदारियाँ असीमित थीं।

गृहस्थ आश्रम महान क्यों?

- गृहस्थ आश्रम अन्य आश्रम के लोगों का आधार है। गृहस्थ भिक्षा देता है। इसी की भिक्षा से अन्य आश्रम के लोगों का दोषण होता है। इसलिए यह श्रेष्ठ है।
- जैसा अभी संकेत किया जा चुका है कि यह विशाल प्राणि समूह को खिलाने पिलाने का कार्य करता है। यह इसकी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।
- वंश प्रवाह और समाज प्रवाह सन्तानोपादन पर निर्भर है। यह कार्य गृहस्थ आश्रम में

ही संभव है। मानव प्रजाति के प्रवाह क्रम को न टूटने देने में गृहस्थ आश्रम की भूमिका श्रेष्ठ है। अत: इसकी महानता स्वत: सिद्ध है।

- ऋणों के उद्धार की दृष्टि से यह आश्रम सर्वश्रेष्ठ है।
- गृहस्थ विधसाशी होता है सबको खिलाने पिलाने के बाद शेषान्न का उपयोग करने वाला विधसाशी कहलाता है। सबको भोजन कराकर भोजन करने वाला महान, प्रतिष्ठित एवं प्रशंसनीय होता है। जिस आश्रम में ऐसे व्यक्ति हों वह आश्रम महान , प्रवर और प्रशंसनीय होगा।
- चारों पुरूषार्थों की पूर्ति अकेले इस आश्रम में ही संभव है। इस कारण इसकी प्राधान्य प्रतिष्ठा असंदिग्ध है।

2.10 वानप्रस्थ

इस आश्रम में व्यक्ति अपनी आयु का तृतीय भाग व्यतीत करता है। इस आश्रम के व्यक्ति को अरण्यवासी बनना होता था। जीवन के द्वितीय भाग को गृहस्थ में व्यतीत करने के बाद मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह जंगल चला जाय। वहाँ उसका समाज से विमुख होने के लिए समाजीकरण होता था। इस आश्रम में सन्यासी बनने की तैयारी की जाती थी।

2.10.1 कर्तव्य — वैखानस आश्रम में यज्ञ और अध्ययन के अतिरिक्त व्यक्ति नियम और अनुशासन का जीवन जीता था। परिवार और समाज के बन्धनों से ऊपर उठने के लिए उसे तैयारी करनी पड़ती थी। वानप्रस्थ अपनी भूख जंगल में उपलब्ध कन्द मूल और फलों से शान्त करे। बिना जुती हुई पृथ्वी से उत्पन्न अन्न का सेवन करें। वह सदा वेदाभ्यास में लगा रहे। कठोर तप करे। वह अपनी सहानुभूति का विस्तार परिवार की संकुचित परिधि को लांघ कर समस्त मानवता तक करे।

2.11 संन्यास

संन्यास का अर्थ पूर्ण वैराग्य है। यह जीवन का अन्तिम पड़ाव स्थल है। सन्यासी एकाग्र चित्त होकर ईश्वर में लीन होने का प्रयास करे। उसे एकाकी रहना चाहिए। समत्व बुद्धि का विकास सन्यासी के अति आवश्यक है। अपने मन, चित्त और बुद्धि को ईश्वर में लगाये। चित्त वृत्तियों का निरोध कर अन्तर्यामी भाव से चराचर जीवों में उसी परमात्मा की सत्ता को देखे। वह निष्काय कर्म करते हुये कर्मों की सीमा से ऊपर उठकर मरने के बाद तेजोमय लोक में जाता है जहाँ उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

2.12 संस्कार

अपने जीवन पर्यन्त एक हिन्दू संस्कारों के दौर से गुजरता रहता है। क्यों? उसे अशौच से बचाने तथा पवित्र बनाने के लिए संस्कारों का आयोजन हुआ। मनुष्य को उज्ज्वल एवं परिष्कृत करने तथा उपयोगी बनाने के लिए संस्कार प्रायोजित है। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन के साथ संस्कार नत्थी करने का यही प्रयोजन है।

2.12.1 संस्कार का अर्थ — संस्कार का अर्थ है- शुद्ध करना, पवित्र करना, परिष्कार करना, उज्जवल बनाना, योग्य बनाना एवं उपयोगी बनाना। अपने प्रकृत रूप में मनुष्य ही क्यों कोई भी वस्तु उपयोग के लायक नहीं होती। उन्हें उपयोगी बनाना पड़ता है। उपयोगी बनाने के लिए तथा गन्दगी धोने के लिए संस्कारों से होकर गुजरनद्य पड़ता है। मनुष्य को शुद्धि की क्रियाओं को करना पड़ता है। अन्न का उदाहरण लेते हैं। अन्न जिस रूप में खेतों में खड़ा होता है खाने लायक नहीं होता है। उसे खाने लायक बनाना पड़ता है। अन्न को साफ करनार कूटना, पीसना, पिसे आटे को चालना पड़ता हैं। यही अन्न संस्कार है। खान से निकले खनिज पदार्थों का उदाहरण लेते हैं। खान से निकले पदार्थ शुद्ध नहीं होते उसमें अन्य अनेक तत्व मिले रहते हैं। इसलिए खान से निकले पदार्थों का शोधन करने के लिए शोधक कारखाने हैं। जहाँ इन पदार्थों को शुद्ध किया जाता है। इसी प्रकार पुस्तक और सोने का भी संस्कार होता है। जब ये चीजें संस्कृत (प्योरीफाइड) हो जाती हैं तव उपयोगी बन जाती हैं। समाज वैज्ञानिक इसे भली भाँति जानते हैं कि मनुष्य जन्म से सामाजिक प्राणी नहीं होता । जन्म से तो वह जैविक प्राणी होता है पर समाज के सांचे में ढालकर उसे सामजिक प्राणी बनाया जाता है जैविक प्राणी को समाज का क्रियाशील सदस्य बनाने की प्रक्रिया समाजीकरण कहलाती है। संस्कार व्यक्ति का सामाजीकरण करते हैं। उसके स्वरूप को निखारते हैं, उसके मैल को धोकर निर्मल बनाते हैं। उसके अवगुणों को दूर कर उसे गुणों का पुज बना देते हैं। मनोवैज्ञानिक समवेत स्वरों में गाते हैं कि मनुष्य में कुछ पाशविक प्रवृत्तियां होती हैं। इन पाशविक प्रवृत्तियों के संशोधन के लिए और उसे समाज के अनुरूप बनाने के लिए संस्कार अति आवश्यक हैं। मनुष्य का सामाजीकरण करना भी संस्कार का उद्देश्य है। मानव की कमियों को दूर कर उसे अर्थवान बनाना ही, जैमिनी पूर्व मींमांस सूत्र के अनुसार संस्कार हैं। (संस्कारों नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्य: कस्यचिदर्थस्य)।

तंत्रवार्तिक में 'योग्यतां चारधाना: क्रिया: संस्कारा इत्युच्यन्ते' कहकर योग्यता प्रदान करने वाली क्रिया के रूप में संस्कार को परिभाषित किया गया है। हिन्दू संस्कार के उद्भट व्याखयता राजबली पाण्डेय का कथन है कि विधि पूर्वक संस्कारों के अनुष्ठान से व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्जनीय गुणों का प्रादुभार्व हो जाता है। वे कहते हैं कि संस्कार में शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों का समावेश है।

2.12.2 संस्कारों की संख्या — संख्या को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कोई संस्कारों की संख्या सोलह बताता है औरकोई चालीस अथवा अड़तालीस। यहाँ अति प्रमुख संस्कारों तक ही सीमित रहने का विचार है। यहाँ प्रम् जन्म संस्कार, वाल्यावस्था के संस्कार यौवनकालीन संस्कारों एवं अन्तिम संस्कार अति संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने का विकल्प चुना गया है।

2.12.3 प्राग जन्म संस्कार — गर्भाधान सीमन्तोन्नय एवं पुंसवन संस्कारों को इस कोटि में सम्मिलित किया जा सकता है। ये संस्कार आरम्भिक विचारों की छाया लगते हैं। गर्भस्थ शिशु के रक्षार्थ सम्भवत: सीमन्तोन्नयन (गर्भवती स्त्री के बालों को ऊपर उठाना)संस्कार का विधान हुआ होगा। पुंसवन में पुत्र प्रापति की अभिलाषा प्रमुख है। गर्भाधान सन्तानोत्पादन की पहली शर्त है। संक्षेप में,प्राग्जन्म संस्कारों का उद्देश्य आसुरी शक्तियों को प्रसन्न कर गर्भस्थ शिशु

को उनके अशुभ प्रभावों से बचाना है।

2.12.4 बाल्यावस्था के संस्कार — जात कर्म, नामधेय, अन्न प्राशन, चौल अथवा चूड़ाकरण बचपन के संस्कार हैं। जातकर्म संस्कार हर्ष एवं उल्लास व्यक्त करने के लिए विहित है मेधाजनन, आयुष्य और बल इस संस्कार के तीन अनुष्ठान हैं। इन तीनों अनुष्ठानों से क्रमशः बालक के मेधावी, दीर्घजीवी और बलशाली होने की कामना की जाती थी। **नामधेय** संस्कार में बच्चे का नामकरण किया जाता था। बच्चे को नाम देना एक सामाजिक आवश्यकता थी। कई बच्चों में से एक को बुलाना हो तो नाम द्वारा उसे आसानी से बुलाया जा सकता है। सम्बोधित करने के लिए तथा व्यक्तियों को अलगाने के लिए नाम रखना अनिवार्य था। हिन्दू समाज में दो तरह के नाम होते हैं एक राशि का नाम तथा दूसरा घरेलू (घर में पुकारा जाने वाला) नाम। अन्नप्राशन संस्कार में पहली बार बालक को पकाया हुआ भोजन दिया जाता है क्योंकि एक अवस्था के बाद बालक की सम्यक वृद्धि के लिए माता का दूध अपर्याप्त होता जाता है। जच्चा एवं बच्चा दोनों के कल्याण के लिए माता के दूध के स्थान पर पकवान विशेष रूप से क्षीरपाक (खीर) देने का विधान है। चौल संस्कार में गभुआरे (गर्भ में उगे) बालों को पहली बार सिर से उतारा जाता था और चूड़ा रख दी जाती थी। चूड़ा चोटी रखना हिन्दुओं की बाह्य पहचान के लिए आवश्यक था। बालक की दीर्घायु के लिए यह संस्कार विहित था।

2.12.5 यौवन कालीन संस्कार — उपनयन समावर्तन और विवाह यौवन काल के संस्कार हैं। **उपनयन संस्कार** ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रवेश द्वार है। उपनीत बालक ही ब्रह्मचारी बन सकता था और द्विज कहलाता था। अनुपनीत बालक को शूद्र कहा जाता था उसे विद्याध्ययन से वंचित रखा जाता था। द्विज का अर्थ होता है दो बार जन्म लेने वाला। उपनयम को दूसरे जन्म के तुल्य माना जाता था। उपनयन का अर्थ है बालक को शिक्षा दिलाने के लिए आचार्य के पास ले जाना (उप समीपे आचार्या दीनां वटोर्नीतिर्नयनम् प्रापणमुदनयनम्)। उदनयन विद्यार्थी बनने का एक प्रमाण पत्र था। इसके बाद बालक गुरू के कुल में रहकर पढ़ाई का काम पूरा करता था।

समावर्तन — पढ़ाई का काम पूरा करने के बाद विद्यार्थी गुरू के कुल से अपने घर वापस लौट आता था। इस वापस लौटने की क्रिया को समावर्तन संस्कार का स्वरूप देकर इसे महत्ता प्रदान की गई। वीर मित्रोदय संस्कार भाष्य में समावर्तन का उक्त अर्थ बताया गया है।

तत्र समावर्तनं नाम वेदाध्ययनातरं गुरूकुलात् स्वगृहागमनम्।

इस संस्कार का प्रमुख कृत्य स्नान है। स्नान करने के बाद वह स्नातक बन जाता था। यह स्नान ज्ञान सागर में अवगाहन का प्रतीक है। ध्यान रहे सभी विद्यार्थी समावर्तन का कार्य नहीं करते थे। कुद तो गुरू के कुल में ही रह जाते थे जिन्हें नेष्ठिक ब्रह्चारी कहा जाता था जो समावर्तन के नियम का पालन करते थे उन्हें उपकुर्वाण कहा जाता था।

2.12.6 विवाह

हिन्दू समाज में विवाह को अनिवार्य और अविच्छेदप माना जाता था। हिन्दुओं में विवाह एक धार्मिक कृत्य है, एक सामाजिक कृत्य है। हिन्दू विवाह समझौता नहीं वरन् एक

संस्कार है। धर्मपालन, सन्तानोंत्पादन और रति विवाह के तीन उद्देश्य बताये गये हैं। हिन्दू विवाह एक संस्कार कैसे है। इसे संस्कार मानना कहां तक उचित है इसकी व्याख्या करना यहाँ अभीष्ट है।

यदि विवाह विवाह सूत्र में आबद्ध स्त्री पुरूषों को सन्मार्ग पर ले जाता है, उनके विचारों को पवित्र एवं नैतिक बनाता है, बुराइयों की तरफ से उन्हें दूर ले जाता है और अच्छाइयों की ओर प्रवृत्त करता है तो इसका प्रभाव संस्कारक माना जाना चाहिए। यदि उन्हें पतन की ओर ले जाता है तो विकारक है। विवाह संस्था पर गम्भीरता से विचार करने पर यही बात सिद्ध होती है कि विवाह का प्रभाव संस्कारक है। न कि विकारक।

विवाह विवाहेत्तर संबंधों पर अंकुश लगाता है और इस प्रकार अवैध यौन संबंधों को निरूत्साहित करता है। इस क्षेत्र में पत्नी पति पर निगाह रखती है और पति पत्नी पर। यह एक सुखद और आदर्श स्थिति है दोनों एक दूसरे के हितैषी बन जाते हैं। संतान उत्पन्न होने पर दोनों प्राणपण से उसाक पालन करते हैं और पाल पोष कर उसे बड़ा करते हैं विवाह कर्तव्य पालन का भाव दोनों में जगाता है और उसे जीवन पर्यन्त बनाये रखता है।

बाल बच्चों का ख्याल उन्हें जीवन भर बना रहता है जिससे वह गलत कामों से बचने का प्रयास करते हैं। जीवन में यह कहते सुना जाता है कि बाल बच्चे वाले होकर क्या हम ऐसा करेंगे? यहाँ ऐसा शब्द गलत और अनुचित काम की ओर संकेत करता है। यही नहीं जब कोई किसी से बेहद नाराज होता है तो उससे यह कहता है कि बाल बच्चों का मोह न होता तो तुम्हारी हत्याकर देते। वाह क्या अच्छी बात है कि बाल बच्चे और पत्नी का ख्याल हत्या जैसे जघन्य अपराध करने से मनुष्य को रोकता है। जियो और जीने दो से आगे बढ़कर 'जिओ और जिलाओ' बचो और बचाओ' के सुन्दर एवं स्वस्थ विचारों एवं भावनाओं को व्यवहार में उतारने के लिए दोनों को प्रेरित करता है और वे इन आदर्शों पर चलते देखे जाते हैं।

विवाह मनुष्य की संकुचित सोच को विस्तृत बनाकर अन्यों के ख्याल अर्थात् परोपकार को बढ़ावा देता है। दय, करूणा ममता एवं अपनत्व के भावों को पैदा करता है। स्वार्थ एक प्रकार का मैल है। परोपकार का पाठ पढ़ाकर विवाह इस कल्मष को धो देता है। मनुष्य में विद्यमान कमियों को दूर करता है।

यदि कोई युवक विवाह के पहले निरंकुश जीवन बिताने लगता है औरअपनी जिम्मेदारी नहीं समझता है । रात कोघर में देर से आता है। माता पिता के नियंत्रण असफल हो जाते हैं तो विवाह कराकर उसे नियंत्रण में लाने का प्रयास वृद्ध जनों द्वारा किया जाता है। विवाह के बाद ऐसे व्यक्ति सुधरते देखे जाते हैं। पत्नी और बच्चों का आकषर्ण गुरूत्वाकर्षण की भांति काम करता है। ऐसे लोग जो दफ्तर में देर तक रूकते थे वे दफ्तर से समय पर घर लौटने लगते हैं। विवाह हो जाने पर अवारा जीवन व्यतीत करने वाले एक अच्छा इंसान एवं एक अच्छा नागरिक बनकर समाज एवं परिवार के प्रति अपने उत्तर दायित्वों को पूरा करते हैं।

कुछ अपरिपक्व लोग विवाह को बन्धन बताकर उसकी निंदा करते हैं, उसे चिंता पैदा करने वाला बताते हैं, उससे अपनी उन्नति का मार्ग अवरूद्ध होने की बात करते हैं। विवाह के प्रति यह नकारात्मक सोच एक प्रकार की नादानी है। यदि विवाह को बन्धन मान लिया जाय और

मनुष्य की परम स्वतंत्रता में बाधक मान लिया जाय तब तो विवाह और अधिक संस्कारक प्रमाणित होता है क्योंकि बन्धन तो समाज की एक आवश्यक शर्त है। बिना बन्धन के तो समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा। विवाह को बन्धन मान लेने में कोई हर्ज नहीं है। यह बन्धन स्त्री - पुरूष की चंचलता एवं उच्छृंखलता पर प्रतिबंध लगाता है। विवाह को चिंताजनक बताना मानसिक दुर्बलता अथवा खोखलेपन का सूचक है और यह एक तुच्छ और संकुचित विचार है । विवाह तो चिंताओं को दूर करता है। पत्नी पति की अनेक चिंताओं को दूर करती है। पति उसकी चिंताओं को दूर करता है। **विवाह चिंताजनक न होकर चिंता निवारक है**। यह कहना कि विवाह उन्नति का मार्ग अवरूद्ध करता है यह भी मानसिक दिवालियेपन का सूचक है। विवाह तो उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। कोई माता-पिता नहीं चाहते कि उनके बच्चे उन्नति न करें। कोई पत्नी नहीं चाहती कि परिवार की उन्नति न हो। आलसी एवं निकम्मा लोगों के लिए विवाह उन्नति का मार्ग अवरूद्ध करने वाला लग सकता है क्योंकि उन्नति में बाधक तत्व उनका निकम्मापन है और वे दोष मढ़ देते हैं विवाह पर। यह कहाँ का न्याय है।

निष्कर्ष:

हिन्दू विवाह एक संस्कारक क्रिया है क्योंकि इससे पति-पत्नी में मधुर संबंधों की सृष्टि होती है और सन्तानोंत्पादन के बाद वे संबंध और प्रगाढ़ हो जाते हैं। हिन्दू विवाह स्वयं में किसी भी प्रकार से विकारक प्रभाव डालने वाला नहीं है। यह स्त्री-पुरूष के जीवन का आलोक है।

2.13 सारांश

पहले वर्णाश्रम धर्म की जानकारी दी गई। वर्ण और आश्रम के महत्वपूर्ण पक्षों को समझाते हुए अन्त में संस्कार के अर्थ और प्रयोजन पर विचार करते हुए विवाह के संस्कार होने की बात तर्क पूर्ण ढंग से समझाने की चेष्टा की गई है।

2.14 संदर्भ ग्रन्थ/सहायक पुस्तकें

1. मिश्र, जगदीश प्रसाद एवं मिश्रा, सुधा 'भारतीय समाज' 2001, भारत प्रकाशन, 17, अशोक मार्ग, लखनऊ।
2. दुबे, सत्यमित्र, 'मनु की समाज व्यवस्था', 1964, किताब महल, इलाहाबाद।
3. कणे पी. वी., हिस्ट्री आव् धर्मशास्त्र, वाल्यूम 2 भाग 1
4. महाभारत
5. मनुस्मृति
6. गीता
7. पाण्डे, राजबली, हिन्दू संस्कार ।
8. प्रभु, पी. एच., हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन

9. कपाड़िया, के0 एम0, मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया

10. कुमार स्वामी 'हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म'

11. आत्रेय, भीखनलांल, भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास

12. राधाकृष्णनन्, सर्वपल्ली, प्राच्य धर्म एवं पाश्चात्य विचार, 1967, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।

2.15 सम्बन्धित प्रश्न

लघुउत्तरीय

1. वर्ण व्यवस्था को आदर्श श्रम-विभाजन मानना कहाँ तक उचित है? स्पष्ट कीजिए।
2. वर्ण निर्धारण का आधार कर्म मानने में क्या कठिनाइयाँ हैं?
3. वर्ण व्यवस्था के समाज शास्त्रीय महत्व को संक्षेप में समझाइए।
4. ब्रह्मचारी के कर्तव्यों पर प्रकाश डालिए।
5. संस्कार का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय

1. हिन्दू विवाह को संस्कार मानना कहाँ तक उचित है? सम्यक प्रकाश डालिए।
2. वर्ण निर्धारण की समस्या पर विचार करते हुए वर्ण व्यवस्था के महत्व की चर्चा कीजिए।
3. आश्रम व्यवस्था जीवन की एक सुन्दर योजना है। व्याख्या कीजिए।

वस्तुनिष्ठ

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. प्रारम्भ में वर्ण का निर्धारण ::, ::, एवं ::: के आधार पर होता था।
2. वर्ण व्यवस्था एवं :: :: की व्यवस्था थी।
3. मनुष्य की जीवन यात्रा के मध्य पड़ने वाले :: :: को आश्रम कहा गया है।
4. :: करना देव यज्ञ है।
5. :: करना पितृ यज्ञ है।
6. जिन विद्यार्थियों का समावर्तन होता था उन्हें ::: कहा जाता था।
7. जिनका समावर्तन नहीं होता था वे : : कहलाते थे।

इकाई 3 कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 कर्म एवम् पुनर्जन्म की अवधारणा

3.3 कर्म के प्रकार

3.4 कर्म और संसार

3.5 कर्म के विभिन्न सिद्धान्त

3.6 कर्म और भाग्य

3.7 कर्म और सिद्धान्त का महत्व

3.8 कर्म के सिद्धान्त के दोष

3.9 सारांश

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

3.11 सम्बन्धित प्रश्न

3.12 प्रश्नोत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप:

* कर्म और पुनर्जन्म की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
* कर्म के प्रकार और विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कर सकेंगे।
* कर्म के सिद्धान्तों का महत्व और दोषों का उल्लेख कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

कर्म एवम् पुनर्जन्म की संकल्पना भारतीय दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है। मनुष्य की यह जिज्ञासा सदैव रही है कि मृत्यु के बाद मनुष्य कहाँ जाता है। इस जिज्ञासा का हल वैदिक साहित्य में स्पष्ट रूप से नहीं मिलता परन्तु उपनिषदों के काल से यह जिज्ञासा शान्त होती हुई दिखाई पड़ती है और यहाँ तक कि इस संकल्पना को बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायी भी स्वीकार करते हैं।

3.2 कर्म एवम् पुनर्जन्म की अवधारणा

शाब्दिक दृष्टि से कर्म शब्द की व्युत्पत्ति 'कृ' धातु से हुई जिसका अर्थ है 'करना', व्यापार या हलचल। गीता में भी कर्म का प्रयोग इसी सामान्य अर्थ में किया गया है। गीता के अनुसार

मनुष्य जो कुछ भी करता है वही उसका कर्म है, चाहे वह कायिक, वाचिक या मानसिक हो। (गीता 5/8,9)। कर्म का सम्बन्ध संस्कृत भाषा के शब्द 'कर्मन्' से है जिसका अर्थ कर्तव्य, कार्य, क्रिया या दैव से है। कर्म तीन तत्वों से मिलकर बना है:-

(1) **कर्ता** — कर्म किसी न किसी व्यक्ति के द्वारा ही सम्पादित किया जाता है जो कर्ता के नाम से जाना जाता है।

(2) **परिस्थिति** — कर्ता कर्म को शून्य में नहीं करता वरन् उसके लिए एक परिस्थिति का होना आवश्यक है।

(3) **प्रेरणा**— प्रत्येक कर्म का कोई न कोई कारण अवश्य ही होता है। यह कारण ही उस कर्म की प्रेरणा या प्रेरक शक्ति है।

प्रत्येक भारतवासी का विश्वास है कि सत्कर्म का फल अच्छा होता है और दुष्कर्मों का फल बुरा होता है। और कर्म के फल किसी भी प्रकार से टाला नहीं जा सकता। कर्म की अवधारणा को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि व्यक्ति को अपने कर्मों का फल किस प्रकार से मिलता है। मनुष्य काममय है, उसकी जैसी कामना होगी वैसी ही उसकी इच्छाशक्ति होगी, वैसा ही उसका कर्म होगा, और जो कुछ कर्म वह करता है वैसा ही वह फल प्राप्त करेगा। विज्ञान की विशेषता है कि कार्य और कारण का सिद्धान्त प्रत्येक लागू होता है। प्रत्येक कारण का कोई न कोई परिणाम अवश्य होगा। क्रिया की प्रति क्रिया अवश्य होती है किन्तु दिशा उसकी विपरीत होती है। कर्म क्रिया के रूप में और फल प्रतिक्रिया के रूप में निरन्तर होती रहती है।

3.3 कर्म के प्रकार

मनुष्य को अपने सभी कर्मों का फल इसी जीवन में नहीं भुगतना पड़ता बल्कि अपने अच्छे व बुरे कर्मों को भोगने के लिए मनुष्य को विभिन्न योनियों में जन्म लेना पड़ता है। मनुष्य के वर्तमान जीवन का पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और इसी आधार पर वेदान्त दर्शन में कर्म के तीन प्रकार बताये गये हैं।

(1) सञ्चित कर्म

(2) प्रारब्ध कर्म

(3) क्रियमाण या सञ्चीयमान

प्रथम कर्म अतीत अस्तित्वों के कर्मों का योगफल है, जिसके प्रतिफलों की अनुभूति अभी नहीं की जा सकी है। कर्म इस जन्म में किया गया हो या पूर्व जन्म में वह सब सञ्चित कर्मों की श्रेणी में आते हैं। मीमांसकों ने इसे अदृष्ट कर्म की संज्ञा दी है।

प्रारब्ध कर्म उसे कहते हैं जो इस वर्तमान जीवन के आरम्भ होने के पूर्व सञ्चित कर्मों में सबसे प्रबल था, जिसे ऐसा परिकल्पित किया गया है कि उसी के आधार पर वर्तमान जीवन निश्चित होता है। यानी पूर्व काल के वे कर्म जिनका फल जीवन भोग रहा है। इस वर्तमान जीवन में मनुष्य जो नये कर्म संगृहीत करता है वही क्रियमाण या सञ्चीयमान कर्म है।

गीता में तीन प्रकार के कर्म बतलाये गये हैं।

1. सात्विक
2. राजसिक
3. तामसिक

फल की आशा का त्याग करके बिना आसक्ति के जो कर्म सम्पादित किये जाते हैं उन्हें सात्विक कर्म कहते हैं। फल की इच्छा रखते हुए अंहकारपूर्ण भाव से किया गया कर्म वह कर्म है जो मोह से बिना वर्तमान तथा भविष्य के सोचे किया जाता है। (गीता 18/23-25)

3.4 कर्म और संसार

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अवधारणायें कर्म और संसार के सिद्धान्त से सम्बन्धित है। कर्म शब्द का प्रयोग सभी प्रकार की क्रियाओं के लिए किया जाता है। जन्म और पुनर्जन्म के क्रम का नाम ही संसार है। हिन्दू मान्यताओं के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की एक आत्मा होती है जो अमर होती है मृत्यु के साथ शरीर का अन्त तो हो जाता है परन्तु आत्मा अमर रहती है। जन्म और मृत्यु का यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक मानव के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। संसार जीव का वह कार्य क्षेत्र है जहाँ जन्म और पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है।

हिन्दू सामाजिक संगठन में प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का भोग अवश्य करना पड़ता है यदि व्यक्ति ने सुकर्म किये हैं तो वह स्वर्ग का भागीदार होता है और यदि उसने अपने जीवन काल के कुकर्म किया है तो नर्क का भागी होगा। ऐसा माना जाता है कि अगले जन्म में समाज में उसकी क्या स्थिति होगी वह उसके इस जन्म के अच्छे बुरे कर्मों पर ही निर्भर करती है। ऐसा विश्वास है कि आवागमन का क्रम एक निश्चित चक्र की भाँति संसार में निरन्तर चलता रहता है। इस आवागमन के चक्र से मुक्ति का केवल एक ही मार्ग है कि व्यक्ति अपने सुकर्मों का अनुसरण करते हुये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के क्रम का पालन करता रहे। व्यक्ति को जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती उसका इस संसार के लगातार पुनर्जन्म होता रहेगा।

3.5 कर्म के विभिन्न सिद्धान्त

(1) मनु का सिद्धान्त

मनु के अनुसार सभ कर्म मानसिक (मन) वाचिक (वाणी) तथा कायिक (शरीर) की उपज है। धर्मयुक्त कर्मों को मनु ने महत्व दिया है। व्यक्ति को अपने कर्मों को भोगने के लिये ही बारबार पुनर्जन्म होता है। मनु के अनुसार जो व्यक्ति मन से पाप करता है वह मानस पाप कर्म है जैसे मन से दूसरों को बुरा चाहना ऐसा व्यक्ति अगले जन्म में निम्नजाति में जन्म लेता है । वाणी से जो पाप करता है वाङ्मय पाप श्रेणी में आता है जैसे झूठ बोलना, दूसरों को अपशब्द कहना ऐसा व्यक्ति अगले जन्म में पशु-पक्षी का शरीर धारण करता है तथा शरीर से जो पाप करता है वह शारीरिक पाप कर्म है जैसे व्यभिचार पूर्ण

जीवन यापन करना - दूसरों का धन लेना ऐसा व्यक्ति अगले जन्म में पेड़ पौधे के रूप में शरीर धारण करता है। इस प्रकार अच्छे व बुरे कर्मों के आधार पर ही व्यक्ति का पुनर्जन्म होता है। (मनुस्मृति, 12. पृ0 23)

(2) याज्ञवल्क्य का सिद्धान्त

मनुस्मृति में वर्णित क्रम के सिद्धान्त को याज्ञवल्क्य ने अधिकांश रूप से स्वीकार किया है। किये कर्म के अनुसार ही धर्म व अधर्म की स्थिति व्यक्ति को प्राप्त होती है। कर्म से जो फल व्यक्ति को प्राप्त होते हैं उन्हें तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है।

(1) जाति अर्थात् उच्च यानिम्न योनि की स्थिति प्राप्त होना,

(2) आयु अर्थात दीर्घ या अल्प आयु प्राप्त करना,

(3) भोग अर्थात व्यक्ति को मिलने वाला आनन्द अथवा कष्ट।

धर्म उचित कर्म में ही निहित है (पी0 एच0 प्रभू हिन्दू शोसल आर्गनाइजेशन पृ0 35)

याज्ञवल्क्य के अनुसार व्यक्ति को ऐसे कार्यों को करना चाहिए जिससे उत्तम जाति, दीर्घ आयु और असीम सुख की प्राप्ति सम्भव हो सके। याज्ञवल्क्य ने कुछ उचित क्रमों का भी उल्लेख किया है बलि, धार्मिक कृत्य और संस्कार, अनुशासन, दानशीलता, तथा वेदों का अध्ययन।

(3) शुक्रनीतिसार का सिद्धान्त

शुक्रनीति में उल्लेख है कि मनुष्य का वर्तमान जीवन पुनर्जन्म के ही क्रमों का प्रतिफल है। इस जीवन में सब कुछ भाग्य (दैव) तथा कर्म पर आधारित है। कर्म दो भागों में विभाजित है,

(1) व्यक्ति द्वारा - पिछले जन्मों में किये गये कर्म

(2) व्यक्ति द्वारा - वर्तमान जन्म में किये गये कर्म

शुक्रनीति में भाग्य के महत्व को स्वीकारा अवश्य है परन्तु भाग्य सब कुछ नहीं है। मनुष्य इस जीवन में किये गये कर्मों के द्वारा अपने भाग्य को बदल सकता है। मनुष्य का जीवन भाग्य ओर कम्र दोनों पर ही निर्धारित होता है (शुक्रनीति पृ0 97-98)।

(4) पातंजलि योगसूत्र का सिद्धान्त

पातंजलि के अनुसार 'अविद्या' या 'असत्य ज्ञान' मनुष्य के कष्टों का मूल कारण है। अविद्या या मिथ्या ज्ञान के चार भेद हैं-

(1) अस्मित:- संवय को अत्याधिक महत्व प्रदान करना,

(2) राग :- उन विषयों में लगाव जो सांसारिक आनन्द देती है,

(3) द्वेष :- उन वस्तुओं का घृणापूर्वक त्यागना जो दु:ख का कारण है।

(4) अभिनिवेश :- जीवन के प्रति अत्यधिक लगाव और मृत्यु का भय।

पातंजलि के अनुसार उपर्युक्त अविद्या की समाप्ति से ही मनुष्य सभी प्रकार के बन्धनों से जीवन मरण के अनन्त चक्र से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। ज्ञान प्राप्ति से मनुष्य योगी बन जाता है कर्मयोगी किसी भी परिस्थिति में कर्म को नहीं त्यागता और न ही कर्म करना छोड़ता है, अपितु

वह कर्म के फल की आशा को त्याग देता है और बिना किसी फल की आशा से कर्म करता रहता है। प्रतिफल की आशा त्यागने से ही उसे परम शान्ति या मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो जाती है।

(5) जैन-दर्शन का सिद्धान्त

जीव अपने कर्मों के अनुसार ही शरीर धारण करता है पूर्व जन्म के विचार, वचन तथा कर्मों के कारण जीव के जीवन में वासनाओं की उत्पत्ति होती है। वासनाएं तृप्त होना चाहती है, परिणाम यह होता है कि इनकी क्रियाशीलता के कारण एक विशिष्ट प्रकार का शरीर बनता है। इस प्रकार जैन मत के अनुसार जीव अपने कर्मों के अनुसार शरीर धारण करता है। शरीर का अर्थ केवल स्थूल शरीर से नहीं समझना चाहिए बल्कि शरीर का अर्थ इन्द्रिय, मन तथा प्राण से है। कर्म असंख्य है तथा वासनाओं का संकुल है। कर्मों से ही शरीर का रूप, रंग, आयु, जाति, गोत्र और धर्म का निर्धारण होता है। कर्म मनुष्य के लिए बन्धन या मुक्ति का निर्धारण होता है। अत: मानव जीवन का चरम उद्देश्य सत्कर्म और ज्ञान की प्राप्ति ही होना चाहिए।

(6) बौद्ध दर्शन का सिद्धान्त

महात्मा बुद्ध के उपदेशों के अनुसार कर्म दो प्रकार के होते हैं-

(1) राग, द्वेष तथा मोह के कारण होता है।

(2) बिना राग, द्वेष तथा मोह से होता है।

प्रथम प्रकार का कर्म विषय के प्रति आकर्षण पैदा करता है तथा ऐसे संस्कारों को उत्पन्न करता है। दूसरे प्रकार का कर्म अनासक्त भाव से तथा अनित्य मान कर किया जाता है , जिसमें पुनर्जन्म की सम्भावना ही नहीं रह जाती है। अनासक्त कम्र से ही निर्वाण प्राप्त होता है और निर्वाण बार-बार जन्म ग्रहण के चक्र से मुक्ति प्रदान कर देता है।

(7) वेदान्त - दर्शन का सिद्धान्त

वेदान्त दर्शन के अनुसार कर्म को तीन भागों में बाँटा है :-

(1) संचित कर्म (पूर्वकाल के कर्म जो मनुष्य के खाते में जमा है)

(2) प्रारब्ध कर्म (पूर्व काल के वे कर्म जिनका फल मनुष्य भोग रहा है)

(3) क्रियामाण या संचीयमान कर्म (वे नवीन कर्म जो मनुष्य के खाते में जमा हो रहे हैं)

वेदान्त दर्शन के मतानुसार मनुष्य को पूर्व में किये गये कर्मों का फल अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ता है। इस भोग के बाद ही पुनर्जन्म से मुक्ति सम्भव है। ज्ञान के द्वारा भोग भोगने के प्रभाव को कम किया जा सकता है, पूर्ण ज्ञान और पूर्णानन्द प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति अनासक्त हो कर कर्म करता हैऔर उसके लिए फिर जन्म मरण के बन्धन से मुक्ति मिल जाती है।

(8) गीता में कर्म का सिद्धान्त

गीता में कर्मवाद के सिद्धान्त को बहुत महत्व प्रदान किया गया है। गीता के उपदेशों में स्पष्ट है कि आत्मज्ञानी पुरूषों के जीवन बिताने के अनादिकाल से दो मार्ग चले आ रहे हैं।

(1) साङ्ख्यानाम या साङ्ख्य (ज्ञानीयों की निष्ठा)

(2) कार्म योग (कर्म योगियों की निष्ठा) (गीता 3/3)

इन दोनों मार्गों में गीता में कर्मयोग को श्रेष्ठ माना है क्योंकि आत्मा तो अजन्मा है। यह शरीर न कभी जन्मता है और न मरता है तथा यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला नहीं है यह जन्मरहित, नित्य-निरन्तर रहने वाला शाश्वत और अनादि है शरीर के मर जाने पर भी यह नहीं मारा जाता। मनुष्य जैसे पुराने कपड़ों को छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है ऐसे ही देही पुराने शरीर को दोड़कर दूसरे नये शरीरों में चला जाता है ।(गीता 2/20-22)

अत: मनुष्य को जन्म और मृत्यु के विषय में व्यर्थ का शोक न करके अपना कर्म करते रहना चाहिए, क्योंकि कर्म योग में एक बार प्रारम्भ किये हुए कर्म का नाश नहीं होता वह जन्म जन्मान्तर तक सक्रिय बने रहते हैं। (गीता 2/40)।

गीता में वर्णित कर्म सिद्धान्त का यही सार है (मनुष्य को) कर्तव्य कर्म करने में ही तेरा अधिकार है फलों में कभी नहीं (अत: तू) कर्मफल का हेतु भी मत बन और तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो (गीता 2/47)। ऐसा सिर्फ इस उद्देश्य से किया गया था कि यदि कर्म करने वाला व्यक्ति फल के विषय में सोचेगा तो वह कम्र को उचित प्रकार से नहीं कर पायेगा। अत: मनुष्य को फल की आशा त्याग करके कर्मों को करना चाहिए। गीता में तीन प्रकार के कर्म बताये गये हैं।

(1) कर्म - वास्तव में मनुष्य जो कुछ भी करता है वह सब गीता के अनुसार कर्म ही है चाहे वह (1) कायिक हो (2) वाचिक हो (3) मानसिक हो । (गीता 5/8-9)

(2) अकर्म — कर्मत्याग न होकर, निष्काम कर्म है।

(3) विकर्म — मनुष्य जो भी कर्म करते हैं यदि उनमें से सात्विंक कर्म घटा दे तो दो प्रकार के कर्म अवशेष बचते हैं— (1) राजस (2) तामस

इनमें तामस कर्म मोह और अज्ञान की उपज है इसलिए उन्हें 'विकर्म' कहते हैं।

विभिन्न गुणों के आधार पर , गीता के अनुसार, कर्मों की तीन भागों में बॉटा जा सकता है।

1. सात्विक 2. राजस 3. तामस

जिस ज्ञान के द्वारा साधक फलप्राप्ति की इच्छा न रखते हुये मन में न प्रेम न द्वेष रखते हुये, आसक्ति भाव से स्वधम्र करते हुये निर्धारित कर्म करता है उसके उस कर्म को सात्विक कर्म समझना चाहिए।

राजस ज्ञान में 'राग' की मुख्यता होती है जिससे राग आ जाता है उसमें किसी के प्रति आसक्ति पैदा कर देता है तो किसी के प्रति द्वेष पैदा कर देता है।

जो कर्म भोगें की इच्छा से अथवा अंकार से और परिश्रमपूर्वक किया जाता है वह राजस कहा गया है।

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न देख कर मोहपूर्वक आरम्भ किया जाता है वह तामस कहा जाता है (गीता 18/22-25)

3.6 कर्म और भाग्य

भाग्य की अवधारणा कर्म के सिद्धान्त पर आधारित हैं क्योंकि भाग्य कर्म फल का ही परिणाम है। किसी भी व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसका भाग्य उसके इस जन्म के कर्मों के आधार पर तय किया जाता है यदि किसी भी व्यक्ति ने सदकर्म किए हैं तो उसे अगले जन्म में अच्छी परिस्थिति मिलती है यदि ऐसा नहीं किया है तो अगले जन्म में उसकी परिस्थिति में गिरावट आ जाती है।

कुछ विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि भारत में कर्म का सिद्धान्त भाग्यवाद का आधार रहा है। मैकडोनल (Macdonell) का कथन है कि पुनर्जन्म तथा कर्म के सिद्धान्त के मिलेजुले प्रभाव के परिणाम स्वरूप व्यक्ति को एक तरफ, वर्तमान जन्म को पूर्वजन्मों का प्रतिफल मानकर भाग्य पर सन्तोष करना पड़ता है दूसरी तरफ, इससे व्यक्ति की क्रियाशीलता में शिथिलता आ जाती है और वह वैराग्य की ओर उन्मुख होता है। (लेक्चर्स आन कम्परेटिव रिलीजन 1925, पृ0 67) । साथ ही यह भी मान्यता है कि कर्म सिद्धान्त में व्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई स्थान नहीं है जिससे व्यक्ति अन्ततोगत्वा निराशावादी हो जाता है। ए0 वी0 कीथ जो संस्कृत के दूसरे महत्वपूर्ण विद्वान हैं कर्म के सिद्धान्त को भाग्यवादी सिद्धान्त माना है (पी0 एच0 प्रभू पृ0 43)।

वास्तव में भाग्य अतीत में स्वयं के द्वारा ही किए हुये कर्मों का प्रतिफल माना गया है। आज व्यक्ति जिस रूप में भी है, अपने पूर्व जन्मों के संचित कर्मों में से प्रारब्ध अर्थात वर्तमान जीवन में वह जिन कर्मों का भोग कर रहा है, का ही परिणाम है। भाग्य, पूर्व में हमारे द्वारा ही किए गये कर्मों की प्रतिक्रिया है। व्यक्ति के स्वयं के कर्म ही उसके भाग्य का कारण है। वास्तविकता यह है कि भाग्य कर्म पर आधारित है, न कि कर्म भाग्य पर। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है।

3.7 कर्म के सिद्धान्त का महत्व

कर्म का सिद्धान्त सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था और संगठन स्थापित करने में सहायक सिद्ध होता है। कर्म फल पर विश्वास के कारण ही समाज में सब कार्य सुचारू रूप से चलते रहते हैं।

यह सिद्धान्त इसलिए भी बहुत महत्वपूर्ण है कि बौद्ध और जैन धर्म भी इसके पक्षधर हैं जबकि हिन्दू धर्म के अनेक पक्षों के ये कटु आलोचक भी रहे हैं। डा0 राधाकृष्णन का मत है कि कर्म का सिद्धान्त भविष्य के प्रति आशा और अतीत के प्रति विस्मृणन पर बल देता है। (एस0 राधाकृष्णन: फिल्साफी आफ दि उपनिषद पृ0 125)।

समाजशास्त्री मैक्स बेवर का विचार है कि यह सिद्धान्त पूरे इतिहास में सबसे अधिक सन्तुलित दैवी विश्वास का प्रतिनिधित्व करता है (मैक्स बेवर : दि रिलीजन आफ इण्डिया पृ0 121) यह सिद्धान्त अकर्मण्यता अथवा आलस्य की भावना को त्याग कर अपने सत्कर्मों द्वारा अपने भविष्य के भाग्य को बदलने के लिए मनुष्य को प्रोत्साहित करता है।

3.8 कर्म-सिद्धान्त के दोष

कर्म के सिद्धान्त का आधार पुरूषार्थों की पूर्ति रहा है, लेकिन कर्मवाद में प्रारब्ध के जुड़ जाने के कारण भाग्य की धारण अधिक महत्वपूर्ण हो गयी जिससे ऐसा लगता है कि व्यक्ति के व्यवहार में भाग्यवादिता प्रबल है। वास्तव में जब सब कुछ पूर्वजन्म के कर्मों पर ही निर्भर है तो व्यक्ति इस जीवन में क्यों कार्य करे। यदि इस जीवन में किये गये कर्मों का फल भविष्य के जीवन में मिलेगा तो ऐसी स्थिति में मनुष्य के प्रयासों में शिथिलता आ जाती है ।

कर्म के सिद्धान्त में पारलौकिक जीवन को लौकिक जीवन की तुलना में अधिक महत्व प्रदान किया गया है जिसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य आध्यात्मिक कल्याण में अधिक लग गया और लौकिक दायित्व के प्रति उदासीन हो गया। इस दृष्टिकोण से कर्म के सिद्धान्त ने भाग्य वाद को अधिक प्रोत्साहित किया और भौतिक प्रगति के प्रति उदासीन रहा ।

3.9 सारांश

कर्म के सिद्धान्त का भारतीय समाज के ऊपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी यह जानता है कि व्यक्ति को अपने किये का फल भोगना ही पड़ेगा। यदि व्यक्ति उचित कर्म करता है, अपने दायित्वों एवम् कर्तव्यों को भली प्रकार से पूरा करता है तो उसे अच्छा फल अवश्य ही मिलेगा। कर्म व्यक्ति की क्रिया के रूप में और फल उसकी प्रतिक्रिया के रूप होती रहती है। यह कर्म तब तक चलता रहता जबतक व्यक्ति को पुनर्जन्म से युक्ति नहीं मिल जाती। मुक्ति का अर्थ इस संसार के आवागमन से छुटकारा पाना और अपने अन्तिम लक्ष्य, मोक्ष का प्राप्त होना। कर्म के सिद्धान्त में लौकिक जीवन की उपेक्षा की गई है। तथा पारलौकिक जीवन को अधिक महत्व दिया गया है। यद्यपि मनुष्य के जीवन में प्रेरणा भरना ही कर्म के सिद्धान्त की मौलिक विशेषता है जो मानव को अटूट क्रियाशीलता को प्रेरित करता है।

3.10 संदर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

1. हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन - पी0 एच0 प्रभू
2. धर्म शास्त्र का इतिहास - डा0 पाण्डुरंग वामन काणे
3. श्रीमद्भगवद्गीता - गीता प्रेस गोरखपुर
4. दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ - डा0 राधाकृष्णन्

3.11 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भाग्य पर एक टिप्पणी लिखिए
2. कर्म भाग्य नहीं है? क्या इससे आप सहमत हैं।
3. कर्म के प्रकार बताइये।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. कर्म के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए तथा इसके महत्व को समझाइये।
2. कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।
3. कर्म की व्याख्या कीजिए तथा इसके गुण-दोष बताइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्न में से कौन एक कर्म का तत्व नहीं है।

   (अ) कर्ता (ब) परिस्थिति (स) सम्पत्ति (द) प्रेरणा

2. वेदान्त दर्शन के अनुसार कर्म कितने प्रकार के होते हैं?

   (अ) एक (ब) दो (स) तीन (द) चार

3. गीता में किस प्रकार के कर्म के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया गया है।

   (अ) निष्काम (ब) कामिक (स) वाचिक (द) मानसिक

3.12 प्रश्नोत्तर

1. स
2. स
3. अ

इकाई 4 हिन्दुत्व की मान्यताएँ एवं अनेकता में एकता

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 हिन्दुत्व का परिचय एवं अर्थ

4.2.1 हिन्दुत्व का अर्थ

4.2.2 हिन्दुत्व का व्यावहारिक पक्ष

4.3 हिन्दुत्व की मान्यताएँ

4.3.1 सृष्टि के विषय में मान्यता

4.3.2 ब्रह्म विषय व मान्यता

4.3.3 कर्म के सिद्धान्त में विश्वास

4.3.4 आत्मा विषयक विश्वास

4.3.5 मुक्ति

4.3.6 मरणोत्तर जीवन की मान्यता

4.3.7 सार्वभौमिकता

4.3.8 मूर्ति पूजा

4.3.9 गुरु की मान्यता

4.3.10 अवतार

4.3.11 योग

4.3.11.1 राजयोग

4.3.11.2 कर्म योग

4.3.11.3 भक्ति योग

27.3.11.4 ज्ञान योग

4.3.12 ऋण

4.3.12.1 ऋषि ऋण

4.3.12.2 पितृ ऋण

4.3.12.3 देव ऋण

4.3.12.4 मनुष्य ऋण

4.3.13 पंच महायज्ञों की मान्यता

4.3.14 पुरुषार्थ

4.3.15 वर्णाश्रम

4.3.16 संस्कार

4.3.17 तीर्थ

4.3.18 ओम

4.4 अनेकता में एकता

4.4.1 भौगोलिक अनेका

4.4.2 प्रजातीय भिन्नता

4.4.3 सांस्कृतिक भिन्नता

4.5 अनेकता में ऐक्य भाव

4.6 सारांश

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

4.8 प्रश्नोत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन क़रके आप निम्न बातों को समझने में समर्थ होंगे :

* हिन्दुत्व का परिचय
* हिन्दुत्व का अर्थ
* हिन्दुत्व की विशेषताएँ
* हिन्दुत्व की मान्यताएँ—ज्ञानकाण्डीय एवं कर्मकाण्डीय
* अनेकता की स्थिति
* नानत्व को एक सूत्र में बांधने वाली एकता

4.1 प्रस्तावना

हिन्दुत्व ऐतिहासिक युग के पूर्व का धर्म है। इसे हिन्दू धर्म भी कहते हैं। अनेकानेक चोटों को सहता हुआ यह धर्म आज भी विद्यमान है। विवेकानन्द जी कहते हैं कि आधुनिक विज्ञान के नवीनतम आविष्कार वेदान्त की प्रतिध्वनि है। वेदान्त के अति उच्च आध्यात्मिक भाव से लेकर सामान्य मूर्तिपूजा तक के लिए इसमें (हिन्दुत्व में) स्थान है। हिन्दुत्व को हमने वेदों से प्राप्त किया है जो अपौरुषेय माने जाते हैं। आध्यात्मिक जगत को चलाने वाले नियम

गुरुत्वाकर्षण के नियम की तरह काम करते रहते हैं। इनका पता नहीं था तब भी ये काम करते थे गुरुत्वाकर्षण के नियम की भाँति। यदि मानव इन्हें भूल जायें तो भी ये कार्य करते रहेंगे। इन आध्यात्मिक नियमों का न कोई आदि है और न अन्त।

4.2 हिन्दुत्व का परिचय एवं अर्थ

हिन्दुत्व अतिपुरातन (जिसके उदय की तिथि का पता नहीं है), श्रद्धा एवं भक्ति युक्त धर्म है। जो बाहर से आये हुए (प्रवासी) समुदायों को छोड़कर सबको स्पर्श करना है। फ्रांस काथलिक धर्म नहीं हैं क्योंकि फ्रांस के अलावा भी काथलिक देश हैं, पाकिस्तान इस्लाम नहीं है क्योंकि और भी अनेक मुस्लिम राज्य हैं, भारत हिन्दुत्व है। यहाँ आये हुए पर्यटक के लिए अनिवार्य रूप से हिन्दुत्व ही भारत को सबसे पहले और सदा के लिए सब देशों से अलग करता है। सर्व व्यापक सूर्य के प्रकाश की तरह हिन्दुत्व भारत की हर ध्वनि और दृष्टि में व्याप्त (फैला हुआ) है। शरीर का जो संबंध खून से है वही भारत का संबंध हिन्दुत्व से है। सेंगल रोनाल्ड अपनी पुस्तक 'द क्राइसिस आव इण्डिया' में हिन्दुत्व को भारत के जीवन की गति अथवा बहाव कहते हैं। बाजार की प्रकृति, ग्रामीण श्रम-विभाजन, गाँव और राज्य की सरकार, जन्म, विवाह और मृत्यु की औपचारिकताएँ—ये सभी हिन्दुत्व के रूप हैं।

हिन्दुत्व व्यक्ति का उसके समाज से संबंध उसके देर से अधिकार और कर्तव्यों का विधान करके तय करता है। यह व्यक्ति को उसकी पत्नी, उसके माता-पिता, उसके बच्चों और सर्वाधिक उसी से जो संबंध है उसे बता देता है। एक भारतीय (हिन्दू) क्या करता है, कैसे सोचता है, क्या विश्वास करता है, कैसे जीवन जीता है, कैसे अनुभव करता है आदि सब पर हिन्दुत्व का प्रभाव पड़ता है। प्रश्न है यह हिन्दुत्व क्या है?

4.2.1 हिन्दुत्व का अर्थ

हिन्दुत्व की परिभाषा देने का कार्य एक कठिन कार्य है। बहुत से लोगों के लिये यह एक ऐसा नाम हो सकता है जिसकी कोई अन्तर्वस्तु नहीं है। क्या हिन्दुत्व विश्वासों का एक संग्रहालय है, अनुष्ठानों का एक सम्मिश्रण है, या केवल एक मैप है, एक भौगोलिक अभिव्यक्ति है। इसकी अन्तर्वस्तु यदि कोई है तो वह युग-युग में और एक समुदाय से दूसरे समुदाय में बदलती रहती है। हिन्दुत्व पर प्रकाश डालते हुये सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन अपनी 'धर्म और समाज' नामक कृति में लिखते हैं 'हिन्दुत्व किसी जातीय तथ्य पर आधारित नहीं हैं यद्यपि हिन्दू सभ्यता का मूल वैदिक आर्यों के आध्यात्मिक जीवन में है। उसके मूल के चिन्ह अभी लुप्त नहीं हुए हैं फिर भी इसने द्रविणों और यहाँ के अन्य निवासियों के सामाजिक जीवन से इतना कुछ ग्रहण किया है कि आधुनिक हिन्दुत्व में से वैदिक और वैदिक भिन्न तत्वों को सुलझाकर अलग कर पाना कठिन है। भारत एक परम्परा, एक भावना एक प्रकाश है। उसकी भौतिक और आत्मिक सीमाएं एक नहीं पृथक-पृथक हैं। भारत आध्यात्मिक मान्यताओं को अन्य मान्यताओं की अपेक्षा अधिक महत्व देता है।'' अत: हिन्दुत्व में आध्यात्मिकता पर सबसे अधिक बल है।

4.2.2 व्यावहारिक पक्ष

डॉ० राधाकृष्णन ने हिन्दुत्व के व्यावहारिक पक्ष को भी उजागर किया है। आपका कथन है कि व्यावहारिक दृष्टि से हिन्दुत्व विचारों के एक स्वरूप से कहीं अधिक एक जीवन प्रणाली है। विचार जगत में हिन्दुत्व पूर्ण स्वच्छन्दता प्रदान करता है वहीं **एक कठोर आचरण की संहिता को लागू** करता है। आस्तिक और नास्तिक, सन्देही और अज्ञेय वादी सभी हिन्दू हो सकते हैं यदि वे संस्कृत और जीवन की हिन्दू प्रणाली को स्वीकार करते हैं। विद्यानिवास मिश्र अपनी कृति हिन्दू धर्म, जीवन में सनातन की खोज' में लिखते हैं 'धर्म वस्तुत: जीने का एक तरीका है। यह विश्वासों से अधिक जीने की प्रक्रिया पर आधारित है।' हिन्दू धर्म न तो देश से बंधा है और न काल से। हिन्दू जीवन दर्शन को अपनाने वाला किसी देश का व्यक्ति अपने को हिन्दू कह सकता है। निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म ज्ञान को आचरण से जोड़ते रहने की एक अनवरत प्रक्रिया है।

हिन्दुत्व में धार्मिक अनुरूपता पर उतना जोर नहीं है जितना जीवन के आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टिकोण पर। हमारे चाहे जो भी ईश्वरपरक विश्वास अथवा तात्विक मत हों, हम सभी इसमें सहमत हैं कि हमें दयालु और ईमानदार कृतज्ञ और दीन-दुखी के प्रति सहानुभूति होनी चाहिये। हिन्दू नैतिक जीवन पर बल देता है और इन सभी से भाई चारा अथवा संसर्ग मानता है जो नैतिक नियमों के दावों से अपने को बंधा हुआ मानते हैं। **हिन्दुत्व कोई पंथ अथवा सम्प्रदाय नहीं है बल्कि इन लोगों का भाई चारा है जो न्याय को स्वीकार करते** हैं और सत्य को खोजते हैं। हिन्दू धर्म जीवन में सनातन की खोज करता है। हिन्दू धर्म सृष्टि के साथ तादात्म्य पर बल देने वाला धर्म है और उसके समस्त अनुष्ठान (यज्ञ, उपासना और भक्ति) इस तादात्म्य के लिये साधन हैं। यज्ञ और उपासना उसके बाह्य और आभ्यन्तर पक्ष हैं।

4.3 हिन्दुत्व की मान्यताएँ

4.3.1 सृष्टि के विषय में मान्यता

सृष्टि अनादि तथा अनन्त है। ऐसा नहीं है कि ईश्वर आया और उसने विश्व की रचना की और तब से सो रहा है क्योंकि ऐसा नहीं है। सर्जनात्मक ऊर्जा का प्रवाह अब भी है। ईश्वर अनवरत सृष्टि करता रहता है और कभी भी विश्राम नहीं करता। गीता का एक उद्धरण प्रस्तुत है जिसमें कृष्ण कहते हैं 'यदि मैं एक सेकेण्ड के लिये भी विश्राम की स्थिति में रहूँ तो यह विश्व नष्ट हो जायेगा।' यदि सर्जनात्मक ऊर्जा एक सेकेण्ड के लिये ठहर जाती है तो सब कुछ नष्ट हो जाता है। ऐसा समय कभी नहीं रहा है जब वह ऊर्जा पूरे विश्व में काम न कर रही हो; लेकिन एक चक्रों का नियम (प्रलय) अवश्य है। क्रिएशन को प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) कहना अधिक तर्क संगत लगता है। संस्कृत का शब्द 'सृष्टि' अधिक उपयुक्त नहीं है।

क्रिएशन का अर्थ अभाव अथवा शून्य में कुछ के उत्पन्न होने का विचार लिया जाये तो यह एक भयानक और अपरिष्कृत (अनगढ़) विचार हैं। अर्थात् अभाव से भाव का ख्याल अथवा अनस्तित्व से अस्तित्व का विचार अनुपयुक्त है। सम्पूर्ण प्रकृति का अस्तित्व है। यह और उत्कृष्टतर हो जाती है शान्त हो जाती है और विश्राम की अवधि के बाद फिर सब कुछ सामने

प्रक्षेपित हो जाता है और वही संयोग, वही उद्विकास और वही अभिव्यक्तियाँ थोड़े समय के लिये प्रकट होकर क्रीड़ा करती रहती है केवल पुन: टुकड़ों में विभक्त होने, उत्तमतर और अधिक उत्तमतर होने के लिये जब तक सब कुछ शान्त होकर पुन: उत्पन्न नहीं हो जाता। समय, स्थान और कारण सभी इसी प्रकृति के अन्तर्गत हैं। अत: यह कहना कि इसका आदि है और एक बकवास है। न इसका आदि है और न ही इसका अन्त। हमारे **शास्त्रों में जहाँ आदि और अन्त का प्रयोग हुआ है उसका अर्थ एक चक्र के आदि और अन्त का प्रयोग हुआ है उसका अर्थ एक चक्र के आदि और अन्त से है, इससे अधिक कुछ नहीं**। स्वामी विवेकानन्द की एक उपमा से यह और अधिक स्पष्ट हो सकेगा। सृष्टा और सृष्टि मानों दो रेखायें हैं, जिनका न आदि हैं और न अन्त, और जो समानान्तर है।

4.3.2 ब्रह्म विषयक मान्यता

इस सृष्टि को किसने बनाया? उत्तर ईश्वर (ब्रह्म) ने। अंग्रेजी के गॉड शब्द के लिये ब्रह्म शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त माना जाता है। ब्रह्म सभी अभिव्यक्तियों का सामान्य कारण है। यह ब्रह्म क्या है? वह शाश्वत, अनवरत रूप से शुद्ध, अनवरत रूप से जाग्रत, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, पूर्णरूपेश दयावान, सर्वव्यापक, अरूप और अखण्ड है उसने विश्व को रचा। यदि वह सदा विश्व के बनाने और थामने का कार्य करता है तो दो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। इस संसार में पक्षपात दिखाई पड़ता है। एक खुश होकर जन्मता है तो दूसरा दु:खी होकर। एक अमीर है तो दूसरा गरीब। यह पक्षपात सूचक है। फिर क्रूरता भी है क्योंकि यहाँ जीवन की शर्त मृत्यु है। एक जानवर दूसरे के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। प्रत्येक मानव अपने भाई से कुछ अधिक ही अच्छा पाने का प्रयास करता है। यह प्रतियोगिता, क्रूरता, भयानकता, और रात-दिन हृदय विदारक आहें हमारे इस संसार (विश्व) की वस्तुओं की दशाएँ हैं। यदि यही ब्रह्म की सृष्टि हो, तो वह ब्रह्म दुष्ट से भी अधिक बुरा है। वह मानव द्वारा कल्पित किसी दैत्य से भी बुरा है। वेदान्त कहता है अरे इस पक्षपात का दोषी ब्रह्म नहीं है। यह दोष तो प्रतियोगिता अथवा होड़ का है। इस होड़ का निर्माण किसने किया? उत्तर स्वयं हमने। एक उदाहरण का सहारा लेकर इसे स्पष्ट किया जा सकता है। एक बादल सभी खेतों में समान पानी की वर्षा करता है। पर अच्छी तरह से जुते हुए खेत को वर्षा का लाभ मिलता है। जिस खेत की ठीक से जुताई नहीं हो पाती उसको वर्षा का लाभ नहीं मिलता। इसमें बादल दोषमुक्त है। ईश्वर की कृपा शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। उसमें विभेद हम लोग उत्पन्न करते हैं। पर कुछ सुखद और कुछ दु:खद जन्म पाते हैं। इसकी व्याख्या कैसे की जाय? वे इस बिभेद के बनने में इस जन्म में कुछ नहीं करते परन्तु पिछले जन्म में उन्होंने ऐसा कुछ जरूर किया जिससे यह विभेद उत्पन्न हुआ। यह विभेद पूर्व जन्म की क्रिया द्वारा व्याख्यायित होता है।

4.3.3 कर्म के सिद्धान्त में विश्वास

इस सिद्धान्त से हिन्दू, बौद्ध और जैन सभी सहमत हैं। हम सभी मानते हैं कि जीवन शाश्वत है ऐसा नहीं है कि जीवन अनस्तित्व से उत्पन्न हुआ हो। जीवन का अस्तित्व अवश्य रहा होगा। हममें से प्रत्येक अनन्त अतीत का परिणाम है। एक बच्चा जो संसार में जन्म लेता है उसके पास एक असीम अतीत का बोझ होता है क्योंकि अच्छाई या बुराई के लिए वह अपने अतीत

के कर्मों का हिसाब लगाता है। इसी से विभेदीकरण का निर्माण होता है। यही कर्म का नियम है। प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता है। यही नियम पूर्व नियति (प्री डेस्टीनेशन) और भाग्य (फेट) के सभी सिद्धान्तों को सर में खटखटाता है और हमें मनुष्य और ब्रह्म के बीच समन्वय का एकमात्र साधन प्रदान करता है। हम और केवल हम, कोई अन्य नहीं, अपनी पीड़ा के लिये उत्तरदायी है। **हमीं कारण हैं और हमीं कार्य हैं**। इसलिये हम स्वाधीन हैं। यदि हम दु:खी हैं तो अपनी निज की देन के कारण। इससे यह भी संकेत मिलता है कि यदि हम चाहें तो हम प्रसन्न हो सकते हैं। यदि हम अपवित्र हैं तो निज के कारण। इससे यह संकेत मिलता है कि हम यदि चाहें तो पवित्र हो सकते हैं। मानव इच्छा सभी परिस्थितियों से परे टिकी रहती है। इस मानव इच्छा के सामने सभी शक्तियाँ, यहाँ तक कि प्रकृति भी घुटने टेक देती है। वशीभूत हो जाती है, सेविका बन जाती है। यही कर्म के नियम का फल है।

4.3.4 आत्मा विषयक विश्वास

ब्रह्म को समझने के लिये आत्मा का ज्ञान आवश्यक है। भारत और भारत के बाहर बाह्य प्रकृति का अध्ययन करके परे की झलक को पाने के प्रयास हुए हैं पर असफलता हाथ लगी है। जितना अधिक हम भौतिक संसार का अध्ययन करते हैं हमारी और आर्थिक भौतिक बनने की प्रवृत्ति होती है जिससे हमारे पास जो थोड़ी सी आध्यात्मिकता होती है वह भी लुप्त हो जाती है। इसलिये यह मार्ग आध्यात्मिकता अथवा सर्वोच्च ज्ञान के लिये उपयुक्त नहीं है। यह हृदय से आना चाहिये, आत्मा से आना चाहिये बाह्य कार्य परे और असीम के विषय में कोई शिक्षा नहीं देते हैं केवल आन्तरिक अथवा आभ्यन्तर द्वारा ही यह सम्भव है। अत: केवल आत्मा और आत्मा के विश्लेषण द्वारा हम ब्रह्म को समझ सकते हैं। आत्मा की प्रकृति के बारे में मतमतान्तर होने के बाद भी हम सभी सहमत हैं कि आत्मा का न कोई आदि है और न अन्त और अपनी प्रकृति से अमर है। आत्मा में सभी शक्तियां, शुद्धता सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता आदि छिपे हैं। प्रत्येक मानव और पशु में सर्वव्यापक और सर्वज्ञ आत्मा निवास करती है। हम और छोटे पशु में केवल अभिव्यक्ति में अन्तर है परन्तु सिद्धान्त में वह मेरे समान है, वह मेरा भाई उसकी और हमारी आत्मा एक है। यह एक महानतम सिद्धान्त अथवा मान्यता है जिसे हिन्दुत्व ने दिया है। भारत में मनुष्य का भाईचारा सार्वभौमिक जीवन का भाई-चारा है, जानवरों और चीटियों तक के जीवन का भाई-चारा है।

मानस और आत्मा में अन्तर है। मानस शरीर से परे हैं इस पर भी मानस आत्मा नहीं है। वह सूक्ष्म शरीर है जो उत्कृष्टतम कणों से निर्मित है जो जन्म से मृत्यु तक जाता है। मानस के पीछे आत्मा (मनुष्य का आत्म) है। आत्मा मानस और शरीर से अलग है। सूक्ष्म शरीर के साथ आत्मा जन्म और मृत्यु से गुजरती है। समय आने पर जब वह पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, सर्वज्ञ हो जाता है तो उसे जन्म मृत्यु से छुटकारा मिल जाता है। तब उसे यह स्वतन्त्रता मिल जाती है कि वह सूक्ष्म शरीर को रखे या फिर उसे सदा के लिये छोड़ दे और समस्त अनन्तता तक वह स्वतन्त्र रहे। आत्मा का लक्ष्य छुटकारा है। यह हिन्दुत्व की एक विशिष्टता है। हमारे यहाँ स्वर्ग और नरक भी हैं पर ये असीम अथवा अनन्त नहीं हैं। मानव शरीर

देवताओं से भी श्रेष्ठ है, सभी योनियों में सबसे श्रेष्ठ हैं। बहुत से देवता स्वर्ग से सुखों को त्यागकर नीचे गिरकर मानव बन जाते हैं। यह पृथ्वी कर्म-भूमि है। यह पृथ्वी है जहां से हम मुक्ति पा सकते हैं। इसलिये ये स्वर्ग भी प्राप्त करने योग्य नहीं हैं। मुक्ति ही सबसे बड़ा स्वर्ग है। बाह्य और आन्तरिक प्रकृति से छुटकारा पाने का विचार मुख्य है। क्योंकि न ही जीवन न हो जन्म न हो मृत्यु। न और अधिक आनन्द और न अधिक दु:ख। संसार में जिसे हम सुख और अच्छा कहते हैं शाश्वत आनन्द के कण हैं। अत: शाश्वत आनन्द से हमारा उद्देश्य है।

4.3.5 मुक्ति

वेद के मत से आत्मा ब्रह्म स्वरूप है, वह केवल पंचभूतों के बन्धनों में बंधी हुई है और उन बन्धनों के टूटने पर वह अपने पहले के पुर्नत्व को प्राप्त कर लेगी। इस अवस्था का नाम मुक्ति है। बन्धनों के रहते मुक्ति कहां। बन्धन से छूट जाना ही मुक्ति है। बन्धन तो अनेकानेक हैं पर सबसे बड़ा बन्धन भव-बन्धन हैं जिसे जन्म मृत्यु का बन्धन भी कहते हैं। हिन्दुओं में मुक्ति की बड़ी महिला एवं मान्यता है। मुक्ति को मूल्यों का मूल्य कहा गया है। धर्म, अर्थ और काम मूल्य है। इन तीनों का भी मूल्य है मुक्ति। इसक लिये ईश्वर साक्षात्कार की आवश्यकता है। मुक्ति का अर्थ है स्वाधीनता अपूर्णता, जन्म मृत्यु अधि-व्याधि से छुटकारा। चरम मुक्ति को चरम पुरुषर्थ माना गया है।

आत्मा केवल ईश्वर की दया से ही इस बन्धन से मुक्ति पा सकती है। केवल शुद्ध पवित्र स्वभाव वालों पर ही वह दया करती है। पवित्रता से उसके अनुग्रह की प्राप्ति हो सकती है। विशुद्ध और निर्मल मनुष्य इसी जीवन में ईश्वर दर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है। तुलसीकृत रामायण में भगवान स्वयं कहते हैं।

निर्मल मन जन सो मोंहि पावा।

मोंहि कपट छल छिद्र न भावा॥

ईश्वर के प्रति अहैतुकि भक्ति नि:स्वार्थ प्रेम से मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

4.3.6 मरणोत्तर जीवन की मान्यता

मृत्यु जीवन का अंत नहीं है। मृत्यु तो जीर्ण शीर्ण शरीर का त्याग है। जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे में प्रवेश करती है और आगे का जीवन जीने लगती है। इस प्रकार हिन्दू का जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण है कि यहद् जीवन (वर्तमान जीवन) स्वयं में मूल्यवान नहीं है। यह तो पिछले और अगले जीवनों की शृंखला की एक कड़ी है। हिन्दुओं की मान्यता के अनुसार जीवन शृंखलामय है। पिछले जीवन का संबंध इस जीवन से और इस जीवन का संबंध अगले जीवन से है। यह जीवन का सिलसिला तब तक चलता रहेगा जब तक मोक्ष न मिल जाय। मोक्ष मिल लाने पर जीवन का प्रवाह मिट जायेगा। एक जीवन एक स्तर के समान है। मोक्ष पाने के लिये उसे ऐसे कई स्तरों से गुजरना पड़ सकता है।मानव जीवनऐसे विभिन्न स्तरों से होकर शाश्वत जीवन तक पहुंचने के लिए एक तीर्थयात्रा है। जब मनुष्य ध्यान द्वारा अपने को पवित्र कर और ज्ञान प्राप्त कर मरता है अथवा ऋषिगण और ज्ञानी जन जब मरते हैं

तो उन्हें ऐसे रास्ते से ले जाया जाता है कि वे वापस नहीं लौटते हैं वे जो ज्ञानी नहीं प्राप्त कर पाये हैं और इस जीवन में अच्छे कर्म करते रहे हैं। मरने के बाद, पहले, वे धुएं से होकर गुजरते हैं, फिर रात को, फिर कृष्ण पक्ष (15 दिन) को, फिर छः माह तक जब सूर्य दक्षिणायन में होता है और वहां से वे अपने पूर्वजों के लोक में जाते हैं, फिर आकाश में (ether) फिर चन्द्रलोक में और वहां से देवताओं का खाद्य बन जाते हैं और बाद में देवता के रूप में जन्म लेते हैं औरवहां तक तक रहते हैं जब तक शुभ कर्म अनुमति देते हैं। जब शुभ कर्मों का असर समाप्त हो जाता है तब पृथ्वी पर उसी मार्ग से वापस आ जाते हैं। पहले वे गगन (ether) बनते हैं फिर वायु, फिर धुआं, फिर कुहरा, फिर बादल और पानी की बूंदों के रूप में धरती पर गिरते हैं, फिर खाद्य पर्दा में मिल जाते हैं और मनुष्यों द्वारा खा लिए जाते हैं और अन्त में उनके बच्चे (संतानें) बन जाते हैं। जिनके कर्म अच्छे होते हैं। अच्छे परिवारों में जन्म लेते हैं और जिनके कर्म बुरे होते हैं उन्हें बुरे जन्मों की प्राप्ति होती है। जीवधारी इस धरती पर आते-जाते रहते हैं अतः पृथ्वी न तो कभी पूरी तरह रिक्त होती है और न कभी पूरी तरह से भरी हो। यह तो इस बात का निदान हुआ कि जो स्वर्ग में होते हैं वे वहां धरती पर कैसे वापस आते हैं।

हिन्दू मान्यता के अनुसार ईश्वर के सान्निध्य के बिना कोई स्वर्ग स्थाई नहीं है। वे लोग जिनका ईश्वर से एकाकार नहीं हो पाया है, लेकिन इस संसार में उन्होंने अच्छे कर्म किये हैं इस उद्देश्य से किये हैं कि वे उनका आनन्द भोगेंगे। वे मरने के बाद इस-उस स्थान से स्वर्ग पहुंचते हैं और वहां देवताओं के बच्चों के रूप में वैसे ही जन्म लेते हैं जैसे हम यहां जन्म लेते हैं और वे वहां तब तक रहते हैं जब तक उनके अच्छे का आधारभूत विचार सामने आता है कि हर वस्तु जिसका नाम और रूप होता है नश्वर है इसलिये ये स्वर्ग भी अवश्य नश्वर होने चाहिये क्योंकि वहां भी नाम और रूप रहते हैं। स्वर्ग शाश्वत है एक भ्रामक विचार है क्योंकि नाम रूप वाली हर वस्तु समय में प्रारम्भ होती है समय में रहती और समय में विलीन हो जाती है। ये वेदान्त के सिद्धान्त स्थाई हैं और इसलिये स्वर्ग त्याग दिये जाते हैं।

4.3.7 सार्वभौमिकता

हिन्दुत्व की यह एक दृढ़ मान्यता है कि यह एक सार्वभौमिक धर्म है। सार्वभौमिक धर्म देश और काल तक मर्यादित नहीं हो सकता है। हिन्दुत्व की इस मान्यता की ओर प्रारमभ में ही संकेत किया जा चुका है। हिन्दु धर्म उस भगवान की भाँति अनन्त है जिस भगवान के संबंध में वह उपदेश देता है। इद्य भगवान का प्रकाश कृष्ण भक्तों पर ईशु प्रेमियों पर, सन्तों और पापियों पर समान रूप से पड़ता है। यह धर्म न तो ब्राह्मणों का है, न बौद्धों का, न ईसाइयों का और न मुसलमानों का। इन सभी धर्मों का समष्टिरूप होने पर भी इसमें उन्नति का अनन्त पथ खुला है। कामना है कि यह इतना व्यापक बने कि अपनी असंख्य प्रसारित भुजाओं द्वारा सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य को गले लगा ले।

4.3.8 मूर्ति पूजा

हिन्द धर्म में मूर्ति पूजा की मान्यता है। हिन्दू मूर्ति पूजक हैं। वह अच्छी तरह जानता है कि

मूर्ति में ईश्वर नहीं है। ईश्वर उसके पीछे है। मूर्ति के माध्यम से वह अपने आराध्य देव में मन लगाता है। ईश्वर उसके पीछे हैं। मूर्ति के माध्यम से वह अपने आराध्य देव में मन लगाता है। हिन्दू लोग पवित्रता, नियत्व और सर्वव्यापकत्व के भावों को देवताओं की मूर्तियों से जोड़कर अथवा उन्हें आधार बनाकर आगे की ओर बढ़ते हैं। मूर्ति पूजा अथवा बाह्य पूजा तो सबसे निचला स्तर है। मानसिक प्रार्थना इसके आगे का स्तर है तथा परमेश्वर से साक्षात्कार उच्चतम स्तर है। मूर्तिपूजा जीवन की एक आवश्यक अवस्था के रूप में स्वीकार्य है। मूर्तिपूजा के माध्यम से ब्रह्म भाव को अधिक सरलता से अनुभव किया जा सकता है। मूर्तियाँ आध्यात्मिक उन्नति में सहायक हैं। विवेकानन्द जी कहते हैं कि मूर्तियाँ मानों वे खूटियाँ हैं जिनमें धार्मिक भाव लटकाये जाते हैं।

मूर्तिपूजा अविकसित मन के लिये उच्च आध्यात्मिक भाव ग्रहण करने का सरल उपाय है। मूर्ति पूजा घर में भी हो सकती है और मन्दिर में भी। बाह्य पूजा चाहे घर में हो या मन्दिर में यह व्यक्तिगत होती है, सामूहिक नहीं। कीर्तन देखने में सामूहिक पूजा जैसा लगता है पर उसमें प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका अलग होती है। असली कीर्तन वही है जिसमें मनुष्य अपने में खो जाये। समूह की ताल परचलने वाला कीर्तन तो तमाशा है। वाह्य पूजा अथवा मूर्ति पूजा अपने को अपने भीतर खींचने का कार्य है। पूजा के लिये एकाग्रता की आवश्यकता है इसलिये पूजा सामूहिक रूप से नहीं की जा सकती। वाह्य पूजा समष्टि चैतन्य की ही पूजा है। मूर्ति पूजा हिन्दुत्व में अनिवार्य नहीं है। प्रत्येक हिन्दू के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह मूर्ति पूजा कासहरा ले परन्तु मूर्ति पूजा गलत है यह कहने का अधिकार किसी को नहीं है।

4.3.9 गुरु की मान्यता

हिन्दू धर्म में गुरु की आवश्यकता और महत्ता को सहर्ष स्वीकारा गया है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है इसका मतलब यह नहीं है कि हिन्दुत्व में बाह्य सहायता पर कोई रोक है, बल्कि अधिकतर मामलों में ऐसी सहायता पूर्णरुपेण आवश्यक है। बाह्य सहायता मिलने पर आत्मा की उच्चतर शक्तिों और सम्भवनाओं की चाल बढ़ जाती है, आध्यात्मिक जीवन जाग्रत हो जाता है, वृद्धि अनुप्रमाणित हो जाती है और अन्त में मनुष्य पवित्र एवं पूर्ण हो जाता है पुस्तकों के ज्ञान द्वारा अन्त:प्रेरणा की चाल अथवा गति को रफ्तार नहीं दी जा कती है। इस कार्य के लिये दूसरी आत्मा का सहारा लेना पड़ता है। इस अन्य या दूसरी आत्मा को गुरु कहते हैं वह व्यक्ति जिसकी आत्मा से अन्त:प्रेरणा उभरी जाती है उसे गुरु कहते हैं और वह व्यक्ति जिसकी आत्मा तक अन्त:प्रेरणा ले जायी जाती है उसे शिष्य कहते हैं। गुरू के पास ईश्वर से सान्निध्य कराने की शक्ति होती है। गुरू के पास गोबिन्द (परमात्मा) से मिला देने की क्षमता हतोती है। गुरू का सत्संग करने से विवेक में वृद्धि होती है। यहाँ गुरू से तात्पर्य धर्म-शिक्षक से है। जो अपने शिक्ष्य का ब्रह्म से साक्षात्कार करा दे। ''आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा :' की स्थिति अच्छी मानी गयी है। गुरु (वक्ता) आश्चर्य जनक क्षमताओं वाला हो और शिष्य (श्रोता) चतुर हो तभी भव्य आध्यात्मिक जाग्रति का परिणाम निकलता है।

4.3.10 अवतार

अवतार का अर्थ उतरना होता है। जब परमात्मा अथवा ईश्वर अपने उच्चतम दिव्य स्तर से मनुष्य के स्तर तक उतरता है या मानव से उच्च स्तर पर या मानव से निम्न स्तर पर उतरता है तब उसे अवतार कहते हैं। अपने भक्तों के कष्टों के निवारण हेतु अथवा किसी क्रूरता को मिटाने हेतु या फिर अधर्म को रोकने और धर्म की स्थापना के लिये भगवान विष्णु अवतरित होते हैं और पृथ्वी के पाप-बोझ को हल्का करने के लिये अवतार का विधान है। ईश्वर ने दस अवतार लिये हैं जिनमें से पूर्णावतार तो कृष्णावतार है। इसमें ईश्वर ठीक ठीक मानवस्तर तक उतर आया है। न जरा सा कम और न जरा सा ज्यादा। ये अवतार मनुश्य के माध्यम से ईश्वर की उच्चतम अभिव्यक्तियाँ हैं। इन अभिव्यक्तियों को छोड़कर हम ईश्वर का दर्शन नहीं कर सकते हैं। इन अवतारों को पूजने के लिये हम बाध्य हैं। जब हम ईश्वर के बारे में सोचते हतैं जैसा कि वह अपनी निरपेक्ष पूर्णता में है हम अपने को असफल पाते हैं क्योंकि जब तक हम मनुष्य हैं हम मनुष्य की अपेक्षा किसी अन्य उच्च चीज के रूप में उसे नहीं जान सकते। समय आने पर हम उसे अपनी मानव प्रकृति से आगे जाकर जैसा वह है जान सकते हैं, लेकिन जब तक हम मानव हैं उसकी पूजा हमें मानव रूप में करनी चाहिये।

ईश्वर मनुष्य की असफलताओं को समझता है और मानवता का भला करने के लिये मानव बन जाता है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम॥

परित्राणाम साधूनां विनाशय च दुष्क्रताम।

धर्म संस्थापनार्थाय संभवाभि युगे युगे॥

अवतार के विषय में श्री कृष्ण उक्त घोषणा करते हैं।

भगवान रामकृष्ण कहते हैं ''जब एक विशाल ज्वारीय तरंग आती है सभी छोटी नदियाँ और खाइयाँ बिना किसी प्रयास के मुंह तक भर जाते हैं, उसी प्रकार जब अवतार होता है आध्यात्मिकता की एक ज्वारीय तरंग दुनियां में उठती है लोग हवा में आध्यात्मिकता का अनुभव करते हैं।

4.3.11 योग

वेद सम्मत हिन्दुत्व में दो धारायें थीं। यज्ञ की धारा और योग की धारा। यहां योग की धारा पर विचार करना है योग मनुष्य को बाल्य जगत से खींचकर अन्तर्मुख करता है और उसे ऐसी एकाग्रता की स्थिति में पहुँचाता है जहां शरीर के रहते हुये भी शरीर, मन, चित्त, अहंकार इन सबसे वह अलग हो सकता है। इस योग की धारा ने ही आत्म तत्व की जिज्ञासा को जन्म दिया। योग का अर्थ है एकत्व अथवा एकाकार होने की स्थिति। परमात्मा का साक्षात्कार ही योग है। एकत्व के लिये प्रयत्नशील मनुष्य योगी कहलाता है। हिन्दुत्व में चार प्रकार के योग हैं। राजयोग, कर्मयोग, भक्ति योग और ज्ञान योग। स्वामी विवेकानन्द जी ने

सरल एवं सजीव ढंग से इन चारों पर प्रकाश डाला है। जो कर्म मार्ग से ईश्वर का साक्षात्कार करता है वह कर्मयोगी है, जो ज्ञान मार्ग से उसे खोजता है वह ज्ञानयोगी होता है, जो प्रेम मार्ग से उसकी तलाश करता है वह भक्तियोगी है। राज योग से जो उसे खोजता है वह राज योगी है।

4.3.11.1 राज योग

ज्ञान के तीन साधन है—सहजवृत्ति, युक्ति विचार और अतीन्द्रिय बोध (इनट्यूशन)। पहला ज्ञान साधन पशुओं का है, दूसरा मनुश्यों का और तीसरा देव-मानवों का। युक्ति विचार ही विकसित होकर अतीन्द्रिय बोध बनता है अर्थात् युक्ति विचार का विरोध तभी अतीन्द्रिय बोध द्वारा नहीं होता है वरन् वह तो उसे पूर्ण बनाता है। ज्ञान प्रापित की एक ही रीति हमारे पास है। इसे एकाग्रता अथवा मनोयोग कहते हैं। जितनी अधिक एकाग्रता होगी उतना अधिक ज्ञान प्राप्त होगा। कोई भी कार्मिक अपने काम में जितनी अधिक एकाग्रता कर सकेगा उतना ही अधिक उसका काम अच्छा होगा। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, 'एकाग्रता की शक्ति ही ज्ञान के कोषगृह की एक मात्र कुंजी है।'' राजयोग प्रणाली इसी का वर्णन करती है। मन को किस प्रकार वश में करना चाहियें इसकी पूरी शिक्षा राजयोग में दी जाती है। हमारा चित्त अस्थिर रहता है इसे स्थिर रखने के लिये राजयोग एक उपाय है।

4.3.11.2 कर्मयोग

कर्मयोग कर्म के लिये कर्म करना सिखाता है। आसक्ति रहित कर्म करना सिखाता है। कर्मयोगी की स्थिति एक दाता जैसी होती है जो भलाई के कार्य करता है बिना बदले में कुछ पाने की भावना से। फल में आसक्ति न रखकर वह निष्काम कर्म करता हैं (कर्मध्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन)। बदले में कुछ पाने की भावना से किया गया कार्य दु:ख और बन्धन का हेतु बनता है। कर्मयोगी निष्काम कर्म करता हुआ ईश्वर का साक्षात्कार करता है अथवा ईश्वर में ली हो लेता है।

4.3.11.3 भक्ति योग

भावना से ओतप्रोत और प्रेमी स्वभाव वाले व्यकित के लिये भक्ति योग ईश्वर को पाने का एक अच्छा उपाय है। ईश्वर प्रेम स्वरूप है, वह प्रेम प्रेमी है। वह सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है पर प्रेम से प्रकट होता है (हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम से प्रगट होंहि मैं जाना॥)। भक्ति योगी का ईश्वर से अगाध प्रेम होता है जिससे उसका मन निर्मल हो जाता है। भगवान कहते हैं कि निर्मल मन जन उसे पा सकते हैं (निर्मल मनजन सो मोहिं पावा। मोंहि कपट छल छिद्र न भावा॥) कहते हैं कि ईश्वर का निवास प्रेम में है। जहां प्रेम है वहां ईश्वर है। माता के चुम्बन में पति के चुम्बन में, प्रेमी के चुम्बन में ईश्वर है। प्रेम में और प्रेम में वे प्रगट हो जाते हैं। प्रेम कुछ मांगता नहीं। प्रेम का सबसे बड़ा पुरस्कार प्रेम ही है। प्रेम से हृदय का विस्तार होता है। हृदय के विस्तार से ईश्वर प्रगट होता है। भक्ति योग की यही शिक्षा है।

4.3.11.4 ज्ञान योग

ज्ञान योगी संसार के परे जाने का इच्छुक होता हें। उसकी आत्मा सत्य के सहन रूप को देखना

चाहती है। उसकी आत्मा इस सर्वव्यापी परमात्मा में समा जाना चाहती है। ईश्वर उसके स्वयं की आत्मा है यह विचार उसमें समा जाता है। उसके लिये हर वस्तु ईश्वर हो जाती है। वह सारे विश्व को सीय-राम मय समझने लगता है। छान्दोग्य उपनिषद (6/8/7) में जो लिखा है वह वही कह उठता है। 'स य एषोऽणिमा ऐतदात्यमिंद सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति' वह (ज्ञान योग) मनुष्य को यही शिखा देता है कि वह स्वरूपत: ब्रह्म ही है। इस संसार में चर-अचर, निम्न में श्रेष्ठ जीवों, तक, सभी उसी प्रभु का प्रकाश हैं।

आत्मा के ब्रह्म स्वरूप को जान लेना, उसमें विलीन हो जाना, उसका साक्षात्कार करना ही हिन्दू धर्म (हिन्दुत्व) का सार है।

4.3.12 ऋण

हिन्दुत्व की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति चार ऋणों को लेकर जन्म लेता है। इस चारों ऋणों को उसे जीवनकाल में चुकाना पड़ता है। ये हैं-ऋषि ऋण, देव ऋण, पितृ ऋण और मनुश्य ऋण। इसके पीछे निहित धारणा यह है कि ऋषियों, देवताओं पितरों और मनुष्यों ने जो उपकार किये हैं, उनसे हमने लाभ उठाया है इसलिये यह हमारा नैतिक कर्तव्य बनता है कि उस लाभ का प्रतिफल वह समाज को दे। ऋण की व्यवस्था व्यक्ति को उसके कर्तव्यों के प्रति सचेत करती है और उसे अपने और अपनों से आगे बढ़ने के लिये पेरित करती है। उसके हृदय को विस्तृत करती है।

4.3.12.1 ऋषि ऋण

ऋषि ऋण को चुकाने के लिये मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह तप-पूर्वक पूव्र ऋषियों से प्राप्त अनुभव को जीवन में उतारकर अपना अनुभव बना ले। वह उनके द्वारा दिये गये ज्ञान को व्यवहार में लाये और उसमें वृद्धि करके अगली पीढ़ी के सौंप दें। लोग ये समझते हैं कि इस ऋण का परिशोध ब्रह्मचर्य आश्रम में हो जाता है। पठन-पाठन द्वारा ऋषि ऋण से मुक्त होने की बात कही गयी है। यह विद्याध्ययन का काय्र सभी लोग सभी कर सकते हैं।

4.3.12.2 पितृ ऋण

पितृ ऋण से उद्धार होने का उपाय पुत्र संतान को पैदा करने से है। जिसके पुत्र हो जाता है वह पितृ ऋण से मुक्त हो जाता है ऐसी हिन्दुओं में मान्यता है। इसलिये हिन्दू समाज में पुत्री की तुलना में पुत्र को अधिक महत्व प्राप्त है। तर्पण द्वारा पितृ ऋण का परिशोध हो जाता है। तर्पण पर अधिकार पुत्र को ही है। पितृ ऋण का असली अर्थ है परिवार भाव के प्रति दायित्व का बोध। परिवार को इकाई मानने से उसकी छुद्र निजता अपने आप लुप्त हो जाती है। परिवार भावना विकसित होते-होते वह विश्व को अपने में समेट लेती है। पितृ ऋण का भाव भविष्यत में आशा का भाव है, इस क्षण से मुक्ति के लिये गृहस्थ आश्रम की अनिवार्यता पर जोर है। पितृ ऋण का भार लेने का मतलब पालन पोषण का भार अपने ऊपर लेना है।

4.3.12.3 देव ऋण

देव ऋण तीसरा ऋण है इसे यज्ञ उपासना से चुकाया जाता है। "होम" करके इसे चुकाने की

बात मनु करते हतैं। यज्ञ का अर्थ है कि अपने को अतिशय प्रिय वस्तु देवताओं को देना है अर्थात् देवता के लिये इष्ट द्रव्य का त्याग। देव ऋण से मुक्ति का आश्य केवल बाह्य अनुष्ठान नहीं है। बल्कि अपने भीतर सोये हुये देवता का आह्वान है। हिन्दू अपने देवता को परोक्ष प्रिय मानता है। जिस मूर्ति के रूप में वह देवता को पूजता है देवता उस मूर्ति में न रहकर उसके द्वारा ध्याये गये अर्थ में रहता है।

4.3.12.4 मनुष्य ऋण

चौथा ऋण मनुष्य ऋण है। इस ऋण को चुकाने के लिये सेवा भाव आवश्यक है। इसलिये इस ऋण को चुकाने के लिये निर्वर्ण, शूद्र अथवा परिव्राजक बनना पड़ता है। इस ऋण का भार अनुभव करने वाला व्यक्ति अपने देश, काल, वर्ग, परिवार और अन्य छोटी-छोटी सीमायें लांघकर ही समस्त भूतों (प्राणियों) के हित की बात सोच सकता है। वह बेघर होकर विश्वग्राही बनता है। एक जगह बंध जाने से उसका सबकी सेवा का वत खंडित हो जाता है। उसे जीवन भर दूसरों की विपत्तियों को बंटाते रहना है। इस प्रकार इस ऋण को चरम एवं परम होने का दर्जा प्रापत हुआ और इसे चुकाने के लिये समर्पित व्यक्ति कभी वैरागी हुआ तो कभी सन्यासी।

4.3.13 पंच महायज्ञों की मान्यता

नित्य यज्ञ गृहस्थ के लिये एक आवश्यक कर्तव्य था। उसे प्रतिदिन पंचमहायज्ञों को करते रहने की सलाह दी गई थी। गृहपति का यह दायित्व था कि वह ऋषियों, देवताओं, पितरों, मनुष्यों एवं अन्य प्राणियों को संतुष्ट रखने के लिये पंचमहायज्ञों को नित्य करता रहे। आश्रम व्यवस्था का विवरण इस खण्ड की इकाई 2 में देते समय पंचमहायज्ञों के विषय में विसतार से कहा गया है।

4.3.14 पुरूषार्थ

इस खण्ड की इकाई एक में पुरूषार्थ के विपय में लिखा जा चुका है। यहां इतना कहना पयाप्त है कि पुरूषार्थ का प्रयोग मूल्य के अर्थ में हुआ है। बड़े छोटे मूल्यों का अनुमान पुरूषार्थ की धारणा से हो जाता है। ऋणों की व्यवस्था को अधिक सप्रयोजन बनाने हेतु चार पुरूषार्थों की व्यवस्था की गयी है।

4.3.15 वर्णाश्रम

इस खण्ड की इकाई दो में वर्णाश्रम व्यवस्था की विवेचना की जा चुकी है।

4.3.16 संस्कार

नियत नैमित्तिक धर्म मनुष्य के जीवन चक्र की विभिन्न अवस्थाओं से जुड़े हैं। संस्कारों का सिलसिला जीवन भर तो चलता ही है पर मरने के बाद भी संस्कार चलते रहते हैं। गर्भाधान प्रथम संस्कार है और अन्त्येष्टि अन्तिम। इकाई दो में संसकारों पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है।

4.3.17 तीर्थ

हिन्दुओं के तीर्थ स्थल पवित्र स्थान माने जाते हैं। वहां जाकर उन्हें देखने से सुख मिलता है। आनन्द की अनुभूति होती है। कहते हैं तीर्थाटन से मानव के पाप धुल जाते हैं। धोने का काम जल से होता है। जल नदियों में मिलता है। गंगा, यमुना, गोदावरी आदि पवित्र नदियाँ हैं। इन पवित्र नदियों में स्नान करके आदमी पवित्र हो जाता है, निर्मल हो जाता है, शरीर और मन को निर्मल होकर मनुष्य ईश्वर को पा सकता है। *तीर्थ का एक अर्थ जल है।* नदियों के उद्गम, नदियाँ, सरोवर और सागर जलराशि है। अत: ये सभी तीर्थ हैं। अधिकतर तीर्थ स्थल नदियों के किनारे स्थित हैं।

सच्ची तीर्थभावना तीर्थाटन से पूरी नहीं होती, नदियों में नहाने से भी पूरी नहीं होती। श्री विद्यानिास मिश्र कहते हैं कि ''तीर्थ भावना पूरी होती है ऐसे उल्लास से जिसमें सभी पवित्र लगते हैं, साथ नहाने वाले आदमी, नहाया जाने वाला तीर्थ और उस आदमी की श्वास सब कुछ।'' प्राश्यचित्त के उद्देश्य से हिन्दूओं में तीर्थ व्रत करने का विधान है। तीर्थ और व्रत दोनों में मन की शुद्धि होती है।

हिन्दू चार धर्मों के दर्शन से पुण्यार्जन की बात करता है। ये चार पवित्र तीर्थ हैं।

1. बद्रीनाथ उत्तरांचल, उत्तर भारत में स्थित है।
2. रामेश्वर तमिलनाडु दक्षिण भारत में स्थित है।
3. पुरी उड़ीसा पूर्व भारत में स्थित है।
4. द्वारिका गुजरात, पश्चिम भारत में स्थित है।

कुछ स्रोत तीर्थ हैं कुछ मुख्य सरोवर तीर्थ हैं और कुछ संगम तीर्थ हैं। इनमें नहाने से भी पाप धुल जाता है और मनुश्य की पापात्मा पुण्यात्मका में बदल जाती है।

सभी तीर्थों का भ्रमण करके जब कोई दम्पत्ति घर लौटता है तो भण्डारे (भोज) का आयोजन करता है। बिना भण्डारे के तीर्थाटन का फल अधूरा रहता है ऐसी मान्यता हिन्दुओं में हैं।

4.3.18 ओम्

ओम का उच्चारण विशेष फलदायी है। किसी मंत्र, स्त्रोत अथवा आरती करते समय ओम का उच्चारण पहले होता है। यह एक ईश्वरीय ध्वनि है जिससे जीवन का उद्भव हुआ। वेदों में इसे, त्रिमूर्ति का प्रतीक माना गया है। ब्राह्मा, विष्णु और महेश को त्रिमूर्ति में स्थानदिया गया है। कहते हतैं कि ओम् विष्णु के तीन डगों विश्व के तीन लोगों और तीन पवित्र अग्नियों का प्रतीक है।

4.4 अनेकता में एकता

भारतीय समाज की बनावट का विचार जैसे ही मस्तिष्क में आता है एक बात तुरन्त कौंध जाती है कि इसकी रचना अनेकानेक तत्वों में हुई है। इन तत्वों में भी वैमित्य परिलक्षित होता हैं। इसकी बनावट की विविधता के साथ विचारों की विविधता, भावनाओं की विविधता, रीतिरिवाजों की विविधता, खाद्य पदार्थों की विविधता, पहनावे की विविधता, पूजा की

विविधता पर्वों की विविधता, तीर्थों की विविधता, यज्ञों की विविधता, ईश्वर को पाने के साधनों की विविधता, जीवन जीने की विविधता, जीवन की अवस्थाओं की विविधता, कर्तव्यों की विविधता, प्रजाति, संस्कृति, प्रोद्योगिकी, यातायात, उद्योग, भाषा, धर्म आदि की विविधता और भौगोलिक विविधता आदि भारतीय समाज की विविधता के परिचायक हैं। रूचि, कद, रंग, ज्ञान आदत के आधार पर भी विविधता है।

नानात्व अथवा अनेकत्व समाज के लिये अनिवार्य है। केवल समानता से समाज की रचना का विचार निर्मूल है। विभेदों का अस्तित्व समाज के निर्माण में सहायक है। स्त्री-पुरुषों में लिंगीय भेद जो जन्मजात है संतानोत्पादन में सहायक है। किसी भी समाज का अस्तित्व सन्तानोत्पादक पर निर्भर है। व्यक्ति जन्म लेते हैं और मरते हैं। मरने वालों का स्थान जन्म लेने वाले लेते रहते हैं। इस प्रकार परिवार एवं समाज की निरन्तरता का क्रम चलता रहता है। समाजशास्त्रियों का कहना है कि विभेदीकरण समाज के विकास का परिचायक है। परनतु यदि समाज में भेद ही भेंद हों और इन्हें समानता तथा विभिन्नता के आधार पर जन्मी एकता द्वारा विजित न किया जाय तो समाज में संघर्श के अलावा कुछ न बचेगा। दुर्खीम आदिम समाज को यांत्रिक एकता द्वारा ओर सावयवी एकता द्वारा विभेदीकृत समाज (आधुनिक समाज) को बंधा हुआ मानते हैं। विभिन्नता पारस्परिकता की जननी है। विभिन्नता पारस्परिक एकता को जनम देकर समाज में सहयोग की भावना पैदा करती है। विभिन्नता से प्रतियोगिता का जन्म होता है। यदि समाज में सभी पद एक जैसे हों, समान प्रतिष्ठा एवं महत्व वाले हों, और समान प्रयास से प्राप्त हो सकते हों तो प्रतियोगिता के लिये स्थान न बचेगा। हाँ, यदि पदों की संख्या पाने वालों की संख्या से काफी कम है तो प्रतियोगिता होगी क्योंकि कुछ लोग पदों को न पा सकेंगे।

4.4.1 भौगोलिक अनेकता

भारत एक ऐसा देश है जिसकी भौगोलिक बनावट रंग-बिरंगी है-अनेकता सूचक है—जलवायु ऋतुओं, मिट्टी, वर्षा, पैदावार, भौतिक नावट, न7दियों आदि की अनेकता (भिन्नता) यहाँ विद्यमान है। जाड़ा, गर्मी और बरसात तीन प्रमुख ऋतुयें हैं जायद, रबी, खरीफ तीन फसलें उगायी जाती हैं। कभी शुष्क हवाएं चलती हैं, कभी उनमें नमी होती हैं और कभी कंपा देने वाली हवाएं चलती हैं। कहीं पठार है कहीं जंगल है, कहीं मरूस्थल है तो कहीं समतल और उपजाऊ जमीन है। कहीं का जल खारा अथवा कठोर है और हीं का जल मृदु है। कंकरीली पथरीली, ऊँची-नीची, ऊसर (बंजर) और उपजाऊ, बलुई और रेतीली जमीनें हैं। ऋजु परिवर्तन के साथ वस्त्रों एवं रहन-सहन में परिवर्तन होता रहता है।

4.4.2 प्रजातीय भिन्नता

भारती की प्रजातीय रचना का आधार प्रजाती भिन्नता है। यहां एक ही प्रजाति के लोग नहीं रहते हैं। कई प्रजातियों के लोग भारत में निवास करते हैं। भारत में समय-समय पर अनेक प्रजातियों के लोग आते रहे हैं और यहां वसते रहे हैं जिससे उनमें मिश्रण भी हुआ है। और यहां किसी भी प्रजाति का शुद्ध स्वरूप नहीं मिल पाता। प्रजाति वर्गीकरण-रिजले ने भारत में पाई जाने वाली जातियों को तीन वर्गों में रखा है।

(अ) द्रविडियन (ब) इण्डो आर्यन और (स) मंगोलियन

इन तीनों के मिश्रण सेबनी तीन मिश्रित प्रजातियों का उल्लेख भी आप ने किया है।

1. मंगोला द्रविडियन
2. आर्यो-द्रविडियन और
3. साथो द्रविडियन

आज कल उत्तर प्रदेश में आर्यो द्रविडियन, बंगाल में मंगोलों द्रविडियन और महाराष्ट्र में सीथो द्रविडियन मिश्रित प्रजातियाँ पायी जाती हैं।

4.4.3 सांस्कृतिक भिन्नता

भारत की संस्कृति भी बहुरंगी है। कई संस्कृतियों के दर्शन भारतीय समाज में किये जा सकते हैं। भारत में भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी लोग रहते हैं। ये लोग कई क्षेत्रों में फैले हैं। जाति, विवाह, परिवार के आधार पर अनेकरूपता यहाँ की विशेषता है। घरों की बनावट, सजावट, रूढ़ियों, परम्पराओं और प्रथाओं के आधार पर भी वैभिन्य के दर्शन होते हैं। शासन प्रणाली में भी सरकारों के बदलने से अनेकत्व उत्पन्न होता है। हिन्दू, मुस्लिम, पारसी, ईसाई और यहूदी धर्म के मानने वाले यहां रह रहे हैं। हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, मलयालम, कन्नड़, तमिल, तेलगू, पंजाबी, गुजराती, उड़िया, मराठी आदि भाषाओं को बोलने वाले लोग रहते हैं। भारत में तीन हजार से ऊपर जातियाँ पाई जाती हैं, जातियों की संख्या में अनेकता का यह एक प्रमाण है। प्रतिष्ठा और सम्मान की दृष्टियों से भी जातियों में भिन्नता है। पवित्रता और पवित्रता के आधार पर भी जाति भेद यहाँ हैं।

भारत की संस्कृति विश्व की संस्कृतियों में विशिष्ट स्थान रखती है। सांस्कृतिक बहुलता इस संस्कृति की विशेषता है। भिन्न भारतीय तत्व भी इस संस्कृति में प्रवेश पा चुके हैं। संक्षेप में जाति, प्रजाति, भौगोलिक बनावट, भाषा, धर्म, ईश्वर परक, विश्वास, खान-पान, विवाह, रहन-सहन, वेश भूषा आदि की विभिन्नता यहां पर्याप्त मात्रा में देखी जा सकती है।

4.5 अनेकता में ऐक्यभाव

उक्त वर्णित विभिन्नता का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि भारतीय समाज एक खिरा हुआ समाज है। उसमें संगठन की कमी अथवा अभाव है। इन भिन्नताओं के एक सूत्र में पिरोने वाले तत्वों (एकता) की कमी नहीं है। इन नाना प्रकार के तत्वों में तालमेल, समस्वरता, समरसता पर्याप्त मात्रा में है जो भिन्नताओं को ढक लेती है। अनेकता में एकता के प्रत्ययय द्वारा भारतीय समाज में भिन्नता के मध्य व्याप्त एकता एवं संगठन का बोध कराया जाता है। भेदों के रहे हुये भी अभेद की स्थिति यहाँ है। *भेद केवल भाषित होते हैं पर अन्दरूनी एकता है।* एकता प्रदान करने वाला प्रथम तत्व है भारतीयता अथवा राष्ट्रीयता। चाहे कितने भेद हों यहां के निवासियों में पर राष्ट्रीयता अथवा भारतीयता उन्हें एकता के सूत्र में बांधने का कार्य करती है। भारत के रहने वाले सभी तिरंगा ध्वज के सामने नतमस्तक हैं। उदाहरण के लिये बाहरी आक्रमण के समय भिन्न-भिन्न धर्मों को मानेनवाले, विभिन्न विचारधाराओं एवं

विश्वासों के पोषक व्यक्ति समस्त भेदों को भुलाकर एक हो जाते हैं। संगठित अथवा एक होकर बाहरी आक्रमण का मुकाबला करते हैं। पाकिस्तान एवं चीन से हुये युद्ध के समय हमने इस एकता का परिचय दिया है तमिल और बिहार के निवासी सांस्कृतिक दृष्टि से भिन्न हैं। पर देश के बाहर जब वे मिलते हैं तो उनमें इतनी आत्मीयता इस आधार पर उमड़ती है कि वे एक देश हैं और इस आधार पर संगठित अथवा एक दिखते हतैं। अत: राष्ट्रीयता अथवा भारतीयता भेदों को अभेद में परिवर्तित करती हैं। एकता लाने वाला दूसरा तत्व उदारता है। उदारता भिन्न-भिन्न लोगों को अपनी भिन्नताओं को बनाये रखने हुये साथ-साथ रहने का अवसर प्रदान करती है। उदारता भिन्न धाराओं में बहने वाले लोगों को एकता के सूत्र मे पिरोने की शक्ति रखती है। उदारता समनवय की भावना को जन्म देती है, सहनशीलता को उत्पन्न करती है। सहनशीलता अन्तरों के रहते हुये भी लोगों में एकजुटता का भाव पैदा करती है। समन्वय तीसरा तत्व है, जो भिन्नता को एकता का स्वरूप प्रदान करती है। सामान्यता (सामान्य तत्वों) के आधार पर भी हम संगठित होते हैं। अत: सामान्यता एकता उत्पन्न करने वाला चौथा तत्व है। कर्म के सिद्धान्त, पुनर्जन्म और मोक्ष जैसे सामान्य तत्वों के आधार पर सभी हिन्दू एक हैं। बौद्ध और जैन लोग भी जो नास्तिक हैं उक्त सामान्य तत्वों में विश्वास रखते हतैं। इस तरह उक्त सामान्य तत्व सभी हिन्दुओं में एकता का भाव पैदा करते हैं। जैसे एक सूत्र में पिरोए हुये मूंगे अलग-अलग होते हुये भी अलग अस्तित्व नहीं रखते हैं वैसे ही भिन्न-भिन्न तत्व एकता वर्धक तत्वों (एक सूत्र में बांधने वाले तत्वों) की उपस्थिति में अपना अस्तित्व खो देते हैं। समन्वय का गुण भारतीय समाज की अनुपम देन है। सबको एक में समेटने का अच्दा प्रयास यहां देखने को मिलता है। भारतीय संघर्ष से दूर रहना चाहता है। और इसलिये समन्वय का मार्ग चुनता है। संघर्ष से बचकर हिन्दुओं ने अपनी संस्कृति की रक्षा कर ली जबकि संघर्ष में फंसकर विश्व की अनेक संस्कृतियाँ जन्म लेकर लुप्त हो गई। संघर्ष की जगह हमने प्रेम, आत्मीयता और भाईचारे की भावना को अपनाया जिससे हमारी संस्कृति हजारों वर्षों का आघात सहते हुये आज भी बनी है। *व्यार से संबंध बनते हैं* और रार से बिगड़ते हैं "रार ठानेंगे नहीं और हार मानेंगे नहीं' इस सिद्धान्त से यही बात सिद्ध होती है कि प्यार वश में करने का अथवा जीत का सर्वोत्तम उपाय है। प्यार से बात बनती है और घृणा से बिगड़ती है।

समभाव एवं समझौता भाव

भिन्न और विरोधी तत्वों की एक सूत्र में बांधने स बिखराव् का डर बना रहता है और कभी कभी असंगठन की स्थिति भी उभर सकती है। इन कठिनाइयों के बाद भी समभाव द्वारा सर्वसमावेशन के कार्य में हमें काफी सफलता मिली है। *समभाव वास्तव में भेदों को मिटाने में सर्वाधिक सक्षम* है। गीता में इसे समत्व बुद्धि कहा गया है। जिस व्यकित में समभाव जाग्रत हो जाता है उसे मान मिलने पर प्रसन्नता नहीं होती है और अपमान की स्थिति में दु:ख नहीं होता है। यह भेदों में भी अभेद की स्थिति है। जब भेद अभेद में बदल जाय तो इसका सहज परिणाम एकता ही है।

आर्य-अनार्य संस्कृति के संगम से समनवय का आरम्भ हुआ। अनार्य संस्कृति की बहुत सी बातों को आर्यों ने अपनी संस्कृति में लपेट लिया। जैसे अनार्यों को शूद्र बनाकर अपना बना

लिया। इस परभी जो शेष रह गये उन्हें पंचम वर्ण में स्थान देकर अपना लिया। पहले तीन पुरुषार्थ थे और तीन ही आश्रम थे, क्योंकि आर्य वैराग्य पंथी नहीं थे। प्रागार्यों, बौद्धों एवं जैनियों की वैराग्य वृत्ति को आर्य संसकृति में स्थान देने के लिये मोक्ष को चौथा पुरुषार्थ एवं संन्यास को चौथा आश्रम बना लिया। भगवान शिव जो प्रागार्य देता कहे जाते हैं उन्हें अपने देवगण में सम्मिलित ही नहीं किया बल्कि उन्हें देवाधिदेव के रूप में प्रतिष्ठित किया। आर्यों में जो वृक्षों और जन्तुओं की पूजा होती है। सम्भवत: उन्होंने अनार्यों से ही ग्रहण किया है। सर्पों की पूजा के लिये नाग पंचमी का त्योहार है पीपल और बरगद की पूजा हिन्दूओं में आज भी होती है। जादू-टोना और पूजा पाठ जैसे अनार्य तत्वों को आर्यों ने स्वीकार कर लिया। प्रागार्य टोटेमिक समूह जिन पशुओं, जन्तुओं और पक्षियों को पूज्य समझते थे आर्यों ने उन्हें संस्कृति में मिलाने के लिये उन्हें अपने देवताओं का वाहन बना लिया। बैल शिव का वाहन है। चूहा गणेश जी की सवारी है। गरूण पक्षी विष्णु का वाहन बना लिया गया। भैंसा का यमराज की सवारी मान लिया गया। हंस सरस्वती जी का वाहन है। दुर्गा जी के वाहन के रूप में शेर की प्रतिष्ठा है।

मुसलमानों के आगमन के पूर्व भारत देश में धार्मिक सांस्कृतिक क्षेत्र में जो कार्य होते थे उन्हतें हिन्दू कार्य माना जाता था। मुसलमान और ईसाई जब यहाँ आये तो जिस प्रकार अनार्यों से *समन्वय और समझौता* का प्रयास हिन्दुओं ने किया था उसी तरह मुसलमानों और ईसाइयों से भी समझाता करने की कोशिश की और अपनी उदार भावना से उन्हे प्रभावित करने का पूर्ण प्रयास किया परन्तु खेद है कि हिन्दुओं को इस प्रयास में सफलता नहीं मिल पाई। कारण यह था कि मुसलमानो और ईसाइयों का धार्मिक संगठन सबल था। दूसरे से शासक थे। उक्त दोनां कारणों से जो समन्वय हुआ वह मिश्रण बनकर रह गया। और हिन्दू मुसलमानों एवं ईसाइयों की धार्मिक सांस्कृतिक बातों को बचा नहीं पाये। हिन्दुओं की इस उदारता का प्रभाव कुछ मुसलमानों पर अवश्य पड़ा जिससे वे हिन्दू देवी-देवताओं की भक्ति में कविता लिखने लगे जैसे रसखान और रहीम आदि।

4.6 सारांश

हिन्दुत्व के रिचय एवं अर्थ को बताते हुये उसके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष की जानकारी दी गयी। तत्पश्चात् हिन्दुत्व की समस्त मान्यताओं को प्रस्तुत किया गया। इसी तारतम्य में अनेकतामें एकता के भाव को स्पष्ट किया गया। अनेकता के बिन्दुओं को बतला कर एकता लाने वाले तत्वों पर प्रकाश डाला गया।

4.7 सहायक पुस्तकें/सन्दभ्र ग्रन्थ

1. मिश्र, विद्या निवास, हिन्दू धर्म जीवन में सनातन की खोज, 1979, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।

2. स्वामी विवेकानन्द, हिन्दू धर्म अठारहवाँ संस्करण, राधाकृष्ण मठ, नागपुर

3. एस० राधाकृष्णन, द हिन्दू व्यू आव् लाइफ, 1961, अनविन बुक्स

4. सेगल रोनाल्ड, द क्राइसिस आव् इण्डिया, 1968 जयको पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे

5. स्वामी विवेकानन्द, इंशेन्शियल्स आव् हिन्दुयिज्म'

6. कुमार स्वामी, ए० के०, हिन्दुयिज्म एण्ड बुद्धिज्म,

4.8 प्रश्नोत्तर

लघु उत्तरीय

1. हिन्दुत्व से आप क्या समझते हैं?
2. सृष्ट के विषय में हिन्दू विचार स्पष्ट कीजिये।
3. ब्रह्म की धारणा पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।
4. मानस और आत्मा में अन्तर बताइये।
5. मुक्ति का आशय स्पष्ट कीजिये।
6. हिन्दुओं में मूर्तिपूजा की विवेचना कीजिये।

दीर्घउत्तरीय

1. योग का अर्थ बताइये। राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञान योग पर सम्यक प्रकाश डालिये।
2. अनेकता में एकता से क्या समझते हो। एकता लाने वाले तत्वों पर प्रकाश डालिये।
3. सृष्टि, ईश्वर और आत्मा के विषय में हिन्दू विचारों पर प्रकाश डालिये।

वस्तुनिष्ठ

1. एकता लाने वाले चार तत्वों के नाम बताइये।
2. चार योगों के नाम लिखों।
3. पांच महायज्ञों के नाम बताओ।
4. चार ऋण कौन से हैं?
5. त्रिमूर्ति में कौन-कौन देवता शामिल हैं उनके नाम लिखो।

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये।

1. क्रिएशन को .....कहना अधिक तर्क संगत लगता है।
2. अंग्रेजी के गाड शब्द के लिये .....शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त माना जाता है।
3. .....और .....मानों दो रेखाएं हैं, जिनका न आदि है और न अन्त और जो समानान्तर है।
4. जीवन की शर्त .....है।
5. ब्रह्म को समझने के लिये .....का ज्ञान आवश्यक है।

6. मानस .....शरीर है।
7. यह पृथ्वी .....है।
8. ईश्वर के सान्निध्य के बिना कोई स्वग.....नहीं है।
9. मूर्तियाँ मानों वे .....हैं जिनमें धार्मिक भाव लटकाये जाते हैं।
10. वह व्यक्ति जिसकी आत्मा से अन्त:प्रेरणा उभरी जाती है वह .....है।
11. वह व्यक्ति जिसकी आत्मा तक अन्त:प्रेरणा ले जायी जाती है वह .....है।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MASY - 04
भारतीय समाज: निरन्तरता एवं परिवर्तन

खण्ड
2

विवाह एवं परिवार

इकाई 5
हिन्दू विवाह एवं तत्सम्बन्धी सामाजिक विधान

इकाई 6
मुस्लिम – इसाई और जनजातीय विवाह एवम् परिवार

इकाई 7
संयुक्त परिवार : संरचना, प्रकाय्र, उपादेयता, परिवर्तन एवं कारक

इकाई 8
विवाह एवं परिवार में परिवर्तन

संदर्भ ग्रन्थ सूची

खण्ड - 2 : खण्ड परिचय - विवाह एवं परिवार

इस खण्ड में हिन्दू, मुस्लिम , ईसाई एवं जनजातीय विवाह एवं परिवार की संरचना, प्रकार्या, उपादेयता एवं परिवर्तन पर प्रकाश डाला गया है। इसमें चार इकाइयाँ हैं। **पहली इकाई का** शीर्षक है ''हिन्दू विवाह एवम् तत्सम्बन्धी सामाजिक विधान'' है। इसमें हिन्दू विवाह के विभिन्न पक्षों को विस्तृत धारणा की गई है। हिन्दू विवाह की अवधारणा, धार्मिक संस्कार के रूप में उसकी स्थापना को स्पष्ट किया गया है। हिन्दू विवाह के उद्देश्यों, आदर्शों, परम्परागत स्वरूपां, विवाह के नियमों एवं समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। **इकाई दो** का शीर्षक है ''मुस्लिम, ईसाई एवं जनजातीय विवाह एवं परिवार'' है अध्ययन की सुविधा के लिए इकाई दो को तीन वर्गों में बाटा गया है। 1 वर्ग में मुस्लिम परिवार एवं विवाह विधि को स्पष्ट किया गया है। मुस्लिम परिवार की विशेषताओं एवं संस्कारों का परिचय दिया गया है। 2 वर्ग में ईसाई परिवार एवं विवाह की विधि को स्पष्ट किया गया है। 3 वर्ग में जनजातीय परिवार एवं विवाह को स्पष्ट किया गया है। **ईकाई तीन** का शीर्षक है ''संयुक्त परिवार: अवधारणा, विशेषताएं, उपादेयता, परिवर्तन के कारक'' हैं। इसमें संयुक्त परिवार की अवधारणा और परिभाषा को स्पष्ट किया गया है। संयुक्त परिवार के प्रकर्यों एवं दोषों का चित्रण किया गया है। संयुक्त परिवार में परिवर्तन के कारणों की व्याख्या की गई है। तथा संयुक्त परिवार में संरचनात्मक एवं अन्त: क्रियात्मक परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है। **ईकाई चार** का शीर्षक है ''विवाह एवं परिवार में परिवर्तन'' है । इसमें परिवार में संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक परिवर्तन को स्पष्ट किया गया है। हिन्दू, मुस्लिम एवं ईसाई परिवार में परिवर्तन का चित्रण किया गया है। पारिवारिक विघटन की प्रकृति एवं परिवार में हुए आधुनिक परिवर्तनों के कारणों पर प्रकाश डाला गया है।

इकाई 5 हिन्दू विवाह एवम् तत्सम्बन्धी सामाजिक विधान

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 हिन्दू विवाह की अवधारणा

5.3 हिन्दू विवाह-एक धार्मिक संस्कार

5.4 हिन्दू विवाह को धार्मिक संस्कार मानने के कारण

5.4.1 धार्मिक विधि-विधानों का समावेश

5.4.2 मोक्ष प्राप्ति का साधन

5.4.3 धार्मिक कर्तव्यों का पालन

5.4.4 पतिव्रत्य और सतीत्व की धारणाएँ

5.4.5 वेद मन्त्रों का उच्चारण

5.4.6 परमपिता द्वारा निर्धारण सम्बन्धी मान्यता।

5.4.7 पत्नी के सम्बोधक शब्द

5.4.8 धार्मिक आदेशों एवं निषेधों का महत्व।

5.4.9 विवाह पवित्र बन्धन एवं स्वर्ग का द्वार।

5.5 हिन्दू विवाह के उद्देश्य अथवा आदर्श

5.5.1 धर्म शास्त्रों में वर्णित हिनदू विवाह के उद्देश्य या आदर्श

5.5.1.1 धर्म

5.5.1.2 प्रजा

5.5.1.3 रति

5.5.2. अन्य उद्देश्य या आदर्श

5.5.2.1 परिवार के सदस्यों के प्रति कर्तव्य पालन

5.5.2.2 संस्कृति की निरन्तरता

5.5.2.3 सामाजिक जीवन की निरन्तरता

5.5.2.4 व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास

5.6 हिन्दू विवाह के स्वरूप : परम्परागत एवं आधुनिक

5.6.1 परम्परागत स्वरूप

5.6.1.1 ब्राह्म विवाह

5.6.1.2 दैव विवाह

5.6.1.3 आर्ष विवाह

5.6.1.4 प्रजापत्य विवाह

5.6.1.5 असुर विवाह

5.6.1.6 गान्धर्व विवाह

5.6.1.7 राक्षस विवाह

5.6.1.8 पैशाच विवाह

5.6.2 आधुनिक स्वरूप

5.6.2.1 ब्रह्म विवाह

5.6.2.2 आसुर विवाह

5.7 हिन्दू विवाह के नियम अथवा जीवन साथी के चुनाव का क्षेत्र

5.7.1 अन्तर्विवाह

5.7.2 बहिर्विवाह

5.7.2.1 सगोत्र बहिर्विवाह

5.7.2.2 प्रवर बहिर्विवाह

5.7.2.3 सपिण्ड बहिर्विवाह

5.7.3 अनुलोम विवाह

5.7.4 प्रतिलोम विवाह

5.8 हिन्दू विवाह सम्बन्धी सामाजिक विधान

5.8.1 ब्रिटिशकाल में बने सामाजिक विधान

5.8.1.1 हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856

5.8.1.2 बाल विवाह निग्रह अधिनियम, 1929

5.8.1.3 हिन्दू विाह निर्योग्यता निवारक अधिनियम, 1946

5.8.2 स्वतन्त्र भारत में सामाजिक विधान

5.8.2.1 हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम, 1949

5.8.2.2 विशेष विवाह अधिनियम 1954

5.8.2.3 हिन्दू विवाह अधिनियम 1955

5.8.2.4 दहेज निरोधक अधिनियम, 1961

5.9 हिन्दू विवाह संस्था पर सामाजिक विधानों का प्रभाव एवं आधुनिक परिवर्तन

5.10 सारांश

5.11 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई-1 के अन्तर्गत आप हिन्दू विवाह के विभिन्न पहलुओं की विस्तृत व्याख्या एवं तत्सम्बन्धी सामाजिक विधानों तथा उनके इस संस्था पर पड़ने वाले प्रभावों से परिचित हो सकेंगे। इसे पढ़ने के बाद आप—

* हिन्दू विवाह की अवधारणा को समझ सकेंगे;

* हिन्दू विवाह को धार्मिक संस्कार के रूप में स्वीकार किये जाने के कारणों से परिचित हो सकेंगे।

* हिन्दू विवाह के उद्देश्यों, आदर्शों, परम्परागत स्वरूपों, विवाह के नियमों एवं समस्याओं पर प्रकाश डाल सकेंगे।

* हिन्दू विवाह सम्बन्धी विभिन्न सामाजिक विधानों का उल्लेख कर सकेंगे तथा साथ ही विवाह संस्था पर पड़ने वाले प्रभावों/होने वाले परिवर्तनों को भी समझ सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई हिन्दू विवाह के विवेचनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है। इस इकाई में भारतीय समाज की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था हिन्दू विवाह के विभिन्न पहलुओं को विस्तारपूर्वक समझाया गया है। सर्वप्रथम हिन्दू विवाह की अवधारणा एवं उद्देश्यों का वर्णन किया गया है ताकि आप सम्पूर्ण विवेचना को सरलतापूर्वक समझ सके। प्रत्येक समाज में विवाह सामाजिक व्यवस्था का एक आवश्यक अंग है और विवाह के आधार पर ही समाज की प्रारम्भिक इकाई परिवार का निर्माण होता है। समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके से स्त्री-पुरुष की यौन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये, उसे एक निश्चित प्रणाली के अन्तर्गत नियन्त्रित करने तथा उसे स्थिर रखने और परिवार को एक स्थायी रूप देने के लिये विवाह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है जो परिवार का आधार है और बच्चों के जन्म व पालन-पोषण तथा आर्थिक सहकारिता व सामाजिक उत्तरदायित्व की नींव रखता है।

व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विवाह की आवश्यकता यौन सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति, सन्तान प्राप्ति की स्वाभाविक इच्छा तथा मानसिक संवेगात्मक संतुष्टि है, वहीं सामाजिक दृष्टिकोण से विवाह का महत्व बच्चों को जन्म देना और उसके द्वारा समाज की निरन्तरता बनाए रखना है।

परम्परागत आधार पर भारतीय समाज में हिन्दू विवाह की एक विशिष्ट प्रकृति एवं धार्मिक आधार है। इसी दृष्टि से इस इकाई में हिन्दू विवाह के परम्परागत आधारों का उल्लेख किया जाएगा। परन्तु समय-समय पर बने सामाजिक विधानों ने हिन्दू विवाह की प्रकृति को प्रभावित किया है और उसमें अनेक परिवर्तन आए हैं। प्रस्तुत इकाई में इस पक्ष की भी विस्तृत चर्चा की जाएगी।

इस इकाई में दिये गये विवरण को बोधगम्य बनाने का प्रयास किया गया है, ताकि आप अभ्यास, मेहनत व लगन से इसे समझ कर परीक्षा की अच्छी तैयारी कर सकें।

5.2 हिन्दू विवाह की अवधारणा

विवाह का अर्थ है दो विपरीत लिंगियों के मध्य पाये जाने वाले यौन सम्बन्धों को संस्थागत रूप प्रदान करना तथा प्रथा या कानून की मान्यता प्राप्त करना, किन्तु विवाह की यह परिभाषा हिन्दू विवाह को पूरी तरह स्पष्ट नहीं करती।

हिन्दू विवाह को सामान्यत: एक धार्मिक संस्कार के रूप में स्वीकार किया जाता है। डॉ० के० एम० कपाड़िया ने अपनी पुस्तक 'मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया' में लिखा है कि 'विवाह प्राथमिक रूप से कर्तव्यों की पूर्ति के लिए होता है, इसलिये विवाह का आधारभूत उद्देश्य धर्म था।' (डॉ० के० एम० कपाड़िया : मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया, पेज 168)

इस प्रकार हिन्दुओं में विवाह न तो एक मित्रतापूर्ण समझौते के रूप में समझा जा सकता है, न ही संविदा के रूप में और न ही केवल यौन सम्बन्धों की पूर्ति के लिए किये गये बन्धन के रूप में।

हिन्दुओं में गृहस्थ आश्रम को स्वर्ग के तुल्य माना जाता है। धार्मिक कार्यों की पूर्ति, संस्कारों की पूर्ति, पितृ ऋण से मुक्ति-पुरूषार्थ के अनुसार जीवन लक्ष्य की प्राप्ति एवं स्थायित्व आदि के लिये हिन्दू व्यक्ति विवाह करते हैं। मनु ने "मनुस्मृति" में लिखा है कि "माँ बनने के लिये ही स्त्रियों की उत्पत्ति हुई है एवं पिता बनने के लिए पुरुषों की, इसलिये वे आदेश देते हैं कि पुरुषों को अपनी पत्नी के साथ ही धार्मिक कार्य सम्पन्न करने चाहिये।" (मनुस्मृति, 9/96)

धर्म, प्रजा और रति के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु धार्मिक कृत्यों द्वारा सम्पन्न एवं प्रथा द्वारा मान्य एक स्त्री व पुरुष का विधिवत् सम्बन्ध ही हिन्दू विवाह है।

5.3 हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार

हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है जो कि धर्म के निर्वाह के लिये किया जाता है, न कि आनन्द के लिए। यह कोई सामाजिक और कानूनी समझौता नहीं है। हिन्दू विवाह में किसी भी प्रकार की कोई कागजी कार्यवाही नहीं होती, वरन् इसके पूर्ण होने में कुछ धार्मिक विधि विधानों, जीवन के संस्कारों का इतना अधिक महत्व है कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त धर्मशास्त्रों में विभिन्न संस्कारों का विधान किया गया है। जीवन की शुद्धता के लिये किया गया विवाह संस्कार भी एक महत्वपूर्ण संस्कार है और इसी संस्कार के द्वारा हिन्दू व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार दिया जाता है। इसीलिए हिन्दू विवाह को गृहस्थाश्रम का प्रवेश द्वार भी कहा जाता है। इस नवीन जीवन में प्रवेश पाने के लिए संस्कार के रूप में कुछ धार्मिक कृत्यों अथवा अनुष्ठानों को करना पड़ता है और प्रत्येक स्तर पर परमपिता परमात्मा को साक्षी मान कर प्रतिज्ञायें की जाती हैं। इसीलिए हिन्दू विवाह को धार्मिक संस्कार के नाम से सम्बोधित किया गया है।

गत कुछ दशकों में हिन्दू विवाह अनेक परिवर्तनों के बीच से गुजरा है; तो क्या यह अब भी पवित्र है या इसे भी एक समझौता माना जाये? हिन्दू विवाह में हुये महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हैं कि आज युवा वर्ग धार्मिक कृत्यों की पूर्ति के लिए विवाह नहीं करते, वरन् मित्रता के लिये करते हैं और विवाह बन्धन भी अब अटूट नहीं रह गये हैं। क्योंकि तलाक वैधानिक एवं सामाजिक मान्यता प्राप्त कर चुका है विद्वानों का मत है कि तलाक की अनुमति से विवाह की पवित्रता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है, क्योंकि तलाक अन्तिम उपाय के रूप में ही प्रयोग होता है न क पुनर्विवाह के रूप में। इसी प्रकार यद्यपि विधवा विवाह को मान्यता प्रदान कर दी गयी है किन्तु ऐसे विवाह विस्तृत रूप से प्रचलित नहीं है। परस्पर विश्वास तथा जीवन साथी के प्रति प्रतिबद्धता आज भी विवाह के मूल तत्व माने जाते हैं। जब तक विवाह केवल यौन संतुष्टि के उद्देश्य से ही नहीं किया जाता रहेगा, बल्कि साथ रहने तथा "संतान प्राप्ति" के लिये किया जोयगा, तब तक विवाह हिन्दुओं के लिये धार्मिक पवित्र संस्कार बना रहेगा। विवाह में स्वतन्त्रता (साथी के चुनाव की) विवाह में स्थायित्व को दृढ़ बनाती है न कि नष्ट करती है तथा वैवाहिक व्यवहार को शुद्ध बनाती है। कपाड़िया ने भी कहा है कि "विवाह अभी भी धार्मिक संस्कार के रूप में जारी है, केवल नैतिक स्तर ऊँचा उठा है। (डॉ० के० एम० कपाड़िया, मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, देहली, 1996 एवं 1972)

5.4 हिन्दू विवाह को धार्मिक संस्कार मानने के कारण

हिन्दू विवाह को धार्मिक संस्कार मानने के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं :

5.4.1 धार्मिक विधि विधानों का समावेश—हिन्दू विवाह पद्धति में कुछ ऐसे धार्मिक विधि-विधान अथवा कृत्य सम्मिलित हैं जिनको पूरा किये बिना विवाह को पूर्ण नहीं माना जाता है। जैसे—यज्ञ, पारिग्रहण और सप्तपदी। यज्ञ द्वारा अग्नि देवता को लाई, जौ, खीलें, मिष्ठान आदि की आहुतियाँ दी जाती हैं और मन्त्रों का उच्चारण करते हुये भावी वैवाहिक जीवन के प्रति आस्था व्यक्त की जाती है। पारिग्रहण के अन्तर्गत कन्या का दान वर को दिया जाता है और वर इस दान को ग्रहण करता है। कन्यादान भगवान को साक्षी मानकर मन्त्रों के उच्चारण द्वारा सम्पन्न किया जाता है। सप्तपदी की क्रिया में वर वधू गांठ बांधकर अग्नि देवता के चारों ओर सात कदम चलते हैं जिसका अभिप्राय होता है कि जीवन पर्यन्त वे परमपिता परमात्मा का स्मरण करते रहेंगे और इस सम्बन्ध को चिर स्थाई बनाये रखेंगे। इस प्रकार इन धार्मिक कृत्यों के आधार पर हिन्दू विवाह धार्मिक संस्कार हैं।

5.4.2 मोक्ष प्राप्ति का साधन—हिन्दू दर्शन के अनुसार जीवन के चार प्रमुख उद्देश्य हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु जीवन को चार आश्रमों में बांट दिया गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संयास आश्रम। इन विभिन्न आश्रमों के द्वारा हिन्दू जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने पर बल दिया गया है। गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति अपने धर्म अथवा कर्तव्यों का पालन करते हुये अर्थ और काम को प्राप्त होता है। अर्थ का अभिप्राय धन के अर्जन से है और काम का अभिप्राय लैंगिक एवं अन्य मानवीय सुखों से है। गृहस्थ आश्रम के उपरान्त व्यक्ति वानप्रस्थ में प्रवेश करता है और

इस आश्रम में वह अपना सारा समय ईश्वर आराधना आदि में लगा देता है सन्यास में वह अपने निवास स्थान को छोड़कर विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करता है और सभी को एक समान समझते हुये मोक्ष प्राप्ति की दिशा में प्रयत्नशील रहता है। आश्रम शब्द स्वयं एक पवित्र व ऊँची भावना है और प्रत्येक आश्रम अपने आप में एक धर्म है। गृहस्थ आश्रम जो कि हिन्दू स्मृतिकारों के अनुसार धर्मानुकूल है और इसमें प्रवेश धर्मानुकूल है, जो विवाह के द्वारा ही होता है। इस प्रकार व्यक्ति अपने नये जीवन अथवा गृहस्थ आश्रम में धर्म का पालन करते हुये विवाह की संस्था द्वारा प्रवेश करता है। ऐसी स्थिति में हिन्दू विवाह की धार्मिक संस्कारिता स्वत: स्पष्ट हो जाती है।

5.4.3 धार्मिक कर्तव्यों का पालन—हिन्दू विवाह इस अर्थ में धार्मिक संस्कार है, क्योंकि इसका प्रमुख उद्देश्य मात्र सन्तान उत्पन्न करना या यौन इच्छाओं की तृप्ति नहीं है वरन् धार्मिक कर्तव्यों का पालन करना है। वास्तव में हिन्दू विवाह का प्राथमिक आदर्श यही है कि पति व पत्नी दोनों सम्मिलित रूप से धार्मिक कर्तव्यों का पालन करते हुये पांच महायज्ञों ब्रह्म-यज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, देव यज्ञ और अतिथि यज्ञ को पूरा करें।

5.4.4 पतिव्रत्य और सतीत्व की धारणायें—पतिव्रत्य का अर्थ है कि स्त्री-विवाह हो जाने के बाद किसी अन्य पुरुष का विचार न करें, चाहे पति में कितनी ही कमियाँ क्यों न हों। इसी प्रकार सतीत्व इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि पत्नी अपनी स्वतंत्र सत्ता को पूर्ण रूप से पति में विलीन कर दे और पति को देवता तुल्य माने। हिन्दू धर्मशास्त्रों में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है कि स्त्री द्वारा पत्नी धर्म का पालन करने पर पृथ्वी के सब तीर्थ सम्पन्न हो जाते हैं और सती साध्वी स्त्री के चरणों की धूल द्वारा भूमण्डल शीघ्र ही पवित्र हो जाता है। प्रो० कपाड़िया ने इस सन्दर्भ में ठीक ही लिखा है, "जिस प्रकार नदी समुद्र में मिलने के बाद अपनी स्वतन्त्र सत्ता छोड़ देती है, ठीक उसी प्रकार हिन्दू पत्नी से यह आशा की जाती है कि वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता का पति में विलीन कर दे और उसका जीवन का केवल यही आदर्श है कि वह देखे कि पति की सभी सेवायें उचित रूप से सम्पन्न होती है अथवा नहीं; क्योंकि पति की सन्तुष्टि ही पत्नी के जीवन का परम सुख है।" (प्रो० के० एम० कपाड़िया, मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया)।

5.4.5 वेद मन्त्रों का उच्चारण—विवाह के साथ वैदिक रीति-रिवाजों का पालन एवं वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। वेदों को हिन्दुओं में बहुत ही पवित्र माना जाता है और उनमें जो लिखा है—वे ईश्वर के मुख से निकले वाक्य माने जाते हैं। अत: वैदिक मन्त्रों का उच्चारण भी विवाह को धार्मिक संस्कार बनाते हैं।

5.4.6 परमपिता द्वारा निर्धारण सम्बन्धी मान्यता—हिन्दू धर्म शास्त्र इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं कि विवाह ईश्वरीय विधान है और ईश्वर अथवा परमपिता परमात्मा द्वारा निर्धारित संस्था है। इसलिए विवाह बन्धन को तोड़ने का अधिकार मनुष्य का नहीं है। वस्तुत: यह तो जन्म जन्मान्तर का नाता है इसे तो निभाना ही निभाना है, मृत्यु भी इस बन्धन को पृथक नहीं कर सकती। इस दृष्टि से भी हिन्दू विवाह धार्मिक संस्कार है।

5.4.7 पत्नी के सम्बोधक शब्द — हिन्दू पत्नी के जो सम्बोधक शब्द हैं उससे यह भी ध्वनि निकलती है कि पत्नी का विवाह काम तृप्ति के लिए नहीं वरन् धार्मिक संस्कारों की पूर्ति के लिए किया गया है। उदाहरणार्थ पत्नी को धर्म पत्नी, सह धर्मिणी आदि कहा जाता है । इन दोनों शब्दों का आशय है कि पत्नी पति के धर्म कार्यों में सहभागी है।

5.4.8 धार्मिक आदेशों एवं निषेधों का महत्व—हिन्दू विवाह के अन्तर्गत एक विवाहित दम्पत्ति के लिये अनेक धार्मिक कार्य करने के आदेश दिये गये हैं। जैसे विवाहित व्यक्ति के लिये प्रतिदिन पंच महायज्ञ करना, दान करना, अतिथि सत्कार करना, ईश्वर की पूजा पाठ करना आदि। दूसरी ओर विवाह से सम्बन्धित कुछ निषेध भी है, जैसे एक व्यक्ति को अपने गोत्र; प्रवर एवं सपिण्डों से तथा विजातीय लोगों से विवाह नहीं करना चाहिये। ऐसा करना अधार्मिक माना गया है।

5.4.9 विवाह पवित्र बन्धन एवं स्वर्ग का द्वार—हिन्दू विवाह इसलिये भी एक धार्मिक संस्कार है कि यह स्त्री पुरुष का अत्यन्त पवित्र और ईश्वर द्वारा निश्चित बन्धन माना जाता है। यह एक ऐसा पवित्र बन्धन है जो कल्पना में भी दूषित और त्याज्य नहीं माना जाता। इह लोक में ही नहीं, परलोक में भी पति-पत्नी का साथ माना जाता है। हिन्दू शास्त्रकारों और विश्वासों का यही निष्कर्ष है कि जब तक विवाह को धार्मिक स्वरूप नहीं दिया जायेगा तब तक पति-पत्नी में स्थाई सम्बन्धो का विकास नहीं हो सकता। हिन्दू धर्मशास्त्रों में विवाह को स्वर्ग का द्वार भी कहा गया है, क्योंकि धर्मशास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि अविवाहित ऋषियों और तपस्वियों को स्वर्ग प्राप्त नहीं हो सका है।

अत: स्पष्ट है कि हिन्दू विवाह मानव जीवन का एक महत्वपूर्ण धार्मिक संस्कार है। यद्यपि आधुनिक हिन्दू कानून रचयिताओं ने हिन्दू विवाह को कुछ अंशों में समझौता या प्रसंविदा माना है, तथापि न्यायालयों ने इसे एक संस्कार के रूप में भी स्वीकार किया है। हिन्दू कानून के ग्रन्थों में भी कहा गया है कि ''विवाह प्रत्येक हिन्दू के लिये, चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो, एक आवश्यक संस्कार अथवा धार्मिक कृत्य है।'' हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 में भी हिन्दू विवाह की धार्मिक प्रकृति को अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार किया गया है। पी० एन० प्रभु ने लिखा है कि ''हिन्दू के लिये विवाह एक संस्कार है तथा इस कारण विवाह सम्बन्ध में जुड़ने वाले पक्षों का सम्बनध संस्कार रूपी है न कि प्रसंविदा की प्रकृति का।'' (पी० एन० प्रभु : हिन्दू सोशल ऑर्गेनाइजेशन, पेज 173)

5.5 हिन्दू विवाह के उद्देश्य अथवा आदर्श

हिन्दू धर्मशास्त्रों के निर्देशानुसार प्रत्येक माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वह अपने बच्चों का विवाह उचित समय पर करे। प्रत्येक हिन्दू व्यक्ति के लिये विवाह अनिवार्य है और मोक्ष प्राप्ति का साधन है। विभिन्न धर्मशास्त्रों में विवाह की गरिमा, तत्वों व महत्व के बारे में उल्लेख मिलता है और इसमें विभिन्न आदर्शों या उद्देश्यों की भी चर्चा की गयी है। सामान्यतया हिन्दू विवाह के आदर्शों या उद्देश्यों को दो प्रमुख भागों में बांटा गया है : धर्मशास्त्रों में वर्णित हिन्दू विवाह के उद्देश्य तथा अन्य उद्देश्य।

5.5.1 धर्मशास्त्रों में वर्णित हिन्दू विवाह के उद्देश्य—धर्मशास्त्रों में उल्लिखित हिन्दू विवाह के निम्नलिखित तीन उद्देश्य हैं—

5.5.1.1 धर्म—हिन्दू दर्शन के अनुसार विवाह का सबसे उत्तम एवं प्रमुख तत्व या उद्देश्य धर्म है। धर्म का अभिप्राय है पवित्रता व अनुशासन की भावना से कर्तव्यों का पालन करना। प्रत्येक हिन्दू पुरूष के जीवन में कुछ धार्मिक कर्तव्य होते हैं जो पत्नी के अभाव में पूरे नहीं किये जा सकते। इसलिये विवाह न केवल आवश्यक है वरनृ धार्मिक कृत्यों को निभाने के लिये अनिवार्य भी है। धर्म शास्त्रों के अनुसार स्त्री समस्त धार्मिक क्रियाओं का मूल कारण है। यही कारण था कि सीता की अनुपस्थिति में रामचन्द्र जी को यज्ञ के लिये उनकी सोने की प्रतिमा बनवानी पड़ी थी। डॉ० कपाड़िया ने लिखा है कि ''हिन्दू विचारकों ने धर्म को विवाह का सर्वप्रथम उद्देश्य स्वीकार किया है। विवाह की इच्छा धार्मिक कृत्यों के द्वारा एक साथी प्राप्त करने के लिये की जाती थी। विवाह के समय यज्ञ की पवित्र अग्नि प्रज्वलित की जाती थी और गृह स्वामी का यह कर्तव्य हो जाता था कि वह पंच महायज्ञ में अपनी पत्नी के साथ नित्य आहुति प्रदान करे। इन उत्तरदायित्वों की समाप्ति गृह स्वामी की मृत्यु पर ही होती थी। पत्नी का देहान्त हो जाने पर इसमें व्यवधान पड़ जाता था और इसीलिए गृह स्वामी के लिये तुरन्त ही दूसरी पत्नी लाने का विधान था।'' (डॉ० के० एम० कपाड़िया, पूर्व निर्दिष्ट, पृष्ठ 167)

5.5.1.2 प्रजा—प्रजा अथवा सन्तानोत्पत्ति विवाह का दूसरा उद्देश्य या तत्व है। सन्तान के द्वारा समाज की निरन्तरता बनी रहती है। विवाह के द्वारा परिवार में संतान उत्पन्न करने से पितृ ऋण चुकाया जाता था। हिन्दू व्यक्ति को अपने जीवन में तीन ऋणों को चुकाना होता है—पितृ ऋण, देव ऋण,ऋषि ऋण। इस प्रकार विवाह संस्था द्वारा संतान उत्पन्न करके पितृ ऋण को चुकायाजाता है। सम्भवतया इसीलिए ऋग्वेद में वर्णित पारिणग्रहण के मन्त्रों में वर-वधू से कहता है कि उत्तम सन्तान के लिये मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूँ।

5.5.1.3 रति—हिन्दू विवाह का तीसरा आधारभूत उद्देश्य रति अथवा यौन सम्बन्धी आनन्द का भोग करना है। परन्तु यह यौन सम्बन्ध समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके से निभाना है ताकि स्त्री-पुरुष का मानवीय संतुलन बना रहे, व्यक्तिगत आचरण दूषित न हो और समाज यौन अराजकता की स्थिति में न फंसे। यहाँ ''रति आनन्द'' का तात्पर्य वासना या व्याभिचार से न होकर धर्मानुकूल काम से है, जिसे तीसरे पुरुषार्थ में व्यक्ति के जीवन का महत्वपूर्ण लक्ष्य माना गया है। उपनिषदों में ''रति आनन्द'' को सबसे बड़े आनन्द के रूप में महत्व प्रदान किया गया है।

रति क्रिया धार्मिक कर्तव्यों के सम्पादन में सहयोगी है क्योंकि इससे संतान पैदा होती है जो विभिन्न धार्मिक संस्कारों को पूरा करने के लिये आवश्यक है। पुरुष पूर्ण बने, इसके लिये जरूरी है कि वह पत्नी और संतान पाये; और संतान तब पायेगा जब वह यौन क्रिया करेगा। स्पष्ट है कि हिन्दू विवाह में प्राणिशास्त्रीय आवश्यकता और धार्मिक सामाजिक आवश्यकता का इतना सुन्दर सम्बन्ध रति आनन्द के माध्यम से स्थापित किया गया है जो सम्भवत: बेमिसाल है।

उपनिषदों में रति को सबसे बड़ा आनन्द इसलिये कहा गया है कि यह एक ऐसा धार्मिक कर्तव्य है जिससे जीवनभर के अनेक धार्मिक संस्कारों की आधारशिला संतान के रूप में तैयार होती है और समाज की निरन्तरता बनी रहती है साथ ही स्वाभाविक प्राणिशास्त्रीय आवश्यकता की पूर्ति इस ढंग से होती है कि स्त्री पुरुष का मानसिक संतुलन बना रहता है और समाज भी दूषित होने से बच जाता है। ''सम्भोग'' का इतने व्यवस्थित और आदर्श रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय विश्व में सम्भवत: केवल हिन्दू दर्शन को ही है।

5.5.2 अन्य उद्देश्य या आदर्श—धर्म शास्त्रों में वर्णित उपर्युक्त तीन उद्देश्यों के अतिरिक्त हिन्दू विवाह के कुछ अन्य उद्देश्यों का भी उल्लेख किया जा सकता है। ये निम्न हैं—

5.5.2.1 परिवार के सदस्यों के प्रति कर्तव्य पालन—हिन्दू विवाह का उद्देश्य धर्म, प्रजा और रति तक ही सीमित नहीं है वरन् सभी पारिवारिक सदस्यों के प्रति पति और पत्नी को सम्मिलित उत्तरदायित्व को पूरा करना है ताकि पारिवारिक वातावरण सुखी हो। वस्तुत: हिन्दू विवाह पारिवारिक उत्तरदायित्व को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करता रहता है।

5.5.2.2 संस्कृति की निरन्तरता—हिन्दू विवाह के द्वारा सांस्कृतिक तत्वों की निरन्तरता बनाये रखी जा सकती है। पति पत्नी इस उत्तरदायित्व को अपने ऊपर ले लेते हैं और सांस्कृतिक तत्वों को प्रथा, परम्परा, धर्म आदि के रूप में अपनी संतानों को देते रहते हैं। इस प्रकार सांस्कृतिक जीवन की निरन्तरता बनी रहती है।

5.5.2.3 सामाजिक जीवन की निरन्तरता—समाज अथवा वंश की निरन्तरता को बनाये रखने का महत्वपूर्ण कार्य भी हिन्दू विवाह के द्वारा सम्पन्न होता रहता है। विवाह की संस्था द्वारा उत्पन्न संतानें समाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में मृत व्यक्तियों के रिक्त स्थानों की पूर्ति करती रहती है। अत: सामाजिक जीवन की निरन्तरता का उत्तरदायित्व भी हिन्दू विवाह के द्वारा सम्पन्न होता रहता है।

5.5.2.4 व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास—विवाह स्त्री व पुरुष के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिये भी जरूरी है। उसी मानव प्राणी को पूर्ण समझा जाता है जिसके पति अथवा पत्नी व बच्चे हों। इस प्रकार विवाह द्वारा स्त्री और पुरुष एक दूसरे की मानसिक शारीरिक व अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुये अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करते हैं और होने वाले बच्चों को भी उचित दिशा प्रदान करते हैं।

निष्कर्षत: हिन्दू विवाह के उद्देश्य एवं आदर्श महान हैं। हिन्दू विवाह अपनी आप में एक ''जीवन दर्शन'' हैं। यही धार्मिकता, पारिवारिकता, सामाजिकता सभी को अपने आंचल में समेटे हुए हैं। यह प्राणीशास्त्रीय, धार्मिक, व्यक्तिगत व सामाजिक उद्देश्यों का अद्‌भूत समन्वय हैं।

5.6 हिन्दू विवाह के स्वरूप : परम्परागत एवं आधुनिक

5.6.1 परम्परागत स्वरूप—हिन्दू विवाह के विभिन्न स्वरूपों अथवा प्रकारों का वर्णन मनु, नारद तथा याज्ञवलक्य की स्मृतियों में मिलता है। इसके अनुसार हिन्दू विवाह के आठ परम्परागत स्वरूप व प्रकार बताये गये हैं।

5.6.1.1 ब्राह्म विवाह—इस विवाह में कन्या का पिता विद्वान, योग्य व चरित्रवान युवक वर ढूँढकर उसको अपने घर पर आदर-सहित आमंत्रित करता है और धार्मिक संस्कार द्वारा अपनी कन्या वर को दान करता है। इस विवाह के तीन प्रमुख अंग हैं—(1) माता-पिता की स्वीकृति (2) विवाह संस्कार तथा (3) दहेज का न देना। मनुस्मृति में लिखा है कि इस विवाह में कन्या को केवल एक वस्त्र से अलंकृत करके उसका दान किया जाता है। यह विवाह, विवाह के अन्य प्रकारों अथवा स्वरूपों में श्रेष्ठ माना जाता है।

5.6.1.2 दैव विवाह—इस विवाह में कन्या का पिता एक विस्तृत यज्ञ की व्यवस्था करता है। इस यज्ञ के लिये बड़े-बड़े विद्वानों और योग्य विद्वान युवकों को आमंत्रित किया जाता है। कन्या को वस्त्रों तथा आभूषणों से अलंकृत करके उसे योग्य व विद्वान युवक को सौंप दिया जाता है। वस्तुतः विस्तृत यज्ञ करने में कुशल पुरोहित को अलंकार युक्त कन्या देना ही ''दैव विवाह'' कहलाता है। इस विवाह का प्राचीन काल में प्रचलन अधिक था।

5.6.1.3 आर्ष विवाह—इस विवाह में कन्या का पिता वर से एक गाय तथा एक बैल या दो गाय तथा दो बैल लेकर कन्या का वर के साथ विवाह सम्पन्न कर देता है। कुछ विचारकों का कहना है कि यह विवाह आदिवासियों के क्रय विवाह से मिलता जुलता है, परन्तु इस विवाह में रस्म के तौर पर इतना कम लिया जाता है कि इसे क्रय विवाह कहना अनुचित होगा। वास्तव में इस विवाह का सम्बन्ध ऋषि लोगों से है, क्योंकि ऋषि लोग विवाह के सम्बन्ध में उदासीन रहा करते थे। इस विवाह में जो शर्त रखी गयी है, वह इस बात की परिचायक है कि व्यक्ति ने गृहस्थ जीवन अपनाना स्वीकार कर लिया है।

5.6.1.4 प्रजापत्य विवाह—ब्राह्म विवाह की भाँति इस विवाह में भी किसी प्रकार की टीप टाप या दिखावट नहीं की जाती है। इस विवाह में कोई उत्सव भी नहीं रचा जाता, बल्कि वर और कन्या को यज्ञ शाला में बैठाकर साथ-साथ धर्म सहित जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया जाता है। इस विवाह में प्रजा अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने को प्राथमिकता दी जाती है और ऐसा ही उपदेश दिया जाता है।

5.6.1.5 असुर विवाह—इस विवाह में वर-कन्या के पिता या कुटुम्बियों को धन देकर कन्या को प्राप्त करता है। यह एक प्रकार से कन्या विक्रय है हिन्दू समाज की निम्न जातियों में आज भी इस प्रकार का विवाह होता है।

5.6.1.6 गन्धर्व विवाह—यह विवाह आजकल के प्रेम विवाह के समान हैं। जब वर व कन्या बिना विवाह संस्कार के एक दूसरे की इच्छा पूर्वक सम्भोग करने लगते हैं और एक साथ रहने लगते हैं। तब इसे ''गन्धर्व विवाह'' कहा जाता है। वास्सायन ने ''कामसूत्र'' में इस विवाह को आदर्श विवाह माना है। शकुन्तला और दुष्यन्त का विवाह गन्धर्व विवाह का प्रमुख उदाहरण है।

5.6.1.7 राक्षस विवाह—लड़ाई करके छीना-झपटी द्वारा अथवा कपट द्वारा कन्या से विवाह करना राक्षस विवाह कहलाता है। यह प्रथा एक प्रकार से युत्र में जीतने का पारितोषक है। ऐसा मालूम होता हे कि यह प्रथा उस समय से चली आ रही है जब स्त्रियाँ युद्ध का पारितोषिक समझी जाती थी। इस विवाह को क्षत्रिय विवाह भी कहा जाता है। क्योंकि प्राचीन काल में क्षत्रिय लोग ही युद्ध किया करते थे।

5.6.1.8 **पैशाच विवाह**— यह विवाह, विवाह के सभी प्रकारों में अधम माना जाता है, क्योंकि इस प्रकार के विवाह में नशे में उन्मत होकर सोती हुई कन्या को एकान्त में दूषित कर देना ही पर्यापत है। मनु ने इस प्रकार के विवाह को पपिष्ट कहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जिस महिला के साथ बलात्कार किया जाता था, उसे भी पत्नी के रूप में ग्रहण कर लिया जाता था। परन्तु ऐसे विवाह का दर्जा सबसे निम्न समझा जाता था।

5.6.2 **आधुनिक स्वरूप**—वर्तमान आधुनिक काल में हिनदुओं में दो प्रकार के विवाहों—ब्राह्म विवाह और असुर विवाह का प्रचलन है। **प्रो० मजूमदार** का कहना है कि "यद्यपि साधारण हिन्दू समाज में ब्राह्म विवाह उच्च जातियों में तथा असुर विवाह निम्न जातियों में प्रचलित है, तथापि उच्च जाति में भी असुर विवाह पूर्णतया समाप्त नहीं हो पाया है। (डी एन मजूमदार, रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया, पृष्ठ 173)

5.6.2.1 **ब्राह्म विवाह**—जैसा कि प्रारम्भ में उल्लेख किया जा चुका है कि कन्या के संरखक योग्य वर को चुनते हैं और उसे एक नियत दिन पर मित्रों एवं सगे सम्बन्धियों के साथ आमन्त्रित करते हैं और फिर अन्न, वस्त्र, अलंकार उपहार आदि सहित कन्या का दान दे देते हैं। इस विवाह को सम्पन्न करने के लिये कुछ धार्म्कि संस्कारों को सम्पन्न करना आवश्यक होता है। यज्ञ, पाणिग्रहण, सप्तसदी आदि प्रमुख धार्मिक संस्कार हैं। इस प्रकार हिन्दू विवाह एक पवित्र बन्धन और जन्म जन्मान्तर का नाता है। यह स्वरूप हिन्दुओं की उच्च जातियों में आज भी प्रचलित है।

5.6.2.2 **असुर विवाह**—यह विवाह वर्तमान काल में हिन्दुओं की निम्न जातियों में प्रचलित है। कन्यामूल्य लेकर लड़की की शादी की जाती है। धर्मशास्त्रों में कन्या मूल्य अनुचित बताया गया है। सम्भवतया इसी कारण इसको हिन्दुओं की उच्च जातियों में पसन्द नहीं किया जाता।

अत: आज के युग में हिन्दू विवाह के आठ प्रकारों में से अवशेष के रूप में केवल दो का ही प्रचलन है। बाह्म विवाह में भी आधुनिक युग की कुछ बुराईयां आती जा रही हैं और असुर विवाह का भी प्रारम्भिक रूप नहीं रहा है।

5.7 हिन्दू विवाह के नियम अथवा जीवन साथी के चुनाव का क्षेत्र

हिन्दू विवाह एक ऐसी जटिल सामाजिक संस्था है जिसके अन्तर्गत अनेक निषेधों के अधीन जीवन साथी का चुनाव किया जाता है। वैदिक काल में विवाह से सम्बनिधत निषेध उतने अधिक प्रभावपूर्ण नहीं थे जितने कालान्तर में हो गये। पहले व्यक्तियों के प्रति दृष्टिकोण अधिक सम्मानपूर्ण और उदार था। किन्तु आगे चलकर विभिन्न परिस्थितियों के कारण विवाह के क्षेत्र संकुचित होते चले गये, विवाह सम्बन्धी अनेक निषेध प्रस्थापित हो गये और उनमें अनेक हिन्दू सामाजिक जीवन के अनिवार्य अंग बन गये। यद्यपि आज ये निषेष पुन शिथिल पड़ते जा रहे हैं तथापि इनका प्रचलन प्रभावशील हैं हिन्दू समाज में विवाह सम्बन्धी नियम चार भागों में विभाजनीय है।

5.7.1 अन्तर्विवाह—अन्तर्विवाह का अभिप्राय है अपनी ही जाति या उपजाति में विवाह करना। हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने में ही विवाह करने की अनुमति है। अर्थात् ब्राह्मण से ब्राह्मण और क्षत्रिय से क्षत्रिय ही विवाह कर सकता है। लेकिन व्यवहारिक रूप से ऐसा नहीं होता, क्योंकि आज प्रत्येक वर्ण अनेक जातियों व उपजातियों में विभाजित है और ये उपजातियां भी अनेक भागों में विभाजित हैं। ये सभी विभाजित व उपविभाजित भाग एक एक अन्तर्विवाही समूह हैं। इसी सन्दर्भ में एस० वी० केतकर ने लिखा है—"भारत में बीस करोड़ हिन्दू इस प्रकार विभाजित व उपविभाजित हैं कि उनमें ऐसी जातियाँ भी हैं जो पन्द्रह परिवारों के बाहर विवाह नहीं कर करती।" (एस० वी० केतकर, हिस्ट्री ऑफ कॉस्ट इन इण्डिया)

समाजशास्त्रीय फॉलसम ने अन्तर्विवाह को परिभाषित करते हुये लिखा है, "अन्तर्विवाहि वह नियम है जिसके अनुसार एक व्यक्ति को अपनी ही जाति या समूह में विवाह करना पड़ता है, परन्तु निकट के रक्त सम्बन्धियों से विवाह सम्बन्ध की अनुमति नहीं होती। (फॉलसम, जे० के०)

वास्तव में अन्तर्विवाह वह विधि है जिसके अनुसार समूह, जाति या उपजाति के अन्तर्विवाह ही विवाह सम्बन्ध किये जा सकते हैं। हिन्दुओं में अनेक उपजातियाँ हैं और प्रत्येक उपजाति अन्तर्विवाही समूह हैं।

5.7.2 बहिर्विवाह—बहिर्विवाह का सामानय आशय यह है कि "एक व्यक्ति अपने समूह से, जिसका कि वह सदस्य है, के बाहर विवाह करे।" डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स ने लिखा है कि बहिर्विवाह से उस विनिमय का बोध होता है जिसमें एक सामाजिक समूह के सदस्य के लिये यह अनिवार्य होता है कि वह दूसर सामाजिक समूह से अपना जीवन साथी ढूँढे।" (डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स, सामाजिक संगठन, पृष्ठ 32)

यदि तात्विक आधार पर परिभाषित किया जाये तो "गोत्र, प्रवर और सपिण्ड के बाहर विवाह करने को "बहिर्विवाह" कहते हैं।

5.7.2.1 सगोत्र बहिर्विवाह—गोत्र बहिर्विवाह का आशय है कि व्यक्ति अपने गोत्र से सम्बन्धित व्यक्तियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित न करें। गोत्र का अर्थ व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो एक ही, कल्पित ऋषि से अपनी उत्पत्ति मानते हैं। अल्टेकर के अनुसार 600 बी० सी० तक गोत्र विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। (ए० एस० अल्टेकर, दि पोजीशन ऑफ वूमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० 45)

कपाड़िया ने भी वैदिक काल में गोत्र निषेध न होने का सन्दर्भ दिया है। उनमें तर्क है; (1) आर्यों में न केवल स्वयंवर बल्कि "गन्धर्व विवाह" भी प्रचलित था (2) आर्य लोग ईरान से भारत आये थे तथा ईरान में सगोत्र विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं पाये जाते। सम्भवतया मनु ने सगोत्र विवाह पर प्रतिबन्ध लगाये।

1946 में हिन्दू विवाह निर्योग्यता निवारण अधिनियम (Hindu Marriage Disabilities Removal Act, 1946) में गोत्र विवाह के प्रतिबन्ध हटा दिये गये। आजकल लोग इस प्रकार के प्रतिबन्ध को कोई अधिक महत्व नहीं देते हैं।

5.7.2.2 प्रवर बर्हिर्विवाह—प्रवर आध्यात्मिक सम्बन्धों की ओर इंगित करता है। वैदिक इण्डेक्स के अनुसार प्रवर का अर्थ आह्वान करना है। प्रवर के सम्बन्ध में प्रचलित है कि पुरोहित द्वारा यज्ञ के समय चुन लिये जाने वाले ऋषियों का नाम प्रवर है, क्योंकि यजमान पुरोहित को यज्ञ के लिये आमन्त्रित करता था, इसलिये यजमान तथा पुरोहित के प्रवर एक से हुये।

गोत्र के समान प्रवर में भी विवाह के निषेध का विधान रहा है। इसी नियम या विधान को प्रवर बहिर्विवाह कहा जाता है ऐसा कहा जाता है कि मनु के समय यह निषेध अधिक कठोर नहीं था, परन्तु तीसरी शताब्दी के बाद यह निषेध कठोर हो गया। वर्तमान में प्रवर का प्रचलन नगण्य है।

5.7.2.3 सपिण्ड बहिर्विवाह—सपिण्ड का अर्थ है, मृत व्यक्ति को पिण्डदान देने वाले या उनके रक्त कण से सम्बन्धित व्यक्ति। सपिण्ड में विवाह का निषेघ है। इस नियम को सपिण्ड बहिर्विवाह कहा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस प्रकार का निषेध उत्तम माना जाता है, क्योंकि निकट सम्बन्ध में नियम कठोर नहीं थे। उदाहरणार्थ, अर्जुन ने अपने मामा की लड़की सुभद्रा से विवाह किया और श्रीकृष्ण ने भी अपने मामा की लड़की रूक्मणी से विवाह किया। आज भी दक्षिण भारत में मामा की लड़की से विवाह करने की प्रथा पायी जाती है इसी प्रकार गौतम बुद्ध ने भी अपने मामा की लड़की से विवाह किया।

5.7.3 अनुलोम विवाह- मनुस्मिृति में ऐसा वर्णन मिलता है कि चारों वर्णों के पुरूष अपने से निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकते हैं, परन्तु अपने से उच्च वर्ण की स्त्री से विवाह नहीं कर सकते। उच्च जाति के लड़के का निम्न जाति की लड़की से विवाह करना अनुलोम या कुलीन विवाह कहलाता है। इस प्रकार के विवाहों की शास्त्रों में अनुमति दी गयी है, और ऐसे विवाहों का प्रचलन भी होता रहा है। महाभारत के वर्णन से पता चलता है कि भीष्म के पिता शान्तनु राजा ने एक धीवर की कन्या से विवाह किया था। भारत में यह प्रथा 10वीं व 11वीं शताब्दी तक चलती रही है। बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों में भी यह प्रथा प्रचलित है। प्रत्येक ब्राह्मण अपनी कन्या को कुलीन ब्राह्मण को ही देना चाहता है, परिणाम स्वरूप उच्च जातियों अथवा ब्राह्मणों में दहेज की प्रथा चल पड़ती है।

5.7.4 प्रतिलोम विवाह - प्रतिलोम विवाह का अर्थ है निम्न जाति के पुरूष का उच्च जाति की कन्या से विवाह करना। डा. राधा कृष्णन ने लिखा है कि "प्रतिलोम विवाह में निम्न वर्ण का लड़का उच्च वर्ण की कन्या के साथ विवाह करता था और उससे उत्पन्न संतान किसी भी वर्ण में नहीं रखी जाती थी। उनको चाण्डाल या निषाद कहा जाता था। (डॉ० राधा कृष्णन, रिलीजन एण्ड सोसाइटी)

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में इस प्रकार के विवाह का निषेध है। हिन्दू समृतिकारों ने यहाँ तक लिखा है कि यदि शुद्र उच्च वर्ण की स्त्री से सम्बन्ध करे तो उसे सार्वजनिक स्थान पर लाकर कुत्तों से नुचवा डालना चाहिये अथवा अग्नि से लाल शैय्या पर बांध देना चाहिये। लेकिन अब कानून (हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 और विशेष विवाह अधिनियम 1954) प्रतिलोम विवाह पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहा, फिर भी प्रतिलोम विवाहों का प्रचलन काफी कम है।

5.8 हिन्दू विवाह सम्बन्धी सामाजिक विधान

भारत में समाज सुधार, समाज कलयाण और सामाजिक पुनर्निमाण की दृष्टि से सामाजिक विधानों का अत्यधिक महत्व है। सामाजिक विधानों की जो आधारशिला ब्रिटिश शासनकाल में रख दी गयी थी। उसे स्वतंत्र भारत में और अधिक सुदृढ़ बनाया गया है।

5.8.1 ब्रिटिश काल में बने सामाजिक विधान—ब्रिटिश सरकार की नीति हिन्दुओं के सामाजिक और धार्मिक मामलों में कम से कम हस्तक्षेप करने की थी। परन्तु जनमत के दबाव के कारण अंग्रेजी सरकार द्वारा कुछ सामाजिक विधान पारित किये गये।

5.8.1.1 हिन्दू विध्णवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1956 (The Hindu Widows Re-marriage Act, 1956)—स्मृतिकाल के बाद से आगे तक विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी। मनु के अनुसार ''एक विधवाव जो पुनर्विवाह करती है स्वयं को अपमानित करती है, अत: उसे अपनी स्वामी के स्थान से बाहर निकल जाना चाहिये।'' 1956 के अधिनियम ने हिन्दू विधवाओं के विाह में आने वाली सभी कानून अड़चनों को दूर कर दिया। उद्देश्य था—जन कलयाण तथा उच्च आदर्शों को प्रोत्साहन देना। यह नियम घोषित करता है कि ऐसी विधवा जिसका पति उसके दूसरे विवाह के समय से ही स्वर्गवासी हो गया हो का पुनर्विवाह वैध है और ऐसे विवाह की कोई भी संतान अवैधानिक नहीं होगी। ऐसे मामलों में जहां पुनर्विवाह करने वाली विधवा अल्पव्यस्क है, उसके माता-पिता, सगे सम्बन्धियों, भाई की सहमति आवश्यक है। सहमति के अभाव में कोई भी किया गया विवाह निष्प्रभावी होगा। अधिनियम विधवा को प्रथम पति की सम्पत्ति में से निर्वाह अधिकार प्राप्त करने से वंचित करता है।

5.8.1.2 बाल विवाह निग्रह अधिनियम, 1929 (The Child Marriage Restraint, 1929)—यह अधिनियम पहली अप्रैल, 1930 को लागू हुआ। यह अधिनिमय बाल विवाह को रोकता है। यद्यपि यह विवाह स्वयं निरर्थक निष्प्रभावी घोषित है। तद्नुसार 18 वर्ष से कम उम्र के लड़के 14 वर्ा से कम उम्र की लड़की का विवाह तय करना, सम्पन्न करना आदि कानूनी अपराध था। बाद में लड़की की आयु बढ़ाकर 15 वर्ष कर दी गयी थी। 1978 में सुधार के बाद लड़के की आयु 21 वर्ष तथा लड़की की आयु 18 वर्ष कर दी गयी है। अधिनियम के उल्लंघन पर दण्ड का प्राविधान है लेकिनविवाह स्वयं में वैध रहता है। अधिनियम के अर्न्तगत अपराध संज्ञेय है और इसके अन्तर्गत माता-पिता, वर, संरक्षक और पण्डित तक के लिये तीन माह का साधारण कारावास और 1000 रुपये तक का अर्थदण्ड है। किसी महिला को कारावास का दण्ड सम्मिलित नहीं है। अधिनियम में बाल विवाह को रोकने के लिये निषेधाज्ञा जारी करने का प्रावधान है, लेकिन अपराध के लिये कोई भी कार्यवाही नहीं की जा सकती—यदि आरोपित विवाह को एक वर्ष का समय व्यतीत हो चुका है।

5.8.1.3 हिन्दू विवाह निर्योग्यता निवारक अधिनियम, 1946—हिन्दुओं में कोई और विवाह यदि निषेधों की सीमा में आपस में सम्बनिधत व्यक्तियों के बीच हुआ है तो वैध नहीं है जब तक ऐसा विवाह रिवाजों द्वारा मान्यता प्राप्त न हो। इस अधिनियम के अन्तर्गत एक ही

गोत्र और प्रवर के व्यक्तियों के बीच विवाह वैध करार दिया गया। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 के पारित होने के बाद यह अधिनियम निरस्त हो गया है।

5.8.2 स्वतंत्र भारत में सामाजिक विधान—स्वतंत्र भारत में बनने वाले सामाजिक विधान इस सर्वव्यापी नियम पर आधारित है कि ''तथ्य को सैकड़ों धर्म शास्त्र भी नहीं बदल सकते। '' स्वतन्त्रोपरान्त बने हिन्दू विवाह से सम्बन्धित विधान निम्नलिखित हैं—

5.8.2.1 हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम, 1949—1940 तक हिन्दुओं में प्रतिलोम विवाह अवैध तथा अनुलोम विवाह अनुमन्य था, यद्यपि इस प्रकार के विवाहों की वैधता के विरुद्ध न्यायिक निर्णय थे। 1949 के अधिनियम ने वे सभी वैध घोषित कर दिये जो भिन्न जातियों, धर्मों उपजातियों एवं विश्वासों के लोगो के बीच सम्पन्न हों। लेकिन एक हिन्दू और मुसलमान के बीच विवाह को वैध नहीं माना गया है। 1955 के अधिनियम के बाद यह नियम भी निरस्त हो गया है।

5.8.2.2 विशेष विवाह अधिनियम, 1954—यह अधिनियम पहली अप्रैल, 1955 को प्रभावी हुआ। इस अधिनियम के पश्चातृ 1872 का विशेष विवाह अधिनियम निरस्त हो गया, जो उन व्यक्तियों को जो वर्तमान स्वरूपों का पालन नहीं करना चाहते थे, एक नया स्वरूप दिया। 1872 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रावधान था कि जो व्यक्ति विवाह के इच्छुक होते थे, उन्हें घोषणा करनी होती थी, कि जैन, बौद्ध, सिक्ख, मुस्लिम, पारसी, ईसाई या हिन्दू किसी भी धर्म को नहीं मानते हैं। 1923 में इस अधिनियम में संशोधन किया गया, जिसके अन्तर्गत जो व्यक्ति विवाह का इच्छुक हो उसे ऐसी कोई भी घोषणा नहीं करनी होती थी। प्रत्येक पक्ष को केवल इतनी ही घोषणा करनी होती थी कि वह किस धर्म का अनुयायी था। इस प्रकार इस नियम द्वारा अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता प्राप्त हो गयी।

1954 के अधिनियम के अन्तर्गत विवाह अफसर द्वारा सम्पन्न कराया जाता है। दोनों पक्षों को कम से कम विवाह से एक माह पूर्व सूचना देनी होती है। दोनों पक्षों में से एक के लिये उस विवाह अफसर के कार्यालय के जिले का निवासी होना आवश्यक है। एक माह की अवधि के भीतर कोई भी उनके विरुद्ध आपत्ति उठा सकता है। यदि सूचना के तीन माह की अवधि के बीच विवाह सम्पन्न नहीं होता है तो फिर एक सूचना की आवश्यकता होगी। विवाह के समय दो साक्षियों की आवश्यकता होती है।

इस अधिनियम में विवाह निरस्त करने, विवाह-विच्छेद, न्यायिक पृथक्करण तथा निर्वाह व्यय आदि का भी प्राविधान है।

5.8.2.3 हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955—यह अधिनियम 18 मई, 1955 से प्रभावी हुआ तथा जम्मू व कश्मीर को छोड़कर समस्त भारत में लागू होता है। इस अधिनियम में ''हिन्दू' शब्द में जैन, बौद्ध, सिक्ख व अनुसूचित जातियाँ सम्मिलित हैं। आयु, जीवित पत्नी, निषिद्ध सम्बन्ध और मानसिक दशा आदि की शर्तें 1955 के अधिनियम में भी वैसी ही हैं जैसी कि 1954 के अधिनियम में दी गयी थी। इस अधिनियम के अन्तर्गत निम्नलिखित शर्तें प्रदान की गयी हैं;

(1) किसी पक्ष के पास जीवित पत्नी या पति नहीं है।

(2) कोई भी पक्ष पागल या मूर्ख नहीं है।

(3) वर की आयु 18 वर्श और वधू की आयु 15 वर्ष पूरी होनी चाहिये। 1978 के संशोधन के अनुसार लड़के की आयु बढ़ाकर 21 वर्ष और लड़की की आयु 18 वर्षकर दी गयी है।

(4) दम्पत्तियों में से कोई भी निषिद्ध सम्बन्धों के स्तर के निकट का नहीं होना चाहिये, जब तक कि रिवाज उन्हें विवाह की अनुमति न दें।

(5) दोनों में से कोई सपिण्ड नहीं होना चाहिये, जब तक कि रिवाज अनुमति न दे।

(6) जहां वधू 18 वर्ष से कम और वर 21 वर्ष से कम आयु का हो उनके विवाह में उनके माता-पिता या संरक्षक की सहमति आवश्यक है। जिन लोगों की सहमति लेना आवश्यक है उनका वरीयता क्रम हैं—पिता, माता, दादा, दादी, भाई, चाचा, नाना, नानी और मामा।

अधिनियम में विवाह सम्पन्न करने के लिये किसी विशेष स्वरूप का प्रावधान नहीं है। सम्बद्ध पक्षों की स्वतन्त्रता है कि ये प्रचलित रीति रिवाजों के अनुसार विवाह सम्पन्न करें—

अधिनियम न्यायिक पृथक्करण तथा विवाह निरस्त करने की प्रक्रिया की अनुमति देता है। कोई भी पक्ष चार आधारों पर, न्यायिक पृथक्करण ले सकता है; दो वर्ष तक निरन्तर यातना, निर्दयी व्यवहार, कोढ़, व्यभिचार।

विवाह को निम्नलिखित चार आधारों पर निरस्त किया जा सकता है—

(1) विवाह के समय विवाहित स्त्री या पुरुष नपुंसक रहा हो तथा कार्यवाही होने तक भी नपुंसक स्थिति जारी रहे।

(2) विवाह के समय दोनों में से एक पागल या मूर्ख रहा हो।

(3) माता-पिता या संरक्षक की सहमति ली गयी हो या धोखे से ली गयी हो और

(4) विवाह के समय पत्नी, पति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति से गर्भ धारण कर चुकी हो।

विवाह विच्छेद, व्यभिचार, धर्म परिवर्तन, अस्वस्थ मस्तिष्क, कोढ़, वेनीरल बीमारी, संन्यास, सात वर्ष तक परित्याग तथा न्यायिक पृथक्करण के बाद दो वर्ष तक समागत न किया जाना आदि आधारों पर हो सकता है। पत्नी भी तलाक के लिये प्रार्थना पत्र दे सकती है। यदि उसका पति विवाह से पहले भी एक पत्नी रखता हो और वह बलात्कार या पशुता को दोषी हो।

सन् 1986 का संशोधन परस्पर सहमति तथा असंगतता के आधार पर विवाह-विच्छेद की अनुमति देता है। न्यायालय में विवाह विच्छेद के लिये प्रार्थना पत्र तभी दिया जासकता है जबकि विवाह के बाद तीन वर्ष पूरे हो चुके हों। 1986 के संशोधन के बाद यह अवधि दो वर्ष कर दी गयी है। विवाह विच्छेदित पक्ष पुनर्विवाह नहीं कर सकते, जब तक कि विच्छेद की डिक्री को एक वर्ष समाप्त न हुआ हो। अधिनियम में पृथक्करण के बाद गुजारा-भत्ता तथा विच्छेद के बाद निर्वाह व्यय का प्रावधान है। न केवल पत्नी बल्कि पति भी गुजारा भत्ता के लिये दावा कर सकता है।

5.8.2.4 दहेज निरोधक अधिनियम, 1961—यह अधिनियम 20 मई, 1961 को पारित हुआ। इस आशय का विधेयक 27 अप्रैल, 1959 को तत्कालीन विधि मन्त्री श्री ए० के० सेन द्वारा लोक सभा में प्रस्तुत किया गया था। यद्यपि लोक सभा ने इस विधेयक को पारित कर दिया था किन्तु राज्य सभा ने इसे अस्वीकार कर दिया। लोक सभा ने कुछ संशोधन के साथ इसे पुन: अस्वीकार कर दिया। तब यह विधेयक संयुक्त प्रवर समिति का सन्दर्भित किया गया। समिति की सिफारिशों पर लोक सभा व राज्य सभा की संयुक्त बैठक में बहस हुई तब यह पारित हो सका। यह अधिनियम मुसलमानों पर लागू नहीं होता। यह विधेयक 2000 रुपये से अधिक मूल्य के उपहारों के आदान-प्रदान की अनुमति नहीं देता। इसके उल्लंघन की दशा में 6 माह का कारावास अथवा 5000 रुपये तक के अर्थ दण्ड का प्राविधान है।

अधिनियम के उल्लंघन पर पुलिस स्वयं कोई कार्यवाही नहीं कर सकती, जब तक कि कोई शिकायत दर्ज न करायी जाये। विवाह के एक वर्ष बाद कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती। जब विधेयक पर लोक सभा में बहस चल रही थी—तत्कालीन विधि उपमन्त्री ने कहा था, "विधेयक के अन्तर्गत अपराध सिद्ध करना लगभग असम्भव होगा, क्योंकि कोई भी माता-पिता अपनी बेटी का भविष्य खतरे में नहीं डालने जा रहे हैं, यह कहकर कि उनसे दहेज लिया जा रहा है। न्यायमूर्ति सप्रू ने भी राज्य सभा में माना कि विधान पारित कर लेने से कोई लाभ नहीं है, यदि इसे ठीक से लागू न किया जा सके। यह केवल कानून की अवमानना ही पैदा करेगा। अधिनियम में जून, 1986 में और कुछ संशोधन किये गये और इसे पहले से अधिक कठोर बना दिया गया।

5.9 हिन्दू विवाह संस्था पर सामाजिक विधानों का प्रभाव एवं आधुनिक परिवर्तन

हिन्दू विवाह को प्रभावित करने वाले सामाजिक विधानों के अन्तर्गत हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 और विशेष विवाह अधिनियम, 1954 का उल्लेख किया जा सकता है। इन दोनों अधिनियमों का हिन्दू विवाह पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। परिणामस्वरूप हिन्दू विवाह को धार्मिक संस्कार मानने की धारणा में आधुनिक परिवर्तन परिलक्षित हुये हैं। इस सन्दर्भ में समाजशास्त्री के० टी० मर्चेन्ट लिखते हैं कि "हिन्दू विवाह को कई युवक एवं युवतियों ने धार्मिक संस्कार न मानकर इसके वैयक्तिक रूप को अधिक महत्वपूर्ण बताया है तथा इसे महत्व दिया है।" (के० टी० मर्चेन्ट, चेंजिंग व्यूज आन मैरिज एण्ड फैमिली पृ० 40-56)

नवीन सामाजिक विधानों के फलस्वरूप अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिल रहा है, अनुलोम या प्रतिलोम के आधार पर विवाह सम्बन्धों में कोई बाधा नहीं रह गयी है, क्योंकि अधिनियम के अन्तर्गत किसी जाति विशेष का उसी जाति में विवाह जरूरी नहीं रहा है। बहु-पत्नी विवाहों का प्रचलन प्राय: समाप्त होता जा रहा है और एक विवाह का प्रचलन सामान्य हो गया है, क्योंकि दोनों ही अधिनियमों में विवाह की पहली शर्त यह है कि विवाह तभी वैध होगा, जब विवाह के समय दोनों पक्षों में से किसी का भी विवाह साथी जीवित न रहा हो।

हिन्दू विवाह का क्षेत्र अब पहले की अपेक्षा बढ़ गया है। अर्थात् गोत्र प्रवर और सपिण्ड विवाह की सीमायें कम कर दी गयी हैं जिससे वर-वधू के चुनाव में पहले से कहीं अधिक सुविधा हो गयी है।

जीवन साथी को चुनने का स्वतन्त्र अधिकार, वर्तमान में प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है बशर्ते कि उनकी आयु (वर व वधू) क्रमशः 21 व 18 वर्ष होनी चाहिये।

आधुनिक समय में जीवन की संकटमय स्थिति का विवाह विच्छेद के कारण अन्त होता जा रहा है। अर्थात् हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13 के अनुसार पति अथवा पत्नी दोनों को न्यायालय की शरण में जाकर विवाह विच्छेद का अधिकार प्राप्त है जो एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है।

इसी प्रकार विशेष विवाह अधिनियम 1954 के अन्तर्गत बाल विवाह पर रोक लगी हुई है। पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति, औद्योगीकरण, नगरीकरण, प्रजातन्त्र के मूल्य, नवीर सामाजिक विधान सामाजिक चेतना आदि ने प्राचीन हिन्दू विवाह संस्था को प्रभावित किया है तथा इसने काफी परिवर्तन करा दिये हैं। आज वह संक्रमणकाल से गुजर रही है। वर्तमान में गावों की अपेक्षा शहरों में अधिक परिवर्तन नजर आने लगे हैं, परन्तु यह स्पष्ट है कि समय के साथ-साथ गांव भी इन परितर्वनों से अछूते नहीं रह सकते।

5.10 सारांश

* इस इकाई के अन्तर्गत आपने हिन्दू विवाह विवाह की अवधारणा एवं उसकी प्रकृति के विषय में जानकारी प्राप्त की। अब आप हिन्दू विवाह के अर्थ व हिन्दू विवाह के धार्मिक स्वरूप भली-भाँति अवगत हो गये हैं। अर्थातृ आप जान गये हैं कि हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है।

* हिन्दू विवाह धार्मिक संस्कार क्यों हैं, इसके उत्तर में कुल नौ (9) कारणों का वर्णन प्रस्तुत इकाई में किया गया है, जो इस प्रकार है—धार्मिक विधि विधानों का समावेश, मोक्ष प्राप्ति का साधन, धार्मिक कर्तव्यों का पालन, पतिव्रत्य और सतीत्व की धारणायें, वेदमन्त्रों का उच्चारण, परमपिता द्वारा निर्धारण सम्बनधी मान्यता, पत्नी के सम्बोधक शब्द, धार्मिक आदेशों एवं निषेधों का महत्व, विवाह पवित्र बन्धन एवं स्वर्ग का द्वार।

* प्रत्येक संस्था के कुछ उद्देश्य अथवा आदर्श अवश्य ही होते हैं। हिन्दू विवाह संस्था भी किन्हीं उद्देश्यों को साथ लेकर चलती है। जैसे-धर्म, प्रजा, रति, परिवार के सदस्यों के प्रति कर्तय पालन, संस्कृति की निरन्तरता, सामाजिक जीवन की निरन्तरता तथा व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास। इन सभी उद्देश्यों से आप भली-भाँति परिचित हो ही चुके हैं।

* हिन्दू विवाह के विभिन्न स्वरूपों अथवा प्रकारों का वर्णन, मनु, नादर तथा याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में मिलता है। इसके अनुसार हिन्दू विवाह के आठ परम्परागत स्वरूप व प्रकार बताये गये हैं। दो आधनिक स्वरूपों का वर्णन भी प्रस्तुत इकाई में किया गया है, जिन्हें आप समझ ही गये हैं।

* हिन्दू विवाह में अनुलोम, विवाह, प्रतिलोम विवाह, अन्तर्विवाह तथा बहिर्विवाह के नियम हैं, जिनसे आप परिचित हो चुके हैं।

* हिन्दू विवाह सम्बन्धी विभिन्न सामाजिक विधानों का उल्लेख भी प्रस्तुत इकाई में हैं, जिसमें हिन्दू विधवा पुर्नविवाह अधिनियम, बाल विवाह निरोधक अधिनियम, हिन्दू विवाह अधिनियम तथा दहेज निरोधक अधिनियम प्रमुख है।

* आप इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हो चुके हैं कि हिन्दू विवाह से सम्बनिधत सामाजिक विधानों का हिन्दू विवाह की प्रकृति पर क्या प्रभाव पड़ा है तथा इन सामाजिक विधानों के प्रभाव के कारण हिन्दू विवाह संस्था में वर्तमान समय में क्या-क्या परिवर्तन आये हैं?

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ/सहायक ग्रन्थ सूची

1. डॉ० के० एम० कपाड़िया : मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया
2. पी० एन० प्रभू : हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन
3. मनुस्मृति
4. राज बली पाण्डेय : हिन्दू संस्कार

5.12 प्रश्नोत्तर

बोध प्रश्न

1. हिन्दू विवाह से आप क्या समझते हैं? (उत्तर तीन पंक्तियों में दें)

   .....

   .....

   .....

2. हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है, क्यों? कोई तीन कारण बताइये।

   1. .....

   2. .....

   3. .....

3. धर्म शास्त्रों में वर्णित हिन्दू विवाह के तीन उद्देश्य कौन-कौन से हैं?

   1. .....

   2. .....

   3. .....

4. ''हिन्दू के लिये विवाह एक संस्कार है तथा इस कारण विवाह सम्बन्ध में जुड़ने वाले

पक्षों का सम्बन्ध संस्कार रूपी है न कि प्रसंविदा की प्रकृति का।'' यह कथन किसका है? (सही उत्तर के सामने सही (√) का निशान लगायें)

(क) डॉ० के० एम० कपाड़िया ( )

(ख) पी० एन० प्रभु ( )

(ग) डा० एम० एन० श्रीनिवास ( )

(घ) डा० जी० एस० घुरिये ( )

5. हिन्दू विवाह के आधुनिक स्वरूप कौन-कौन से हैं? बताइये ?

.....

6. निम्नलिखित में से कौन-कौन हिन्दू विवाह के नियमों के अन्तर्गत आते हैं? (सही उत्तर के सामने (√) सही का निशान लगायें)

(क) अन्तर्विवाह [ ] (ख) असुर विवाह [ ]

(ग) बहिर्विवाह [ ] (घ) अनुलोम विवाह [ ]

(ङ) पैशाच विवाह [ ]

7. बाल विवाह निग्रह अधिनियम, 1929 कब लागू हुआ? (सही उत्त्र के सामने (√) सही का निशान लगायें)

(क) 1 अप्रैल, 1930 [ ] (ख) 26 जून, 1929 [ ]

(ग) 2 जनवरी 1929 [ ] (घ) 4 अप्रैल 1930 [ ]

8. हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 किस राज्य में लागू नहीं है? (सही उत्तर के सामने (√) सही का निशान लगायें)

(क) पंजाब [ ] (ख) उत्तर प्रदेश [ ]

(ग) जम्मू एवं कश्मीर [ ] (घ) राजस्थान [ ]

5.13 प्रश्नोत्तर

(1) देखें 1.2 (विस्तृत रूप में)

(2) देखें 1.4

(3) देखें 1.5.1

(4) देखें 1.4.9

(5) देखें 1.6.2

(6) देखें 1.7

(7) देखें 1.8.1.2

(8) देखें 1.8.2.3

अभ्यास

अभ्यास सम्बन्धित उत्तर इकाई पढ़कर स्वयं लिखें और परामर्शक को दिखायें।

इकाई 6 मुस्लिम इसाई एवं जनजातीय विवाह एवम् परिवार

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 मुस्लिम परिवार की अवधारणा

6.3 मुस्लिम सामाजिक संगठन

6.4 मुस्लिम परिवार का अर्थ

6.5 मुस्लिम परिवार की विशेषताएं

6.6 मुस्लिम परिवार के संस्कार

6.7 मुस्लिम विवाह

6.8 मुस्लिम विवाह की प्रमुख विशेषताएँ

6.9 मुस्लिम विवाह की शर्तें

6.10 विवाह विधि

6.11 मेहर और दहेज

6.12 मुस्लिम विवाह में भेद

6.13 मुसलमानों में विवाह विच्छेद

6.14 सारंश

6.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची / उपयोगी पुस्तकें

6.16 सम्बन्धित प्रश्न

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- मुस्लिम परिवार और विवाह विधि को स्पष्ट कर सकेंगे।
- मुस्लिम परिवार की विशेषताएँ एवं संस्कारों का उल्लेख कर सकेंगे।
- मुस्लिम विवाह की विधि व उसकी विशेषताओं पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- मेहर और दहेज जैसी प्रथाओं का विवरण कर सकेंगे।
- मुस्लिम विवाह के भेद और विच्छेद का उल्लेख कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

इस्लाम का उद्भव अरब में हुआ था। प्राचीन अरब का धर्म ही धीरे धीरे परिवर्तित होकर इस्लाम धर्म का स्थान ले लिया। मुस्लिम सामाजिक संगठन का ज्ञान हमें कुरान से प्राप्त हुआ है। मुस्लिम पारिवारिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर बहुत ही कम साहित्य प्राप्त होता है। सामानयत: भारतीय मुस्लिम परिवारों में हिन्दू परिवारों का एक प्रतिरूप दिखाई पड़ता है। इसका मूल कारण यह है कि जो मुसलमान सदियों से भारत में निवास कर रहे हैं तथा जो हिन्दू अपना धर्म बदल कर मुसलमान बन गये हैं, उनके सामाजिक जीवन पर हिन्दुओं की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। मेन्डलबाम का विचार है कि मुसलमान तथा हिन्दुओं के बहुत से परिवारिक रीति रिवाजों में अन्तर पाया जाता है जैसे चचेरी बहन से विवाह। (सोसाइटी इन इन्डिया 1970 पृ0 547)। मेन्डलबाम के विचारों के विपरीत मुसलमानों का सामाजिक संगठन हिन्दुओं के सामाजिक संगठन से कुछ अपवादों को छोड़कर बहुत कुछ मिलता जुलता है यद्यपि हिन्दुओं की तुलना में मुसलमान कुछ क्षेत्रों में बहुत अधिक रूढ़िवादी हैं।

6.2 मुस्लिम परिवार की अवधारणा

मुस्लिम परिवार और उसकी सामाजिक संगठन इस्लाम धर्म पर आधारित है। ''इस्लाम'' का शाब्दिक अर्थ है अल्लाह के प्रति समपर्ण, जिसका अभिप्राय है स्वेच्छा से अल्लाह की इच्छा के सामने झुकना। इस्लाम धर्म को मानने वाले मुसलमान कहलाते हैं तथा अपने पवित्र ग्रन्थ 'कुरान' में पूर्ण विश्वास रखते हैं। इस्लाम केवल एक ईश्वर को मानता है। इस प्रकार अद्वैतवादी धर्म है। कुरान अल्लाह के ही शब्द हैं जो उसके पैगम्बर के द्वारा मानव मात्र तक पहुँचाया गया है। इस्लाम का उद्भव सातवीं शताब्दी में पश्चिम मध्य अरब में हुआ लेकिन इसका भली प्रकार स्थापना 622 ई0 संवत् में हुआ। इस्लाम धर्म प्रारम्भ होने के पूर्व पश्चिम मध्य अरब देश में केवल लड़ने वाली जन जातियों के समूह ही पाये जाते थे।

इस्लाम धर्म भारत में मुस्लिम आक्रमण के साथ आया। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अरब के द्वारा सिंध तथा ग्यारहवीं शताब्दी में तुर्कियों द्वारा उत्तर पश्चिम पंजाब को जीत लिया इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के आस पास मुगलों ने एक बृहद साम्राज्य स्थापित कर लिया (गजेटियर ऑफ इंडिया, 1965 : पृ0 466-467)।

6.3 मुस्लिम सामाजिक संगठन

सम्पूर्ण विश्व में मुस्लिम समाज दो भागों में विभाजित है।

(1) शिया (2) सुन्नी।

भारत में शियाओं की तुलना में सुन्नी बहुसंख्यक हैं। भारतीय मुसलमानों में उपर्युक्त विभाजन के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के भी विभाजन हैं जो हिन्दुओं में पाई जाने वाली जाति व्यवस्था से प्रभावित है। भारत में मुस्लिम समाज दो भागों में विभाजित हैं।

(1) उन मुसलमानों के वंशज जो बाहर से आये थे।

(2) वे मुसलमान जो भारत में बहुत पहले से रह रहे थे और जिनके पूर्वजों ने इस्लाम धर्म कबूल कर लिया था। पहली श्रेणी के मुसलमानों को "अशरफ" या "शरफा" (अरबी में इसका अर्थ है सम्माननीय) जबकि दूसरे श्रेणी के मुसलमानों का कोई विशेष नाम नहीं है।

(1) अशरफ

भारत में बाहर के देशों से जैसे फारस, अरब और अफगानिस्तान आदि से आये मुसलमानों के पूर्वज उच्च श्रेणी के समझे जाते हैं जैसे सैयद, मुगल, पठान आदि। सैय्यद को पैगम्बर मुहम्मद की बेटी फातिमा का वंशज माना जाता है, इस कारण से सैय्यद का मुस्लिम समाज में सामाजिक स्तर सबसे ऊँचा माना जाता है।

मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था में दूसरा स्थान शेख को प्राप्त है जो मक्का और मदीना से आये मुसलमानों के वंशज हैं। इसी प्रकार मुगल और पठान हैं जिनका मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था में तीसरा स्थान प्राप्त है।

(2) धर्म परिवर्तित करके बनने वाले मुसलमान

भारतीय मूल के मुसलमान जो अपना धर्म बदल करके मुसलमान बने हैं वे तीन प्रकार के समूहों में विभक्त हैं।

(1) उच्च हिन्दू जाति से परिवर्तित

(2) स्वच्छ व्यवसाय करने वाली जातियों से परिवर्तित तथा

(3) अस्वच्छ व्यवसाय करने वाली जातियों से परिवर्तित

गौस अन्सारी के अनुसारद्ध भारत में मुसलमानों के सामाजिक पद क्रम में, उच्च हिन्दू जातियाँ जो अपना धर्म बदल करके मुसलमान बने हैं। उन्हें अशरफ से नीचा स्थान दिया गया है । (अन्सारी 1960 पृ0 40)।

6.4 मुस्लिम परिवार का अर्थ

परिवार समाज की प्रथम इकाई है क्योंकि बिना परिवार के समाज की निरन्तरता सम्भव नहीं है। समूह सामाजिक जीवन की आवश्यक एक अनिवार्य आवश्यकता है जो मनुष्य की आर्थिक और सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। परन्तु कुछ समूह ऐसे होते हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य के अस्तित्व से है, परिवार इसी प्रकार के समूहों में एक है। Family शब्द के लैटिन भाषा के FAMULUS शब्द से निकला है जिसका अर्थ है माता-पिता, बच्चे, नौकर और यहाँ तक की गुलाम भी आ जाते हैं।

परिवार की सार्वभौमिक परिभाषा देना कठिन है क्योंकि देश काल और परिस्थितियों के अनुसार परिवार के स्वरूप में भिन्नता रहती है। फिर भी मैकाइवर और पेज के अनुसार "परिवार पर्याप्त यौन सम्बन्धों द्वारा परिभाषित ऐसा समूह है जिससे सन्तान उत्पन्न हो और उनका पालन पोषण करने की व्यवस्था हो।" (मैकाइवर और पेज, सोसाइटी पृ0 238)।

6.5 मुस्लिम परिवार की विशेषताएं

मुस्लिम परिवार का निर्माण समाज द्वारा मान्य ''निकाह'' द्वारा होता है। भारत में मुस्लिम परिवार की संरचना बहुत कुछ हिन्दू परिवार की संरचना के निकट है, फिर भी कुछ क्षेत्रों में भिन्नता की भी झलक है। जैसे –

1. पितृवंशीय और मातृवंशीय परिवार :

मुस्लिम परिवार सामान्य रूप से पितृस्थानीय और पितृवंश परम्परा के होते हैं। विवाह के बाद पत्नी को अपने माता पिता का घर छोड़कर पति के घर में ही अपना परिवार बसाना पड़ता है परन्तु कुछ परिवार किन्हीं विशेष कारणों से हिन्दू परिवारों की भाँति पति को ससुराल में ही रहने के लिए मना लेते हैं, ऐसा प्राय: उस समय होता है जब पत्नी के घर में पुरूष उत्तराधिकारी का अभाव होता है। ऐसी स्थिति में उस पुत्री का पुत्र गोद ले लिया जाता है। और वह सम्पत्ति का विधिक उत्तराधिकारी हो जाता है। इस्लाम कुँआरेपन को प्रोत्साहित न करके पारिवारिक स्थायित्व प्रदान करना चाहता है।

2. संयुक्त एवम् एकांकी परिवार :

हिन्दुओं की तरह ही मुसलमानों में भी संयुक्त परिवार प्रणाली पायी जाती है। इस्लाम में चूँकि एक पुरूष को चार विवाह करने की छूट है इसलिये स्वाभाविक है परिवार का स्वरूप बड़ा होगा। मुस्लिम परिवार में पति – पत्नी, उसके बच्चे तथा बच्चों की पत्नियों के अतिरिक्त स्त्री पक्ष के सम्बन्धी और अन्य नाते रिश्तेदारों का समावेश रहता है। नगरों की तुलना में ग्रामों में रहने वाले मुस्लिम परिवारों में संयुक्ता अधिक पायी जाती है। संयुक्त परिवार के साथ साथ एकांकी परिवार भी मुसलमानों में पाये जाते हैं इसका मूल कारण आधुनिक शिक्षा औद्योगीकरण – नगरीकरण तथा व्यक्तिवादिता है।

3. स्त्री-पुरूषों के अलग-अलग क्षेत्र-पर्दा-प्रथा:

मुस्लिम परिवारों में 'पर्दा' एक महत्वपूर्ण विशेषता है जिससे औरतों और मरदों को अलग अलग रक्खा जाय। आज भी अधिकांश मुस्लिम परिवार संयुक्त परिवार में ही रहते हैं जहाँ औरतें घर के एक अलग हिस्से में रहती हैं जिसे 'जनान खाना' कहा जाता है। पहले समय में पर्दा आभिजात्य का सूचक माना जाता था। इसी कारण से घर के प्रत्येक दरवाजों और खिड़कियों पर पर्दे और चिक पड़े रहते हैं। मुसलमान स्त्रियाँ जब घर से बाहर निकलती हैं तो बुरका ओढ़ लेती हैं। मोहम्मद साहब स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता के पक्षधर नहीं थे। सामाजिक परिवर्तन और शिक्षा के विकास के साथ साथ इस व्यवस्था में भी कुछ अन्तर आया है परन्तु वर्तमान में भी यह प्रथा मुस्लिम परिवारों में विद्यमान है।

4. बहु पत्नी प्रथा :

इस्लाम धर्म में बहु पत्नीत्व स्वरूप को स्वीकार किया है जिससे एक पुरूष को एक साथ चार पत्नियों के रखने की छूट है। सम्पन्न घरानों में एकाधिक पत्नियाँ रखना प्रतिष्ठा का द्योतक

माना जाता है। मुस्लिम परिवार में एकाधिक पत्नियाँ होते हुये भी कलह कम पायी जाती है इसका यह कारण हो सकता है लड़कियों को बचपन से ही समाजीकरण के माध्यम से मानसिक रूप से इस बात के लिए तैयार कर लिया जाता है कि वह अन्य स्त्रियों के साथ अनुकूलन करलें।

5. परिवार का धार्मिक स्वरूप:

इस्लाम धर्म ने परिवार की प्रकृति को निश्चित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। मुसलमानों में परिवार कुरान के आधार पर संचालित होता है। कुरान के नियमों को विधिवत पालन करने वाला अल्लाह का प्यारा होता है। ऐसे मुसलमान परम-आनन्द को प्राप्त करते हैं इसके विपरीत जो लोग अल्लाह के सन्देश पर विश्वास नहीं करते उन्हें दण्ड प्राप्त होता है।

मुसलमानों का विश्वास है कि एक दिन ऐसा आयेगा जब मनुष्य के कर्मों का न्याय होगा। उस दिन सभी को अल्लाह के सम्मुख उपस्थित होना पड़ेगा। अल्लाह कर्मों के आधार पर ही न्याय करेगा। इन सब विश्वासों का परिवार के सदस्यों में पारस्परिक सम्बन्धों में दृढ़ता आती है तथा उनके कार्यों को नियंत्रित करने में सहायता मिलती है।

6. सदस्यों की पारिवारिक एवम् सामाजिक स्थिति में असमानता:

इस्लाम धर्म किसी भी रूप में असमानता का पक्षधर नहीं रहा है फिर भी मुस्लिम परिवार के सदस्यों में व्यवहारिक रूप से असमानता दिखाई पड़ती है। पिता परिवार का मुखिया होता है इसलिए उसकी स्थिति भी ऊँची होती है। इसी प्रकार पुरूषों का स्त्रियों की तुलना में अधिक अधिकार व सम्मान प्राप्त है। पुरूष सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है तथा विवाह विच्छेद में भी उसी को विशेष अधिकार प्राप्त है। पुरूषों को सामाजिक गतिशीलता स्त्रियों की तुलना में बहुत अधिक होती है। इसी प्रकार सामाजिक स्थिति में सैद्धान्तिक और व्यवहारिक रूप में अन्तर पाया जाता है। हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों की पारिवारिक स्थिति जाति के अनुसार निर्धारित नहीं होती फिर भी मुसलमानों में सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है और उसी आधार पर परिवार की सामाजिक स्थिति निश्चित होती है। उदाहरण के रूप में 'अशरफ' मुसलमानों के संस्तरण में चार मुख्य भाग हैं - सैयद, शेख, मुगल और पठान। सैयद का स्थान सबसे श्रेष्ठ है इसके बाद क्रमश: शेख, मुगल और पठान का स्थान है। इसके बाद धर्म परिवर्तन करने वाले मुसलमान आते हैं जो प्राय: राजपूत मुसलमान कहलाते हैं इसके बाद व्यवसाय करने वाले मुसलमान आते हैं जैसे दर्जी, कबाड़िया, जुलाहा, मनिहार, धुनिया आदि इसके बाद सबसे निम्न श्रेणी में मेहतर आते हैं। अत: परिवारो की सामाजिक स्थिति उपर्युक्त संस्तरण पर निर्धारित होती है।

7. परिवार में स्त्रियों की लज्जाजनक स्थिति :

सैद्धान्तिक रूप से यदि विचार किया जाय तो मुस्लिम महिलाओं को हिन्दू महिलाओं की तुलना में अधिक अधिकार प्राप्त है। पारिवारिक सम्पत्ति में मुस्लिम महिलाओं को हिस्सा

दिया गया है और इस हिस्से को वे किसी रूप में उपयोग कर सकती हैं इसी प्रकार 'मेहर' और 'दहेज' पर भी उनका सम्पूर्ण अधिकार है। धार्मिक आयोजनों में वह भाग ले सकती है कुरान और नमाज़ पढ़ सकती है। इसके अतिरिक्त विवाह में भी स्त्री की स्वीकृति अनिवार्य है किन्तु व्यवहार में मुस्लिम महिलाओं की स्थिति नाजुक है। पर्दाप्रथा, अशिक्षा संयुक्त परिवार प्रथा आदि के कारण वे प्रगति नहीं कर सकी। परिवार के वास्तविक सत्ता स्त्रियों की अपेक्षा पुरूषों को ही प्राप्त है स्त्रियों का जीवन तो ज़नान खाने की परिधि तक ही सीमित रहता है।

6.6 मुस्लिम परिवार के संस्कार

मुसलमान भी कुछ प्रमुख संस्कार सम्पन्न करते हैं। जैसे -

सतवां - स्त्री के गर्भ धारण करने के सातवें महीने यह संस्कार मनाया जाता है। इस अवसर पर नाते-रिश्तेदारों तथा इष्ट मित्रों को आमंत्रित किया जाता है तथा दावत दी जाती है, साथ ही साथ नाच गाने का भी आयोजन होता है।

अकीका - यह एक प्रकार का नामकरण संस्कार है जो पुत्र जन्म के सांतवी रात को मनाया जाता है। इस अवसर पर नमाज अदा की जाती है और गरीबों को दान दिया जाता है।

चिल्ला - यह संस्कार बच्चे के जन्म के चालीसवें दिन मनाया जाता है इस दिन तक बच्चे की माँ अपवित्र मानी जाती है। इस अवसर पर रिश्तेदारों द्वारा उपहार भेंट किये जाते हैं अल्लाह से दुवा मांगना इस संस्कार का आवश्यक अंग है। इस दिन फकीरों को खैरात भी बाटी जाती है।

बिसमिल्लाह - यह विद्या आरम्भ करने का संस्कार है। इस दिन मुल्ला बच्चे को बिसमिल्लाह शब्द का उच्चारण करवाते हैं। और पाटी पर लिखवाते हैं।

खतना - यह संस्कार साधारणतया लड़के की आयु पाँच या सात वर्ष की हो जाती है तब मनाया जाता है। हिन्दुओं में उपनयन के पश्चात ही बालक को धार्मिक कार्यों में सम्मिलित होने का अवसर मिलता है ठीक उसी प्रकार खतना के बाद ही मुस्लिम बालक को धार्मिक कार्य कलापों में भाग लेने का अधिकार प्राप्त होता है। इस संस्कार के उपरान्त बालक नमाज पढ़ना और रोजा रखना आरम्भ कर देता है। खतना में नाई लड़के के लिंग की आगे की चमड़ी काट देता है। इस अवसर पर भोज भी दिया जाता है।

निकाह - निकाह का अर्थ विवाह से है। काजी के समक्ष लड़की वालों के सम्बन्धी दो पुरूष गवाहों या एक पुरूष और दो स्त्री गवाहों की उपस्थिति में वर एवम् वधू की स्वीकृति के बाद ही विवाह सम्पन्न होता है। विवाह के बाद दावत भी दी जाती है।

मैयत - यह जीवन का अन्तिम संस्कार है। मृत्यु के बाद मृतक को नाई के द्वारा उसकी हजामत बनवायी जाती है, स्नान करवाया जाता है और नये कपड़े पहनाये जाते हैं। फिर सफेद चादर ओढ़ा कर ताबूत को मस्जिद में लाया जाता है जहाँ मृतक की आत्मा की शान्ति हेतु जनाजा पढ़ा जाता है। फिर मृतक को शान्तिपूर्वक कब्रिस्तान लाया जाता है जहाँ उसे कब्र में दफना दिया जाता है। इस अवसर पर सभी उपस्थित लोग फातिहा पढ़ते हैं। इसके बाद तीजा, दसवाँ, चालीसवाँ तथा बरसी आदि संस्कार भी किये जाते हैं। गरीबों को इस अवसर पर भोजन भी कराया जाता है।

6.7 मुस्लिम विवाह

इस्लाम का प्रारम्भ मूलतः अरब से हुआ। इस्लाम धर्म प्राचीन अरबी धर्म का ही बदला हुआ रूप है। इसी कारण से मुसलमानों के सामाजिक संगठन पर अरबी धर्म का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है प्राचीन अरबी समाज में विवाह की जो परम्परा थी वह बहुत ही अव्यवस्थित थी। उस समय अरब समाज में प्रचलित विवाह का उल्लेख राबर्टसन स्मिथ ने इस प्रकार किया है :-

1. स्त्री अपने पति के चुनाव करने में पूर्ण स्वतंत्र थी।

2. उसे वह अपने तम्बू या डेरे में बुलाती थी और उसके साथ सहवास करती थी और अपनी स्वेच्छानुसार जब चाहे उसे तम्बू से बाहर निकाल देती थी।

3. ऐसे विवाह से जन्में सन्तान का पालन पोषण वह स्त्री स्वयं या उसके रिश्तेदार करते थे।

उपर्युक्त प्रकार के विवाह को 'बीना' विवाह कहा जाता था। कालान्तर में इस प्रकार के विवाह में परिवर्तन आया और ''बीना'' विवाह का स्थान ''बाल विवाह'' अथवा आधिपत्य विवाह ने ले लिया। इस प्रकार स्त्री को प्राप्त असीमित स्वतंत्रता समाप्त हो गई।

मुस्लिम विवाह जिसे निकाह कहा जाता है एक दीवानी समझौता है। इसके प्रमुख उद्देश्य स्त्री पुरूषों को यौन सम्बन्धी तृप्ति स्थापित करने की विधिक स्वीकृति। बच्चों को जन्म देकर परिवार की वृद्धि करना, बच्चों का पालन पोषण करना, गृहस्थ जीवन को सुचारू रूप से चलाना तथा संविदा के रूप में पति पत्नि को यह अधिकार प्रदान करना कि एक पक्ष द्वारा यदि संविदा का भली प्रकार से पालन न किया गया तो दूसरा पक्ष उसे छोड़ सकता है। हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों मे विवाह एक पवित्र संस्कार नहीं है, बल्कि एक शिष्ट समझौता है, किन्तु मुसलमानों में निकाह एक श्रृद्धा का कार्य माना गया है जो एक प्रकार से उनका धार्मिक कर्तव्य है।

मुसलमानों में विवाह एक सामाजिक और धार्मिक समझौता है जो निकाह के पश्चात वैध घोषित किया जाता है। यद्यपि यह विवाद अपनी प्रकृति में सामाजिक अधिक है धार्मिक कम। इस्लाम में विवाह के नियम पवित्र कुरान द्वारा निश्चित किये गये हैं। इस प्रकार विवाह एक विशिष्ट समझौता है जिसका अर्थ है सन्तानोत्पत्ति करना तथा उन्हें वैध घोषित करना। (डी. एम. मुल्ला पिरन्सपिलस आफ मोहम्मडन ला पृ0 223)।

6.8 मुस्लिम विवाह की प्रमुख विशेषताएं

मुस्लिम विवाह को दो विषम लिंगियों के मध्य एक समझौते के रूप में स्वीकार किया गया है समझौते के लिए निम्न प्रतिबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं-

1. **विवाह प्रस्ताव रखना**- यह वर या वधू के पक्षों की ओर से क़िया जाता है वर दो गवाहों तथा काजी की उपस्थिति में विवाह से पहले वधू के सामने विवाह का प्रस्ताव रखता है। विवाह के लिए यह आवश्यक माना जाता है कि 'प्रस्ताव' तथा 'स्वीकृति' एक ही बैठक

में हो। यदि एक बैठक में प्रस्ताव और दूसरी बैठक में स्वतंत्र स्वीकृत हो तो भी उसे उचित विवाह नहीं मानते। यद्यपि इस प्रकार का विवाह बातिल (अवैध) नहीं होता। और इस प्रकार से सम्पन्न विवाह 'फासिद' (अनियमित) माना जाता है। शिया समुदायों में विवाह भंग करते समय दो साक्षियों की आवश्यकता होती है। जबकि सुन्नियों में विवाह प्रस्ताव के समय दो साक्षियों की आवश्यकता होती है। प्रस्ताव व स्वीकृत में दो पुरूष साक्षियों की आवश्यकता होती है। एक पुरूष व दो महिलाओं की साक्षी मान्य नहीं है।

2. मुस्लिम विवाह में व्यक्ति में जब तक विवाह समझौता करने की योग्यता नहीं हो जाती विवाह समझौता नहीं कर सकता क्योंकि बाल विवाह एवं अस्वस्थ मास्तिष्क वाले व्यक्तियों को विवाह करने की मान्यता प्राप्त नहीं होती। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए यदि नाबालिग के विवाह का समझौता हो चुका है तो वह अवैध है। नाबालिग के विवाह का समझौता उसके माता पिता या संरक्षक द्वारा किया जा सकता है। इसके अलावा यदि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा समझौता किया जाता है तो कानून की दृष्टि से वैध नहीं है परन्तु यदि सम्बन्धित पक्ष बालिग होने पर उस समझौते को अनुमोदित कर देते हैं तो वह समझौता वैध माना जायेगा। सम्बद्ध पक्षों को यह अधिकार है कि उस समझौते को अनुमोदित करे या अस्वीकार करे। इस अधिकार को ''खैरूल बलिग'' कहते हैं।

3. मुस्लिम विवाह में समानता के सिद्धान्त का पालन किया जाना चाहिए। यद्यपि निचले वर्ग के व्यक्ति के साथ विवाह समझौता को अच्छा नहीं माना जाता फिर भी इस प्रकार के विवाह में कोई कानूनी अड़चन नहीं है।

6.9 विवाह की शर्तें

मुस्लिम विवाह के पूर्व कुछ शर्तों को पूरा करना आवश्यक होता है तभी वह विवाह वैधानिक माना जाता है-

1. विवाह के समय दोनों सम्बद्ध पक्ष मानसिक रूप से स्वस्थ हो।

2. दोनों पक्षों में से किसी का किसी से अनैतिक सम्बन्ध न हो और अवश्यक रूप से वह बालिग हो अर्थात पन्द्रह वर्ष की आयु प्राप्त कर चुका हो।

3. विवाह को वैध बनाने के लिए माता पिता या संरक्षक की स्वीकृत आवश्यक है तथा विवाह की स्वीकृत दोनों पक्षों की स्वतंत्र इच्छा से होनी चाहिऐ दबाव या धोखे से नहीं।

4. गवाह की अनुपस्थिति में या दोनों पक्षों में से कोई भी नाबालिग है तो विवाह सम्पन्न नहीं हो सकता । विवाह उसी समय वैधानिक होगा जब विवाह की स्वीकृत के समय पर साक्षी के रूप दो पुरूष अथवा एक पुरूष दो महिलाएं उपस्थिति हों।

5. एक मुसलमान पुरूष एक ही समय में चार स्त्रियों से विवाह कर सकता है परन्तु मुसलमान स्त्री एक समय में केवल एक ही पुरूष से विवाह कर सकती है। इस प्रकार इस्लाम में बहु पत्नी प्रथा पायी जाती है।

6. एक मुसलमान पुरूष मुसलमान स्त्री के अतिरिक्त ''किताबिया'' स्त्री अर्थात् यहूदी या ईसाई स्त्री के साथ विवाद कर सकता है। इसके विपरीत एक मुस्लिम महिला को एक

''किताबिया'' पुरूष से विवाह करने के लिए किसी भी परिस्थति में अनुमति नहीं दी गई है। उसके लिए ऐसा विवाह ''बातिल'' (अवैध) विवाह होगा। मुसलमान महिला का विवाह केवल एक मुसलमान पुरूष से ही हो सकता है।

7. मूर्ति पूजक से विवाह पूर्ण रूप से निषिद्ध माना गया है।

8. मुसलमानों में विवाह बहुत ही निकट रक्त सम्बन्धियों में नहीं हो सकता जैसे सगी बहन, माता, दादी, नानी, सास, पुत्री, चाची, भाभी आदि किन्तु एक व्यक्ति चचेरी बहिन से विवाह कर सकता है।

9. तीर्थ यात्रा के समय भी वैवाहिक सम्बन्ध नहीं हो सकते।

10. इद्दत की अवधि में विवाह, (इद्दत वह समय होता है जिसमें स्त्री के तीन मासिक धर्मों को जो उसके पति के मृत्यु के बाद या तलाक के बाद यह सुनिश्चित करने हेतु होता है कि वह स्त्री कहीं गर्भवती तो नहीं है), अनियमित माना जाता है।

11. विवाह की एक आवश्यक शर्त है 'मेहर' का बंदोबस्त जो विवाह के समय तय-कर लिया जाना चाहिए।

6.10 विवाह विधि

मुस्लिम विवाह जिसे 'निकाह' के नाम से जाना जाता है, काजी या मौलवी द्वारा विधिवत् सम्पन्न कराया जाता है। मुस्लिम विवाह यद्यपि धार्मिक संस्कार नहीं है फिर भी परम्परा के अनुसार पवित्र कुरान की आयतें पढ़ते हुये नये दम्पती के लिए आर्शीवाद मागें जाते हैं। विवाह के लिए वर वधू दोनों की स्वीकृति ली जाती है। विवाह के आखिर में एक औपचारिक दस्तावेज 'निकाहनामा' तैयार किया जाता है। निकाहनामा में अन्य शर्तों के अतिरिक्त दहेज या मेहर का भी विवरण होता है। मेहर एक विशिष्ट प्रकार की सम्पत्ति या धन है जो वर-वधू को विवाद के समय या निश्चित अवधि में देने का वचन देता है। मेहर के बिना मुस्लिम विवाह सामाजिक और कानूनी रूप से वैधानिक नहीं हो सकता क्योंकि मेहर स्त्री का एक प्रकार का सुरक्षा कवच है मेहर की राशि वर के परिवार की सामाजिक और आर्थिक स्थिति के अनुसार निश्चित की जाती है मेहर विवाह के तुरन्त बाद दी जा सकती है। या भविष्य में एक निश्चित तिथि तक के लिए स्थगित किया जा सकता है।

6.11 मेहर और दहेज

इस्लामी कानून में मेहर वह धन है जो निकाह के प्रतिफल के रूप में पत्नी अपने पति से लेने का अधिकार रखती है यद्यपि इस्लाम में दहेज की कहीं भी चर्चा नहीं है। इस प्रकार यह वधू मूल्य नहीं है क्योंकि इस सम्पत्ति पर वधू का अधिकार होता है उसके पिता का नहीं। मेहर स्त्री का एक ऐसा अधिकार है जिससे पति के तलाक देने के अधिकार पर कुछ सीमा तक नियंत्रण रखता है तथा पति की मृत्यु अथवा तलाक के बाद पत्नी को अपने पालन पोषण में कुछ सुविधा मिल जाती है मेहर की रकम विवाह से पहले, बाद में या फिर विवाह

के समय निश्चित की जाती है। कानून की दृष्टि से पत्नी को मेहर का और पति को सम्भोग का अधिकार एक ही साथ मिल जाता है। मेहर के चार प्रकार हैं:-

1. **निश्चित मेहर** - यह वह मेहर है जो विवाह से पूर्व या विवाह के समय दोनों पक्षों में निश्चित की जाती है। मेहर की कम से कम रकम 10 दरहम होती है किन्तु अधिकतम की कोई सीमा नहीं है।

2. **उचित मेहर** - वह मेहर है जो विवाह के पूर्व या विवाह के समय निश्चित नहीं की जाती। ऐसी स्थिति में पति की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर उचित मेहर निश्चित की जाती है या फिर स्त्री के पिता के परिवार में दूसरी स्त्रियों (उसकी बहिन या बुआ) पर निश्चित किये गये मेहर को ध्यान रखना पड़ता है।

3. **सत्वर या तुरंत मेहर**- मांगे जाने पर दी जाने वाली मेहर की रकम सत्वर मेहर है। यह निकाह से पहले या सम्भोग के पहले पति को तुरन्त चुकाना पड़ता है।

4. **स्थगित मेहर** - यह मेहर विवाह के समय निश्चित हो जाती है परन्तु विवाह विच्छेद (तलाक) के बाद देना पड़ता है कभी-कभी दोनों पक्ष यह भी तय कर लेते हैं कि मेहर का कुछ अंश सत्वर के रूप में दिया जाय और कुछ स्थगित मेहर के रूप में और कुछ स्थगित मेहर के रूप में दिया जाय।

6.12 मुस्लिम विवाह के भेद

मुसलमानों में विवाह के दो प्रकार हैं:-

1. **निकाह** - इस विवाह में इस्लाम में वर्णित सभी शर्तों का पालन किया जाता है इसकी प्रकृति स्थायी होती है तथा मुस्लिम रीति रिवाजों के अनुसार सम्पन्न किया जाता है।

2. **मुता विवाह** - मुसलमानों में अस्थाई विवाह का रिवाज है जिसे मुता विवाह कहते हैं। शिया मुसलमानों में अस्थायी विवाह (मुता) का प्रचलन है जबकि सुन्नियों में केवल स्थाई विवाह जिसे निकाह कहते हैं स्वीकृत है। यह स्त्री पुरूष के स्वयं के समझौते से होता है इसमें किसी रिश्तेदार का योगदान नहीं होता है। पुरूष को किसी भी मुस्लिम, यहूदी या इसाई महिला से 'मुता' विवाह के समझौते का अधिकार है परन्तु महिला गैर मुसलमान से मुता समझौता कदापि नहीं कर सकती। 'मुता' विवाह संविदा के द्वारा प्राप्त पत्नी को ''सिंघा'' कहा जाता है। इस प्रकार के विवाह के लिए कानून की दृष्टि में दो बातें आवश्यक हैं-

(अ) सहवास की अवधि,जो एक दिन, एक महीना, एक साल या कुछ साल तक भी हो सकता है, पहले से निश्चित होनी चाहिए।

अवधि समाप्त होने पर इस प्रकार का विवाह स्वत: समाप्त हो जाता है परन्तु पति पत्नी के चाहने पर इसे स्थायी विवाह में परिवर्तित कर सकते हैं।

(ब) मेहर की राशि का निश्चित विवरण होना चाहिए। यदि अवधि अनिश्चित है पर मेहर अनिश्चित है तो विवाह अवैध माना जायेगा। मुता विवाह में पति पत्नी के बीच उत्तराधिकार का अधिकार प्रदान नहीं करता। सिंघा पत्नी अपने पति से लालन पालन की राशि की

हकदार नहीं है और न ही वह पति की सम्पत्ति में विरासत ही पा सकती है लेकिन सन्तान वैध होने के कारण पिता की सम्पत्ति में से अपना हिस्सा ले सकता है।

उमर के काल तक मुता विवाह पूर्णरूप से समाप्त नहीं हुआ। पैगम्बर भी इस प्रथा को हटा नहीं सके फिर भी उन्होंने इसकी निन्दा अवश्य की। इस विवाह में तलाक का कोई स्थान नहीं है क्योंकि यह विवाह एक निश्चित अवधि के लिए ही होता है। इस्लाम में विवाह के स्थायित्व पर बल दिया गया है यदि कोई परम्परा अस्थायित्व को बढ़ावा देती है तो उसको मान्यता नहीं प्रदान की गई है।

6.13 मुसलमानों में विवाह विच्छेद

मुस्लिम विधान के अन्तर्गत विवाह एक संविदा है जिसे न्यायिक प्रक्रिया द्वारा या बिना न्यायिक प्रक्रिया के तलाक हो सकता है इसके अतिरिक्त पति और पत्नी की आपसी सहमति से भी विवाह विच्छेद हो सकता हैजिसे 'खुला' या 'मुबारत' कहते हैं।

1. **बिना अदालत के तलाक:**

मुसलमानों में बिना अदालत के हस्तक्षेप तलाक हो सकता है परन्तु यह अधिकार केवल पुरूष को ही है स्त्री को नहीं। मुस्लिम विधि के अनुसार कोई भी पुरूष जो बालिग है और सही दिमाग का है अपनी पत्नी को बिना कोई कारण बताये जिस समय चाहे तलाक दे सकता है। तलाक लिखित और मौखिक दोनों तरीके से हो सकता है। लिखित तलाक के लिए तलाकनामा आवश्यक है मौखिक तलाक निम्न तीन प्रकार से दिया जा सकता है-

(अ) **तलाक-ए-अहसन—** इसके अन्तर्गत ''तलाक'' की घोषणा मासिक धर्म की अवधि ''तुहर'' के समय एक बार की जाती है और इद्दत के समय तक पति पत्नी का सहवास नहीं होता। ''इद्दत'' चार मासिक धर्मों के बीच तीन माह की अवधि को कहते हैं इस प्रकार अवधि की समाप्ति पर विवाह विच्छेद हो जाता है। शियाओं में इस तलाक की मान्यता नहीं दी गयी है।

(ब) **तलाक-ए-हसन—** इसमें पति तीन तुहरों (मासिक धर्म) के मध्य के समय में तीन बार तलाक शब्द कहता है, और इस अवधि मे किसी भी प्रकार का यौन सम्पर्क नहीं किया जाता, अवधि की समाप्ति पर तलाक मान लिया जाता है।

(स) **तलाक-ए-उल-बिदत—** जब एक ही ''तुहर'' की अवधि में और एक ही वाक्य में तीन बार पति यह घोषणा करता है कि मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूँ या फिर तीन वाक्यों में तीन बार मैं तुम्हें तलाक देता हूँ मैं तुम्हें तलाक देता हूँ, मैं तुम्हें तलाक देता हूँ कहता है तो तलाक हो जाता है। इसके अतिरिक्त पति विवाह विच्छेद की अटल इच्छा प्रकट करता है तो भी तलाक हो जाता है।

सन् 1937 के शरियत नियम के अनुसार निम्न प्रकार के तलाकों का भी उल्लेख मिलता है-

2. **इला—** एक शपथ के आधार पर कि वह चार माह तक मैथुन नहीं करेगा तो वह

इला करता है इस प्रकार इस अवधि में यदि वह सहवास नहीं करता तो विवाह विच्छेद मान लिया जायेगा।

3. **जिहर** — जब पति अपनी पत्नी की तुलना ऐसी सम्बन्धी स्त्री से करता है जिससे विवाह निषेध है। जैसे वह यह कहे कि तुम तो मेरी माँ की पीठ या किसी अन्य की पीठ जिसके साथ उसका विवाह निषिद्ध है के समकक्ष हो तो वह जिहर करता है। ऐसे स्थिति में पत्नी पति को प्रायश्चित करने को कहती है यदि पति ऐसा नहीं करता तो पत्नी को हक होता है कि वह अदालत से तलाक की माँग कर सकती है। तब अदालत तलाक को स्वीकृत दे देती है।

4. **लियान**— इसके अन्तर्गत पति पत्नी पर व्यभिचार का आरोप लगाता है और पत्नी इस लांछन का खण्डन करते हुए अदालत से प्रार्थना करती है कि या तो उसका पति आरोप को वापस ले या खुदा की शपथ लेकर कहे कि उसके द्वारा लगाया गया आरोप सत्य है यदि पति अपना लाँछन वापस नहीं लेता तो पत्नी को एक विकल्प मिल जाता है, कि पति द्वारा लगाया गया आरोप स्वीकार कर ले या पति की ही भाँति खुदा की शपथ लेकर यह कहे कि वह निर्दोष है इस प्रकार की सौगन्ध लेने को ही लियान कहा जाता है। पति पत्नी को इस प्रकार की शपथ लेने के बाद पति को यह अधिकार मिल जाता है कि वह अदालत के माध्यम से तलाक लेले।

5. **खुला**— इसके अन्तर्गत पत्नी की इच्छा पर एक दूसरे की सहमति से, न्यायिक हस्तक्षेप के बिना भी विवाह विच्छेद किया जा सकता है। ऐसी सहमति की स्थिति में पत्नी अपने पति को मेहर वापस कर उसकी क्षति पूर्ति कर देती है, और अपने आप को विवाह बन्धन से मुक्त कर लेती है। इस प्रकार के तलाक में पहल स्त्री की ही होती है।

6. **मुबारत**— इसके अन्तर्गत विवाह विच्छेद की पहल किसी भी ओर से हो सकती है क्योंकि दोनो ही पक्ष विवाह विच्छेद के इच्छुक है। इस तलाक में भी पारस्परिक सहमति आवश्यक है किन्तु इसमें खुला की तरह पत्नी, पति को क्षतिपूर्ति के रूप में कोई धन नहीं देता।

2. अदालत द्वारा तलाक

सन 1939 में मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम के अन्तर्गत न्यायिक व्यवस्था के द्वारा महिला को यह अधिकार दिया गया है कि वह भी निम्नलिखित आधारों पर तलाक ले सकती है:-

(i) पति पत्नी की दो वर्ष तक भरण-पोषण न कर सके।

(ii) पति का सात वर्ष या उससे लम्बी अवधि की जेल की सजा मिली हो।

(iii) यदि पति नपुंसक हो।

(iv) पति का चार वर्ष से कोई पता न हो ।

(v) पति तीन वर्ष तक यौन सम्पर्क न करे।

(vi) यदि पति पागल हो।

(vii) यदि पति किसी असाध्य रोग (संक्रामक यौन रोग या कोढ़) से ग्रस्त हो ।

(viii) यदि पति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता हो ।

(ix) यदि पति का बदनाम स्त्रियों से सम्पर्क हो।

6.14 सारांश

मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था का प्रमुख आधार परिवार है जिसकी स्थापना विवाह द्वारा होती है। मुस्लिम परिवार में स्त्रियों की अपेक्षा पुरूषों को अधिक महत्व प्राप्त है क्योंकि यह परिवार पितृसत्तात्मक और पितृवंशीय है। मुस्लिम परिवार पर धर्म का प्रभाव दिखाई पड़ता है क्योंकि इसका आधार ही कुरान है। भारत में मुस्लिम परिवार की संरचना बहुत सीमा तक हिन्दू परिवार की संरचना से मेल खाती है। मुस्लिम विवाह मात्र एक दीवानी समझौता है जिससे यौन सम्बन्ध स्थापित हो सके और सन्तानोत्पत्ति हो सके। अमीर अली के अनुसार "मुस्लिम विवाह एक कानूनी संविदा है जिसके लिए न तो किसी पुरोहित की आवश्यकता है और न किसी धार्मिक कर्मकाण्ड की" (दी इस्प्रिट आफ इस्लाम पृ0 257)।

6.15 संन्दर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

1. कपाड़िया, के.एम., मैरिज एण्ड फेमली इन इन्डिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1972

2. अनसारी, गौस, मुस्लिम कास्ट इन उत्तर प्रदेश, ऐन्थ्रोग्राफिक एंड फोक कल्चर सोसाइटी, लखनऊ, 1960

3. मुल्ला, डी. एफ., पिरिन्सपिल्स आफ मोहम्मडन ला 1950

4. सक्सेना, काशी प्रसाद, मुस्लिम मैरिज, 1959

6.16 सम्बन्धित प्रश्न

बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. मुस्लिम विवाह की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

2. मुस्लिम परिवार की विशेषताओं का वर्णन न करें।

लघु उत्तरीय :

1. मुसलमानों में प्रचलित प्रमुख संस्कारों के नाम बताए।

2. मेहर के प्रकार बताईए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मुस्लिम समाज कितने भागों में विभाजित हैं :

   (अ) दो, (ब) तीन, (स) चार (द) पांच (उत्तर : (अ))

2. मुसलमानों में विवाह के कितने प्रकार हैं :

   (अ) एक, (ब) दो, (स) तीन, (द) चार (उत्तर : (ब))

इकाई 6(i) ईसाई परिवार एवम् विवाह

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 ईसाई परिवार के भेद

6.3 ईसाई परिवार की विशेषताएँ

6.4 ईसाई विवाह के स्वरूप

6.5 जीवन साथी का चुनाव व विवाह पद्धति

6.6 विवाह विच्छेद

6.7 सारांश

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

6.9 संबंधित प्रश्न

6.10 सारांश

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

— ईसाई परिवार एवं विवाह की विधि को स्पष्ट कर सकेंगे।

— विवाह पद्धति और विवाह विच्छेद पर टिप्पणी कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

भारतीय ईसाई समुदाय क्षेत्रीय विविधताओं के अनुसार अलग अलग ढंग से विकसित हुआ है, जिस प्रकार से मुस्लिम सामाजिक संगठन को मोटे रूप से स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है उसी रूप में ईसाई सामाजिक संगठन को नहीं स्पष्ट किया जा सकता क्योंकि उनमें एकरूपता का अभाव है। फिर भी कुछ बिन्दुओं पर समानता दिखाई पड़ती है। जैसे - प्रत्येक समाज में परिवार की निरन्तरता एवम् अस्तित्व के लिए सन्तानोत्पत्ति एक महत्वपूर्ण कार्य है। ईसाई

परिवार भी इस कार्य को करता है।

परिवार व्यक्तियों के अनैतिक यौन सम्बन्ध स्थापित करने से रोकता है जिससे समाज में अनियमित्तता तथा व्यभिचार पर रोक लगाई जा सके। परिवार सदस्यों में आपसी सहयोग बढ़ाने का उचित अवसर प्रदान करता है। इस प्रकार ईसाई परिवार भी ईसाई संगठन के आदर्शों को व्यक्त करता है।

6.2 ईसाई परिवार के भेद

हिन्दू और मुसलमानों की भाँति ही ईसाइयों में भी स्तरीकरण दिखाई पड़ता है ये दो वर्गों में विभाजित है:-

(1) कैथोलिक

(2) प्रोटेस्टेन्ट

इनमें उपविभाजन भी पाया जाता है जैसे कैथोलिक में भी दो प्रकार का विभाजन है।

(अ) लेटिन कैथोलिक

(ब) सीरियन कैथोलिक

सामाजिक दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो ईसाइयों में वर्ग तो दिखाई पड़ते हैं पर हिन्दू व्यवस्था की भाँति उनमें जाति का स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता।

6.3 ईसाई परिवार की विशेषताएं

वास्तव में कुछ समय पूर्व उच्च पदाशीन ईसाईयों ऐसा विश्वास था स्त्रियाँ नरक का द्वार है और इस लिए इनसे दूरी बनाये रखना चाहिए परन्तु अब प्राचीन विश्वास पूरी तरह से समाप्त हो गया है आज ईसाइयों के विवाह मानव विकास के लिए आवश्यक माना जाता है। यह विवाह सम्बन्ध ही परिवार का जन्म देता है। साथ ही वंश नाम प्राप्त करने की एक व्यवस्था या नियम होता है, जिसके अनुसार ही विशिष्ट परिवार के बच्चे का वंश नाम निर्धारित होता है जो पितृवंशीय होता है परन्तु मालाबार के कुछ ईसाई परिवार के बच्चे अपनी माता के वंशनाम प्राप्त करते हैं। इस प्रकार इनमें मातृवंशीय वंश परम्परा मिलती है।

पितृस्थानीय निवास का महत्व भी ईसाईयों में पाया जाता है। विवाह के उपरान्त वधू अपने पति के परिवार में निवास करती है। इन सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त ईसाइयों में कुछ अन्य प्रकार की विशेषताएं भी पायी जाती हैं।

1. **सीमित परिवार** — पाश्चात्य विचारों का प्रभाव ईसाई परिवारों पर देखने को मिलता है। आधुनिक शिक्षा तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता को ईसाई समुदाय अधिक महत्व देता है। प्राय: विवाहोपरान्त पति पत्नी अपना अलग घर बसा कर रहना पसन्द करते हैं जिसे नव स्थानीय परिवार कहा जाता है। संयुक्त परिवार का अभाव पाया जाता है। रहन-सहन का स्तर उच्च बनाये रखने के लिए कम सन्तानोत्पत्ति उपयुक्त मानते हैं इन्हीं कारणों से इनका परिवार छोटा होता है।

2. **पितृसत्तात्मक स्वरूप—** कर्ता के रूप में पिता परिवार का मुखिया होता है संपत्ति तथा आमदनी पर पिता का ही नियंत्रण होता है। परिवार की वंश परम्परा पिता के नाम जुड़ी रहती है।

3. **सामूहिक संपत्ति तथा आय का अभाव** - अधिकांश रूप से ईसाइयों में एकांकी परिवार ही पाये जाते हैं, इस कारण इनमें सम्मिलित सम्पत्ति का अभाव है, सामूहिक सम्पत्ति की विशेषता संयुक्त परिवार की होती है। इसी प्रकार सभी सदस्य अपनी आय परिवार के मुखिया के पास नहीं जमा करते बल्कि अपनी पत्नी एवम् बच्चों पर अपनी इच्छानुसार खर्च करते हैं। घर का सामान्य खर्च के लिए बच्चे अपनी आय का एक निश्चित भाग माता-पिता को दे देते हैं।

4. **व्यक्तिवादी दृष्टिकोण** — व्यक्तिवादी परम्परा पाश्चात्य संस्कृति की उपज है व्यक्ति सम्पूर्ण परिवार के विषय में न सोचकर व्यक्तिगत सुख सुविधाओं को प्राप्त करने में लगा रहता है।

व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में परिवार का महत्व अधिक नहीं होता और इस कारण से सामूहिकता का ह्रास हो जाता है।

5. **स्त्रियों की उच्च स्थिति** — ईसाई परिवारों में स्त्रियों की स्थिति पुरूषों के समकक्ष ही है। सामाजिक तथा धार्मिक क्रिया कलापों में स्त्रियाँ समान रूप से भाग लेती हैं। परिवार स्त्रियों की शिक्षा के लिए हर सम्भव प्रयास करता है। बाल विवाह तथा पर्दा प्रथा का चलन ईसाईयों में नहीं पाया जाता है साथ ही साथ विधवा विवाह को मान्यता प्राप्त है। हिन्दू तथा मुस्लिम परिवारों की स्त्रियों की तुलना में ईसाई परिवार की स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है।

6.4 विवाह के स्वरूप

ईसाइ लोग अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार एक विवाद को आदर्श मानते हैं तथा बहु विवाह निषेधित है। मुसलमानों के 'मुता- विवाह' जैसे अस्थायी विवाह की मान्यता ईसाइयों के प्रचलन में नहीं है। ये लोग विवाह बन्धन को स्थिरता प्रदान करने के पक्ष में रहें हैं। विवाह विधि की दृष्टि से विवाह के दो स्वरूप हैं।

(1) धार्मिक विवाह

(2) सिविल मैरेज

(1) **धार्मिक विवाह** - ऐसे विवाह का निर्धारण प्राय: बच्चों के माता पिता या सगे सम्बन्धियों के द्वारा सम्पन्न होता है यह विवाह लड़की के गिरजा घर में सम्पन्न किये जाते हैं।

(2) **सिविल मैरिज** - यह अदालती तौर पर एक साधारण समझौता मात्र होता है ऐसे विवाह करने वाले पक्षों को रजिस्ट्रार के सम्मुख प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करना पड़ता है। ऐसे पति पत्नी केवल आर्शीवाद लेने हेतु चर्च जाते हैं।

6.5 जीवन साथी का चुनाव व विवाह पद्धति

ईसाइयों में जीवन साथी का चुनाव अधिक स्वतंत्र वातावरण में होता है यह चुनाव युवक या युवती स्वयं करते हैं या फिर यह कार्य माता पिता द्वारा किया जाता है, परन्तु इन दोनों परिस्थितियों में इस बात का विशेष ध्यान रक्खा जाता है इनमें समरक्तता न हो। इसके पश्चात उनकी सामाजिक पारिवारिक स्थिति, शिक्षा, चरित्र एवम् स्वास्थ्य पर ध्यान दिया जाता है। जीवन साथी के चुनाव के बाद सगाई संस्कार किया जाता है। माता पिता अपनी सम्मति पादरी को बता देते हैं। यह संस्कार वधू के घर पर होता है। वर पक्ष के लोग अपने सगे सम्बन्धियों के साथ, मिठाई, अंगूठी और वस्त्र आदि लेकर वधू के घर जाते हैं। इस अवसर पर पादरी बाइबिल के कुछ अंश पढ़ता है। यहाँ औपचारिक रूप से वैवाहिक सम्बन्धों की वर वधू द्वारा स्वीकृत प्राप्त की जाती है। दोनों एक दूसरे को अंगूठियाँ पहनाते हैं, और इस अवसर पर सगाई की घोषणा की जाती है। सगाई के पश्चात दोनों पक्षों को कुछ औपचारिकतायें पूरा करना पड़ता है जैसे चर्च की सदस्यता चरित्र शुद्धता का प्रमाण पत्र तथा विवाह निश्चित तिथि के तीन सप्ताह पूर्व चर्च में विवाह के लिए एक प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करना। इस प्रार्थना पत्र में वर वधू के परिवार का संक्षिप्त परिचय भी होता है तथा इस बात का उल्लेख होता है कि किस स्थान पर विवाह सम्पन्न होगा।

इस प्रार्थना पत्र के प्राप्त होने पर चर्च का पादरी इस आशय की सूचना प्रकाशित करता है कि यदि इस विवाह से सम्बन्धित किसी को भी कोई आपत्ति हो तो वह प्रस्तुत की जा सके। एक निश्चित अवधि में यदि कोई आपत्ति नहीं आती है तो पादरी विवाह की तिथि निर्धारित कर देता है। लड़की जिस चर्च की सदस्य होती है उसी में विवाह सम्पन्न होता है। पादरी वर वधू दोनों से पूछता है कि क्या वे एक दूसरे को पति पत्नी के रूप में स्वीकार करते हैं और जब वे अपनी सहमति दे देते हैं तब पादरी साक्षियों के सम्मुख दम्पति को यह घोषणा करने को कहता है वह विवाह को सम्पन्न करता है। ''मैं (अ) ईश्वर की उपस्थिति में तथा प्रभू ईशू के नाम पर तुमको (ब) कानूनी रूप से पति /पत्नी स्वीकार करता/करती हूँ। पादरी तीन बार 'आमीन' कहता है और उसके साथ ही विवाह सम्पन्न मान लिया जाता है। अन्त में पादरी प्रार्थना करता है और दोनों को आशीर्वाद देता है।

6.6 विवाह विच्छेद

ईसाई विवाह विच्छेद को मानते हैं, यद्यपि चर्च इसकी आज्ञा नहीं देता। धर्म ग्रन्थ बाइबिल विवाह विच्छेद का निषेध करता है। ईसा मसीह ने स्वयं कहा है ''वे दोनों एक शरीर होंगे, बस वे दो नहीं हैं बल्कि वे तो वास्तव में एक ही हैं''। इसलिए जिसे ईश्वर ने जोड़ा है उसे मनुष्य न तोड़े'' (सेन्ट मैथू, चैपटर XIX, पृ0 5) सन् 1869 के भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम द्वारा भारतीय ईसाइयों को विवाह विच्छेद की कानूनी स्वीकृत है। यह अधिनियम विवाह विच्छेद, विवाह अवैधता, न्यायिक पृथक्ककरण, सुरक्षा आज्ञा तथा वैवाहिक अधिकारों का पुन: स्थापन पर पूर्ण प्रकाश डालता है। विवाह निम्नलिखित आधारों में से किसी भी आधार पर अवैध घोषित किया जा सकता है।

1. पति पत्नी एक दूसरे के निषेधात्मक रक्त सम्बन्धी हैं।
2. पति विवाह के समय नपुंसक हो।
3. दोनों पक्षों में से कोई भी विवाह के समय पागल हो।
4. पति को दूसरी शादी करने पर
5. पति बलात्कार, अप्राकृतिक व्यभिचार या पशुता का अपराधी हो।
6. पति का पत्नी के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार।
7. पति बहु विवाह व्यभिचार का अपराधी हो।

भारत में अन्य समुदायों की महिलाओं की तुलना में ईसाई महिलाओं को अधिक सामाजिक और राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त है। ईसाई महिलायें बहुत पक्षों में पुरूषों के समकक्ष हैं। यह उपर्युक्त सुविधायें परिवार के स्थायित्व में सहायक हैं फिर भी ईसाइयों में विवाह विच्छेद का प्रतिशत बहुत अधिक है।

6.7 सारांश

ईसाई विवाह के अन्तर्गत अन्य भारतीय समुदायों की तुलना में, यौन सन्तुष्टि पर कम बल दिया गया है किन्तु आपसी, प्रेम, सौहार्द एवं सहयोग पर अधिक बल दिया गया है। ईसाई विवाह हिन्दू विवाह की भाँति संस्कार नहीं है जिसमें पति पत्नी का जन्म जन्मान्तर का संबंध है फिर भी बाईबिल में विवाह विच्छेद को निषेध माना गया है। ईसाइयों में मुसलमानों की भाँति मेहर तथा हिन्दुओं की भाँति दहेज की प्रथा नहीं है। विधवा विवाह मान्य ही नहीं है बल्कि उसको प्रोत्साहित भी किया जाता है बाल विवाह को महत्व नहीं दिया गया है।

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

डेंविस, जे. पी., 1980 द अर्ली क्रिसचियन चर्च, बेकर बुक हाउस अरीचीगन

नील स्टिफेन 1984 ए हिस्ट्री आफ क्रिस्वियनिटी इन इण्डिया, यूनिवर्सिटी प्रेस कैम्ब्रिज

कपाडिया के. एम. 1972 मैरिज एण्ड फेमली इन इंडिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस दिल्ली

6.9 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय :-

1. ईसाई परिवार तथा उसकी विशेषताए बताइए।
2. ईसाई विवाह के प्रमुख उददेश्यों का वर्णन कीजिए।

लघु उद्योग :-

1. ईसाई विवाह के स्वरूपों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
2. ईसाई विवाह विच्छेद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :-

1. विवाह विधि की दृष्टि से ईसाईयों में विवाह का एक स्वरूप है धार्मिक तथा दूसरा है-

(अ) संस्कारगत, (ब) मुता (स) अर्ध (द) सिविल मैरेज उत्तर (द)

इकाई 6(ii) जनजातीय परिवार एवम् विवाह

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 अवधारणा

6.3 परिवार के भेद

6.4 जनजाति की विशेषताएं

6.5 जनजातीय संगठन

6.6 विवाह के स्वरूप

6.7 विवाह सम्बन्धी निषेध

6.8 अधिमान्य विवाह

6.9 जीवन साथी चुनने की पद्धतियाँ

6.10 पूर्व वैवाहिक तथा अतिरिक्त वैवाहिक यौन सम्बन्ध

6.11 विवाह विच्छेद

6.12 सारांश

6.13 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

6.14 संबंधित प्रश्न

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

— जनजातियों के परिवार की विविधता स्पष्ट कर सकेंगे।

— जनजातियों के विवाह का स्वरूप का विवरण कर सकेंगे।

— विवाह संबंधित निषेध और विच्छेद पर टिप्पणी कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

इतिहास इस बात का प्रमाण है कि मानव समाज लाखों वर्षों की विकास की प्रक्रिया से गुजरता हुआ आज इस अवस्था तक पहुँचा है। प्रारम्भिक अवस्था का प्राणी जंगलों और

पहाड़ों में निवास करता था। आखेट और फल फूल की सहायता से अपने जीवन का निर्वाह करता था। विकास की प्रक्रिया में, विभिन्न आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं का भी विकास हुआ। जंगलों में भ्रमण करने वाले यह झुण्ड धीरे धीरे और अधिक विकसित हो गये तो इन्हें जनजाति के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। आज भी ये जनजातियाँ इतनी जटिल समस्याओं से ग्रसित हैं कि इन्हें सरलता से विभिन्न समूहों में विभाजित नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता के पश्चात इन्हें अनुसूचित जनजातियों तथा आदिवासी स्वतंत्रता के पश्चात् इन्हें अनुसूचित जनजातियों तथा आदिवासी के नाम से पुकारा गया जो आज भी प्रचलन में हैं।

6.2 अवधारणा

प्राणीशास्त्रीय सम्बन्धों के आधार निर्मित समूहों में परिवार सबसे छोटी इकाई है। मानव की समस्त सामाजिक संस्थाओं में परिवार एक आधारभूत सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। आदिम समाजों में भी परिवार का बहुत महत्व है। डा. घुरिये इनके लिए 'पिछड़े हिन्दू' शब्द का प्रयोग करते हैं। गिलिन एवम् गिलिन के अनुसार ''स्थानीय पूर्व शिक्षित समूहों के किसी भी संग्रह को, जो एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो, एक जनजाति कहते हैं। (गिलिन एण्ड गिलिन, कलचरल शोशियालोजी, द मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क, 1950 पृ0 282)।

6.3 परिवार के भेद

जनजातीय परिवारों में विविधता दिखाई पड़ती है क्योंकि विभिन्न जनजातियों में भिन्न नियम और रीतियाँ पायी जाती हैं। भारतीय जनजातीय परिवारों के जो भी भेद दिखाई पड़ते हैं उनके मुख्य तीन आधार हैं:

1. परिवार के सदस्यों की संख्या
2. विवाद के स्वरूप
3. पारिवारिक सत्ता, निवास और वंश के नाम पर

1. **संख्या के आधार पर जनजातियों में परिवार के निम्न स्वरूप दिखाई पड़ते हैं:-**

(क) सरल अथवा केन्द्रीय

(ख) बड़ा अथवा संयुक्त परिवार

(ग) विवाह सम्बन्धी परिवार

(क) सरल अथवा केन्द्रीय परिवार — स्त्री पुरूष तथा उनकी सन्तानों के आधारभूत समूह का प्रतिनिधित्व करता है। यह परिवार सबसे छोटा होता है। यदि इसमें अन्य निकट सम्बनिधत नातेदार जुड़ जाते हैं तो इसे विस्तृत परिवार कहते हैं।

(ख) बड़ा अथवा संयुक्त परिवार — इस परिवार के अन्तर्गत एक परिवार के अनेक सम्बन्धी एक साथ रहते हैं। यहाँ तक की संयुक्त परिवार में तीन या अधिक पीढ़ियों के सदस्य

एक ही साथ एक ही घर में निवास करते हैं, भोजन करते हैं तथा साथ ही साथ आर्थिक गतिविधियों में भाग लेते हैं।

(ग) **विवाह — समबन्धी परिवार**— ऐसे परिवारों में पति पत्नी और उनकी सन्तानें तो होते ही हैं, साथ ही साथ विवाह द्वारा बने हुये कुछ अन्य रिश्तेदार भी रहते हैं।

2. **विवाह के स्वरूप के आधार पर**— विवाह के आधार पर जनजातीय परिवारों के दो स्वरूप दिखाई पड़ते हैं:-

(क) एक विवाही परिवार

(ख) बहु विवाही परिवार '

(क) एक विवाही परिवार — अधिकांश जनजातियों में एक विवाही परिवार ही पाये जाते हैं जिसमें जब एक पुरूष एक समय में एक स्त्री से विवाह करता है तो ऐसे विवाह से जनित परिवार को एक विवाही परिवार कहते हैं।

(ख) बहु विवाही परिवार— जनजातियों में इस प्रकार के विवाह भी अप्रचलित तथा असमान्य नहीं है। जब एक स्त्री अथवा पुरूष एक से अधिक स्त्रियों या पुरूषों से विवाह करते हैं तो ऐसे विवाह से जनित परिवार को बहु विवाही परिवार की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार के परिवार के दो प्रकार हैं।

(1) बहु पत्नी विवाही परिवार- जिसमें एक पुरूष के एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं।

(2) बहु पति विवाही परिवार- जिसमें एक स्त्री के दो या दो से अधिक पति होते हैं।

3. **परिवार की सत्ता, निवास तथा वंश के आधार पर:**- इस प्रकार के परिवारों के भी भेद किये जा सकते हैं।

(क) मातृ वंशीय, मातृ स्थानीय और मातृसत्तात्मक परिवार

(ख) पितृ वंशीय, पितृ स्थानीय और पितृ सत्तातमक परिवार

(क) मातृ वंशीय, मातृ स्थानीय और मातृसत्तातमक परिवार— इस प्रकार के परिवार में सन्तानें अपनी माता के वंश के नाम को ग्रहण करते हैं, परिवार में सत्ता माँ के हाथों में होती है तथा विवाहोपरान्त नव दम्पती माँ के ही साथ रहता है।

(ख) पितृ वंशीय, पितृ स्थानीय और पितृ सत्तात्मक परिवार— इस प्रकार के परिवारों में वंश और गोत्र का नाम पिता की ओर से निश्चित होता है, विवाह के बाद पत्नी अपनी पति के घर में आकर निवास करती है तथा सत्ता पति या पिता हाथ में होती है।

6.4 जनजाति की विशेषताएं

जनजाति एक प्रकार का क्षेत्रीय मानव समूह है जिसके सदस्य एक सामान्य भू भाग पर रहते हुये एक भाषा, सामाजिक नियम और आर्थिक कार्य आदि विषयों में एक सामान्य बन्धन में बंधे रहते हैं। इस दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि (1) एक जनजाति अनेक परिवारों के समूहों का संकलन है। (2) प्रत्येक जनजाति की एक भाषा होती है। (3) एक सामान्य नाम से जुड़े

होते हैं (4) एक सामान्य भू भाग पर निवास करते हैं। (5) यह अन्तर्विवाही समूह होते हैं। (6) प्रत्येक जनजाति की अपनी एक संस्कृति होती है। (7) इनका एक अपना राजनैतिक संगठन भी होता है।

6.5 जनजातीय संगठन

संगठन व संरचना के निर्माण करने वाले आधारों में वाह्य रूप से प्रर्याप्त अन्तर देखा जा सकता है परन्तु उनके मूल में निहित भावनाओं में प्रयाप्त समान्ता दिखाई पड़ती है। प्रत्येक जनजाति का प्राय: एक वंशानुगत मुखिया, प्रधान या राजा होता है जो जनजातीय समाज से सम्बन्धित सभी विषयों का निरीक्षक होता है। इस संगठन में बड़े बूढ़ों की एक परामर्श समिति होती है जो मुखिया को समय समय पर संगठन की एकता और सुदृढ़ता के लिए सलाह देती रहती है। समिति का प्रत्येक सदस्य मुखिया की आज्ञा का पालन करता है तथा उसके प्रति निष्ठावान होता है।

भारतीय जनजातियों में युवागृह संगठन को इतना कामुक बना कर प्रस्तुत किया गया है। समाज शास्त्र तथा मानवशास्त्र की पुस्तकों के अतिरिक्त इसके सम्बन्ध तथ्य बहुत कम ही सामने आता है। युवागृह जैसी संस्था आदिम समाजों में सम्पूर्ण विश्व में पायी जाती हैं। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य समाज के कुमार एवम् कुमारियों को उनके समाज की संस्कृति अन्य विषयों की दीक्षा देने से था। भारत में भी सामान्यत: सभी जनजातियों में इस प्रकार के युवा संगठन पाये जाते हैं और वे विभिन्न नामों से प्रसिद्ध हैं। असम के कोंयाक नागा बालकों के युवागृह को 'बान' नाम से पुकारते हैं तथा बालिका युवागृह को 'यो' कहते हैं। ओओं नागा इसको 'अरीचू' तथा मेमिस दो नामों का प्रयोग करते हैं मेमी नागाओं में लड़कों के युवागृह को 'इकूची' तथा महिलाओं के युवागृह को 'इलाइची' कहते हैं। उत्तरी उत्तर प्रदेश के निचले हिमालय क्षेत्र के भोटिया लोगों में भी युवागृह पाये जाते हैं जो इसे 'रगाँग' कहते हैं। छोटा नागपुर की मुण्डा तथा हो जनजातियाँ इसे 'गिटिओरा' नाम से पुकारती है। ओराँव लोग इसे 'जोन्करपा' अथवा ' घुमकुड़िया' मुइया इसे 'छगंरबासा' और गोंड 'गोटुल' कहते हैं।

युवागृह की उत्पत्ति का विषय सदैव विवादास्पद रहा है। हड्सन का विश्वास है कि ये सामुदायिक गृहों के अवशेष हैं। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि युवा गृह बच्चों को यौन सम्बन्धी दृश्य देखने से बचने के लिए जबकि माता पिता यौन समागम में आबद्ध होते थे, किया गया था। अधिकतर युवागृह ग्राम के बाहरी छोर पर बने होते थे। सांयकाल युवक युवागृह में एकत्रित होते थे तथा नृत्यगान, खेल तथा लोक कथाएं जैसे कार्यक्रमों में सम्मिलित होते थे। तथा रात में साथ सोते थे। जहाँ भी युवागृह होता था वहाँ बालक व बालिकाओं को उसका सदस्य बनना पड़ता था।

कुछ विद्वानों का मत हैं कि युवागृह का मुख्य उद्देश्य उनके सदस्यों को जीवन साथी चुनना तथा उन्हें यौन सम्बन्धी शिक्षा देना है। एलविन तथा ग्रिगसन के अनुसार भारतीय युवागृह में अधिक आयु की लड़कियाँ अपने से कम आयु के लड़कों को यौन सम्बन्धी शिक्षा देती हैं तथा यहीं से सदस्य अपना जीवन साथी भी चुन लेते हैं। युवागृह की प्रत्येक गतिविधी को इसके सदस्यों को गोपनीय रखना अनिवार्य होता था क्योंकि प्रेम और यौन सम्बन्धी क्रिया कलाप

खूब होते थे। एलविन का विचार है कि मुरिया गोटुल में व्यस्क लड़कियाँ उनसे छोटी आयु के लड़कों को यौन क्रिया की शिक्षा देती थीं और वहां सम्भोग करने के लिए मुखिया की आज्ञा की आवश्यकता नहीं हुआ करती थी। शरीर सम्भोग से गर्भ ठहरने की कम सम्भावना रहती है इसका कारण एलविन के अनुसार कि मुरिया लोगों में विश्वास है कि गोटुल की रक्षा लिंगों नामक देवता के द्वारा होती है जिसके कारण सम्भोग करने पर भी उनकी कृपा से लड़कियों में गर्भ नहीं रहता क्योंकि गोटुल के अन्दर होने वाले शारीरिक सम्भोग से बच्चा उत्पन्न होना स्वयं उस देवता लिंगों के लिए ही असम्मानजनक होगा इसलिए अपनी मर्यादा हेतु लड़कियों के गर्भ नहीं ठहरता। हट्टन तथा मजूमदार ने एलविन के विचारों से पूर्ण रूप से सहमत नहीं हैं इनका विचार है कि युवागृह जनजातियों में शिक्षा की एक महत्वपूर्ण संस्था हैं जहाँ पर उनके सदस्यों को सामाजिक , आर्थिक और धार्मिक जीवन से सम्बन्धित अनेक कार्यों को सिखाया जाता है इसलिए इसे केवल प्रेम एवम् यौन सम्बन्धी कार्य कलापों का केन्द्र मानना उचित न होगा।

6.6 विवाह के स्वरूप

भारतीय जनजातियों में पाये जाने वाले विवाह के स्वरूप को दो भागों में बाँट सकते हैं-

1. एक विवाह
2. बहु विवाह: इसके दो भेद हैं:

(क) बहुपत्नी विवाह

(ख) बहुपति विवाह: इसके भी दो भेद हैं-

(1) भ्रातृबहुपति विवाह

(2) अभ्रातृबहुपति विवाह

1. एक विवाह - एक विवाह, विवाह का वह स्वरूप है जिसमें एक पुरूष केवल एक स्त्री से विवाह करता है। भारतीय जनजातियों का बहुसंख्यक वर्ग एक विवाह का पालन करता है।

2. बहुविवाह- बहुविवाह विवाह का वह स्वरूप है जिसमें एक से अधिक व्यक्तियों से विवाह किया जाता है । भारतीय जनजातियां इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्धों का अनुसरण करती हैं बहु विवाह के दो पक्ष हैं।

(क) बहुपत्नी विवाह — एक पुरूष का अनेक स्त्रियां से विवाह करना।

(ख) बहुपति विवाह — एक स्त्री का अनेक पुरूषों से विवाह करना। दोनों प्रकार के विवाह की चर्चा प्राय: बहुविवाह के रूप की जाती है। इस विवाह के भी दो स्वरूप हैं।

(1) भ्रातृबहुपति विवाह - जब एकाधिक भाई आपस में मिलकर एक ही स्त्री से विवाह करते हैं तो उसे भ्रातृबहुपति विवाह कहा जाता है।

(2) अभ्रातृबहुपति विवाह - इस प्रकार के विवाह में पतियों को आपस में भाई होना आवश्यक नहीं है स्त्री भाइयों के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति को पति के रूप में चुन सकती हैं।

बहुपति प्रथा के वैवाहिक सम्बन्धों की सबसे बड़ी कठिनाई पितृत्व का निर्धारण । इस कठिनाई के समाधान हेतु जनजातियां कुछ समारोह करते हैं जैसे नीलगिरि पहाड़ियों के टोडा ''धनुष और बाण समारोह'' सामाजिक दृष्टि से अपने पितृत्व की घोषणा करने हेतु करते हैं इस समारोह में सभी भाई तथा साझे की पत्नी अपने गर्भ के चौथे या पाँचवें महीने में गाँव के शेष लोगों के मध्य एकत्रित होते हैं तथा आम सहमति के परिणामस्वरूप भाइयों में से एक पत्नी को धनुष और बाण की एक जोड़ी भेट करता है। इसे एक घोषणा के रूप में स्वीकार किया जाता है कि यह विशेष भाई जन्म लेने वाले बच्चे का पिता होगा। इस प्रकारमानव कार्यकलापों के इस समागम में समाजशास्त्रीय पितृत्व, जैविक पितृत्व का आधार प्रदान कर देता है।

6.7 विवाह सम्बन्धी निषेध

भारतीय जनजातियों में विवाह संस्था को स्थायित्व प्रदान करने के लिए तीन प्रकार के निषेधों का पालन किया जाता है-

(1) निकटाभिगमन निषेध :- प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में अति निकट सम्बन्धियों जैसे पिता और पुत्री, माता और पुत्र, तथा सगे भाई बहिनों में विवाह करना निषिद्ध है। जनजातियों में भी इस प्रकार के विवाह करना पाप माना जाता है।

(2) बहिर्विवाह - इस विवाह के अन्तर्गत एक व्यक्ति को अपने समूह के बाहर विवाह करने की आज्ञा दी गयी है अधिकांशत: एक जनजाति के लोग अपने परिवार, जाति, गोत्र तथा टोटम समूह आदि से बाहर विवाह करते हैं। बहिर्विवाह का कारण निकटतम सम्बन्धियों के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित होने से बचना है।

(3) अन्तर्विवाह :- इस विवाह के अन्तर्गत एक व्यक्ति अपने ही समूह में विवाह करता है। यह समूह एक व्यक्ति की अपनी जाति, उपजाति, जनजाति, भ्रातृदल और यहाँ तक की कभी कभी गोत्र में भी हो सकता है।

6.8 अधिमान्य विवाह

विवाह साथी के चुनाव के सम्बन्ध में कतिपय दूसरे स्वजनों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने को प्रोत्साहित किया जाता है। इन विषयों में वरीयता किसी एक विशेष नातेदार से विवाह करने हेतु व्यक्त की जाती है भारतीयों जनजातियों में प्रचलित अधिमानित विवाहों के कुछ लोकप्रिय प्रकार निम्नलिखित हैं।

1. विलिंग सहोदरज या भ्राता भगिनी संतति विवाह: जब एक भाई के बच्चे एक बहिन के बच्चों से विवाह करते हैं अर्थात विवाह करने वाले दो पक्ष आपस में ममेरे फुफेरे भाई बहन होते हैं तो इसे भ्राता भगिनी संतति कहते हैं।

2. समान्तर सहोदरज विवाह: जब दो भाइयों अथवा दो बहनों के बच्चे आपस में विवाह करते हैं तो इस प्रकार के विवाह को क्रमश: चचेरे भाई बहिनों का और मौसेरे भाई बहनों का विवाह कहा जाता है। भारतीय जन जातियों में इस प्रकार के विवाह का प्रचलन नहीं पाया जाता।

3. देवर विवाह: जब एक विधवा स्त्री अपने पति के भाई के साथ विवाह करती है तो उसे पति भ्राता विवाह कहते हैं। इसे दो प्रकारों में बॉटा जा सकता है।

(अ) कनिष्ठ देवर अधिकार

(ब) वरिष्ठ या ज्येष्ठ विवाह

जब स्त्री अपने पति के छोटे भाई से विवाह करती है तो यह कनिष्ठ देवर अधिकार होता है तथा बड़े भाई से विवाह वरिष्ठ देवर अधिकार कहलाता है।

4. साली विवाह या पत्नी भगिनी विवाह : जब एक पुरूष अपनी पत्नी की बहन य बहनों से विवाह करता हैं तो उसे साली विवाह कहते हैं ऐसा उसकी पत्नी की मृत्यु के बाद अथवा उसके जीवन काल में भी हो सकता है इस प्रकार के विवाह के भी दो प्रकार हैं।

(अ) सीमित साली विवाह

(ब) समकालीन या असीमित साली विवाह

सीमित साली विवाह वह विवाह है जिसमें पत्नी की मृत्यु होने पर उसकी बहिन से विवाह किया जाता है जबकि पत्नी के जीवित रहते उसकी अन्य बहिनों से विवाह को समकालीन साली विवाह कहा जाता है।

6.9 जीवन साथी चुनने की पद्धतियाँ

जनजातियों में विवाह साथी चुनने के एकाधिक पद्धतियाँ पायी जाती जिनमें निम्नलिखित विधियां सबसे अधिक लोकप्रिय हैं।

1. **परिवीक्षा विवाह**- इस प्रकार के विाह को आधुनिक कोर्टशिप पद्धति का आदिम स्वरूप कहा जा सकता है। इस पद्धति के अन्तर्गत भावी पति पत्नी कुछ समय के लिए विवाह सम्पन्न होने के पूर्व साथ रहने की अनुमति दी जाती है जिससे वे एक दूसरे के स्वभाव को समझ सकें तथा यौन समागम के अनुभवों को प्राप्त कर सकेंगे। यदि इस अवधि के मध्य दोनों में सामंजस्य हो जाता है तो विवाह सम्पन्न करा दिया जाता है। यदि दोनों एक दूसरे से सामंजस्य नहीं कर पाते तो वे एक दूसरे से अलग हो जाते हैं तथा पुरूष को लड़की के माता पिता को हानि मूल्य (मुआवजा) देकर सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है।

2. **अपहरण विवाह** - जब कोई पुरूष एक स्त्री को बलपूर्वक उसके गाँव से छीन लेता है और उससे विवाह कर लेता है तो उसे हरण विवाह कहते हैं। इस प्रकार के विवाह को वीरता तथा शौर्य का प्रतीक माना जाता है। भारतीय दंड संहिता के व्यापक प्रयोग तथा बढ़ती हुई चेतना के फलस्वरूप यह रिवाज तेजी से विलुप्त होता जा रहा है। कुछ जनजातियों में इस पद्धति को अभिनयात्मक हरण के रूप में स्थान दिया गया है। जिसमें विवाह सम्बन्ध को अन्तिम रूप देने के पश्चात लड़की के माता पिता दूल्हे से एक निर्धारित स्थान पर आकर उसकी पुत्री का अपहरण करने का निवेदन करते हैं। दिखावटी रूप से दुल्हन भी प्रतीकात्मक प्रतिरोध प्रस्तुत करती है और फिर बाद में विवाह सम्पन्न हो जाता है।

3. **परीक्षा विवाह** - इस प्रकार के विवाह में व्यक्तिगत साहस तथा शौर्य किसी नवयुवक में वांछित योग्यता के रूप में स्वीकार की जाती है भावी दुल्हे को, इससे पहले कि वह मनचाही लड़की का हाथ मांगने का दावा करे, अपनी शक्ति को सिद्ध करना पड़ता है यह विधा मीलों में अधिक लोकप्रिय है। होली के त्योहार के समय कुंआरे तथा कुंवारियाँ, एक खम्भे या खजूर के पेड़ के चारों ओर जिसके एक सिरे पर एक नारियल तथा गुड़ बांधा होता है, लोकनृत्य करते हैं। सभी युवकों व युवतियों को इस नृत्य में भाग लेने की स्वतंत्रता होती है जिसे स्थानीय तौर पर ''गोल गदेदों'' कहते हैं लड़कियां पेड़ के चारों ओर नर्तकियों का एक आन्तरिक घेरा बना लेती हैं जब कोई युवक घेरे को तोड़ते हुये नारियल को तोड़ने का प्रयास करता है तो युवतियां अपनी पूरी शक्ति से उसका प्रतिरोध करती हैं आकांक्षी युवक को अनेक चोटें भी जा जाती हैं किन्तु इसे सही नियत से लिया जाता है यदि इन बाधाओं के बावजूद एक साहसी युवक नारियल या गुड़ खाने में सफल हो जाता है तो उसे घेरा बनाने वाली लड़कियों में से किसी को भी अपनी पत्नी के रूप में मांगने का अधिकार होता है।

4. **क्रय विवाह**- क्रय द्वारा विवाह की पद्धति सम्पूर्ण जनजातीय भारत में वैवाहिक सम्बन्धों के एक लोकप्रिय तरीके के रूप में प्रचलित है इस प्रकार के विवाह में वधू प्राप्त करने के लिए वधू के माँ बाप या उसके सम्बन्धियों को कुछ धनराशि वधू मूल्य के रूप में देनी होती है परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वधू का व्यवसाय किया जाता है बहुत से समाजों में यह मूल्य एक प्रतीक के रूप में होता है।

5. **सेवा विवाह** - वधु मूल्य के पूरे भुगतान से बचने का एक दूसरा तरीका है जिसमें भावी दूल्हा, दुल्हन के घर पर सेवा करके इसे पूरा करता है। अर्थात दामाद अपने भावी सास ससुर के घर जा कर नौकर के रूप में सेवा करता हे और उसके बदले में उसकी पुत्री को पत्नी के रूप में प्राप्त करता है।

6. **विनिमय विवाह** - इस विवाह का विकास प्रमुखत: दुल्हन के ऊँचे मूल्य से बचने के साधन के रूप में हुआ। इस विवाह में दो परिवार आपस में स्त्री का लेन देन कर लें। एक भाई की शादी के लिए दूसरे परिवार में उसकी बहिन दे दी जाती है और बदले में बहिन के पति की बहिन से विवाह कर लिया जाता है।

7. **सहमति या सह पलायन द्वारा विवाह** - बाल विवाह प्रथा जनजातियों सामान्यत: कम रही हैं अधिकांशत: युवक युवतियों की सहमति से ही विवाह होते हैं और मां बाप उनके निर्णय का अनुमोदन कर देते हैं। जिन जनजातियों में युवा गृहों का प्रचलन है उनमें बालक और बालिकाएं स्वतंत्र रूप से अपने जीवन साथी का चुनाव कर लेते हैं। परन्तु यदि माता पिता को विवाह के लिए सहमति नहीं प्राप्त होती तो भाग कर विवाह करना ही एक मात्र रास्ता बचता है। पलायन किये हुए प्रेमी जोड़े को लोग गाँव लौटा लेते हैं तो उन्हें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार की विवाह पद्धति अक्सर बहुत ऊँचे वधु मूल्य के कारण भी दिखाई पड़ती है।

8. **हठ या पैठू विवाह** - इस प्रकार के विवाह में लड़की किसी अनिच्छुक युवा से विवाह करने की अभिलाषा रखती है इस प्रकार इच्छुक लड़की अनिच्छुक दुल्हा तथा उसके माता पिता के घर पर जबरन रहने लगती हैं वह भावी पति तथा उसके माता पिता की सेवा करती है। किन्तु उसके बदले उसे अपमानित किया जात है और उसे कष्ट भी दिया जाता है

यदि वह अपने इरादों में दृढ़ बनी रहती है तो अन्ततः वह घर की बहू के रूप में स्वीकार कर ली जाती है।

6.10 पूर्व-वैवाहिक तथा अतिरिक्त -वैवाहिक यौन-सम्बन्ध

विश्व की अनेका अनेक जनजातियों में विवाह से पूर्व या विवाह सम्बन्ध के बाहर अपनी लैंगिक तृप्ति की काफी स्वतंत्रता एवम् अवसर रहते हैं। यह जनजातियां इस प्रकार की स्वतंत्रता को इसलिए आवश्यक मानते हैं कि इनके बिना युवक युवतियों पारस्परिक सहयोग तथा प्रेम दृढ़ नहीं दे सकता। विवाह के पूर्व लड़कियों के कौमार्य की रक्षा आवश्यक नहीं माना जाता। जिन जनजातियों में युवागृह पाये जाते हैं उनका उद्देश्य युवक युवतियों को यौन सम्बन्धी शिक्षा दी जाय तथा विवाह साथी चुनने का अवसर प्राप्त हो। इसी प्रकार उराँव जनजाति में प्रत्येक कुंवारे लड़के की एक प्रेमिका होती थी जिसे पिल्लो कहा जाता था।

मध्य भारत की जनजातियों में पूर्व वैवाहिक यौन सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतंत्रता रहती है बशर्ते लड़की गर्भवती न हो जाय। क्योंकि गर्भवती होना लड़की के माता पिता के लिए लज्जाजनक माना जाता है। ऐसी अवस्था में लड़की को उसी व्यक्ति से विवाह करना पड़ता है जिसका बच्चा है।

पूर्व वैवाहिक यौन सम्बन्ध के अतिरिक्त भारतीय जनजातीय समाजों में अतिरिक्त वैवाहिक यौन सम्बन्ध के भी उदाहरण मिलते हैं। कोनयक नामी जनजाति में विवाह के उपरान्त भी स्त्रियां अन्य पुरूषों से यौन सम्बन्ध बनाये रख सकती हैं यहाँ तक कि वे अपने ससुराल तब तक नहीं जाती जब तक पिहर में उनके एक बच्चा पैदा न हो जाता हो। जनजाति माघी पर्व पर और उराँव जनजाति 'खद्दी' पर्व पर स्त्रियों और पुरूषों को यौन सम्बन्ध स्थापित करने की छूट रहती है। इसी प्रकार थारू जनजाति के पुरूष, अगर उनकी पत्नियाँ इधर उधर यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं तो उसे अपराध नहीं मानते। देहरादून जिले के ''खस'' जनजाति में यौन सम्बन्धी दोहरा मानदण्ड पाया जाता है। जब वधु (रात्ती) अपने ससुराल में रहती है तो उसे यौन सम्बन्धी नियमों को कठोरता से पालन करना पड़ता है परन्तु जब वही स्त्री अपने मायके आती है तो लड़की (ध्यान्ती) के रूप में उसे यौन सम्बन्धी स्वतंत्रता मिल जाती है और वह एकाधिक पुरूषों से यौन सम्बन्ध स्थापित करती है।

6.11 विवाह विच्छेद

लगभग सभी आदिम जातियों में विवाह विच्छेद का प्रावधान है। हिन्दुओं के विपरीत, भारतीय जनजातियों में विवाह एक धार्मिक संस्कार नहीं है।

अतः तलाक जनजातियों में केवल सम्भव ही नहीं अपितु व्यवहारिक रूप में प्रचलित है। इसे सरलता से प्राप्त किया जा सकता है यदि दोनों पक्ष विवाह सम्बन्ध को आगे कायम नहीं रखना चाहते हैं किन्तु तलाक का आधार विभिन्न जनजातियों में अलग अलग प्रकार के हैं जैसे जीवन साथी के दुश्चरित्र, बाँझ, नपुंसक, निर्दयी, बीमार अथवा जादुई क्रियाओं में संलग्न होने आदि की दशा में उसे तलाक देने की स्वीकृति होती है। खासी लोग व्यभिचार बाँझपन तथा स्वभाव में असंगति के कारण तलाक की अनुमति दे देते हैं। कुछ जनजातियों में

तलाक के इच्छुक पक्ष को दूसरे पक्ष को मुआवजा देना पड़ता है तथा ऐसे लोगों को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं देती। गोंड, खारिया आदि वैवाहिक विश्वासघात बाँझपन के आधार पर स्वतंत्र रूप से तलाक की छूट देते हैं। विधवा पुर्नविवाह भारत की लगभग सभी जनजातियों में प्रचलित हैं।

6.12 सारांश

समाज चाहे आदिम हो या सभ्य, परिवार का होना आवश्यक है, क्योंकि परिवार की अनुपस्थिति में समाज का अस्तित्व और निरन्तरता सम्भव नहीं है। आदिम समाज में परिवार के विभिन्न स्वरूप देखने को मिलते हैं। जनजातियों में विवाह न तो धार्मिक संस्कार हैं और न ही जन्म जन्मान्तर का सम्बन्ध इस कारण से उनमें अपना जीवन साथी चुनने की अनेक रीतियाँ पायी जाती हैं। इनमें से अनेक प्रकार के विवाहों का प्रचलन उनके पर्यावरण और आर्थिक जीवन से सम्बन्धित हैं। जनजातियों में यौन सम्बन्धी अनुज्ञायें काफी शिथिल हैं फिर भी सामान्य रूप से आज सभ्य समाज के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उनमें भी विवाह सम्बन्धों में थोड़ा बहुत परिवर्तन होता जा रहा है।

6.13 सन्दर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

हसनैन नदीम, 1991 ट्राइबल इण्डिया, पालिका प्रकाशन न्यू दिल्ली

कपाडिया, के. एम. 1961 मैरिज एण्ड फेमली इन इण्डिया, बम्बई

दुबे, एस. सी. 1960 मानव एण्ड संस्कृति दिल्ली

गिलिन एण्ड गिलिन, 1950 कलचरल सोशियोलाजी, द मैकमिलन कम्पनी, न्यू यार्क

मजूमदार डी. एन., 1958 रेस एण्ड कलचर आफ इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

6.14 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय -

1. भारतीय जनजातियों के परिवार का उल्लेख कीजिए।
2. भारतीय जनजातियों में प्रचलित विवाह के सवरूपों की विवेचना कीजिए।
3. जनजातीय विवाह विच्छेद पर एक टिप्पणी लिखिए।

लघु उत्तरीय -

1. जनजातियों में विवाह सम्बन्धी निषेध बताएं।
2. जनजातियों के परिवार में भेद के मुख्य आधार बताएं।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

1. जनजातियों में जीवन साथी के चयन के लोकप्रिय विधियाँ कितनी हैं?

   (अ) 1 (ब) 5 (स) 8 (द) 11 (उत्तर (स))

इकाई 7 संयुक्त परिवार : अवधारणा, विशेषताएं, उपादेयता, परिवर्तन के कारक

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 संयुक्त परिवार: परिभाषा एवं अवधारणा

7.2.1 संयुक्त परिवार की प्रकृति

7.3 संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएं

7.3.1 संयुक्त परिवार के प्रकार

7.4 संयुक्त परिवार के प्रकार्य

7.5 संयुक्त परिवार के दोष

7.6 संयुक्त परिवार में परिवर्तन के कारक

7.6.1 आर्थिक कारक

7.6.2 भावनात्मक शक्तियां

7.6.3 नये सामाजिक कानून

7.6.4 उदीयमान प्रवृत्तियाँ

7.7 संयुक्त परिवार में संरचनात्मक परिवर्तन

7.8 संयुक्त परिवार में अन्तर्क्रियात्मक परिवर्तन

7.9 सारांश

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.11 संबंधित प्रश्न/ उपयोगी पुस्तकें

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपके द्वारा सम्भव होगा:

* संयुक्त परिवार की अवधारणा और परिभाषा को समझ सकेंगे।
* संयुक्त परिवार के प्रकार्यों एवं दोषों को जान सकेंगे।
* संयुक्त परिवार में परिवर्तन के कारकों की व्याख्या कर सकेंगे।
* संयुक्त परिवार में संरचनात्मक एवं अन्त: क्रियात्मक परिवर्तनों को जान सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

भारतीय सामाजिक संरचना की एक विशेषता के रूप में यहाँ संयुक्त परिवार का प्राचीन काल से ही महत्व रहा है। भारत में परिवार का शास्त्रीय स्वरूप संयुक्त परिवार रहा है। मैक्समूलर ने संयुक्त परिवार को ''आदि परम्परा'' कहा है। संयुक्त परिवार की अवधारणा में जैविकीय पक्ष पर जोर न देते हुये सह निवासिता, सह परिवार पूजा, सह सम्पत्ति और कोई नातेदारी सम्बन्ध पर बल दिया गया है। यद्यपि संयुक्त परिवार व्यक्तियों के लिए सामाजिक बीमा का कार्य करता रहा है, परन्तु साथ ही इस संस्था ने इसी कारण सामाजिक पर जीवीपन को भी प्रोत्साहित किया है। प्रत्येक सदस्य के साथ समानता का व्यवहार होने के कारण प्रतिभाशाली व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बाधा रही है। अकर्मण्य व्यक्तियों की वृद्धि हुई है। इस सन्दर्भ में विभिन्न आर्थिक और वैधानिक कारकों के माध्यम से संयुक्त परिवार में होंने वाले अन्त: क्रियात्मक एवं संरचनात्मक परिवर्तनों पर इस इकाई में प्रकाश डाला गया है।

इस इकाई के भाग 8.2 में संयुक्त परिवार की परिभाषा एवं अवधारणा दी गई है । भाग 8.2.1 संयुक्त परिवार की प्रकृति की व्याख्या की गई है भाग 8.3 का शीर्षक संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएं हैं।

इस इकाई के भाग 8.4 एवं भाग 8.5 में क्रमश: संयुक्त परिवार के प्रकार्यों एवं दोषों की चर्चा की गई है। भाग 8.6 में संयुक्त परिवार में परिवर्तन के कारकों का उल्लेख किया गया है।

इस इकाई के भाग 8.7 में संयुक्त क्रियात्मक परिवर्तन का विवेचन किया गया है भाग 8.9 में सारांश संक्षेप है

7.2 संयुक्त परिवार: परिभाषा एवं अवधारणा

किसी भी समाज की संरचना को समझने के लिए परिवार व्यवस्था वह महत्वपूर्ण इकाई है जिसके आधार पर ही व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा सामाजिक सांस्कृतिक प्रतिमानों को समझा जा सकता है। वास्तव में भारत में संयुक्त परिवार वैदिक काल से ही रहे हैं। आज इनके स्थान पर मूल परिवारों की संख्या में वृद्धि हो जाने के बाद भी ऐसे परिवार पश्चिमी देशों के मूल परिवारों की तरह न होकर संयुक्त परिवार के आदर्शों से मिलते जुलते हैं।

के. एम. परिक्कर का यह कथन इस संस्था के महत्व को दर्शाता है कि ''हिन्दू समाज की इकाई व्यक्ति नहीं बल्कि संयुक्त परिवार है''।

हिन्दुओं के साथ साथ अहिन्दुओं में संयुक्त परिवार की पारिवारिक व्यवस्था पायी जाती रही है।

संयुक्त परिवार एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें अनेक पीढ़ियों (सामान्य तौर पर तीन पीढ़ियों) के व्यक्ति एक ही घर में रहते हुये संयुक्त रूप से अपने दायित्वों की पूर्ति करते हैं। प्रो. इरावती कर्वे ने अपनी पुस्तक ''किनशिप आर्गेनाइजेशन इन इण्डिया'' में संयुक्त परिवार को परिभाषित करते हुये लिखा है ''एक संयुक्त परिवार ऐसे व्यक्तियों का एक समूह है जो सामान्यत: एक ही घर में रहते हैं, जो एक ही रसोई में बना भोजन, करते हैं, जो सम्पत्ति के

सम्मिलित स्वामी होते हैं। व जो सामान्य पूजा में भाग लेते हैं और जो किसी न किसी प्रकार से एक दूसरे के रक्त सम्बन्धी हों।''

आई. पी. देसाई के अनुसार ''हम उस गृह को संयुक्त परिवार कहते हैं जिसमें एकांकी परिवार से अधिक पीढ़ियों (अर्थात तीन या अधिक) के सदस्य रहते हैं और जिसके सदस्य एक दूसरे से सम्पत्ति, आय और पारस्परिक अधिकारों तथा कर्तव्यों द्वारा सम्बद्ध हों''।

डा. श्यामाचरण दुबे के अनुसार ''यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हों, उनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों जो सम्पत्ति के सम्मिलित स्वामी तो उन्हें सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।''

इस प्रकार संयुक्त परिवार से हमारा तात्पर्य ऐसे परिवार से है जिसमें कई पीढ़ियों के लोग एक साथ निवास करते हैं जिनकी सम्पत्ति सामूहिक होती है परिवार के सभी सदस्य भोजन, उत्सव, त्योहार और पूजन में सामूहिक रूप से भाग लेते हैं और परस्पर अधिकारों और कर्तव्यों से बंधे होते हैं।

संयुक्त परिवार शब्द में संयुक्तता की धारणा की विभिन्न विद्वानों ने विविध रूप में विवेचना की है।

जैसे इरावती कर्वे ने संयुक्तता के लिए सहनिवास को आवश्यक माना है तो कुछ विद्वान (वी.एस. कोहन, एस.सी.दुबे, हैरोल्ड मूल्ड पालिन कोलेण्डा) सह निवास तथा सह भोजन दोनों को संयुक्तता के लिए आवश्यक मानते हैं। जबकि कुछ विद्वान (एफ.जी.बेली, टी.एन.मदान) संयुक्त सम्पत्ति स्वामित्व को अधिक महत्व देते हैं भले ही उनके निवास अलग अलग हों तथा सम्पत्ति में सहस्वामित्व न हो।

कपाड़िया (1960) का मानना है कि हमारा आदि परिवार केवल संयुक्त या पितृसत्तात्मक ही नहीं था, इसके साथ साथ हमारे परिवार व्यक्तिश: (Individual) भी होते थे।

व्यक्तिवादिता की प्रवृत्ति के बाद भी परिवार का संयुक्त तथा सगोत्तक स्वरूप बना हुआ है । कर्वे ने परम्परागत परिवार की पॉच विशेषताएं बताई हैं।

सह निवास, सह रसोई, सह सम्पत्ति, सह पूजा तथा कोई नातेदारी सम्बन्ध/ इस प्रकार कर्वे का संयुक्तता का आधार है आकार, निवास, सम्पत्ति, आमदनी।

आई.पी. देसाई का मानना है कि सह निवास तथा सह रसोई को संयुक्त परिवार की परिसीमा के लिए आवश्यक समझना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा करने पर संयुक्त परिवार को सामाजिक सम्बन्धों का समुच्चय एवं प्रकार्यात्मक इकाई नहीं माना जायेगा। उनका कहना है कि एक घर के सदस्यों के बीच के आपसी सम्बन्धों तथा अन्य घरों के सदस्यों के साथ सम्बन्धों पर ही परिवार से अलग देखने के लिए भूमिका सम्बन्धों के अन्तर को एवं विभिन्न नातेदारों के बीच व्यवहार के मानदण्डीय प्रतिमान को समझना पड़ेगा। इनकी मान्यता है कि जब दो एकाकी परिवार नातेदारी सम्बन्धों के होने पर भी अलग अलग रहते हों लेकिन एक ही व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र में रहते हों तो वह परिवार संयुक्त परिवार होगा इस परिवार को देसाई ने प्रकार्यात्मक संयुक्त परिवार (Functional Joint Family) कहा है। आवासीय

संयुक्त परिवार में जब तक तीन या अधिक पीढ़ियां न रह रही हों तब तक यह परम्परात्मक संयुक्त परिवार नहीं हो सकता। उसके अनुसार दो पीढ़ियों का परिवार सीमान्त संयुक्त परिवार (Marginal joint family) कहलायेगा। इस प्रकार देसाई ने संयुक्त परिवार के तीन आधार माने हैं। पीढ़ी की गहराई, अधिकार और दायित्व, तथा सम्पत्ति। (आहूजा, 1995 : 22-24)

3.2.1 संयुक्त परिवार की प्रकृति

संयुक्त परिवार की अवधारणा के प्रति विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

आई. पी. देसाई (1964:153-156) ने 1956 और 1958 के बीच किये गये 423 परिवारों के सर्वेक्षण के आधार पर परिवार के दो भिन्न भिन्न वर्गीकरण दिये हैं (1) पीढ़ियों की गहराई को लेकर सदस्यों के बीच सम्बन्धों पर आधारित। (2) अन्य परिवारों के सदस्यों के साथ सम्बन्धों के आधार पर देसाई ने पाँच प्रकार के परिवार बताये हैं: एकल, प्रकार्यात्मक रूप से संयुक्त प्रकार्यात्मक तथा धन के आधार पर संयुक्त, सीमान्त संयुक्त और पारम्परिक संयुक्त।

कपाड़िया ने भी पाँच प्रकार के परिवार बताये हैं।

(1) एकाकी परिवार अविवाहित पुत्रों के साथ

(2) एकाकी परिवार विवाहित पुत्रों के साथ

(3) समरेखीय (Lineal) संयुक्त परिवार

(4) भिन्न शाखाई (Colateral) संयुक्त परिवार

(5) आश्रितों के साथ परिवार

एम.एस.गोरे का मानना है कि संयुक्त परिवार की व्याख्या में सही दृष्टिकोण यह है कि इसे एकाकी परिवारों की बहुलता मानने के स्थान पर इसे पुरूष सहसम्पत्ति भागियों तथा उनके आश्रितों का परिवार माना जाये, क्योंकि पहली दृष्टि से वैवाहिक संबंधों पर बल दिया जाता है जब कि दूसरी दृष्टि से संयुक्त परिवार में माता पिता व उनकी संतान एवं भ्रातृक (filial and fraternal) संबंधों पर बल देना अधिक तर्क संगत है।

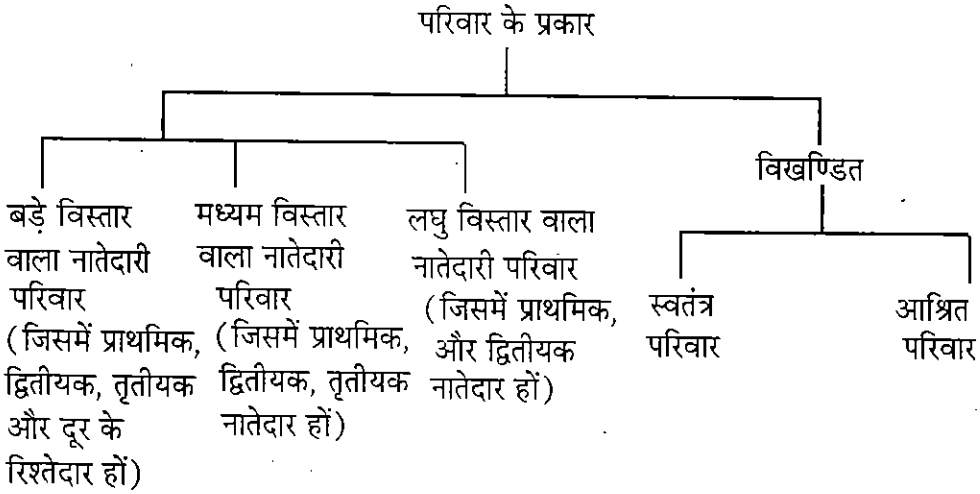

7.3 संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएं

संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं।

1. **सत्तात्मक संरचना (Authoritarian structure) :**

सत्तात्मकता का यहां अर्थ है कि निर्णय तथा निश्चय करने की शक्ति एक व्यक्ति में होती है जिसकी आज्ञा का पालन बिना चुनौती के होनी चाहिए।

प्रजातंत्रीय परिवार में सत्ता जबकि एक या एक से अधिक लोगों में निहित होती है। जिसका आधार दक्षता और योग्यता होता है सत्तात्मक परिवार में परम्परा से सत्ता, आयु, एवं वरिष्ठता के आधार पर सबसे बड़े पुरूष के पास ही होती है पविार का मुखिया अन्य सदस्यों को थोड़ी ही स्वतंत्रता देता है और निर्णय प्रक्रिया में उसका निर्णय ही अन्तिम होता है। लेकिन जनतन्त्रीय परिवार में मुखिया का कर्तव्य होता है कि वह अन्य सदस्यों की सलाह ले और कोई भी निर्णय करने से पूर्व उनकी राय को पूर्ण महत्व प्रदान करे।

2. **आयु और संबंधों के आधार पर सदस्यों की प्रस्थिति का निर्धारण (Determination of status of members by their age and relationship) :**

परिवार के सदस्यों की प्रस्थिति का निर्धारण उनकी आयु और संबंधों द्वारा निश्चित होता है। पति का पद पत्नी से ऊँचा होता है। दो पीढ़ियों में ऊँची पीढ़ी वाले व्यक्ति की प्रस्थिति निम्न पीढ़ी के व्यक्ति की प्रस्थिति से अधिक ऊँची होती है लेकिन उसी पीढ़ी में बड़ी आयु वाले व्यक्ति की प्रस्थिति कम आयु वाले व्यक्ति की प्रस्थिति से ऊँची होती है। पत्नी की प्रस्थिति उसके पति की प्रस्थिति से निश्चित होती है।

3. **सन्तान तथा भ्रातृक सम्बन्धों की दाम्पत्य संबंधों पर वरीयता (Filial and fraternal relationships gets preference over conjugal relationship):**

रक्त सम्बन्धों को वैवाहिक सम्बन्धों की अपेक्षा वरीयता प्रदान की जाती है। अर्थात पति पत्नी के सम्बन्ध (Conjugal) पिता पुत्र (Filial) या भाई-2 (fraternal) सम्बन्धों की अपेक्षा निम्न माने जाते हैं।

4. **सामान्य सामाजिक प्रकार्य (Common Social functions) :**

कपाड़िया ने सामान्य सामाजिक कार्यों को महत्वपूर्ण माना है। अर्थात सामाजिक कार्यों के लिए परिवार को एक व्यक्ति माना जाता है और उनका एक प्रतिनिधि ही सारे परिवार की तरफ से भाग लेता है जो अधिकांशत: मुखिया होता है चाहे वह जाति पंचायत की सभा हो या फिर विवाह, मृत्यु भोज आदि।

5. **वरिष्ठता के सिद्धान्त के आधार पर सत्ता-निर्धारण (Determination of authority on principle of seniority):**

परिवार में (स्त्री-पुरूषों, पुरूषों - पुरूषों, स्त्री-पुरूषों के) बीच के सम्बन्धों का निर्धारण वरीयता क्रम के अनुसार निर्धारित होता है। यद्यपि सबसे बड़ी आयु का पुरूष किसी दूसरे

को सत्ता सौंप सकते हैं लेकिन यह भी वरीयता के सिद्धान्त पर ही होगा, जिससे व्यक्तिवाद की भावना विकसित न हो सके।

6. सहयोगी व्यवस्था (Co-operative system):

संयुक्त परिवार पारस्परिक सहयोग पर निर्भर करता है। इसके अभाव में सदस्यों का विभाजन हो जाता है प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करे। साथ ही उसे उसकी आवश्यकतानुसार परिवार से प्राप्त होता रहता है। संयुक्त परिवार में एक सब के लिए सब एक के लिए वाला सिद्धान्त लागू होता है।

कुछ अन्य महत्वपूर्ण विशेषताएं इस प्रकार हैं-

1. सामान्य निवास (Common Residence)
2. सामान्य रसोईघर (Common Kitchen)
3. सामान्य सम्पत्ति (Common Property)
4. सामान्य धार्मिक कर्तव्य (Common religious duties)
5. रक्त सम्बन्ध से सम्बन्धित (Related to kindered)
6. बड़ा आकार (Large size)
7. अधिकारों और कर्तव्यों पर आधारित व्यवस्था (System based on rights and obligations)

7.3.1 संयुक्त परिवार के प्रकार

भारत में संयुक्त परिवार के अनेक रूप विद्यमान हैं। सत्ता, वंश, स्थान, पीढ़ियों की गहराई व सम्पत्ति में अधिकार, आदि की दृष्टि से परिवार के निम्नांकित रूप पाये जाते हैं।

(1) सत्ता, वंश और स्थान के आधार पर :-

(क) पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय, एवं पितृ स्थानीय परिवार:

उपर्युक्त प्रकार के संयुक्त परिवार में पिता ही परिवार का केन्द्र बिन्दु होता है अर्थात इस प्रकार के परिवारों में पिता का स्थान प्रमुख होता है तथा वंश परम्परा का चलन उसी के नाम के आधार पर होता है। ऐसे परिवारों में पत्नियाँ अपने पति के घर पर ही निवास करती हैं एवं पुरूष पक्ष के तीन चार पीढ़ियों के सदस्य एक साथ निवास करते हैं।

(ख) मातृसत्तात्मक, मातृवंशीय एवं मातृस्थानीय परिवार:

इस प्रकार के परिवारों में माता का स्थान प्रमुख होता है। परिवार की सम्पत्ति पर माँ का स्वामित्व होता है, एवं उत्तराधिकार माता से पुत्रियों को मिलता है। वंश परम्परा से चलन का आधार भी माता होती है अर्थात वंशनाम माता से पुत्रियों को मिलता है। खासी, गारो, जयन्तिया तथा केरल के नायर ऐसे संयुक्त परिवार का प्रतिनिधित्व करते हैं।

नायर संयुक्त परिवार को तारवाड़ कहा जाता है, जिसका विघटन हो रहा है, और तावझी अर्थात एकाकी परिवार का विकास हो रहा है।

2. पीढ़ियों की गहराई के आधार पर

(अ) संयुक्त परिवार का उग्र प्रारूप (Vertical model of joint family)

इस प्रकार के संयुक्त परिवारों में एक ही वंश के कम से कम तीन पीढ़ियों के लोग एक साथ निवास करते हैं। जैसे - दादा-पिता-अविवाहित पुत्री और पुत्र

(ब) संयुक्त परिवार का क्षैतिज स्वरूप (Horizontal form of joint family)

इस प्रकार के परिवारों में भाई का सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण है अर्थात ऐसे परिवारों में दो से अधिक भाइयों के एकाकी परिवार एक साथ निवास करते हैं।

(स) संयुक्त परिवार का मिश्रित स्वरूप (Mixed form of Joint family)

संयुक्त परिवार का एक रूप उपर्युक्त दोनों प्रकार के परिवार का मिश्रित रूप है, जिसमें दो या तीन पीढ़ियों के सभी भाई सम्मिलित रूप से निवास करते हैं।

3. सम्पत्ति में अधिकार की दृष्टि से

सम्पत्ति में अधिकार की दृष्टि से हिन्दू संयुक्त परिवार को मिताक्षरा एवं दायभाग दो भागों में बॉटा जा सकता है।

(1) मिताक्षरा संयुक्त परिवार : विज्ञानेश्वर द्वारा लिखित मिताक्षरा टीका पर आधारित है बंगाल और असम को छोड़कर प्रत्येक जगह मिताक्षरा संयुक्त परिवार पाये जाते हैं। इस प्रकार के परिवारों की मुख्य विशेषताएं हैं। कि - (अ) पुत्र को जन्म से ही पिता की सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त हो जाता है। (ब) स्त्रियों को सम्पत्तियों में कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता है (स) एक व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर यदि उसके पुत्र पौत्र आदि नहीं हैं तो भाई मिलकर बॉट लेंगे। (द) पुत्र पिता के जीवित रहते भी कभी भी अपने हिस्से की मांग कर सकते हैं।

दायभाग संयुक्त परिवार : इसके नियम जीमूतवाहन द्वारा लिखित दायभाग ग्रन्थ पर आधारित है। इस प्रकार के परिवार बंगाल और असम में पाये जाते हैं। इनकी मुख्य विशेषताएं हैं - (अ) पिता के मरने के बाद ही पुत्र का सम्पत्ति का अधिकार होता है। (ब) पिता के जीवित रहते पुत्र सम्पत्ति के बटवारे की मांग नहीं कर सकता है। (स) पिता सम्पत्ति का निरंकुश अधिकारी होता है (द) पिता के मरने पर पुत्र न होने पर उसकी सम्पत्ति उसकी पत्नी को मिलती है। (य) इसमें पुरूष के साथ साथ स्त्रियाँ भी सम्पत्ति की अधिकारिणी होती हैं।

उपरोक्त तीनों वर्गीकरण को निम्न चित्र के माध्यम से सरलता से समझा जा सकता है (चित्र-1)

विद्या

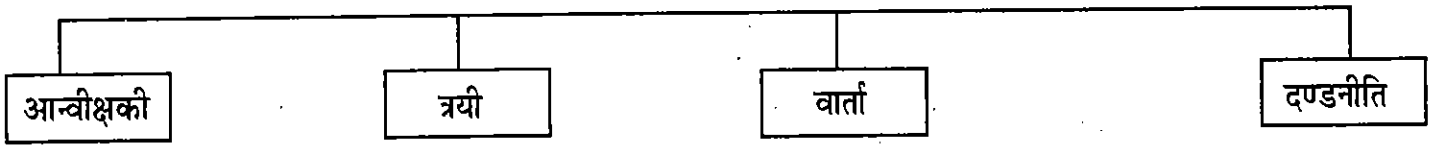

- सांख्य, योग और लोकायत दर्शन का ज्ञान।
- सब विधाओं का प्रदीप सभी कार्यों का साधन और सब धर्मों का आश्रय।

- धर्म - अधर्म का त्रान
- साम्, ऋक् और यजु तीनों वेदों का समन्वय
- चारों वर्णों और चारों आश्रमों को स्थिर रखने में समर्थ।

- अर्थ अनर्थ का ज्ञान
- वार्ता विषय-कृषि, पशुपालन और वाणिज्य

- शासन सुशासन का ज्ञान
- सभी प्राणियों को वश में करने वाली विद्या।

7.4 संयुक्त परिवार के प्रकार्य

प्रत्येक सामाजिक संस्था का विकास एक समाज विशेष की परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार होता है। भारत सदैव से एक ग्राम प्रधान समाज रहा है। इस समाज की खेतिहर व्यवस्था में जहाँ व्यक्तियों के आर्थिक साधन सीमित होते हैं, वहीं उनके बीच पारस्परिक सहयोग तथा सामाजिक सुरक्षा का होना आवश्यक होता है।

1. सामाजिक सांस्कृतिक क्षेत्र में कार्य :

(अ) सामाजिक सुरक्षा : संयुक्त परिवार का सबसे बड़ा गुण इसके द्वारा प्रत्येक सदस्य को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना है। संयुक्त परिवार एक ऐसी व्यवस्था है जो प्रत्येक सदस्य को बेरोजगारी बीमारी, दुर्घटना में पूर्ण सुरक्षा प्रदान करता है।

2. समाजीकरण का कार्य :

संयुक्त परिवार में बच्चों के पालन पोषण तथा उनके समाजीकरण का कार्य उन वृद्ध सदस्यों की देख रेख में होता है जिन्हें जीवन का लम्बा अनुभव प्राप्त होता है। संयुक्त परिवार आरम्भ से ही बच्चों की सेवा, अनुशासन त्याग जैसे गुणों के आधार पर व्यवहार करना सिखाते हैं। इन्हीं व्यवहारों के फलस्वरूप परिवार का भावी जीवन संगठित बना रहता है।

3. संस्कृति का प्रशिक्षण :

इस व्यवस्था ने व्यक्ति को धार्मिक आचरणों, वैवाहिक नियमों, शिष्टाचार के तरीकों, तथा सामाजिक मूल्यों की सीख प्रदान करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। परिवार के जो सदस्य अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं तथा सामाजिक मूल्यों के विरूद्ध कार्य करते हैं(

4. स्वस्थ मनोरंजन :

परिवार में बच्चों का एक दूसरे के साथ खेलना, स्त्रियों द्वारा विभिन्न अवसरों पर उत्सवों की व्यवस्था करना, संध्याकालीन हंसी-मजाक आदि संयुक्त परिवार में मनोरंजन के प्रमुख साधन हैं।

II. आर्थिक क्षेत्र में कार्य :

1. अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति :

इन परिवारों में सम्पत्ति किसी एक व्यक्ति की न होकर परिवार के सभी सदस्यों की होती है इस स्थिति में परिवार का कोई सदस्य चाहे कितनी भी कम या अधिक आजीविका उपार्जित करता हो प्रत्येक सदस्य को इतनी सुविधाएं अवश्य दी जाती हैं जिससे वह अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

2. सम्पत्ति के विभाजन से रक्षा:

संयुक्त परिवार की सम्पत्ति अविभाजित होती है, यदि कोई सदस्य अपने संयुक्त परिवार को छोड़कर बाहर चला जाय, तो उसे परिवार की सम्पत्ति में कोई हिस्सा नहीं दिया जाता है। इसके फलस्वरूप परिवार के सामान्य कोष तथा सम्पत्ति में से सभी व्यक्तियों की आवश्यकताएं पूरी होती रहती हैं ग्रामीण अर्थव्यवस्था में संयुक्त परिवार की इस विशेषता से

कृषि भूमि को अनेक टुकड़ों में विभाजित होने में मदद मिलती है।

इन्हीं लाभों के कारण कहा जाता है कि परम्परागत संयुक्त पारिवारिक जीवन बालपन में विद्यालय, यौवन में सुरक्षा कवच, वृद्धावस्था में सान्त्वना तथा हर समय सम्मानीय संस्था है।

7.5 संयुक्त परिवार के दोष

संयुक्त परिवार के अनेक लाभों के होते हुये भी कुछ दोषों के कारण यह व्यवस्था दिन प्रतिदिन कमजोर होती जा रही है। प्रथमत: संयुक्त परिवार पराश्रित (parasites) एवं निकम्मे (Drones) लोगों को जन्म देता है। कुछ सदस्य यह सोच कर बिलकुल काम नहीं करते हैं कि परिवार के अन्य लोग उनको पोषण आदि देने के लिए हैं ही ऐसा इसलिए कि संयुक्त परिवार "सबके लिए एक और सब एक के लिए" के सिद्धान्त पर कार्य करता है। यह स्थिति कई संदेहों और झगड़ों को जन्म देती है। जिससे सदस्यों के सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध व परिवार का संगठन ही समाप्त हो जाता है। द्वितीयत: संयुक्त परिवार व्यक्तिवाद रोकता है युवक अपने अधिकारों एवं प्रस्थति के प्रति सचेत हो गये हैं । और परिवार के भीतर भी सम्बन्धों के पुनरावलोकन की मांग करते हैं। तृतीयत: संयुक्त परिवार विवादों एवं मन मुटावों की स्थली है जिस स्त्री का पति अधिक कमाता है वह उत्तेजित होती है विवाद करती है और पृथकता की मांग करती है। संयुक्त परिवार की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि सदस्यों के बीच तनाव उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि या तो वे परिवार द्वारा प्रदत्त कर्तव्यों और भूमिकाओं के साथ सामन्जस्य करने के लिए इच्छुक नहीं रहते हैं। या फिर संयुक्त परिवार उनको समायोजित करने में असमर्थ होता है।

अन्तत: संयुक्त परिवार महिलाओं की स्थिति को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है, उन्हें अथक परिश्रम करना पड़ता है तथा भावनात्मक तनावों से पीड़ित रहती है।

संक्षेप में संयुक्त परिवार के निम्नलिखित दोष हैं।

1. अकर्मण्य व्यक्तियों की वृद्धि
2. व्यक्तित्व के विकास में बाधक
3. स्त्रियों की निम्न स्थिति
4. कुशलता में बाधक
5. गतिशीलता में बाधक
6. गोपनीय स्थान का अभाव
7. कर्ता की स्वेच्छाचारिता
8. सामाजिक समस्याओं के पोषक

7.6 संयुक्त परिवार में परिवर्तन के कारक

परम्परात्मक भारतीय संयुक्त परिवार में अनेक परिवर्तन हुये हैं और वह संक्रमण के काल से गुजर रहा है। नवीन परिस्थितियों के कारण संयुक्त परिवार में होने वाले परिवर्तनों को कुछ

विद्वानों ने विघटन माना है तो कुछ ने इसे स्वरूप परिवर्तन कहा है। संयुक्त परिवार में परिवर्तन किसी प्रभावों के एक समुच्चय से नहीं आया है। और न यह सम्भव है कि इन कारकों में से किसी एक को प्राथमिकता दी जा सके। मितटन सिंगर (1968) ने परिवार में परिवर्तन के लिए चार कारकों को उत्तरदायी माना है। आवासीय गतिशीलता, व्यावसायिक गतिशीलता, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा, और द्रव्यीकरण (minetralization) डा. आर एन. सक्सेना ने संयुक्त परिवार में परिवर्तन लाने वाली शक्तियों कोतीन भागों में बाटा गयाहै।

(1) आर्थिक शक्तियाँ : औद्योगीकरण एवं पूंजीवादी व्यवस्था

(2) भावनात्मक शक्तिया: इसमें उदारवाद, व्यक्तिवाद एवं पश्चिमी विचारधारा सम्मिलित हैं

(3) नये सामाजिक कानून: इनमें विवाह एवं सम्पत्ति से सम्बन्धित कानून सम्मिलित हैं

डा. राम आहूजा ने पांच कारकों की पहचान की है। ये हैं : शिक्षा, नगरीकरण, औद्योगीकरण, विवाह संस्था में परिवर्तन तथा वैधानिक उपाय।

7.6.1आर्थिक कारक :

आर्थिक कारकों के अन्तर्गत मूल रूप से औद्योगीकरण को सम्मिलित करते हैं परन्तु नगरीकरण भी इस उपभाग का महत्वपूर्ण कारक है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के प्रथम में भारत में औद्योगीकरण प्रारम्भ हो गया था। नये उद्योगों के चारों ओर शहरों का विकास हुआ। औद्योगीकरण से पूर्व हमारे पास यह व्यवस्था थी:

(1) कृषि अमुद्राहीन अर्थव्यवस्था (not minitized economy)

(2) तकनीकी का वह स्तर जहां घरेलू इकाई आर्थिक विनिमय की ईकाई थी।

(3) पिता पुत्र के बीच व्यावसायिक भेद न था।

(4) एक ऐसी मूल्य व्यवस्था थी जहाँ युक्तिसंगतता (rationality) के मानदण्ड की अपेक्षा बुजुर्गों की सत्ता और परम्पराओं की पवित्रता दोनों को ही महत्व दिया जाता था।

पारिवारिक संगठन पर औद्योगीकरण के तीन मुख्य प्रभाव हुये: (1) परिवार उत्पादन की एक प्रधान इकाई थी, औद्योगीकरण की प्रक्रिया के बाद उपभोग की इकाई में परिवर्तित हो गया है। एक एकीकृत आर्थिक व्यवस्था में लगे परिवार के सभी सदस्यों के एक साथ काम करने के बजाय परिवार के कुछ सदस्य परिवार की जीविका चलाने के लिए बाहर चले जाते हैं। इससे न केवल संयुक्त परिवार का परम्परागत स्वरूप ही प्रभावित हुआ है।

(2) कारखानों में नौकरी के कारण युवक अपने पैतृक परिवारों पर सीधे निर्भर नहीं रहते। इसलिए परिवार के मुखिया की सत्ता में कमी आई है।

(3) बच्चे अब आर्थिक रूप से आस्ति (asset) न होकर देय (liability) बन गये हैं।

कुछ समाजशास्त्रियों ने औद्योगीकरण के कारण एकाकी परिवार के उदय के सिद्धान्त को

चुनौती दी है। जिसमें एम. एस. ए. राव, एम. एस. गोरे, तथा मितटन सिंगर महत्वपूर्ण हैं। इनके अनुभवाश्रित अध्ययनों के अनुसार कि संयुक्तता को व्यापारिक समुदायों में वरीयता दी जाती है।

परन्तु फिर भी यह कह सकते हैं कि परिवर्तनों ने हमारी परिवार व्यवस्था को बदलता है गाँव से शहर की ओर जनसंख्या के प्रवाह के कारण सत्तावादी अधिकार में कमी और धर्मनिरपेक्षता में वृद्धि ने एक ऐसी मूल्य व्यवस्था को जन्म दिया है जो कि व्यक्ति में पहल उपक्रम और उत्तरदायित्व पर बल देती है।

परिवार को प्रभावित करने वाला अन्य कारक नगरीकरण भी है। गत कुछ दशकों में हमारे देश की शहरी जनसंख्या में तीव्र दर से वृद्धि हुई है।

नगरीय परिवार ग्रामीण परिवारों से न केवल संरचना में बल्कि विचारधारा में भी भिन्न होते हैं। शहर में रहने वाला एकाकी परिवार का चयन अधिक करता है।

एम. एस. गोरे (1968) की मान्यता है कि नगरीय परिवार अपने दृष्टिकोण भूमिका परिप्रेक्ष्य तथा व्यवहार में संयुक्त परिवार के मानदण्डों से हट रहे हैं।

लुई विर्थ (Louis Wirth, 1938) का भी यह विचार है कि नगर परम्परागत पारिवारिक जीवन बड़े नातेदारी समूह से युक्त है जो कि गांव की विशेषता है तथा व्यक्तिगत रूप में सदस्य अपनी स्वयं की शैक्षिक, व्यावसायिक , धार्मिक, मनोरंजन सम्बन्धी तथा राजनैतिक आकांक्षाओं की पूर्ति में लगा रहता है।

परिवार व्यवस्था के परिवर्तन में नगरीकरण का विशेष महत्व है शहरी जीवन संयुक्त परिवार के स्वरूप को कमजोर बनाता है तथा एकाकी परिवारों को दृढ़ बनाता है। नगरों में उच्च शिक्षा व नये व्यवसायों के चुनने के लिए अधिक अवसर होते हैं। वे लोग जो अपने परिवार के परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर नये व्यवसाय अपनाते हैं अपने विचारों और अभिवृत्तियों में उन लोगों की अपेक्षा बड़ा परिवर्तन दर्शाते हैं।

7.6.2 भावनात्मक शक्तियाँ

इस कारक के अन्तर्गत उदारवाद, व्यक्तिवाद एवं पश्चिमी विचारधारा सम्मिलित है। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के कारण भारतीयों का पश्चिम की शिक्षा, संस्कृति एवं विचारधारा से परिचय हुआ, उनके दर्शन एवं सामाजिक मूल्यों को भारतीयों में भी अपनाया। व्यक्तिवाद, उदारवाद, प्रकृतिवाद, उपयोगितावाद तथा पश्चिमी साहित्य व शिक्षा आदि का भी भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर प्रभाव पड़ा भारतीयों ने पश्चिम से ही स्त्री पुरूष समानता के विचार प्रस्तुत किये।

7.6.3 नये सामाजिक कानून

अंग्रेजों के समय से ही देश में ऐसे अनेक कानून बने जिन्होंने संयुक्त परिवार की एकता पर प्रहार किये। संयुक्त परिवार की एकता का मूल कारण था कि पारिवारिक सम्पत्ति में किसी सदस्य के वैयक्तिक अधिकार नहीं थे, लेकिन हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1929 ने उन व्यक्तियों को भी सम्पत्ति में अधिकार प्रदान किये हैं जो संयुक्त परिवार से अलग रहना

चाहते थे। सन 1939 के हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति अधिकार अधिनियम (Hindu Womens Right to property act) ने संयुक्त परिवार की सम्पत्ति विभाजित होने लगी। संयुक्त परिवार में सदस्यों की अधिकता का कारण था बाल विवाह, किन्तु बाल विवाह निरोधक अधिनियम 1929 ने बाल विवाहों पर कानूनों पर रोक लगा दी। 1856 के विधवा पुनर्विवाह अधिनियम ने विधवाओं को छूट दे दी, जिससे वे दूसरे घरों में जाने लगी, इससे समुन्नता विखण्डित हुई है।

हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 में स्त्री पुरूषों को विवाह विच्छेद का अधिकार प्रदान किया इससे भी संयुक्त परिवार टूटे । हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 ने पुत्रियों एवं स्त्रियों को भी पारिवारिक सम्पत्ति में उत्तराधिकारी बना दिया। दहेज निरोधक अधिनियम 1961 के द्वारा परिवार कर्ता की निरंकुशता को कम किया गया।

7.6.4 उदीयमान प्रवृत्तियाँ

संयुक्त परिवार से सम्बन्धित सभी प्रकार के अध्ययनों से यह पता चलता है कि जिनमें देसाई, कपाडिया, रास, मुखर्जी, गोरे, कोलेण्डा, सच्चिदानन्द प्रमुख हैं। हमारे देश में परिवार संरचना के परिवर्तन से सम्बद्ध निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

1. विखण्डित परिवारों की संख्या बढ़ती जा रही है अर्थात पुत्र अर्थात पुत्र अपने माता पिता से अलग रहना पसन्द करते हैं लेकिन उनके प्रति परम्परागत दायित्वों का निर्वाह करना जारी रखते हैं।

2. परम्परागत समुदायों में संयुक्तता अधिक है और बाहरी प्रभावों से प्रभावित समुदायों में एकाकिता अधिक है।

3. परम्परागत परिवारों का आकार छोटा हो गया है।

4. हमारे समाज में प्रकार्यात्मक प्रकार का संयुक्त परिवार तब तक बना रहेगा जब तक कि यह सांस्कृतिक आदर्श बना रहेगा कि एक पुरूष को अपने माता पिता व अल्प आयु भाई बहनों की देख भाल करती है।

7.7 संयुक्त परिवार में संरचनात्मक परिवर्तन

भारत में संयुक्त परिवार की संरचना में प्रत्येक स्तर पर परिवर्तन आया है। इन परिवर्तनों को निम्न आनुभाविक अध्ययनों के माध्यम से देखा जा सकता है।

आई. पी. देसाई ने गुजरात के महुवा नगर के 423 परिवारों का 1955-57 में अध्ययन किया था।

कुल 423 परिवारों का वर्गीकरण संयुक्तता के स्तर पर तथा दूसरे परिवारों के साथ सम्बन्धों के आधार पर करते हुये देसाई ने पाया कि लगभग आधे परिवार निवास सम्पत्ति तथा कार्य प्रणाली के आधार पर संयुक्त थे, जबकि 1/3 मात्र कार्यप्रणाली के आधार पर ही संयुक्त थे इसी प्रकार देसाई ने नगरीय परिवारों में परिवर्तन के विषय में तीन प्रकार के निष्कर्ष दिये।

(1) एकाकिता (Nuclearity) बढ़ रही है और संयुक्तता घट रही है तथा आवासीय

एवं संगठनात्मक प्रकार के परिवारों में पति पत्नी और बच्चों के समूह की प्रधानता है ।

(2) व्यक्तिवाद की भावना नहीं पनप रही हैं, क्योंकि एकाकी परिवार अलग रहते हुये भी सक्रिय रूप से संयुक्त हैं।

(3) संयुक्तता के घेरे में नातेदारी की परिधि छोटी होती जा रही है।

एलीन रॉस (1961) ने 1977 में शहरी परिवेश में केवल हिन्दू परिवारों का अध्ययन किया। रास ने अपने अध्ययन में पाया कि (1) परिवार के स्वरूप कोद्ध प्रवृत्ति पारम्परिक संयुक्त परिवार से एकल इकाइयों की ओर मिलती है।

(2) लघु संयुक्त परिवार पारिवारिक जीवन का प्रारूपिक (Typical) स्वरूप है।

(3) अब काफी संख्या में लोग अपने जीवन का कम से कम एक हिस्सा एकल परिवारों में व्यतीत करते हैं।

(4) वर्तमान पीढ़ी के लिए दूर के रिश्तेदार कम महत्व के हैं।

एम.एस.गोरे (1960) ने शहरी (दिल्ली) और सीमावर्ती गांवों का अध्ययन किया जिसमें दो प्रकार के परिवार पाये गये- एक पति, पत्नी और विवाहित बच्चों वाला परिवार, दूसरा पति पत्नी अविवाहित और विवाहित पुत्र जो सभी जगह प्रमुख थे। अतल यह अध्ययन संरचनात्मक परिवर्तन को स्पष्ट नहीं करता।

सच्चिदानन्द (1977) ने बिहार के शाहाबाद जिले के 30 गाँवों के परिवारों का अध्ययन किया और पाया कि (1) एक चौथाई परिवार एकल परिवार थे और तीन चौथाई संयुक्त जो परम्परिक परिवारों की प्रधानता दर्शाता है। (2) मध्यम और निम्नजातियों की अपेक्षा उच्च जातियों में एकल परिवार अधिक थे। (3) एकलता शिक्षा के स्तर के साथ ऊँची उठती है।

रामकृष्ण मुखर्जी (1975) ने पं0 बंगाल में 1960-61 में 4,210 परिवारों का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संयुक्त परिवार की संरचना समय के साथ एकाकी परिवारों में बदल रही है और संयुक्त परिवार का स्थान एकाकी परिवार द्वारा लिया जाना पहले से शुरू है।

पालिन कोलेण्डा (1968) ने 1950 व 1970 के दशकों के बीच किये गये 26 अध्ययनों के आधार पर घरों की रचना (Composition of household) से सम्बन्धित परिमाणात्मक तथ्यों (सह-निवास व सह-भोजन इकाइयो) का प्रयोग किया। कोलेण्डा ने पाया कि -

(1) यद्यपि अधिक संख्या में लोग संयुक्त व पूरक एकाकी परिवारों में रहते हैं लेकिन संरचना की दृष्टि से अधिक परिवार एकाकी ही होते हैं।

(2) संयुक्त परिवारों के अनुपातों में क्षेत्रीय भेद स्पष्ठ होते हैं ।

(3) संयुक्त परिवार उच्च औरभू स्वामी जातियों की विशेषता है। अपेक्षाकृत निम्न और भूमिहीन जातियों के -

परिवार में होने वाले सभी संरचनात्मक परिवर्तनों का एक साथदेखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैंकि -

1. विखण्डित परिवारों की संख्या बढ़ रही है।

2. गाँवों में संयुक्तता अधिक है और औद्योगीकरण, नगरीकरण, और पश्चिमीकरण से प्रभावित समुदायों में एकलता अधिक है।

3. संयुक्त परिवार का आकार छोटा हो गया है।

4. जब तक लोगों में पुराने मूल्य बने रहेंगे, संयुक्त परिवार हमारे समाज में चलता रहेगा।

7.8 संयुक्त परिवार में अन्तः क्रियात्मक परिवर्तन

अन्तरा पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन तीन स्तरों पर देखे जा सकते हैं पति पत्नी के सम्बन्ध, माता पिता व संतान के सम्बन्ध और वहू तथा सास ससुर के सम्बन्ध।

भारतीय परिवार में पति पत्नी के सम्बन्धों का मूल्यांकन गुडे (1963), कपाडिया (1966), गोरे (1968), और मेरी स्ट्रास द्वारा किया गया है ये अध्ययन (1) निर्णय करने में शक्ति का विभाजन (2) पत्नी की मुक्ति (3) निकटता में परिवर्तन का संकते करते हैं।

परम्परागत परिवार में परिवार सम्बन्धी निर्णय करने की प्रक्रिया में पत्नी की सहभागिता न के बराबर होती थी। लेकिन समकालीन समाज में परिवार व्यय, बजट बनाने में, बच्चों के अनुशासन में, वस्तुएं खरीदने और उपहार देने में पत्नी की भूमिका समान शक्ति वाली होती है। यद्यपि पति की साधक भूमिका अभी भी जारी है।

शक्ति का स्रोत संस्कृति से संसाधन की ओर खिसक गया है। इसमें संसाधन का अर्थ है कोई भी वस्तु एक साथी दूसरे की सहायता करते हुये उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु या लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उपलब्ध करा दें। पति से पत्नी की ओर शक्ति का झुकाव पर मेरी स्ट्रास का अध्ययन सांस्कृतिक मूल्य सिद्धान्त की अपेक्षा संसाधन सिद्धान्त पर आधारित संकल्पना का समर्थन करता है। माता पिता और बच्चों के बीच के सम्बन्धों का चार आधार पर सत्ता धारण करने, समस्याओं की चर्चा की स्वतंत्रता, बच्चों द्वारा माता पिता का विरोध और दण्ड देने के तरीकों के सन्दर्भ में मूल्यांकन किया जा सकता है।

परम्परागत परिवार में मुखिया / पिता के हाथ में ही शक्ति और अधिकार रहते थे। वह पूर्ण शक्तिवान होता था और परिवार के बच्चों की शिक्षा, व्यवसाय, विवाह और जीवन आदि के विषय में सभी निर्ण करता था। (कैथलीन गफ, मैरिएट, 1955:44) समकालीन परिवार में न केवल एकाकी बल्कि संयुक्त परिवार में भी दादा का अधिकार समाप्त हो गया है।

कपाडिया (1966) और मार्गरिट कार्मेक (Margaret Carmach, 1969) ने भी पाया कि बच्चे अब अधिक स्वतंत्र हैं कुछ वैधानिक उपायों ने भी बच्चों को अपने अधिकार मांगने की शक्ति दी है। शायद इसी कारण से माता पिता बच्चों को दण्ड देने के पुराने तरीके नहीं अपनाते हैं।

सास ससुर तथा बहू के बीच सम्बन्ध में भी परिवर्तन हुआ है। यद्यपि यह परिवर्तन सास बह में इतना अधिक नहीं हुआ है जिसे DIL - MIL (Daughter-in-law, Mother-

in-Law) सम्बन्ध कहते हैं शिक्षित बहू श्वसुर से पर्दा नहीं करती हैं वह न केवल पारिवारिक मामलों पर बल्कि राजनीतिक मामलों पर भी श्वसुर से चर्चा करती हैं।

सभी तीन प्रकार के सम्बन्धों को एक साथ देखने पर कहा जा सकता है (1) युवा पीढ़ी अब अधिक व्यक्तिवादी होने का वादा करती है। (2) रक्तमूलक सम्बन्ध विवाहमूलक सम्बन्धों के सामने महत्व नहीं रखते। (3) संस्कृति और वैचारिक तत्वों के साथ साथ संसाधन तत्व भी सम्बन्धों को प्रभावित करता है।

7.9 सारांश

संयुक्त परिवार की संरचना, प्रकार्य एवं अन्य सम्बन्धित आयामों पर केन्द्रित इस इकाई में वृहद विश्लेषण किया गया है। परिवार व्यवस्था के इस परम्परागत स्वरूप पर विभिन्न वाह्य और आन्तरिक शक्तियों से निरन्तर चोट हो रही है। सह निवास, सह भोज, एवं सह सम्पत्ति जिन पर कि संयुक्त परिवार की संरचना टिकी है, सबसे पहले औद्योगीकरण द्वारा प्रहार किया गया, और व्यावसायिक गतिशीलता ने लोगों के अन्दर व्यक्तिवादिता को जन्म दिया है तथा पाश्चात्य शिक्षा एवं नगरीकरण ने उन समस्त पहलुओं को विश्रंखलित कर दिया, जिनसे परिवार में संयुक्तता थी।

चार तरह की क्रान्तियां जो कि मूल रूप से संयुक्त परिवार के विखण्डन के लिए उत्तरदायी है।

औद्योगिक क्रान्ति, लोक तान्त्रिक क्रान्ति, जनसंख्या क्रान्ति एवं धर्मनिरपेक्ष क्रान्ति।

निष्कर्षत: कह सकते हैं संयुक्त परिवार विखण्डित तो हुआ है पर इसकी संयुक्तता एक नवीन स्वरूप ग्रहण कर रही है। जबकि कृषिगत भूमि के अभाव के कारण, रोजगार के लिए लोग शहरों में चले जाते हैं तो चाहे स्वयं की आवश्यकता के वशीभूत या किसी अन्य कारण से अपने माता पिता को भी शहर ले आते हैं तो विखण्डित संयुक्त परिवार पुन: संयुक्त स्वरूप ले लेता है।

7.10 उपयोगी पुस्तकें

1. देसाई, आई. पी. : सम असपेक्टस आफ फेमिली इन इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई , 1964
2. दुबे, एस. सी. : ट्रेडीशन एण्ड डेवलेपमेन्ट विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1990
3. गोरे, एम. एस. : एजूकेशन एण्ड माडर्नाइजेशन इन इण्डिया, रावत प्रकाशन जयपुर, 1982
4. आहूजा राम : भारतीय समाज, रावत, प्रकाशन जयपुर, 2000
5. कपाड़िया, के. एम. : मैरिज एण्ड फेमिली इन इण्डिया, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1966

7.11 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 संयुक्त परिवार को परिभाषित करिये? संयुक्त परिवार के परिवर्तन के लिए उत्तरदायी आर्थिक कारकों पर प्रकाश डालिय?

प्र.2 संयुक्त परिवार के संरचनात्मक परिवर्तन एंव अन्त: क्रियात्मक परिवर्तनों की व्याख्या करिये?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

प्र.1 किनशिप आर्गेनाइजेशन आफ इण्डिया पुस्तक के लेखक हैं?

(अ) कोलेण्डा (ब) एम.एस.गोरे (स) इरावती कर्वे (द) बी.वी.शाह

प्र.2 हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति अधिकार अधिनियम कब पारित हुआ?

(अ) 1867 (ब) 1939 (स) 1970 (द) 1949

प्र.3 विधवा पुनर्विवाह अधिनियम कम पारित हुआ ?

(अ) 1870 (ब) 1861 (स) 1856 (द) 1910

प्र. 4 दहेज निषेध अधिनियम कब पारित हुआ?

(अ) 1961 (ब) 1937 (स) 1987 (द) 1991

प्र. 5 संयुक्त परिवार से सम्बन्धित महुवा नगर का अध्ययन किस समाज वैज्ञानिक से सम्बन्धित है?

(अ) आई. पी. देसाई (ब) एलीन रास (स) एम.एस.गोरे

(द) रामकृष्ण मूखर्जी ।

प्र. 6 बिहार के शहाबाद जिले का अध्ययन निम्न में से किसने किया है?

(अ) ए.आर. देसाई (ब) बी. वी. शाह (स) सच्चिदानन्द

(द) इनमें से कोई नहीं।

प्र. 7 "परम्परागत संयुक्त परिवार में शक्ति का स्रोत 'संस्कृति', से 'संसाधन, की ओर खिसक गया है।" यह कथन किस समाज वैज्ञानिक से सम्बन्धित है?

(अ) मेरी स्ट्रोक (ब) देसाई (स) मेरी स्ट्रास (द) इनमें से कोई नहीं

बोध प्रश्नों के उत्तर (वस्तुनिष्ठ)

प्र. 1 स

प्र. 2 ब

प्र. 3 स

प्र. 4 अ

प्र. 5 अ

प्र. 6 स

प्र. 7 स

इकाई 8 विवाह एवम् परिवार में परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 अवधारणा

8.3 परिवार में संरचनात्मक एवम् प्रकार्यात्मक परिवर्तन

8.4 परिवार का बदलता स्वरूप

8.5 पारिवारिक विघटन की प्रकृति

8.6 परिवार में आधुनिक परिवर्तन के कारण

8.7 संयुक्त परिवार का बदलता हुआ स्वरूप

8.8 मुस्लिम परिवार में परिवर्तन

8.9 परिवार का भविष्य

8.10 विवाह में परिवर्तन

8.11 बाल विवाह

8.12 विवाह के धार्मिक संस्कार के स्वरूप में गिरावट

8.13 विवाह सम्बन्धी निषेधों में अन्तर

8.14 हिन्दू विवाह अधिनियम

8.15 एक विवाह का प्रचलन

8.16 विवाह विच्छेद

8.17 विधवा पुर्नविवाह

8.18 दहेज निषेध अधिनियम 1961

8.19 प्रेम-विवाह

8.20 मुस्लिम स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन

8.21 ईसाई विवाह में आधुनिक परिवर्तन

8.22 सारांश

8.23 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

4.24 सम्बन्धित प्रश्न

8.0 उद्देश्य

परिवर्तन प्रकृति का विधान है, वह भविष्य के कल से भिन्न होगा। सामाजिक संरचना में सदैव परिवर्तन होता रहा है। गति और जीवन परस्पर अन्त: सम्बन्धित है। जीवन और समाज गतिशील है, परिवर्तनशील है, परिवर्तन की प्रकृति है। मनुष्य स्थायित्व के लिये चाहे जितना प्रयास करता रहे, समाज में स्थिरता का भ्रम उत्पन्न करता रहे, निश्चितता की खोज निरन्तर होती रहे, तथापि इस वास्तविकता से इंकार नहीं किया जा सकता कि समाज सदैव और सतत् परिवर्तनशील घटना है, जिसका विकास, ह्रास एवं नवीनीकरण होता रहा है और जो परिवर्तनशील दशाओं के अनुरुप स्वयं को अनुकूलित करता रहा है तथा जिसमें इस दौरान विशाल परिवर्तन हुये हैं। यह प्रश्न विचाराधीन है कि मानव क्रियायें क्यों और कैसे परिवर्तित होती हैं। समाज के वे क्या विशिष्ट स्वरूप हैं जो व्यवहार में परिवर्तन करते हैं। इस प्रकार समाज की सभी छोटी बड़ी संस्थायें चाहे विवाह हो या परिवार परिवर्तन दिखाई पड़ता है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुये इस अध्याय में संस्थाओं के परिवर्तन समझने के लिये प्रयास किया गया है।

8.1 प्रस्तावना

सामाजिक सम्बन्धों के स्थापित स्वरूपों, मूल्यों, संरचनाओं तथा संस्थाओं में आया हुआ परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है। सामाजिक परिवर्तन कभी भी समग्र रूप से नहीं होता वल्कि आंशिक होता है। समाज की सम्पूर्ण संरचना में एक साथ परिवर्तन कठिनाई से ही होता है इस प्रकार समाज के कुछ पक्षों में ही परिवर्तन होता है। जब कभी सामाजिक व्यवस्था के मूल में परिवर्तन होता है तो उसे वृहत परिवर्तन कहा जाता है परन्तु प्राय: सामाजिक व्यवस्था समग्र रूप से कभी परिवर्तित नहीं होती, सामाजिक परिवर्तन अधिकांशत: आंशिक ही होता है।

8.2 अवधारणा

परिवर्तनकाल की किसी अवधि में किसी वस्तु में दृश्यमान परिवर्तन को इंगित करता है। अतएव, सामाजिक परिवर्तन किसी निश्चित कलावधि में किसी सामाजिक परिघटना में अन्तर से है। सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में विचारकों में मतभेद है। कुछ विचारक सामाजिक ढांचे में दृष्टिगत परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा है तो कुछ ने सामाजिक सम्बन्धों में घटित परिवर्तन को। मैकाइवर एवं पेज सामाजिक सम्बन्धों में घटित परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन माना है जबकि किंग्सले डेविस सामाजिक ढांचे और प्रकार्यों में घटित परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन मानता है। सामाजिक परिवर्तन लोगों के जीवन प्रतिमानों में होनेवाले परिवर्तनों की ओर संकेत करती है। वह समाज में घटित हो रहे सभी प्रकार के परिवर्तनों की ओर इंगित नहीं करता, जैसे - कला, साहित्य दर्शन और प्रौद्योगिकी में होने वाले परिवर्तन को हम सामाजिक परिवर्तन नहीं कहेंगे। सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन को कहते हैं। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन का अर्थ

होगा, सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अन्त:क्रियाओं और सामाजिक संगठन के किसी स्वरूप में अन्तर से है। यह समाज को संस्थागत तथा आचारात्मक संरचना में परिवर्तन है।

8.3 परिवार में संरचनात्मक एवम् प्रकार्यात्मक परिवर्तन

औद्योगीकरण और विकसित प्रौद्योगिकी ने, सामाजिक परिवर्तन के नवीन आयामों को प्रस्तुत किया जिसने प्राचीन पारिवारिक जीवन की नींव को हिला दिया। परिवार का प्राचीन आकार-प्रकार तथा उसके ऊपर आर्थिक सुरक्षा के कवच को लगभग धूमिल कर दिया। धीरे-धीरे परिवार मानव संगठन की एक छोटी इकाई के रूप में सिमट गया और जिसका मुख्य उद्देश्य प्रजनन तक सीमित रह गया। इसी प्रकार बड़ा परिवार अधिकांशत: आर्थिक धरोहर न होकर एक आर्थिक दायित्व बन गया। इस प्रकार पुराने परिवारों के टूटने से बाल अपराधों में वृद्धि होने लगी और विवाह विच्छेद की दर में भी बढ़ोत्तरी हो गई। मनुष्य के जीवन में अधिक गतिशीलता बढ़ाने का श्रेय विज्ञान को ही जाता है। तीव्र गतिशीलता का परिणाम यह हुआ कि पारिवारिक जीवन के तार ढीले हो गये और टूटने के कगार पर पहुँच गये। परिवार जो एक समय में व्यक्तियों को आर्थिक सुरक्षा, का कार्य करते थे आज वह पुरानी बात हो गयी है। आज आर्थिक कारणों से पति-पत्नी एक दूसरे से दूर रहते हैं, इस कारण से अति प्राचीन संगठन परिवार भी बिखरता जा रहा है। सामाजिक परिवर्तन की आंधी ने पारिवारिक संरचना को झकझोर कर रख दिया है।

आधुनिक उद्योगवाद ने परिवार और घर की अवधारणा को बहुत ही अधिक ठेस पहुंचाया है। पति और पिता को सुदूर रहने से वह घर और परिवार के कार्यों में बहुत कम सहायता दे पाता है। आज पिता बच्चों को बहुत कम दिशा का निर्देशन कर पाता है। स्त्रियों का कार्य का प्राचीन दृष्टिकोण भी बदल गया है क्योंकि आज वे विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में लगी हुई है। आज वे स्वयं आत्मनिर्भर है। स्त्रियों की व्यवसायिक आत्म निर्भरता ने भी परिवार के तन्तुओं को शिथिल कर दिया है।

8.4 परिवार का बदलता स्वरूप

परिवर्तन एक सार्वभौमिक और शाश्वत प्रक्रिया है। समाज और उसकी कोई भी इकाई इसके प्रभाव से बच नहीं सकती। 18वीं शताब्दी के अन्त में यूरोप में और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में, जैसे औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण एवं नगरीकरण का प्रारम्भ हुआ, परिवार में अनेक प्रकार के परिवर्तन दिखाई देने लगे। प्रौद्योगीकरण के विकास से पहले परिवार उत्पादन की एक आधारभूत इकाई थी, परन्तु औद्योगीकरण के होने के बाद उत्पादन परिवार से हटकर कल कारखानों में पहुँच गया, कामकाजियों की अधिक मांग के कारण पति-पत्नी और बच्चे सभी काम पर जाने लगे। इसका परिणाम यह हुआ बच्चों की देख-रेख की उपेक्षा, पिता का परिवार पर अनुशासन ढीला पड़ गया, परिवार के सदस्य स्वच्छन्द हो गया। और इस प्रकार परिवार के सामूहिक दायित्व पर प्रभाव पड़ा और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में वृद्धि हुई। औद्योगीकरण का सबसे अधिक प्रभाव स्त्रियों की आर्थिक दशा पर पड़ा। स्त्रियाँ आत्मनिर्भर

हो गयीं। आज स्त्रियाँ घर की शोभा न रहकर पुरुषों से कन्धा मिला कर काम करने लगीं। और इस प्रकार घर अस्त-व्यस्त हो गया।

नगरीकरण सुविधाओं के कारण लोग गावों से नगरों में पलायन करने लगे। नगरों में एकाकी परिवार का ही स्वरूप पाया जाता इस कारण भी संयुक्त परिवार संकट में आ गये। आधुनिक चिकित्सा और शिक्षा ने भी छोटे परिवार के निर्माण में बहुत अधिक योगदान दिया। परिवार के कार्यों में तीव्र परिवर्तन आया। आज परिवार के बहुत से कार्यों को दूसरी संस्थाओं ने ले लिया। जैसे पहले परिवार उत्पादन एवम् उपभोग की एक इकाई थी - परिवार में व्यक्ति की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी, शिक्षा, बीमारी या वृद्ध की सेवा होती थी। आज इसका स्वरूप बदल गया है।

8.5 पारिवारिक विघटन की प्रकृति

औद्योगिक विकास ने पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी। आधुनिक व्यवस्था में परिवार के सदस्यों में बहुत अधिक प्रतियोगिता बढ़ गई जिससे परिवार में तनाव शुरु हो गया और परिवार विघटन होने लगे। परिवार, वास्तव में कुछ आन्तरिक सम्बन्धों के सूत्र से बंधा रहता है लेकिन जब यह सूत्र शिथिल हो जाते हैं या टूट जाते हैं तो परिवार बिखर जाता है। परिवर्तन सामाजिक जीवन के सभी पक्षों पर दिखाई पड़ता और इस कारण परिवार भी इस परिवर्तन से अछूता नहीं रह सका।

पारिवारिक विघटन केवल बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में ही नहीं दिखाई देती फिर भी पारिवारिक विघटन हो जाता है। जैसे आन्तरिक विरोध। बाहरी रूप से परिवार के सभी सदस्य एक छत के नीचे रहते हैं, बोल-चाल भी रहती है फिर भी आन्तरिक रूप से एक दूसरे से बहुत दूर हैं वे एक दूसरे के सामान्य हितों की रक्षा की बात कभी नहीं सोचते। इस प्रकार पारिवारिक विघटन वह अवस्था है जिसमें परिवार के सदस्यों के हितों, उद्देश्यों और व्यक्तिगत इच्छाओं की एकता के अभाव में उनके अन्दर प्रेम, सहयोग और त्याग की भावनायें न के बराबर हो जाती हैं जिसके कारण वह परिवार अपने प्रमुख कार्यों को करने में असमर्थ हो जाता है और पारिवारिक जीवन कष्टमय हो जाता है।

8.6 परिवार में आधुनिक परिवर्तन के कारण

आधुनिक युग में सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ पर्याप्त बदल गई हैं और कुछ ऐसे कारक आज क्रियाशील हैं जिनके कारण आज के परिवार में बदलाव आ रहा है। इस बदलाव को दो भागों में बांट सकते हैं।

1. परिवार की संरचना में परिवर्तन
2. परिवार के प्रकार्यों में परिवर्तन

1. **परिवार की संरचना में परिवर्तन**—आज परिवार का प्राचीन स्वरूप नष्ट हो गया है। परिवार की सामूहिक भावना व्यक्तिवादी भावना में बदल गई है। परिवार का पुराना ढांचा पूरी तरह से छिन्न-भिन्न हो गया है जिसके निम्नलिखित कारण हैं :—

1. **औद्योगीकरण**—उद्योगवाद पारिवारिक संरचना को विघटित करने का एक महत्वपूर्ण कारण रहा है। इस क्रान्ति के पूर्व प्रत्येक भारतीय परिवार आत्मनिर्भर हुआ करता था। परिवार के सभी सदस्य सामूहिक जीवन बिताते थे, एक दूसरे के सुख-दुख में समान भागीदार होते थे, पर मशीनों के आविष्कार और वृहत्त उद्योगों के पनपने का साथ-साथ परिवार का पुराना आत्मनिर्भर स्वरूप टूटने लगा और परिवार के कार्यशील सदस्य जीविकोपार्जन हेतु, अपना घर छोड़कर, सुदूर नगरों में बसने लगे। उद्योगीकरण ने स्त्रियों को भी नौकरी के अवसर प्रदान किये जिससे वे आत्मनिर्भर हो गई, उससे अनेक स्त्रियाँ अपने पारिवारिक कर्तव्यों के प्रति उदासीन हो गई। इस प्रकार उद्योगवाद ने परिवार के स्वरूप को ही बदलकर रख दिया।

2. **छोटा परिवार**—वर्तमान समय में परिवार के सदस्यों की संख्या दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही है। संयुक्त रूप से रहने की अपेक्षा एकाकी परिवार बसा कर रहना अब सदस्यों की अधिक पसन्द है। आज पिता का हस्तक्षेप परिवारों में अधिक मान्य नहीं रह गया है।

3. **पति-पत्नी के सम्बन्धों में अन्तर**—पहले पत्नी के लिये पति देवता के समान था परन्तु आज इस स्थिति में बहुत बड़ा अन्तर आ गया है। अब वह एक साथी के रूप में पति के कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

4. **वैवाहिक सम्बन्धों में परिवर्तन**—अब विवाह परिवार या पिता के द्वारा ही नहीं सम्पन्न हो रहे हैं बल्कि विवाह सम्बन्धों में लड़के व लड़कियाँ काफी स्वतंत्र हैं। आज विलम्ब विवाह की प्रथा अधिक प्रचलित है। जीवन साथी के चुनाव लड़के व लड़की की स्वीकृति बहुत महत्वपर्ण हो गई है। आज कल अन्तर्जातीय विवाहों तथा प्रेम विवाहों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना नगरीय क्षेत्रों मे विवाह-विच्छेद बढ़ रहा है जो परिवार के स्थायित्व के लिये एक खतरा है।

5. **जीवन दर्शन में परिवर्तन**—यदि जीवन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में पति और पत्नी के बीच विचार व आदर्श अलग-अलग हैं तो परिवार कभी स्थायी नहीं रह सकता जिसका परिणाम होता है पति-पत्नी में छोटी से छोटी बातों को लेकर रोज संघर्ष जिसका परिणाम विवाह विच्छेद तक पहुँच जाता है।

2. **परिवार के प्रकार्यों में परिवर्तन**—आधुनिकीकरण ने परिवार के प्राचीन कार्यों में आमूल परिवर्तन कर दिया है। पहले परिवार के स्थायित्व का केन्द्र बिन्दु कृषि थी, क्योंकि भारत एक कृषि प्रधान देश था इसलिये परिवार के सदस्यों की गतिविधियाँ कृषि के अगल-बगल ही सीमित थी परन्तु आज आधुनिक शिखा व मशीनीकरण ने परिवार के उस प्राचीन स्वरूप व कार्यों को बदल कर रख दिया है। जैसे—

1. **परिवार के आर्थिक कार्यों में परिवर्तन**—भारतीय परिवार, औद्योगिक क्रान्ति के पहले उत्पादन और उपभोग दोनों का ही केन्द्र थे, परन्तु आज परिवार उत्पादन का केन्द्र नहीं रहा, जिससे परिवार के सदस्य अपनी जीविका को चलाने के लिये दूसरे स्थानों पर कार्य करने लगे। इसी प्रकार परिवार को स्थायित्व देने में धर्म महत्वपूर्ण कार्य करता था आज लोगों का धर्म पर विश्वास बहुत कम रह गया है।

2. **सांस्कृतिक कार्यों में अन्तर**—वर्तमान में परिवार व्यक्ति की सामाजिक स्थिति के निर्धारण में पहले की तरह महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह नहीं कर पा रहे हैं। परिवार के

मुखिया का नियंत्रण सदस्यों के ऊपर पहले जैसा नहीं रहा। सदियों से चली आ रही सांस्कृतिक परम्पराओं से परिचित कराना आज लाभप्रद नहीं समझा जाता।

8.7 संयुक्त परिवार का बदलता हुआ स्वरूप

परम्परागत भारतीय संयुक्त परिवार के अनेक परिवर्तन हुये हैं। नवीन परिस्थितियों के कारण परिवार के स्वरूप में परिवर्तन आया है। अट्ठारहवीं सदी में औद्योगिक क्रान्ति से हुये इस क्रान्ति को अंग्रेजों ने भारतीयों को भी परिचित कराया। औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु देश में रेल मार्ग, सड़कों तथा सन्देश वाहन के साधनों का तेजी से विकास हुआ जिससे अनेक नवीन व्यवसाय खुले और इस प्रकार ग्रामीण कुटीर उद्योग नष्ट होने लगे। अब परिवार उत्पादन की एक मात्र इकाई नहीं रह गयी लोग घर छोड़कर रोजगार के लिये नगरों की ओर पलायन करना शुरु कर दिया, इससे परिवार की एकता टूट गई कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था का स्थान औद्योगिक एवम् पूंजीवादी व्यवस्था ने ले लिया संयुक्त परिवार के सदस्य नौकरी के लिये दूर-दूर बिखर गये। नगरों में मकानों का अभाव में लोग छोटे परिवारों में निवास करने लगे। मशीनों ने कृषि व्यवस्था पर आधारित संयुक्त परिवार को तोड़ दिया। औद्योगीकरण ने एक नवीन अर्थ व्यवस्था का जन्म दिया जिसमें स्त्रियों को भी नौकरी की सुविधा थी। स्त्रियों द्वारा नौकरी करने के कारण उनमें आत्मनिर्भरता एवम् व्यक्तिवादिता आयी जिससे स्त्रियों ने एकाकी परिवार की स्थापना पर जोर देने लगे। इन सारी परिस्थितियों के कारण संयुक्त परिवार में परिवर्तन आया और उसके स्थान पर एकाकी परिवार विकसित हो गये।

नगरीकरण का जन्म भी औद्योगीकरण के कारण हुआ। नगर के लोग विभिन्न विचारधाराओं, व्यक्तिवादिता, भौतिकवादी एवम् प्रगतिशील दृष्टिकोण में अधिक विश्वास रखते हैं। शहरी स्त्रियाँ अधिक स्वतंत्र रहना चाहती हैं इसलिये वे एकाकी परिवार बनाकर रहने में अधिक विश्वास करती हैं जिससे भी संयुक्त परिवार का स्वरूप शिथिल हो गया।

पाश्चात्य शिक्षा एवं विचारधारा का प्रभाव भी संयुक्त परिवार को विघटित करने में सहायक रहा। अंग्रेजी शासन के बाद भारतीयों की पश्चिमी शिक्षा, संस्कृति दर्शन एवम् सामाजिक मूल्यों से परिचय हुआ जिसे भारतीयों ने भी अपना लिया। व्यक्तिवाद, उदारीकरण, उपयोगितावाद तथा शिक्षा आदि का भी भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर प्रभाव पड़ा। इन सभी के फलस्वरूप भारत में प्रेम-विवाह, स्त्री-पुरुष की समानता तथा अन्तर-जातीय विवाह होने लगे, कानून ने परिवार के मुखिया की सत्ता पर अंकुश लगा दिया जिससे संयुक्त परिवार टूटने लगे।

वैधानिक उपायों ने भी संयुक्त परिवार की एकता पर प्रहार किया। संयुक्त परिवार की संयुक्ता का मूल कारण यह था कि पारिवारिक सम्पत्ति में किसी सदस्य के वैयक्तिक अधिकार नहीं थे, लेकिन हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1929 ने उन व्यक्तियों को भी सम्पत्ति में अधिकार प्रदान किया जो संयुक्त परिवार से बाहर रहना चाहते थे। सन् 1939 के हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति अधिकार अधिनियम ने संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में स्त्रियों के अधिकारों को स्वीकार किया जिससे परिवार की सम्पत्ति विभाजित होने लगी। जीवन-साथी के चुनाव की

स्वतंत्रता, किसी भी जाति एवम् धर्म में माँ-बाप की अनुमति के बिना विवाह जिसे विशेष विवाह अधिनियम 1954 के अन्तर्गत अनुमति प्रदान की गई, विधवा पुर्नविवाह अधिनियम 1956 द्वारा विधवा पुनर्विवाह की अनुमति, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अनुसार विवाह विच्छेद की अनुमति तथा 1956 में पुत्रियों एवम् स्त्रियों को भी पारिवारिक सम्पत्ति में उत्तराधिकारी बना दिया इन सभी अधिनियमों ने संयुक्त परिवार की स्थिरता को प्रभावित किया।

8.8 मुस्लिम परिवार में परिवर्तन

हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों में भी संयुक्त परिवार की व्यवस्था है जो ग्रामीण समुदाय में अधिक और नगरों में इसकी न्यूनता है। औद्योगीकरण एवं आधुनिक प्रभावों के कारण मुसलमानों में एकाकी परिवार में वृद्धि हो रही है। शिक्षा के प्रसार के कारण मुसलमानों में बहुपत्नीत्व को अनुचित माना जाने लगा है और उनका झुकाव एक विवादी परिवार की स्थापना की ओर बढ़ता जा रहा है। ईसाई परिवार के मौलिक स्वरूप में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। ईसाई परिवार भी ईसाई समाज के आदर्शों को व्यक्त करता है।

8.9 परिवार का भविष्य

परिवार का भविष्य आशा और निराशा के मध्य में दिखाई दे रहा है। परिवार के कार्यों का घट जाना, उसकी अस्थिरता, प्रेम-विवाह का विस्तार तथा विवाह-विच्छेद की दरों का बढ़ना आदि के आधार पर कुछ विद्वान यह अनुभव कर रहे हैं कि परिवार का भविष्य अन्धकार में है और ऐसा लगता है कि परिवार टूट रहा है। परन्तु इसके विपरीत दूसरी विचारधारा यह है कि परिवार सामाजिक जीवन का आधार है। इस कारण जब तक समाज है परिवार रहेगा। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् हमारी सभ्यता और संस्कृति, प्रथा और परम्पराओं आदि में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में अनेक नवीन आयाम जुड़ गये हैं चूंकि परिवार सामाजिक जीवन की ही एक इकाई है इस कारण उसे भी नवीन परिवर्तनों के साथ अनुकूलन करना ही पड़ेगा। नवीन अनुकूलन की प्रक्रिया के प्रारमभ में ऐसा प्रतीत होता है कि परिवार में विघटन की अवस्था उत्पन्न हो गई है। वास्तव में वह विघटन नहीं है। बल्कि आधुनिक नवीन परिस्थितियों से परिवार द्वारा अनुकूलन की प्रक्रिया का ही एक अंग है।

8.10 विवाह में परिवर्तन

समकालीन भारतीय समाज अत्यन्त द्रुतगति से परिवर्तित हो रहा है। यह परिवर्तन समाज की संरचना एवम् उसके प्रकार्य दोनों में परिलक्षित हो रहे हैं। भारत की सामाजिक संस्थाओं के मूल्य तेजी से बदल रहे हैं। इस परिवर्तन का प्रभाव परिवार व विवाह संस्थाओं पर भी दिखाई देता है। सदियों से चली आ रही इस पवित्र संस्था में समय के साथ-साथ अनेक परिवर्तन हुये हैं फिर भी इसका मौलिक रूप वैसा ही बना हुआ है। आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण के कारण विवाह के प्रचलित बहुत से स्वरूपों में अन्तर है जैसे—

8.11 बाल-विवाह

बाल-विवाह प्रथा भारत के लिये एक सम्मानजनक अवस्था नहीं थी। बाल विवाह को रोकने का श्रेय राजाराम मोहन राय तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को जाता है। इन प्रयत्नों से सन् 1860 में सबसे पहले बाल विवाह को रोकने के लिये प्रथम अधिनियम पास हुआ जिसके अनुसार कन्या की आयु कम से कम 10 वर्ष होनी चाहिये। पुनः 1891 में दूसरा अधिनियम पास हुआ जिसके अनुसार विवाह के समय कन्या की आयु 12 वर्ष की होनी चाहिये। सन् 1924 में राय हरविलास शारदा की सिफारिशों के फलस्वरूप एक नया अधिनियम पास हुआ। बाल-विवाह निरोधक अधिनियम जिसे शारदा ऐक्ट भी कहते हैं। इस अधिनियम के अनुसार वर की आयु 18 वर्ष से कम और कन्या की आयु 15 वर्ष से कम न हो। सन् 1955 के हिन्दू विवाह अधिनियम ने भी विवाह की उपर्युक्त आयु को ही अनुमोदित कर दिया।

4.12 विवाह के धार्मिक संस्कार के स्वरूप में गिरावट

प्राचीन हिन्दू विवाह एक संस्कार था। विवाह के बाद पति-पत्नी का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर को हो जाता था परन्तु हिन्दू परिवार अधिनियम, 1955 के अनुसार अब विवाह संस्कार की अपेक्षा एक समझौता रह गया है।

8.13 विवाह सम्बन्धी निषेधों में अन्तर

प्राचीन समय में हिन्दू विवाह से सम्बनिधत निषेधों जैसे सगोत्री, सपरवर तथा जाति का पालन करना पड़ता था, परन्तु वर्तमान में यह बन्धन बहुत ही शिथिल पड़ गये हैं, इससे विवाह का क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक हो गया है। प्राचीन काल में हिन्दू के लिये विवाह एक आवश्यक धार्मिक कर्तव्य माना जाता था, क्योंकि उसे ऋणों से मुक्ति दिलाने एवं पुरूषार्थ की पूर्ति के लिये करना पड़ता था। आज धार्मिक पक्ष की शिथिलता के कारण विवाह की अनिवार्यता समाप्त हो रही है।

8.14 हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955

इस अधिनियम के द्वारा विवाह सम्बन्धी अब तक प्रचलित सभी हिन्दू कानून रद्द हो गये। हिन्दुओं में हिन्दुओं के अतिरिक्त बौद्ध, जैन और सिक्ख भी सम्मिलित हैं। हिन्दू विवाह के वैधता का आधार—(1) किसी पक्ष का जीवन साथी जीवित न हो (2) कोई भी पक्ष पागल न हो। (3) वर की आयु 18 वर्ष और कन्या की आयु 15 वर्ष हो (4) दोनों पक्ष निषेधात्मक सम्बन्धों के अन्तर्गत न हों। (5) विवाह करने वाले आपस में सपिण्ड न हो।

8.15 एक विवाह का प्रचलन

1955, हिन्दू विवाह अधिनियम के द्वारा बहुपत्नी एवम् बहुपति विवाह को समाप्त कर उसके स्थान पर एक विवाह की मान्यता दी गई है। अब बिना तलाक दिये हुये कोई भी पक्ष दूसरा विवाह नहीं कर सकता है।

8.16 विवाह विच्छेद

हिन्दुओं में अब तक विवाह जन्म-जन्मान्तर का बन्धन माना जाता रहा है जिसे कभी भी भंग नहीं किया जा सकता था, किन्तु हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 ने दोनों ही पक्षों को कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में तलाक देने की सुविधा प्रदान की है। विवाह को निम्नलिखित चार आधारों पर निरस्त किया जा सकता है। (1) विवाह के समय विवाहित स्त्री-पुरुष नपुंसक रहे हों। (2) विवाह के समय दोनों में से एक पागल या मूर्ख रहा हो (3) माता-पिता या संरक्षक की सहमति बलात ली गयी हो। (4) विवाह के समय पत्नी-पति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति से गर्भ धारण कर चुकी हो। विवाह-विच्छेद व्यभिचार, धर्म परिवर्तन, अस्वस्थ मस्तिष्क, कोढ़, सात वर्ष तक परित्याग आदि आधारों पर हो सकता है। पत्नी भी तलाक के लिये प्रार्थना पत्र दे सकी है यदि उसका पति विवाह से पूर्व भी एक पत्नी रखता हो या बलात्कार का दोषी हो। विशेष विवाह अधिनियम के अनुसार पारस्परिक सहमति के द्वारा विवाह किया जा सकता है।

8.17 विधवा पुनर्विवाह

परम्परागत रूप से विधवाओं को यह अधिकार नही दिया गया है कि वे फिर से विवाह करें, क्योंकि यह हिन्दू विवाह के आदर्शों के विपरीत था परन्तु हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 ने ही पुर्नविवाह के विषय में विधवाओं की सभी निर्योग्यताओं को दूर कर दिया था। विवाह की प्रथम शर्त यह है कि विवाह के समय किसी भी पक्ष का विवाह साथी जीवित न हो। इस प्रकार के विवाह की कोई भी सन्तान अवैधानिक नहीं होगी।

8.18 दहेज निषेध अधिनियम, 1961

विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में दहेज प्रथा उपहार के रूप में थी जिसे विवाह के समय कन्या के माता-पिता वर और वधू को प्रदान करते थे ऐसा करने के लिये उन्हें बाध्य नहीं किया जाता था। आधुनिक युग में दहेज प्रथा मानव मूल्यों पर एक बड़ा धब्बा है। आज इसका स्वरूप व्यावसायिक हो गया है।

इस प्रथा को समाप्त करने के लिये इस विधेयक में मुख्य प्राविधान है :

(1) यदि कोई व्यक्ति दहेज देता है व लेता है या लेन-देन में मदद करते हैं तो उस व्यक्ति को 6 माह का कारावास और 5000 रुपया जुर्माना होगा।

(2) दहेज लेन-देन के सन्दर्भ यदि किसी प्रकार का समझौता किया जायेगा तो अवैधानिक होगा।

(3) दहेज का उद्देश्य कन्या को लाभ देना मात्र होगा। यदि कोई व्यक्ति दहेज का रुपया स्वीकार करता है तो उसे 1 साल के भीतर वह रूपया विवाहित लड़की को लौटाना पड़ेगा।

(4) दहेज प्रथा के अन्तर्गत होने वाले अपराधों पर न्यायालय तभी विचार करेगा जबकि-

(अ) इस सम्बन्ध में लिखित शिकायत की जाय

(ब) यह शिकायत किसी प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट के न्यायालय में की जाय, और

(स) यह शिकायत एक वर्ष के अन्तर्गत की जाय।

8.19 प्रेम विवाह

सह शिक्षा, औद्योगीकरण, चलचित्र आदि प्रभावों के कारण प्रेम पर आधारित विवाह होने लगे हैं। इस प्रकार के विवाह में पत्नी पति की सहचरी, मित्र व साथी माने जाने लगी है जिससे समाज में उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन हिन्दू विवाह संस्था को नवीन सामाजिक विधानों ने परिवर्तन किया है और उसकी प्रकृति तथा स्वरूप में कई नवीन परिवर्तन घटित हो रहे हैं।

8.20 मुस्लिम स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन

पहले पत्नी को, बिना पति की स्वीकृति के विवाह विच्छेद करने का अधिकार नहीं था। इस निर्योग्यता को सर्वप्रथम सन् 1939 "मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम" के द्वारा समाप्त किया गया। इस अधिनियम में निम्न आधारों पर एक मुस्लिम स्त्री को विवाह विच्छेद के अधिकार दिये गये। (1) जब चार वर्ष से पति का कोई पता नहीं चल रहा हो। (2) जब पति अपनी असमर्थता के कारण दो वर्ष से पत्नी के भरण-पोषण की व्यवस्था करने में असफल है (3) जब पति को सात वर्ष या उससे अधिक अवधि की कैद का दण्ड मिल गया हो (4) विवाह के समय से ही पति नपुंसक हो (5) दो वर्ष की अवधि से पति पागल हो अथवा कोढ़ या गुप्त रोग से पीड़ित हो। (6) जब पति की ओर से शारीरिक निर्दयता है उसका बदनाम स्त्रियों से सम्पर्क है, पत्नी को अनैतिक जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य करता है, पत्नी के धार्मिक कार्यों में बाधा उत्पन्न करता है आदि।

औद्योगीकरण, नवीन आर्थिक व्यवस्था, राजनैतिक विचारधारा, यातायात के साधन, शिक्षा, पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव आज मुस्लिम समाज पर पड़ रहा है जिससे उनकी सामाजिक परिस्थितियाँ तेजी से बदल रही है।

8.21 ईसाई विवाह में आधुनिक परिवर्तन

वर्तमान समय में औद्योगीकरण नगरीकरण, पाश्चात्य शिक्षा, भौतिकवादिता, व्यक्तिवादी आदर्श तथा प्रेम आदि के कारण ईसाई विवाह से सम्बन्धित आदर्शों में परिवर्तन हो रहे हैं। ईसाई स्त्रियाँ आर्थिक क्षेत्र में काम करने के कारण अधिक स्वतंत्र हैं इससे विवाह की परम्परागत मान्यताओं एवम् रूप में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। चूंकि इन पर अन्य धर्म के मानने वालों की तुलना में पाश्चात्य संस्कृति का अधिक प्रभाव मालूम पड़ता है। ऐसी दशा में इनके परम्परागत वैवाहिक आदर्श बदल रहे हैं। जैसे विवाह का धार्मिक पक्ष शिथिल होता जा रहा है आज ईसाई नवयुवक और नवयुवतियाँ सिविल विवाह को अधिक पसन्द कर रहे हैं। ईसाई समाज में अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द वातावरण पाये जाने से, स्त्री पुरुषों को एक

दूसरे के निकट आने का अवसर अधिक मिलता है जिससे प्रेम अधिक बढ़ता है जिससे रोमांस पर आधारित प्रेम विवाह अधिक होते हैं। ईसाइयों से रक्त सम्बन्धियों के बीच विवाह सम्बन्ध वर्जित है, परन्तु वर्तमान में निकट के रक्त सम्बन्धियों को छोड़कर शेष सब में विवाह सम्बन्ध होने लगे हैं। ईसाइयों में यद्यपि धार्मिक दृष्टि से विवाह विच्छेद मान्य नहीं है तथापि उनमें विवाह विच्छेद की प्रवृत्ति तथा प्रतिशत बढ़ता जा रहा है। बढ़ते हुये विवाह विच्छेद पारिवारिक जीवन की स्थिरता में बाधक बन रहे हैं। इसी प्रकार धार्मिक दृष्टिकोण से विधवा विवाह उचित नहीं माना गया है परन्तु अब व्यभिचार को नियंत्रित रखने के लिये पति की मृत्यु के एक वर्ष बाद विवाह करने की आज्ञा दी गयी है। आजकल, ईसाइयों में विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहिक किया जा रहा है। इन सब परिवर्तनों के कारण विवाह तथा पारिवारिक अस्थिरता ईसाइयों में एक समस्या का रूप ले रही है।

8.22 सारांश

परिवार और विवाह संस्थायें भारतीय सामाजिक व्यवस्था की मेरूदण्ड हैं परन्तु आज इन परम्परागत स्वरूप में बहुत अन्तर दिखाई देने लगा है। इस अन्तर का मूल कारण पश्चिमीकरण का आंख मून्द कर अनुकरण है। मुस्लिम और ईसाइयत ने भी भारतीय सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों को अनेक रूप से प्रभावित किया है। आज हिन्दू, मुस्लिम तथा ईसाई परिवारों एवं विवाह के कठोर नियमों को शिथिल कर दिया है। औद्योगीकरण के कारण स्त्रियों की अधिक स्वतंत्रता ने संयुक्त परिवार की अपेक्षा एकाकी परिवारों को जन्म दे दिया। विवाह भी आज धर्म की कहरता की परिधि से बाहर निकल रहा है। फिर भी भारतीय संस्कृति अपनी सहिष्णुता एवम् उदारता के गुणों के कारण अपने मौलिक स्वरूप को, विभिन्न परिवर्तनों के बाद भी बनाये हुये हैं।

8.23 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. के० एम० पण्णिकर, हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर
2. के० एम० कपाड़िया, मैरिज एण्ड फेमिली इन इण्डिया
3. एम० एस० गोरे, अर्वनाइजेशन एण्ड फेमिली चेन्ज
4. आर० बी० पाण्डे, हिन्दू संस्कार

8.24 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घउत्तरीय

1. एक सामाजिक संस्था के रूप में भारतीय परिवार की व्याख्या कीजिये।
2. भारत में संयुक्त परिवार के भविष्य पर एक लेख लिखिये।
3. हिन्दू विवाह के परम्परागत रूप में आधुनिक परिवर्तनों का निरुपण कीजिये।
4. मुसलमानों के सामाजिक संगठन का उल्लेख कीजिये।

5. ईसाई परिवार एवम् विवाह की प्रवृत्तियों में परिवर्तन को स्पष्ट कीजिये।

लघुउत्तरीय

1. परिवार के संरचनात्मक परिवर्तन पर टिप्पणी लिखें।
2. परिवार के भविष्य पर टिप्पणी करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. बदली हुई सामाजिक सांस्कृतिक परिस्थितियों में एक तो परिवार की संरचना बदल रही है तथा दूसरा परिवर्तन किसमें आया है :

(अ) संख्या में (ब) आकार में (स) प्रकार्य में (द) किसी में नहीं

उत्तर : (स)

खण्ड

3

स्तरीकरण व्यवस्था : वर्ण जाति एवं वर्ग

इकाई 9

वर्ण, अर्थ, अवधारणा, उत्पत्ति

इकाई 10

जाति अर्थ, अवधारणा, उत्पत्ति, प्रकार्य, दुष्कार्य व भविष्य

इकाई 11

वर्ग संरचना- अवधारणा, विशेषताएं व भारत में उदय व विकास

इकाई 12

वर्ण, जाति, उपजाति वर्ग में अन्तर व जाति व वर्ग के मध्य
अन्तः क्रियात्मक सम्बन्ध

संदर्भ ग्रन्थ सूची

खण्ड - 3 : खण्ड परिचय - स्तरीकरण व्यवस्था:वर्ण जाति एवं वर्ग

इस खण्ड में समाज की स्तरीकरण व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुये वर्ण, जाति एवं वर्ग को स्पष्ट किया गया है **पहली इकाई का** शीर्षक है ''वर्ण, अर्थ, अवधारणा, उत्पत्ति' । इसमें वर्ण व्यवस्था के अर्थ एवं अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। इसकी विशेषताओं तथा दोषों पर प्रकाश डाला गया है। **इकाई दो** का शीर्षक है ''जाति- अर्थ, अवधारणा, उत्पत्ति एवं भविष्य''। इसमें जाति व्यवस्था के अर्थ व अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। जाति प्रथा की विशेषताओं का चित्रण हुआ है। जाति प्रथा के सम्बन्ध में आधुनिक समाजशात्रियों के सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला गया है। **ईकाई तीन** का शीर्षक है ''वर्ग : अर्थ, अवधारणा, भारत में उदय व विकास'' । इसमें वर्ण के अर्थ व परिभाषा को स्पष्ट किया गया है। वर्ग की विशेषताओं एवं मापदण्डों पर प्रकाश डाला गया है। प्रमुख समाज शास्त्रियों के विचारों का उल्लेख किया गया है। **ईकाई चार** का शीर्षक है ''वर्ण, जाति एवं वर्ग में अन्तर व जाति व वर्ग के मध्य अन्तर्क्रियात्मक सम्बन्ध''। इसमें वर्ण और जाति के सह-सम्बन्ध के साथ-साथ अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है। जाति के उपविभाजन एवं उपजाति की भी विवेचना की गयी है। इसमें जाति और वर्ग के मध्य अन्तर्क्रियात्मक रूप की भी व्याख्या की गई है।

इकाई 9 वर्ण, अर्थ, अवधारणा, उत्पत्ति

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 वर्ण का अर्थ व अवधारणा

9.3 वर्ण व्यवस्था के उद्भव सम्बन्धी सिद्धान्त

9.3.1 दैवी अथवा परम्परागत सिद्धान्त

9.3.2 आधुनिक विचार

9.4 विभिन्न वर्णों के कर्तव्य अथवा धर्म

9.5 वर्णव्यवस्था की विशेषताएं

9.6 वर्ण व्यवस्था का महत्व

9.7 वर्णव्यवस्था के दोष

9.8 सारांश

9.9 संदर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

9.10 प्रश्नोत्तर

9.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप:

* वर्ण व्यवस्था के अर्थ, अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
* इसके उद्भव के विभिन्न सिद्धान्त, चाहे वे परम्परागत हो या आधुनिक को भी जान सकेंगे।
* पौराणिक ग्रन्थों में विभिन्न वर्णों के क्या कार्य सम्बन्धी धर्म निर्धारित किये गये इनसे भी अवगत हो सकेंगे।
* आदिकालीन परन्तु प्रभावपूर्ण वर्णव्यवस्था की क्या विशेषताएं होने तथा दोषों की विवेचना कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

भारतीय मनीषियों द्वारा समाज के कार्यात्मक विभाजन के लिए वर्णव्यवस्था को जन्म दिया गया। यह सामाजिक स्तरीकरण की अनूठी व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अन्तर्निहित तत्वों ने हमारी सामाजिक व्यवस्था पर दूरगामी प्रभाव डाले हैं। भारतीय हिन्दू समाज के विभिन्न

पौराणिक ग्रन्थों में इस व्यवस्था का उल्लेख है एवं उसके परम्परागत स्वरूप को धार्मिकता व अलौकिकता से जोड़ कर देखा गया है। इसके आध्यात्मिक स्वरूप के कारण ही, शताब्दियों बाद आज भी यह व्यवस्था भारतीय हिन्दू समाज में गहराई तक समायी हुई है। यद्यपि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु यह व्यवस्था सहायक रही है तथापि व्यक्तियों के मध्य अन्यायपूर्ण विभाजन ने इसे दोषयुक्त बना दिया है वर्तमान में यह व्यवस्था अपने मूल रूप में सैद्धान्तिक ही है परन्तु परिवर्तित प्रकार, जाति व्यवस्था के रूप में समाज को प्रथा वित कर रही है प्रस्तुत इकाई में वर्ण व्यवस्था के अर्ध, अवधारणा, उद्‌भव को स्पष्ट करने के साथ साथ इसके महत्व व दोष को भी विवेचित करने का प्रयास किया गया है।

9.2 वर्ण का अर्थ व अवधारणा

भारतीय समाज के इतिहास में वर्ण व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसके अन्तर्गत सामाजिक स्तरीकरण (Social Stratification) की एक सुनियोजित नीति के अतर्गत भारतीय समाज का कार्यात्मक विभाजन किया गया। यह सुनियोजित नीति भारतीय मनीषियों के चिन्तन व अथक परिश्रम का परिणाम थी। इस नीति में एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया गया जो समाज और व्यक्ति को समान रूप से महत्वपूर्ण मानती थी। भारतीय मनीषियों की यह नीति समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुकूल ही थी कि समाज का विकास हुए बिना व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता और व्यक्तित्व के विकास की समुचित सुविधा के बिना सामाजिक व्यवस्था को बनाए नहीं रखा जा सकता। समाज और व्यक्ति के मध्य संतुलन बनाए रखने के मूल में जिन व्यवस्थाओं का निर्माण हुआ उसके मूल में वर्ण व्यवस्था ही थी।

वर्ण व्यवस्था के मूल आधार में विवाद है तथापि मुख्य आधार रंग भेद व प्रजातीय आधार को ही माना गया है । आर्यों द्वारा इस विभाजन के अन्तर्गत कर्म, रूचि, स्वभाव के अनुसार वर्ण परिवर्तन की व्यवस्था भी रखी गयी थी। किन्तु परिवर्तन की प्रक्रिया सैद्धान्तिक अधिक थी व्यवहारिक कम। उत्तर वैदिक काल में इस व्यवस्था का लचीलापन कम होता गया एवं उसमे कठोरता आती गयी। समाज के कार्यात्मक विभाजन की इस व्यवस्था ने समाज की समस्त गतिविधियों को समय समय पर प्रभावित किया। कालान्तर में इसकी भेद परक प्रकृति के कारण विभिन्न वर्णों में संघर्ष व अन्य दुस्परिणाम भी सामने आए। इन विवादों के बावजूद भी वर्ण व्यवस्था की जड़ें कहीं से भी निर्बल नहीं हो पायी एवं वर्तमान में भी हिन्दू समाज में गहराई तक विद्यमान है। वर्ण व्यवस्था से भली भाँति अवगत होने के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम हम वर्णव्यवस्था के अर्थ व आधारभूत सिद्धान्तों से अवगत हो।

वर्ण का अर्थ व अवधारणा (Meaning of Varns)

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के 'वृज् वरणे' अथवा 'वरी' धातु से हुयी है, जिसका अर्थ है 'चुनना' या 'वरण करना' । इस प्रकार एक ही व्यवसाय का चयन करने वाले व्यक्ति एक ही वर्ण के माने गये। व्यवसाय चयन के विचार के अतिरिक्त वर्ण शब्द के 2 अन्य

अर्थ भी निकलते हैं रंग तथा वृत्ति के अनुरूप। वर्ण शब्द का दूसरा अर्थ रंग से लगाया जाता है। रंग आधार पर भेद प्रजातीय भिन्नता को दर्शाता है। ऋग्वेद में जहां कहीं भी विभिन्न वर्णों का नाम आया है। वह आर्य और दास (अनार्य) के भेद के लिए माना जाता है प्रारम्भ में आर्य और दास इन दोनों वर्णों का ही उल्लेख है। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर आर्य और दास (अनार्य) के मध्य पारस्परिक संघर्षों की भी चर्चा की गयी है। जिसमें दासों के हारने व आर्यों के जीतने का उल्लेख है। 'दास' वर्ग को 'अतत' (देवताओं के नियम और व्यवहार को अस्वीकार करने वाले) 'मृध्रवाचः' (अमुधरभाषी), अपनासः (चपटी नासिका वाले तथा 'अकृतु' (यज्ञ न करने वाले) कहा गया है। पी. वी. काणे, सेनार्ट एवं डा. घुरिए का भी मत है कि प्रारम्भ में वर्ण शब्द का प्रयोग आर्यों और अनार्यों के भेद को व्यक्त करने के लिए किया गया किन्तु बाद में इसका प्रयोग समाज के चार वर्णों को व्यक्त करने के लिए किया गया। वर्ण शब्द का तीसरा अर्थ 'वृत्ति' से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से जिन व्यक्तियों की मानसिक एवं व्यवहार सम्बन्धी विशेषताएं एक समान हैं अर्थात् जो व्यक्ति समान स्वभाव के हों उन्हीं से एक वर्ण का निर्माण माना गया।

वास्तविकता यह है कि वर्ण शब्द मात्र शाब्दिक अर्थ के आधार पर समझा जा सकता सामान्यतया वर्ण का सम्बन्ध व्यक्ति के गुण तथा कर्म से है जैसा कि श्रीकृष्ण ने भी भगवदगीता में कहा है कि मैंने ही गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्णों की रचना की है। वे व्यक्ति जिनके गुण तथा कर्म एक से थे अर्थात जो समान स्वभाव के थे, वे सब एकही वर्ण के सदस्य माने गये। यद्यपि गुण और कर्म जटिल शब्द हैं। अतः इन्हें पूर्णतया समझा जाना आसान नहीं है। लेकिन ये शब्द व्यक्ति के स्वभाव और सामाजिक दायित्वों का ही बोध कराते हैं निष्कर्षतः समाज के सभी कार्यों को समुचित ढंग से चलाने के लिए व्यक्तियों के व्यवहार व स्वभाव को देखते हुए उनके मध्य कार्यों का समुचित विभाजन किया गया। वर्ण शब्द का अर्थ इसके उत्पत्ति सम्बन्धी विचारों से अवगत होने के पश्चात, समझना अधिक आसान हो जाएगा।

9.3 वर्ण व्यवस्था के उद्भव सम्बन्धी सिद्धान्त (Origin of Varna system)

भारतीय समाज को सदियों से प्रभावित करने वाली वर्ण व्यवस्था के उद्भव से अवगत होना जितना अधिक महत्वपूर्ण है उतना ही अधिक दुरूह कार्य भी है। विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति कैसे हुयी? इससे सम्बन्धित विचारों में अत्यधिक भिन्नता है। एक ओर यह विचार वेदों उपनिषदों, गीता और पौराणिक गाथाओं के आधार पर स्पष्ट किए जाते हैं तो दूसरी ओर दर्शन को भी आधार के रूप में लिया जाता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि वर्णव्यवस्था का विकास क्रमशः धीरे धीरे सहस्त्रों वर्षों तक ऐतिहासिक घटनाओं के संदर्भ में हुआ।

जैसे जैसे हम वैदिक काल (4000-1000 बी.सी.) से ब्राह्मण काल (230 बी. सी.- 700 ए.डी.) तक चलते हैं ये चारों वर्ण श्रेणी क्रम में व्यवस्थित होते चले गये और ब्राह्मण सर्वोच्च शिखर पर रहे । विभिन्न वर्णों के कर्तव्य निर्धारण में गुण, व्यावसायिक प्रवृत्ति, समाज

की आवश्यकता आदि का ध्यान रखा गया। व्यक्तियों के कार्य निवधि रूप से चलते रहे इसके लिए इसे धार्मिकता का पुट दिया गया। इसके उद्‌भव सम्बन्धी विचारों को परम्परागत सिद्धानत व आधुनिक विचारधाराओं में विभाजित कर निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

9.3.1 दैवी अथवा परम्परागत सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त के अनुसार वर्ण की उत्पत्ति ईश्वर प्रदत्त है अत: इसे धर्म आधारित पवित्र विभाजन माना गया है। वेद, उपनिषद, महाकाव्यों में अलग अलग विचारों के आधार पर वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति दर्शायी गयी है।

(अ) ऋग्वेद के अनुसार पुरूषसूक्त :

ऋग्वेद के पुरूषसूक्त मे एक ऐसे विराट पुरूष की कल्पना की गयी है जिसके मुख से ब्राह्मण , बाहु से क्षत्रिय, उरू (जांघ) से वैश्य तथा पद (पैर) से शूद्र की उत्पत्ति हुयी।

ऋग्वेद 10.90.12 ब्राह्मणोऽस्य दुखासीद् बाहू राजन्यकृत: ।

उरूतदस्य यद्‌वैश्य: पदभ्यां शूद्रोऽजायत ॥

इस विराट पुरूष अथवा ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति के आधार पर कुछ व्यक्ति वर्ण व्यवस्था को एक ईश्वसीय व्यवस्था के रूप में स्पष्ट करते हैं अनेक विद्वानों का मत है (जिनमें जिमर का नाम उल्लेखनीय है) कि पुरूषसूक्त का यह श्लोक मौलिक नही है बल्कि इसे बाद में जोड़ा गया है। अत: इसकी प्रामाणिकता पर अविश्वास व्यक्त किया जाता है। फिर भी यह श्लोक इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि इसमें वर्णों की दो विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। एक यह है कि एक विराट पुरूप के अंगों से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति होने की बात यह स्पष्ट करती है कि विभिन्न वर्णों की स्वाभाविक विशेषताएं एक दूसरे से भिन्न हैं तथा दूसरी यह कि चारों वर्ण एक ही शरीर के विभिन्न अंगों से जुड़े होने के कारण कार्यात्मक रूप से भी एक दूसरे से सम्बद्ध है। जिस प्रकार सभी अंगों का शरीर में महत्व होता है, किसी भी एक अंग के सुचारू रूप से कार्य न करने की स्थिति में शरीर की स्थिति दयनीय हो जाती है उसी प्रकार किसी किसी एक वर्ण के बिना समाज की स्थिति भी गम्भीर हो जाती है ब्राह्मणों की उत्पत्ति मुख से होने के पीछे यह कारण माना गया कि उनका समस्त कार्य मुख से सम्बन्धित था अर्थात अध्ययन, अध्यापन का कार्य। क्षत्रियों को बाहु से इसीलिए उत्पन्न माना गया कि उनका कार्य था देश की सुरक्षा, प्रशासन आदि। बाहु शक्ति और वीरता का परिचायक माना गया है। वैश्यों का उद्‌भव जांघ से माना गया क्योंकि वैश्यों का मुख्यत: कार्य आर्थिक व्यवस्था की सुदृढ़ता से सम्बद्ध था। इनसे व्यापार, पशुपालन के द्वारा समाज की उदर पूर्ति की अपेक्षा की गयी थी। शूद्रों की उत्पत्ति पैरों से माने जाने के कारण इनका कार्य मुख्यत: अपनी सेवा द्वारा तीनों वर्णों और समाज को गति प्रदान करना था। अत: शरीर कोगतिमान रहने के लिए जिस प्रकार समस्त शारीरिक अंगों की आवश्यकता होती है ठीक उसी प्रकार समाज की गत्यात्मकता के लिए चारों वर्णों का अपना अपना महत्व है।

(ब) उपनिषद के अनुसार :

परम्परागत दैवी सिद्धान्तों के अन्तर्गत उपनिषदों विशेषकर वृहदारण्यक व छान्दोग्य उपनिषद में भी वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के उल्लेख पर भी प्रकाश डाला गया है। वृहदारण्यक उपनिषद में यह उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मा के साथ ही चारों वर्णों को उत्पन्न नहीं किया। आरम्भ में केवल ब्राह्मणों को ही जन्म दिया। जब ब्राह्मणों द्वारा समाज के लिए समस्त आवश्यक कार्य किया जाना असम्भव प्रतीत हुआ तो ब्रह्मा ने क्षत्रिय वर्ण की रचना की। जब इन दोनों वर्णों द्वारा भी समस्त कार्यों को सफलता पूर्वक पूरा नहीं किया जा सका तब ब्रह्मा ने बसु, मरूत, रूद्र, और अदित के द्वारा वैश्यों को जन्म दिया। अन्त में समाज की सेवा सम्बन्धी कार्यों के लिए शूद्र वर्ण को जन्म दिया। इससे दो बातें स्पष्ट हैं - प्रथम, सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार अलग अलग समय पर विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति हुयी द्वितीय इस उद्भव का आधार इन वर्णों द्वारा की जाने वाली विभिन्न प्रकार की सेवाएं हैं।

(स) महाभारत के अनुसार:

दैवी एवं परम्परागत सिद्धान्त में महाभारत में अनेक स्थलों पर उल्लिखित वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के विचारों को भी सम्मिलित किया जाता है। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है "प्रारम्भ में केवल एक वर्ण ब्राह्मण (द्विज) वर्ण ही था। यही वर्ण बाद में ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों में बंट गया। महर्षि भृगु ने अपने शिष्य भारद्वाज को उपदेश देते समय कहा है कि ब्राह्मणों का रंग श्वेत (सफेद) था जो सतोगुण पवित्रता का परिचायक था। क्षत्रियों का लोहित (लाल) रंग राजसगुण क्रोध को अभिव्यक्त करता था। इसी तरह वैश्यों का पीत (पीला) रंग रजोगुण तथा तमोगुण के मिश्रण का सूचक था। शूद्रों का श्याम (काला) रंग तमोगुण का सूचक था। रंगों के आधार पर वर्णों के विभाजन की कठिनाई का समाधान करते हुए भृगु का आगे कथन है कि रंग वास्तव में वर्ण विभाजन का आधार नहीं है, वास्तविक आधार तो शक्ति के गुण और कर्म ही हैं

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्व ब्रह्मनिंद जगत।

ब्राह्मण पूर्वसृष्टं हि कर्म भिर्णतां गतम् ॥

इस प्रकार यद्यपि ब्रह्मा ने सभी को समान उत्पन्न किया था लेकिन धीरे धीरे व्यवहार और कर्म आधारित विशेषताओं से भिन्न वर्ण में समाहित होते चले गये। जो ब्राह्मण क्रोधी और अभिमानी हो गये। उन्हें क्षत्रिय कहा जाने लगा व्यवसाय उन्मुख मस्तिष्क वाले ब्राह्मण व्यापार और कृषि में लग गये एवं वैश्य कहलाए लोभी एवं असत्यता का आश्रय लेने वाले ब्राह्मण शूद्र वर्ण की श्रेणी में आ गये।

(4) गीता के अनुसार :

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता के चौथे अध्याय यमें बताया है कि अर्जुन गुण और कर्मों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र वर्णों की उत्पत्ति मेरे ही द्वारा की गयी है।

वैदिक ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ स्मृतियों में भी वर्ण की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार मिलते हैं

ऋग्वेद के पुरूष सूक्त के समान ही वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मनुस्मृति, विष्णु पुर. और मत्स्य पुराण में विचार व्यक्त किये गये हैं। वायु पुराण में क्षत्रिय वर्ण को ब्रह्मा की ब से उत्पन्न न मानकर वक्ष से उत्पन्न माना गया है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भारतीय मनीषियों ने वर्णों की उत्पत्ति पर ब्रह्म से स्वीकार कर इसे धार्मिक आधार प्रदान किया और इस व्यवस्था को आदिकालीन माना। यह व्यवस्था प्रारम्भ में गुण कर्म के अनुसार परिवर्तनशील थी लेकिन कालान्तर में धार्मिक संकीर्णता ने इस व्यवस्था में लोच को कम कर दिया। जिसके कारण वर्ण व्यवस्था की मौलिक उदारता आगे चलकर जाति व्यवस्था की संकीर्णता में परिवर्तित हो गयी।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति की आधुनिक विचारधारा

(अ) डा. राधाकृष्णन के विचार -

वर्ण सदस्यता के निर्धारण के सम्बन्ध में डॉ. राधाकृष्णा की मान्यता है कि यद्यपि इस व्यवस्था में आनुवांशिक क्षमताओं (जन्म) का महत्व था, तथापि यह प्रमुख रूप से कर्म प्रधान व्यवस्था थी । आपने ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वर्ण में यदि जन्म का ही महत्व होता तब उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की अनुमति नहीं दी जाती। उदाहरण के लिए यदि वर्ण का निर्धारण जन्म से ही होता तब विश्वामित्र सदैव क्षत्रिय ही रहते वे राज जनक को ब्राह्मण की प्रतिष्ठा कभी प्राप्त न हो पाती इसी तरह महामुनि व्यास, वाल्मीकि, अजमीठ अपने गुण तथा कर्म के आधार पर अपना वर्ण परिवर्तन कर पाए। स्मृति में यहां तक उल्लेख है कि जन्म से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है लेकिन अपने संस्कार अथवा कर्मों से शुद्ध होकर ही वह ब्राह्मण की प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

जन्मना जायते शूद्र: संस्कारै द्विज उन्यते।

इस प्रकार आपका मत था कि वर्ण का आधार गुण तथा कर्म था, न कि जन्म।

(ब) डा. जी. एस. घुरिये के अनुसार:

डा. घुरिये व्यक्तिगत विशेषताओं को महत्व देते हुये वर्ण का वास्तविक सम्बन्ध रंग से मानते हैं। आपके अनुसार आरम्भ में हमारे समाज में दो ही वर्ण थे- आर्य एवं दस्यु । आर्यों एवं दस्युओं (द्रविड़ों) के मध्य हुए युद्ध में आर्यों ने द्रविड़ों को परास्त कर अपना दास बना लिया। समय के साथ साथ आर्यों की संख्या में वृद्धि होती गयी और कर्म के आधार पर भी भिन्नता आती गयी। अत: अपने अपने गुणों के आधार पर ही ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, वर्णों में विभाजित हो गये। डा. घुरिये के अनुसार यही कारण था कि प्रारम्भ में इन वर्णों के मध्य विवाह, खान पान और अन्य सम्बन्ध के उदाहरण भी मिलते हैं।

(स) श्री के. एम. पणिक्कर के विचार :

आपने व्यावायिक तथ्यों के आधार पर वर्ण व्यवस्था के जन्म आधारित विचारों की कटु आलोचना की। आपके अनुसार वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म होता तो सहजता से व्यवसाय बदलना सम्भव न हो पाता जबकि पौराणिक साहित्यों से इस कथन की पुष्टि होती है कि

ब्राह्मण अध्ययन अध्यापन के साथ औषधि, शस्त्र सम्बन्धी और प्रशासनिक कार्य भी करते थे । बौद्ध ग्रन्थों में भी कहीं कहीं ब्राह्मणों की आखेट क्रिया औरव्यावसायिक गतिविधियों का उल्लेख मिलता है। वैदिक साहित्यों के उदाहरणों से आपने सिद्ध करने का प्रयास किया कि व्यक्ति के व्यावसायिक व वैवाहिक सम्बन्धों में जन्म आधारित प्रतिबन्ध नहीं थे।

(द) महात्मा गाँधी के विचार :

वर्ण का अर्थ रंग और व्यवसाय दोनों से होता था। वंशानुक्रमण द्वारा जन्म से ही एक व्यक्ति को रंग और व्यवसाय प्राप्त होता है अत: वर्ण निर्धारण का आधार जन्म है।

(य) बसन्त कुमार चट्टोपाध्याय के विचार:

द्रोणाचार्य का उदाहरण देते हुए आपका मत है कि वर्ण का आधार जन्म है न कि कर्म। यदि कर्म ही वर्ण का आधार होता तो द्रोणाचार्य ब्राह्मण नहीं होकर क्षत्रिय होते क्योंकि वे कर्म से क्षत्रिय थे।

परम्परागत सिद्धान्त व आधुनिक विद्वानों के विचारों के आधार पर यह निष्कर्ष सामने आता है कि यह व्यवस्था अपने उद्भव को लेकर विवादास्पद ही हैं श्री पणिक्कर तो इस व्यवस्था की मात्र कल्पना आधारित मानते हैं। जिसकी प्रामाणिकता नहीं सिद्ध की जा सकती। आपके अनुसार गीता में श्री कृष्ण द्वारा कहा गया कथन 'चातुर्वर्ण मया सृष्टं गुण कर्म विभागश:' ब्राह्मणों की जन्मजात श्रेष्ठता के दावे का खण्डन ही है।

यह व्यवस्था अपने उद्भव के समय गुण कर्म आधारित रही होगी लेकिन शनै: शनै: गुण को जन्म आधारित मानकर इसमें जन्म के महत्व को प्राथमिकता दी जाने लगी होगी। यही कारण है कि इस व्यवस्था में संकीर्णता आती गयी। ब्राह्मण काल में इस व्यवस्था को धार्मिकता का पुट देकर ब्राह्मणों की सर्वोच्च सत्ता बनाए रखने के लिए इसे पूर्णतया जन्म आधारित बना दिया गया। जों भीहो प्रारम्भ में इस व्यवस्था में खुलापन था जो कि बाद में आनुवांशिक होकर अपरिवर्तन शील हो गयी। वर्तमान में यह व्यवस्था सैद्धान्तिक व्यवस्था मात्र ही है।

9.4 विभिन्न वर्णों के कर्तव्य अथवा धर्म (Duties of various Varna)

सभी वर्ण अपने अपने दायित्वों का निर्वाह कर सके इस उद्देश्य को लेकर विभिन्न स्मृतियों, पुराणों तथा महाभारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्तव्यों का भी उल्लेख किया गया है।

(1) ब्राह्मण धर्म :

ब्राह्मणों का मुख्य धर्म इंद्रियों पर संयम रखना माना गया है। मनुस्मृति के अनुसार वेदों का अनुशीलन (अभ्यास), तप, अध्ययन, अध्यापन एवं यज्ञों का सम्पादन ब्राह्मण के मुख्य दायित्व हैं।

वेदोभ्यासो हि विप्रस्य तप: परिमिहोच्यते ।

अध्यापन अध्ययन यजनं याजनं तया ॥ 2.166 ॥

(2) क्षत्रियों का धर्म :

मनुस्मृति के अनुसार प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, एवं विषयों में आसक्ति न रखना क्षत्रियों के प्रमुख कर्म है। गीता में क्षत्रियों के 7 प्रकार बताये गये हैं वे हैं - शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध से न भागना, दान देना और नि:स्वार्थ भाव से प्रजा का पालन करना।

शौर्य तेजौ धृति र्दाक्ष्यं युद्धे चाप्य पलायनम् ।

दानभीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

— गीता 18/43 ॥

(3) वैश्यों का धर्म :

गीता में कृषि, गोरक्षा करना तथा व्यापार को ही वैश्यों का धर्म बताया गया है। मनुस्मृति में उल्लिखित वैश्यों के कर्तव्य हैं –पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, व्यापार करना, ब्याज पर धन देना एवं कृषि करना।

पशूनां रक्षण दान भिज्या ध्ययन मेव च।

वाणिक्पथ कुसीद च वैश्यस्य कृषमेव च ॥

(4) शूद्र धर्म :

अन्य तीनों वर्णों की सेवा करना, शूद्र का प्रधान कर्तव्य माना गया है। मनुस्मृति के अनुसार शूद्रों का एकमात्र धर्म अपने से उच्च तीनों वर्णों की बिना किसी ईर्ष्याभाव (असूया) के सेवा करना है।

''एक मेव तु शूद्रस्य प्रभ: कर्म समादिशत् ।

एतेषा मेव वर्णानां शूश्रूषामन सूयया ॥

उपर्युक्त धर्म सभी वर्णों के विशिष्ट धर्म हैं इसके अतिरिक्त सभी के प्रति सरल भाव रखना क्रोध न करना, क्षमाशील होना, सभी जीवों का भरण पोषण करना, सच बोलना और धन बाटकर उसको काम में लेना आदि सभी वर्णों के सामान्य धर्म हैं।

9.5 वर्ण व्यवस्था की विशेषताएं (Characteristics of Varna-System)

अपनी विशेषताओं के कारण ही यह व्यवस्था भारतीय सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखती है इस व्यवस्था की मुख्य विशेषताएं निम्न प्रकार हैं-

(1) गुण व कर्म आधारित :

पौराणिक धम्र ग्रन्थों के आधार पर स्पष्ट होता है कि यह व्यवस्था गुण व कर्म पर आधारित रही है। व्यक्ति अपने गुणों व कर्मों में परिवर्तन कर उच्च वर्ग में सम्मिलित हो सकता। इस प्रकार उच्च वर्ण की प्राप्ति हेतु व्यक्ति सदकर्म करने के लिए प्रेरित होता था ।

(2) श्रम विभाजन पर आधारित:

सभी वर्णों के कर्म इस प्रकार निर्धारित किये गये थे कि समाज के समस्त दायित्वों की पूर्ति निर्बाध रूप से हो सके। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यों की पूर्ति करता हुआ सामाजिक प्रगति में योगदान दे सके।

(3) जन्म पर आधारित स्तरीकरण:

यद्यपि वर्ण व्यवस्था में व्यक्ति के गुण तथा कर्म का विशेष महत्व है लेकिन व्यावहारिक रूप से यह व्यवस्था जन्म आधारित है। प्रत्येक व्यक्ति आजीवन अपने वर्ण की सदस्यता में परिवर्तन नहीं कर सकता। वर्ण परिवर्तन के यदि कोई उदाहरण मिलते हैं तो वे अपवाद ही कहे जा सकते हैं।

(4) शक्ति व अधिकारों का निश्चित वितरण :

वर्ण व्यवस्था में समस्त वर्णों की शक्तियां व अधिकार पूर्व निर्धारित हैं। इस व्यवस्था में ब्राह्मण सर्वोच्च है समाज रूपी शरीर के अंगों के कार्यों से इन वर्णों के कार्यों की तुलना करके इनको सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी माना गया है।

(5) व्यवसायों का परम्परागत रूप :

वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण के व्यवसाय पूर्व निर्धारित आनुवंशिक होते हैं यद्यपि भृगु का यह कथन है कि व्यक्ति को व्यवसाय के आधार पर ही एक विशेष वर्ण की सदस्यता प्राप्त होती है। यह कथन वर्ण व्यवस्था की आरम्भिक स्थिति में तो सत्य माना जा सकता था परन्तु बाद में व्यक्ति को जन्म के द्वारा जिस वर्ण की सदस्यता प्राप्त होती थी उसे अपने ही वर्ण से सम्बन्धित व्यवसाय अपनाना आवश्यक था।

(6) आध्यात्मिकता :

हमारे मनीषियों द्वारा वर्ण व्यवस्था को धर्म के साथ जोड़ दिया गया ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपना दायित्व निर्वाह अपना कर्तव्य समझ कर करे। वर्ण व्यवस्था में सामूहिक कल्याण और व्यक्तिगत आकांक्षाओं का समन्वय किया गया है। इसी आधार पर यह व्यवस्था सामाजिक होते हुये भी पवित्र मानी गयी है।

(7) गुणात्मक प्रेरणा:

वर्ण व्यवस्था गुणात्मक प्रेरणा का स्रोत है जिसमें प्रत्येक को यह प्रेरणा मिलती है कि यदि वह अपने वर्ण धर्म का पालन करेगा, तो आगामी जीवन में उसे उच्च वर्ण की सदस्यता प्राप्त होगी। इस प्रेरणा ने व्यक्तियों को कर्तव्य पालन के लिए विशेष प्रोत्साहन दिया है।

9.6 वर्ण व्यवस्था का महत्व (Importance of Varna System)

सामान्यतया जातिप्रथा के दुष्परिणामों को देखते हुए वर्ण व्यवस्था की भी आलोचना की जाती रही है। वास्तविकता यह है कि वर्ण व्यवस्था अपने प्रारम्भिक समय में जन्म आधारित न होकर गुण व कर्म आधारित थी यद्यपि यह कभी भी प्रभावपूर्ण भूमि का निर्वहन नहीं कर

सकती तथापि निम्न महत्वों को अपने में समेटे हुए थी।

(1) लचीली व्यवस्था:

वर्ण निर्धारण का आधार गुण व कर्म था। अत: व्यक्ति अपने गुण व कर्म में परिवर्तन करके उच्च वर्ण की सदस्यता ग्रहण कर सकता था अत: यह व्यवस्था व्यक्ति को सदकर्म के लिए प्रेरित करती थी।

(2) सामाजिक संघर्षों से छुटकारा:

इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को एक निश्चित सामाजिक स्थिति प्राप्त होती थी प्रत्येक सामाजिक स्थिति के सामाजिक दायित्व व कर्तव्य भी पूर्व निर्धारित थे अत: व्यक्तियों के मध्य प्रतियोगिता व संघर्ष की आवश्यकता नहीं रह गयी थी।

(3) श्रम विभाजन और विशेषीकरण :

वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत परम्परागत व्यवसाय को अपनाने के फलस्वरूप व्यक्ति बचपन से ही व्यवसाय में निपुण होने लगता था, इससे न केवल व्यावसायिक योग्यता में विशेषीकरण हुआ बल्कि बेरोजगारी जैसी समस्या का यह अच्छा समाधान था।

(4) कर्तव्य पालन की प्रेरणा:

इस व्यवस्था ने वर्ण धर्म के पालन पर जोर देकर लोगों को अपने कर्तव्य पथ पर आगे बढ़ते जाने के लिए प्रेरित किया। इसे मोक्ष प्राप्ति का मार्ग भी बताया गया है । इस प्रेरणा नें व्यक्तियों को सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति में योग देने को प्रोत्साहित किया।

(5) समानता की नीति पर आधारित :

इस व्यवस्था में सामाजिक संस्तरण की एक सुनियोजित नीति अपनायी गयी थी। इस संस्तरण की व्यवस्था में सभी वर्णों के कार्यों को समान महत्व प्रदान किया गया था।

(6) गतिशीलता :

वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तियों को अपनी सामाजिक स्थिति को उन्नत करने की छूट दी गयी थी। वर्ण व्यवस्था की इसी गतिशील प्रकृति के कारण व्यक्तियों को अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने की प्रेरणा मिली।

(7) रक्त की पवित्रता:

रक्त की शुद्धता बनाए रखने के उद्देश्य से अन्य वर्णों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा नहीं प्रदान की गयी। इस प्रकार हमारी सांस्कृतिक विशेषताएं बिना किसी अवरोध के एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती चली गयी।

9.7 वर्ण व्यवस्था के दोष (Demerits of Varna System)

व्यावहारिक रूप में यह व्यवस्था न्यायपूर्ण, समतावादी व कल्याणकारी, नहीं मानी जा सकती। इस व्यवस्था में इतने अधिक दोष हैं कि इसे किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं माना जा सकता।इस व्यवस्था के निम्न दोषों का उल्लेख किया जा सकता है —

(1) यह व्यवस्था नैतिकता के दोहरे प्रतिमान को स्वीकारती है। व्यावहारिक रूप में कोई भी व्यक्ति इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर सकता कि जन्म के आधार पर कुछ व्यक्तियों को अज्ञानी, अपवित्र, सुस्त मानकर उनको उन्नति के अवसर न प्रदान किये जाए।

(2) वर्ण संकरता की अवधारणा की एक अत्यधिक संकीर्ण मनोवृत्ति की द्योतक है। यह मानना कि भिन्न वर्ण के स्त्री पुरूष से उत्पन्न सन्तान वर्णसंकर होती है और दुर्गुणयुक्त होती है निराधार है। इसे जैविकीय आधार पर सिद्ध भी नहीं किया जा सकता।

(3) यह व्यवस्था कालान्तर में दोषयुक्त जाति व्यवस्था में परिवर्तित हो गयी । यह जाति व्यवस्था राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक होने के साथ साथ देश के विकास के लिए भी हानिकारक है।

(4) वर्ण व्यवस्था में समाज के एक बड़े वर्ग को शूद्रमान कर उसका अमानवीय शोषण किया गया है। इस वर्ण को तमोगुण प्रधान मानकर अज्ञानी माना गया एवं कालान्तर में इसी वर्ण को अस्पृश्यता द्वारा शोषण का शिकार भी होना पड़ा।

नि:सन्देह यह व्यवस्था मानवीय दृष्टि से दोषपूर्ण रही है जिसे अलौकिकता,आध्यात्मिकता और परम्परागत सिद्धान्त का जामा पहनाकर स्थिर बनाने का प्रयत्न किया गया।

9.8 सारांश

प्रस्तुत इकाई सामाजिक स्तरीकरण के एक प्रमुख प्रकार वर्णव्यवस्था पर आधारित है। इस व्यवस्था ने भारतीय समाज को अत्यन्त गहराई तक प्रभावित किया है। अत: भारतीय समाज की विशेषताओं से अवगत होने के लिए आवश्यक था कि इस व्यवस्था से परिचित हुआ जाए। अत: इस इकाई में सर्वप्रथम वर्णव्यवस्था के अर्थ व अवधारणा को स्पष्अ किया गया है। तत्पश्चात इसके उद्भव सम्बन्धित विभिन्न परम्परागत सिद्धान्तों व आधुनिक विचारों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। इन सिद्धान्तों में रंग, जन्म, गुण कर्म के आधार पर उत्पत्ति के विवाद पर स्पष्ट दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास किया गया है। तत्पश्चात विभिन्न वर्णों के कर्तव्यों व दायित्वों सम्बन्धित विशिष्ट व सामान्य धर्म का उल्लेख किया गया है। अति प्राचीन इस वर्णव्यवस्था की कुछ ऐसी विशेषताएं व महत्व अवश्य रहे हों गे जिसके कारण शताब्दियों से हम इसे किसी न किसी रूप में अभी तक स्वीकार करते आए हैं। इन्हीं विशेषताओं व महत्व को देखते हुए प्रस्तुत इकाई में इनका पृथक पृथक उल्लेख है। अन्त में इस व्यवस्था में सन्निहित दोषों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

9.9 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

सेनार्ट कास्ट इन इण्डिया पृ0 46

घुरिये वैदिक इण्डिया

गीता अध्याय 4 श्लोक 13, 18.43

ऋग्वेद 10/90/12

प्रो. रानाडे ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलॉसफी पृ0 60

महाभारत शान्तिपर्व, 122, 4.5

मनुस्मृति 1.89, 1.90, 1.91, 2.166

के. एम. पणिक्कर हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर पृ0 15

9.10 प्रश्नोत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के ऋग्वेद सिद्धान्त को स्पष्ट करें।

प्र. 2 उद्भव सम्बन्धी आधुनिक विचारों में से किसी एक विचारक के विचारों का उल्लेख करें?

प्र.3 वर्ण व्यवस्था की विशेषताओं को विवेचित करें?

प्र.4 क्या वर्ण व्यवस्था वर्तमान में जीवित हैं? यदि हाँ तो किस रूप में, संक्षेप में लिखें?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 क्या वर्ण व्यवस्था का उद्भव जन्म आधारित था या गुण कर्म आधारित? विभिन्न विचारकों के विचार की सहायता से विश्लेषित करें?

प्र.2 विभिन्न वर्णों के धर्म या दायित्वों का उल्लेख करें?

प्र.3 वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के परम्परागत या दैवी सिद्धान्तों की समालोचनात्मक व्याख्या करें?

प्र.4 गुण दोषों की विवेचना करते हुए बताएं कि दोषों के विद्यमान होने के पश्चात भी यह व्यवस्था परिवर्तित रूप में क्यों कायम हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र.1 'धातुवर्ण मयासृष्टं गुण कर्म विभागशः' का उल्लेख किस पौराणिक ग्रन्थ में है?

(अ) ऋग्वेद (ब) उपनिषद (स) पुराण (द) गीता

उत्तर (द) गीता

प्र.2 वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति में वंशानुक्रमण के नियम का किस विचारक ने उल्लेख किया है-

(अ) डा. राधाकृष्णन (ब) महात्मा गाँधी (स) के. एम. पणिक्कर

(द) बसन्त कुमार चट्टोपाध्याय

उत्तर (ब) महात्मा गाँधी

प्र.3 किस वर्ण का कार्य व्यवसाय कृषि, पशुपालन माना गया है?

(अ) ब्राह्मण (ब) क्षत्रिय (स) वैश्य (द) शूद्र

उत्तर (स) वैश्य

प्र. 4 वर्ण व्यवस्था का परिवर्तित रूप क्या है?

(अ) आश्रम व्यवस्था (ब) जाति व्यवस्था

(स) संस्कार (द) पुरूषार्थ

उत्तर (ब) जातिव्यवस्था।

इकाई 10 जाति-अर्थ, अवधारणा, उत्पत्ति एवं भविष्य

इकाई की रूपरेखा

10.1 उद्देश्य

10.2 प्रस्तावना

10.3 जाति प्रथा का अर्थ व अवधारणा

10.4 जाति प्रथा की विशेषताएं

10.5 जाति प्रथा की उत्पत्ति

10.6 जाति प्रथा के प्रकार्य

10.7 जाति प्रथा के दुष्कार्य

10.8 जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारक व आधुनिक परिवर्तन

10.9 जाति प्रथा का भविष्य

10.10 सारांश

10.11 प्रश्न

10.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप:

* जाति व्यवस्था के अर्थ व अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
* जाति प्रथा की विशेषताओं का विवरण कर सकेंगे।
* उदभव् के परम्परागत सिद्धान्त के साथ-साथ आधुनिक समाजशास्त्रियों द्वारा दिये गये उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना कर सकेंगे।
* जाति प्रथा की प्रकार्यों का वर्णन कर सकेंगे।
* अंत में जाति प्रथा के भविष्य के बारे में विवेचना कर सकेंगे।

10.2 प्रस्तावना

भारतीय समाज की एक आधाभूत विशेषता वर्ण व्यवस्था थी जिसका कि पूर्व इकाई में हम लोगों ने अध्ययन किया। यह व्यवस्था कालान्तर में अनेक जातियों व उपजातियों में परिवर्तित हो गयी। वर्ण व्यवस्था में गुण कर्म के आधार पर लोच शीलता जाति व्यवस्था में पूर्णतया परिवर्तित होकर जन्म आधारित हो गयी। इस प्रकार यह व्यवस्था बंद स्तरीकरण के रूप में सामने आयी।

वर्तमान में भारतीय सामाजिक संस्थाओं में जाति एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था है। चाहे ग्रामीण वासी हो या नगरवासी सभी के जीवन व व्यवहार के स्वरूप का निर्धारण करने में

जन्म से लेकर मृत्यु तक जाति व्यवस्था एक प्रभावशाली व महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। **डा. सक्सेना** का मत है कि जाति हिन्दू सामाजिक संरचना का मुख्य आधार रही है, जिससे हिन्दुओं का सामाजिक, सांस्कृतिक आर्थिक और राजनैतिक जीवन प्रभावित होता रहा है। हिन्दुओं के सामाजिक जीवन के किसी भी क्षेत्र का अध्ययन बिना जाति के विश्लेषण के अपूर्ण ही रहता है।

श्रीमती कर्वे का भी मत है कि यदि हम भारतीय संस्कृति के तत्वों को समझना चाहते हैं तो जाति प्रथा का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

सन् 1931 की जनगणना में सामाजिक स्थिति की भिन्नता के आधार पर भारत में 2,993 जातियां व उपजातियां पायी गयीं। अत: इतनी अधिक जातियों वाली व्यवस्था को किसी एकयादों परिभाषाओं मे समाहित करना कठिन कार्य है। जाति व्यवस्था की जटिलता व व्यापकता को देखते हुए ही हट्टन (Hutton) का मानना है कि इस व्यवस्था के पूर्ण अध्ययन के लिए विशेषज्ञों की एक सेना (An Army of specialists) की आवश्यकता होगी।

10.3 जाति व्यवस्था का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of Caste)

जाति शब्द अंग्रेजी भाषा के शब्द (Caste) कास्ट का हिन्दी अनुवाद है । अंग्रेजी में इस भाषा की व्युत्पत्ति पुर्तगाली भाषा के Casta शब्द से मानी जाती है। Casta का अर्थ है प्रजाति अथवा प्रजाति भेद। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 1665 में ग्रेसिया डि ओर्टा (Gracia de Orta) द्वारा प्रजातीय समूहों के विभेद के अर्थ में किया गया था। इसके बाद फ्रांस के अब्बेडुबॉय ने इसका प्रयोग प्रजाति के संदर्भ में किया। परन्तु भारतीय जाति व्यवस्था का सम्बन्ध प्रजातीय भिन्नता से नहीं है वरन् सामाजिक स्तरीकरण की नीति से लिया जाता है। इस प्रकार 'जाति' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृति के शब्द जात: से मानी जाती है जिसका तात्पर्य है - व्यक्ति के ''जन्म'' अथवा ''जन्म के परिवार'' से है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा जाति व्यवस्था को निम्न प्रकार परिभाषित किया गया है।

कूले के अनुसार :- ''जब एक वर्ग पूर्णत: आनुवंशिकता पर आधारित होता है तो हम उसे जाति कहते हैं।''

कूले की परिभाषा के अलभग समान अर्थ में **मजूमदार** व **मदान** कहते हैं ''जाति एक बन्द वर्ग है''।

ये दोनो ही परिभाषाएं जाति की जन्म आधारित विशेषता को महत्व देती है। कोई भी व्यक्ति अपनी शिक्षा योग्यता व गुण में वृद्धि करके जाति नहीं बदल सकता। व्यक्ति की जीवनपर्यन्त एक ही जाति रहती है।

जाति के अधिकांश पक्षों को समाहित करते हुए **ब्लण्ट** कहते हैं, ''जाति एक अन्तर्विवाही समूह अथवा अन्तविवाही समूहों का संकलन है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसकी सदस्यता आनुवंशिक होती है, जो सामाजिक सहवास के क्षेत्र में अपने सदस्यों पर

कुछ प्रतिबन्ध लगाता है, इनके सदस्य या तो एक सामान्य परम्परागत व्यवसाय को करते हैं अथवा किसी सामान्य आधार पर अपनी उत्पत्ति का दावा करते हैं। इस प्रकार एक समान समुदाय के रूप में मान्य होते हैं। ''

ब्लण्ट की इस परिभाषा की आलोचना एक सामान्य पूर्वज से सम्बद्धता की विचारधारा के कारण की गयी है। वास्तव में कोई भी जाति अपनी उत्पत्ति एक सामान्य पूर्वज से नहीं मानती, बल्कि ऐसा विश्वास गोत्र (Clan) के सम्बन्ध में किया जा सकता है।

सर रिजले के अनुसार ''जाति परिवारों या परिवारों के समूहों का एक संकलन है जिसका कि सामान्य नाम है, जो एक काल्पनिक पूर्वज मानव या देवता से सामान्य उत्पत्ति का दावा करता है, एक ही परम्परागत व्यवसाय करने पर बल देता है और एक सजातीय समुदाय के रूप में उनके द्वारा मान्य होता है जो अपना ऐसा मत व्यक्त करने के योग्य है।''

इस कथन की सबसे बड़ी कमी यह मानी जाती है कि इसमें ''गोत्र और जाति'' को मिला दिया गया है। काल्पनिक पूर्वज से वंश परम्परा या उन्नति का दावा गोत्र के लोग स्वीकार करते हैं न कि जाति के लोग। वैसे जाति का कोई काल्पनिक सामान्य पूर्वज नहीं होता।

केतकर के अनुसार:- ''जाति एक सामाजिक समूह है जिसमें (क) एक विशेष जाति का सदस्य केवल उन्हीं व्यक्तियों तक सीमित होती है जिन्होंने उसी जाति में जन्म लिया हो, तथा (ख) जिसके सदस्यों पर एक दृढ़ सामाजिक नियम द्वारा अपने समूह के बाहर विवाह करने पर निषेध लगा दिया जाता है।

केतकर द्वारा दी गयी परिभाषा तुलनात्मक रूप से अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि आपने कुछ स्थानों पर जाति के एक ''सामान्य नाम'' व ''संस्तरण'' की भी चर्चा की है।

हट्टन के अनुसार :- ''जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज अनेक 'आत्मकेन्द्रित' तथा एक दूसरे से पृथक इकाइयों (जातियों) में विभाजित रहता है। इन इकाइयों के पारस्परित सम्बन्ध ऊँच नीच के आधार पर सांस्कारिक रूप से निश्चित होते हैं।

आलोचकों के अनुसार 'हटटन' के विचार अधिक सन्तुलित हैं, लेकिन जिन अर्थों में हट्टन ने 'आत्मकेन्द्रित' शब्द का प्रयोग किया है। उसका सम्बन्ध 'जातिवाद' से है, जाति व्यवस्था से नहीं।

वास्तविकता यह है कि जाति का स्वरूप विभिन्न स्थानों व विभिन्न कालों में एक दूसरे इतना भिन्न रहा है कि इसकी कोई भी सर्वमान्य परिभाषा करना कठिन है। विभिन्न कठिनाइयों को देखते हुए एन. के. दत्त और डा. घुरिये जैसे विद्वानों ने जाति की कोई परिभाषा न देकर इसको कुछ विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट किया है।

10.4 जाति प्रथा की विशेषताएं (Characteristics of Caste System)

एन.के. दत्त द्वारा जाति व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया गया है:-

1. एक जाति के सदस्य अपनी जाति के बाहर विवाह नही कर सकते।

2. प्रत्येक जाति के दूसरी जातियों के साथ खान पान के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध होते है

3. अधिकांश जातियों के व्यवसाय निश्चित होते हैं।

4. सभी जातियों में ऊँच नीच का एक संस्तरण होता है, जिनमें ब्राह्मणों की सर्वोच्चता निर्विवाद है।

5. व्यक्ति का जाति जन्म से ही निश्चित होती है।

6. सम्पूर्ण जाति व्यवस्था ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर आधारित है।

सांस्कृतिक व संरचनात्मक पक्ष के आधार पर डा. घुरिये ने जाति व्यवस्था की 6 विशेषताओं का उल्लेख किया है:

1. **समाज का खण्डात्मक विभाजन (Segmental Division of Society)-** जाति व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय समाज अनेक खण्डों में विभाजित है और प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद तथा कार्य निश्चित है। डा. घुरिये के अनुसार खण्ड विभाजन से अभिप्राय एक जाति के सदस्यों की सामुदायिक भावना व निष्ठा सम्पूर्ण समुदाय के प्रति न होकर अपनी ही जाति तक सीमित होती है।

2. **संस्तरण (Hierarchy)** - समाज में सभी जातियों के मध्य ऊंच नीच का एक संस्तरण पाया जाता है । ऊंच नीच की इस व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान सबसे ऊपर है। तथा शूद्रों का सबसे नीचे । क्षत्रिय व वैश्य इनके मध्य में हैं। जन्म आधारित होने के कारण इस संस्तरण में स्थिरता एवं दृढ़ता पायी जाती है।

3. **भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध (Restrictions on Feeding and Intercourse)** - जाति व्यवस्था में भोजन व व्यवहार सम्बन्धित अनेक निषेध पाए जाते हैं। कच्चे भोजन से सम्बन्धित नियम तो अत्यधिक कठोर हैं। प्राय: ब्राह्मणों के हाथ का बना भोजन सब जातियों के लोग खा लेते हैं। सबसे ज्यादा प्रतिबन्ध अछूतों के हाथ द्वारा बने भोजन पर होता है।

4. **नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं ए विशेषाधिकार (Civil and Religious Disabilities and Privileges)** - जाति व्यवस्था में उच्च जातियों को कई सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं जबकि रिक्त व अछूत जातियां इनसे वंचित हैं। अछूत लोग मंदिर, स्कूल, तालाब, कुओं आदि का प्रयोग नहीं कर सकते हैं यहां तक कि कहीं कहीं उनको छूना तो दूर देखना भी अच्छा नहीं माना जाता।

5. **व्यवसाय के स्वतंत्र चुनाव का अभाव (Lack of Unrestricted Choice of Occupation)** - जाति व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जातियां परम्परागत पेशे को अपनाना अपना धार्मिक व नैतिक कर्तव्य समझती है। किन्तु कुछ व्यवसाय जैसे - कृषि मजदूरी, सेना में नौकरी आदि में सभी जातियों के व्यक्ति कार्य करते हैं। इस तरह केवल ब्राह्मण व शूद्रों का कार्य ही निश्चित प्रकृति का है।

6. **विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध (Restrictions onMarriage)** - अपनी ही जाति यहां तक कि उपजाति में विवाह करना जाति प्रथा की प्रमुख विशेषता है वेस्टरमार्क ने तो जाति

अन्तर्विवाह को जाति का सार-तत्व (The essence of caste system) माना है।

इस प्रकार जाति व्यवस्था जन्म के आधार पर व्यक्ति की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति को निर्धारित करके एक बन्द समाज का निर्माण करती है।

10.5 जाति व्यवस्था की उत्पत्ति (Origin of Caste System)

भारतीय समाज को समझने के जाति व्यवस्था से अवगत होना जितना अधिक महत्वपूर्ण है उतना ही जटिल है इसकी उत्पत्ति को समझना। **मजूमदार** के अनुसार, ''जाति संरचना के सम्बन्ध में एक शताब्दी के परिश्रम और सावधानीपूर्ण किए गये अनुसंधान के पश्चात भी हम निश्चित रूप से उन परिस्थितियों की व्याख्या नहीं कर पाये हैं जिन्होंने इस विशिष्ट व्यवस्था के निर्माण और विकास में योगदान दिया है।''

इस व्यवस्था की उत्पत्ति के कुछ प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

1. **परम्परागत सिद्धान्त (Traditional Theory)** - जाति व्यवस्था के उद्भव से सम्बन्धित परम्परागत सिद्धान्त ऋग्वेद, उपनिषद, पुराण, स्मृति गीता में उल्लिखित है। इस सिद्धान्त का आदि स्रोत ऋग्वेद के 10वें मण्डल का 'पुरूषसूक्त' नामक निम्न मंत्र है:

ब्राह्मणेऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य: कृत:।

उरू तदस्थ यद्रवैश्य: पदभ्यां शूद्रो अजायत ॥

अर्थात ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियों का बाहु से, वैश्यों का उदर से व शूद्रों का पैरों से हुआ है। इसी तरह उपनिषद के अनुसार सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु परब्रहम द्वारा वर्णों की तथा गीता के अनुसार श्री कृष्ण द्वारा गुण व कर्म के आधार पर वर्णों की उत्पत्ति की गयी। मनुस्मृति में भी ऋग्वेद के पुरूष सूक्त के अनुसार वर्णों की उत्पत्ति मानी गयी परन्तु जातियों की उत्पत्ति के लिए मनु प्रतिलोम विवाह औरवर्ण संकरता को प्रमुख कारक मानते हैं।

इस सिद्धान्त की जाति की अपेक्षा वर्ण को अधिक महत्व देने, ईश्वरीय शक्ति को आधार मानने, स्वयं विभिन्न धर्मग्रन्थों में एक मतता का अभाव होने के कारण आलोचना की जाती है साथ ही मात्र प्रतिलोम विवाह व वर्ण संकरता के आधार पर उत्पत्ति का विचार एकांगी दृष्टिकोण है।

2. **प्रजातीय सिद्धान्त (Racial Theory)** - डॉ. मजुमदार, रिजले, डा. घुरिये, एन. के. दत्त, श्री राम आदि विद्वान जाति की उत्पत्ति को प्रजातीय आधार पर प्रस्तुत करते हैं। आपके मतों में थोड़ी बहुत भिन्नता के बावजूद आर्यों व अनार्यों (द्रविड़ों) के प्रजातीय एवं सांस्कृतिक सम्पर्क को जाति व्यवस्था के लिए उत्तरदायी माना गया है। डा. रिजले के अनुसार प्रजाति संघर्ष ने अनुलोम विवाह को, अनुलोम विवाह ने प्रजातीय मिश्रण को, प्रजातीय मिश्रण ने वर्णसंकरता व वर्ग भेद को जन्म देकर नवीन जातियों की उत्पत्ति में सहयोगाडिया। डा. घुरिये के अनुसार रक्त की शुद्धता की भावना के कारण ही आर्यों व अनार्यों में कई उच्च व निम्न समूहों का जन्म हुआ। जबकि डा. मजुमदार के अनुसार विभिन्न प्रजातीय समूहों के प्रभाव से बचने के लिए एवं अपनी सांस्कृतिक एकता बनाए रखने के लिए आर्यों ने अन्तर्विवाह व व्यवसाय

सम्बन्धित नियम बनाए थे।

आलोचकों के अनुसार यदि प्रजाति मिश्रण ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार माना जाए तो विश्व के अन्य देशों में भी इस व्यवस्था का जन्म होना चाहिए। एवं छुआछूत जैसी भावना का जन्म क्यों हुआ इसका उत्तर इस सिद्धान्त द्वारा नहीं दिया जा सकता। यह सिद्धान्त भी मात्र एक कारक आधारित है। हट्टन के अनुसार इस सिद्धान्त के आधार पर अनुलोम विवाह से तो अवगत हुआ जा सकता है किन्तु जाति की उत्पत्ति से नहीं।

3. **ब्राह्मणवादी सिद्धान्त** (Brahmanic Theory) - डा. घुरिये व अब्बे डुबॉय का मत है कि अपनी सत्ता को बनाए रखने की ब्राह्मणों की चतुरनीति थी जिसके कारण उन्होंने जाति व्यवस्था को जन्म दिया।

आलोचकों के अनुसार मात्र ब्राह्मणों की चतुर युक्ति के आधार पर ही इस प्रथा की उत्पत्ति को नहीं स्वीकार किया जा सकता। क्योंकि व्यक्तियों को कुछ समय के लिए मूर्ख बनाया जा सकता है सदियों तक नहीं। इसकी उत्पत्ति के अन्य कारक भी अवश्य उत्तरदायी रहे होंगे।

4. **व्यावसायिक योग्यता** (Occupational Theory) - नेसफील्ड, दहलमन्न तथा ब्लष्ट इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। नेसफील्ड के अनुसार "व्यवसाय और केवल व्यवसाय ही जाति प्रथा के लिए उत्तरदायी है।" ब्लष्ट जाति के विकास के केवल दो ही स्तर मानते हैं। जनजाति 2. जातीय स्तर। आपके अनुसार व्यवसाय के आधार पर अनेक संघों का निर्माण हुआ। इनमे जनजातीय समूह भी शामिल होने लगे। ये जनजातीय समूह अन्तर्विवाही थे एवं अपनी उत्पत्ति किसी विशेष पूर्वज से होने का दावा करते थे।

प्रजातीय भिन्नता को महत्व न देने, शूद्र वर्ण की उत्पत्ति पर प्रकाश न डालने, धर्म के महत्व को नकारने व एकांगी दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के कारण इस सिद्धान्त की आलोचना की गयी है।

5. **धार्मिक सिद्धान्त** (Religious Theory)- इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक होकार्ट (Hocart) और सेनार्ट (Senart) हैं। होकार्ट का विचार है कि सम्पूर्ण जाति व्यवस्था का उदभव धार्मिक क्रियाओं अथवा कर्मकाण्डों (Nitrals) से सम्बन्धित है। आपके अनुसार कर्मकाण्डों से सम्बन्धित विभिन्न क्रियाएं पवित्रता के आधार पर अनेक उच्च और निम्न स्तरों में विभाजित होती है। सेनार्ट ने जाति व्यवस्था के अर्न्तगत भोजन, विवाह और सामाजिक सहवास से सम्बन्धित प्रतिबन्धों व विशुद्धता पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए यह विचार व्यक्त किया कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति परिवार में भोजन सम्बन्धी निषेधों की भिन्नता और कुल देवता की पूजा पर आधारित है।

6. **आदिम संस्कृति या माना का सिद्धान्त (Theory of Primitive Culture or Mana)** - हट्टन ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए माना सम्बन्धी विश्वास को माना है। "माना" एक रहस्यमयी, अलौकिक एवं अवैयक्तिक शक्ति है। यह स्पर्श से एक व्यक्ति से दूसरे में आ जा सकती है। इसका प्रभाव अच्छा या बुरा दोनों ही हो सकता है। हट्टन के अनुसार माना सम्बन्धी विश्वास के कारण ही खान पान में भेदभाव, छुआछूत का विचार और अन्तर्विवाही व्यवस्था सम्बन्धी विशेषताएं विकसित होकर जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार बनी है।

डा. डी. एन. मजुमदार 'माना' सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहते हैं कि ''माना'' सम्बन्धी विश्वास तो प्राय: विश्व की सभी जनजातियों में हैं। यदि यही आधार जाति प्रथा की उत्पत्ति का माना जाए तो विश्व की अन्य जनजातियों में भी 'जातिप्रथा' का प्रचलन होता।

7. **विभिन्न तत्वों के सहयोग का सिद्धान्त (Multi-Factor Theory)** - जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित सभी सिद्धान्तों के वर्णन और समीक्षा के पश्चात यह स्पष्ट है कि इसको उत्पत्ति मात्र एक या दो कारक उत्तरदायी नहीं हैं। जाति प्रथा एक जटिल संस्था है, इसके उदभव व विकास में अनेक तत्व उत्तरदायी रहे हैं। इसकी उत्पत्ति में आर्य द्रविड़ संघर्ष, माना, धर्म, व्यवसाय, ब्राह्मणों की चतुरयुक्ति, व्यवसायिक श्रेणियां इत्यादि अनेक कारकों का योग है। इसे हम सर्वांगीण दृष्टिकोण से ही समझ सकते हैं। हट्टन ने इसी बात को स्पष्ट करते हुये लिखा है, ''यह बात जोर देकर कही जा सकती है कि भारतीय जाति प्रथा कई भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक कारकों की अन्त: क्रिया का स्वाभाविक परिणाम है। जो अन्य कहीं भी इस प्रकार सम्मिलित रूप में नहीं पायी जाती है। ''

निष्कर्षत: कह सकते हैं कि जाति प्रथा को जन्म देने में किसी एक कारक का नहीं वरन् अनेक कारकों का योग रहा है। वास्तव में इसकी उत्पत्ति नहीं उद्विकास हुआ है। नि:सन्देह यह विश्व में अपने ढंग की एक अद्भुत और अनूठी व्यवस्था है।

10.6 जाति प्रथा के प्रकार्य (Functions of Caste System)

जाति प्रथा ने भारतीय समाज के संरक्षण व विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है और इसे स्थायी स्वरूप प्रदान किया है। जब हम जाति प्रथा के लाभों की चर्चा करते हैं तो उसके आदर्श स्वभाव और स्वरूप के लिए होता है। जिन कार्यों से जाति प्रथा प्रशंसा का पात्र बनी है।

हट्टन ने जाति द्वारा किए जाने वाले कार्यों को 3 भागों में विभक्त किया है-

(1) व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित कार्य

(2) जातीय समुदाय के लिए कार्य

(3) समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए जाति द्वारा किए जाने वाले कार्य

(1) **व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित कार्य** :- विल्सन ने व्यक्ति के जन्म के प्रथम दिन से लेकरमृत्यु तक जीवन के समस्त सम्बन्धों व घटनाओं पर जाति प्रथा का प्रभाव दर्शाया है।

अपने सदस्यों के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित जाति के कार्य निम्नलिखित है।

(अ) **सामाजिक स्थिति को निर्धारित करना** -

जाति के आधार पर ही व्यक्ति की समाज में स्थिति निर्धारित होती है जिसे कोई भी परिस्थिति या व्यक्तिगत गुण दोष द्वारा बदला नहीं जा सकता।

मानसिक सुरक्षा प्रदान करना -

जाति व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति के सदस्यों को अपने भविष्य की जैसे - विवाह

व्यवसाय आदि की चिन्ता नहीं रहती। यह सब पूर्व निर्धारित होने से व्यक्ति को मानसिक संतोष प्राप्त होता है।

(स) पेशे का निर्णय -

निर्धारित परम्परागत पेशा होने के कारण व्यक्ति के सामने व्यवसाय चुनने व व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा की स्थिति नहीं आती।

(द) सामाजिक सुरक्षा -

प्रत्येक जाति के अपने स्थायी संघ व जाति पंचायतें होती हैं जो विपत्ति आने पर, जातिय सदस्यों की सहायता करती हैं।

(य) व्यक्तिगत अनुशासन तथा सम्मान की रक्षा -

प्रत्येक जाति के अपने कुछ नियम व प्रतिबन्ध होते हैं। जो व्यक्ति को अनुशासित रखकर उसे अवांछनीय तथा अंसामाजिक कार्यों को करने से रोकते हैं।

व्यक्तिगत जीवन में जाति के महत्व का उल्लेख करते हुए मजुमदार व मदान का कथन है कि "जाति व्यवस्था सामाजिक सुरक्षा का वह आधार है जहां व्यक्ति को रोजगार, आवास, संरक्षण और विवाह की सुरक्षा प्राप्त होती है, जो व्यक्ति के परिवर्तनशील स्वभाव से सम्भव नहीं हो पाती।"

(2) जाति समुदाय से सम्बन्धित कार्य या लाभ -

जाति समुदाय से सम्बन्धित अनेक कार्यों को भी करती है।

(अ) सामाजिक स्थिति का निर्धारण -

जाति प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति की दूसरी जाति की तुलना में सामाजिक स्थिति का निर्धारण होता है। इसके फलस्वरूप विभिन्न जाति समूह एक दूसरे के विरोधी न रहकर उनके कार्यों में सहायक होते है।

(ब) संस्कृति की रक्षा -

हट्टन कहते हैं कि प्रत्येक जाति की अपनी एक सामान्य संस्कृति रही है जिसके अन्तर्गत उस जाति विशेष का ज्ञान, कार्यकुशलता, व्यवहार आदि आते हैं। ये सब जाति में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होते रहते हैं इस प्रकार प्रत्येक जाति अपनी संस्कृति की स्थिरता को बनाए रखती है।

(स) रक्त की शुद्धता को बनाए रखना -

एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते हैं जिससे रक्त की शुद्धता बनी रहती है।

(द) जातीय एकता को प्रोत्साहन -

जाति के सदस्य अपने सदस्यों की आवश्यकता के समय सहायता करते हैं । जाति के सदस्यों के लिए जाति विद्यालय , धर्मशालाओं, चिकित्सालय, छात्रावास आदि का निर्माण किया जाता है।

(3) सम्पूर्ण समाज या राष्ट्र के लिए कार्य या लाभ

(अ) समाज में श्रम विभाजन की सरल व्यवस्था -

जाति व्यवस्था ने श्रम विभाजन की सुव्यवस्थित योजना के द्वारा विशेषीकरण को सबसे अधिक प्रोत्साहन दिया। हट्टन का कथन है कि "जाति व्यवस्था के इस कार्य ने हिन्दू समाज को एक ऐसी सावयवी व्यवस्था का रूप दिया है जिसमें सभी व्यक्ति महत्वपूर्ण कार्यों को करते रहने के बाद भी अपने पृथक अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते।

(ब) राजनीतिक व्यवस्था की एक शाखा के रूप में -

प्राचीन काल से ही जातियां राजनीतिक व्यवस्था की शाखाओं के रूप में कार्य करती आ रही हैं एवं जाति प्रथा के कारण ही समाज के सभी लोग अपने अपने कर्तव्यों का पालन करते थे और अनुशासित रहते थे।

(स) राजनीतिक स्थिरता को बनाए रखना -

विभिन्न आक्रमणकारियों के आक्रमण के समय जाति व्यवस्था ने ढाल के रूप में कार्य किया और राजनीतिक स्थिरता को कायम रखने के साथ साथ सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन को नष्ट भ्रष्ट होने से बचाया।

(द) धार्मिक जीवन का संगठन -

संसार के अनेक देशों के समान भारत में भी धार्मिक क्रान्तियां हुयी थी लेकिन जाति व्यवस्था ही वह दृढ़ आधार था जिसके कारण यह सभी सम्प्रदाय अंत में हिन्दू समाज के अंग बन गये।

(य) समाज के विकास और रक्षा में सहायक-

फर्नीवाल के अनुसार "जातिप्रथा के कारण भारत में एक बहु समाज स्थिर रह पाया है। जाति व्यवस्था ने समाज को ऐसी व्यवस्था प्रदान की है जिससे कोई भी समुदाय, चाहे वह प्रजातीय हो या सामुदायिक, सामाजिक हो, व्यावसायिक हो या धार्मिक अपनी विशिष्ट प्रकृति और पृथक सत्ता को बनाए रखते हुए अपने का समग्र समाज के एक सहयोगी अंग के रूप में उपयुक्त बना सकता है।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त जाति व्यवस्था ने दायित्व निर्वाह की प्रेरणा देने, समाज को समाजवादी आधार प्रदान करने और नैतिक शिक्षा देने के क्षेत्र में भी समाज की सेवाएं की है। इसी आधार पर हट्टन ने यह निष्कर्ष दिया है कि "जाति एक ऐसी व्यवस्था है, जिसका आधार दैवीय शक्ति से भी दृढ़ है।"

10.7 जाति व्यवस्था के दुष्कार्य (हानियाँ) (Disfunctions of Caste System)

जाति प्रथा द्वारा समाज को पहुँचाए गये लाभ के कारण इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की गयी थी लेकिन वर्तमान जीवन में जाति व्यवस्था के तथाकथित आदर्श हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन को तेजी से विघटित कर रहे हैं डा. राधाकृष्णन का मत है कि दुर्भाग्यवश वही जाति प्रथा जिसे सामाजिक संगठन को नष्ट होने रक्षा करने के साधन के रूप

में विकसित किया गया था आज उसी की उन्नति में बाधक बन रही है। जाति प्रथा के दोष निम्नांकित हैं:

(1) राष्ट्रीय एकता का ह्रास -

प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति, उपजाति और जातिग्रस्त प्रतिबन्धों में इस प्रकार उलझ गया है कि वह राष्ट्रीयता के बारे में विचार भी नहीं कर पाता।

(2) राजनीतिक एकता में बाधा -

जाति प्रथा के कारण सामाजिक विभाजन से लाभ उठाकर समय समय पर आक्रमणकारियो ने देश पर शासन किया। यहां तक कि वर्तमान चुनाव व्यवस्था पूर्णतया जाति पर आधारित है।

(3) प्रजातंत्र के लिए बाधक -

प्रजातंत्र, समानता स्वतंत्रता और न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित है जबकि वर्तमान परिस्थितियों मे जाति व्यवस्था ससमानता , रूढ़िवादिता और शोषण को प्रोत्साहन दे रही है।

(4) सांस्कृति उन्नति में बाधक -

जातीय प्रभाव के कारण प्रत्येक समूह एक दूसरे से दूर हो जाते हैं कभी कभी पारस्परिक द्वेष व घृणा के भाव इतने गहन हो जाते हैं कि वे एक दूसरे की संस्कृति को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

(5) निम्न जातियों का शोषण व अस्पृश्यता -

जाति प्रथा के अन्तर्गत निम्न जातियों को गंदे व घृणित कार्य सौंपे गये हैं इन्हें कई सामाजिक धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों से भी वंचित किया गया है।

(6) धर्म परिवर्तन -

आर्थिक व सामाजिक शोषण से मुक्ति पाने के लिए निम्न जातियों के कई लोग ईसाई एवं मुसलमान हो गये।

(7) स्त्रियों की गिरी हुई दशा -

जाति रक्षा के नाम पर ही स्त्रियों से उनकी स्वतंत्रता जैसे अधिकार छीने गये । अत: जातिप्रथा स्त्रियों की गिरी हुई दशा का एक प्रमुख कारण है।

(8) श्रमिक की गतिशीलता में बाधक -

प्रत्येक जाति का परम्परागत व्यवसाय होने के कारण, दूसरे व्यवसाय में दक्षता के बावजूद व्यक्ति अपने जातीय व्यवसाय को बदल नहीं सकता।

(9) आर्थिक विकास में बाधक -

जातीय आधार पर गुटों में विभाजित होना - अपनी जाति के लोगों को प्राथमिकता देना, समाज के एक बड़े भाग को अछूत कहकर आर्थिक क्रियाओं में भाग लेने से रोकना आदि वे कारक हैं जिन्होंने देश के आर्थिक विकास को हानि पहुंचायी है।

(10) अनेक सामाजिक समस्याओं का कारण -

जाति प्रथा के कारण अन्तर्विवाह, कुलीन विवाह, बाल विवाह, दहेज प्रथा, बेमेल विवाह, विधवा विवाह पर रोक आदि समस्याओं का जन्म हुआ।

उपरोक्त समस्याओं के अतिरिक्त आर्थिक दृष्टिकोण से एक अनुत्पादक वर्ग का निर्माण संघर्षपूर्ण समूहों का निर्माण व आर्थिक क्षेत्र में कुशलता का ह्रास भी होता है।

दोषों को देखते हुए डा. मजूमदार का कथन है कि "ब्राहमणों के लाख कहने के बाद भी जाति केवल एक विश्रंखलित सामाजिक संस्था हैं जो अपनी सेवाओं के पश्चात अब भारत के वातावरण को दुर्गन्ध से भर रही है।

10.8 जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारक व आधुनिक परिवर्तन

पश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता, प्रजातंत्र की स्थापना, धार्मिक आन्दोलन, औद्योगीकरण और नगरीकरण धन व व्यक्ति का बढ़ता महत्व, स्वतंत्रता आंदोलन, संयुक्त परिवार का ह्रास, स्त्री शिक्षा का प्रसार, जाति पंचायतों के विघटन, संवैधानिक सुधार, आदि वे कारक हैं जिन्होंने सदियों से चली आ रही जातिप्रथा को चोट पहुँचाई है एवं वर्तमान में स्थिति में बहुत तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। प्रदत्त के स्थान पर अर्जित प्रस्थिति के महत्व में वृद्धि, ब्राह्मणों के स्थिति में गिरावट, जातिगत संस्तरण में परिवर्तन, पेशे निर्धारण में छूट, अष्पृश्य दलित वर्ग का उत्थान, खान पान व वैवाहिक मान्यताओं में परिवर्तन, जातीय संगठनों के प्रभाव में कमी आदि परिवर्तित स्थितियां जातिप्रथा के भावी पतन की सूचक है।

10.9 जाति प्रथा का भविष्य

जाति प्रथा में होने वाले परिवर्तन एवं नवीन शक्तियों के दबाव के कारण कई बार इस व्यवस्था के भविष्य को लेकर आशंकाएं व्यक्त की जाने लगी हैं। **डा. श्रीनिवास** का मानना है कि भारत में कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो संख्या में थोड़े हैं किन्तु शक्तिशाली हैं, उनका मत है कि जाति प्रथा समाप्त हो जानी चाहिए। दूसरी ओर अधिकांश जनता विशेषत: हिन्दू लोग न केवल जातिप्रथा को समाप्त करने के विरोधी है वरन् वे जाति विहीन समाज की कल्पना भी नहीं कर सकते। डा. योगेन्द्र सिंह का मत है कि जाति मे होने वाले परिवर्तनों को समुत्थान एवं लचीलेपन की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। लम्बे समय तक जाति राजनीति अर्थ व्यवस्था, तथा संस्कृति के क्षेत्र में आधुनिकीकरण करने वाली सामाजिक संरचनाओं के संचालन के लिए संस्थात्मक आधार प्रदान करती रहेगी। यह कहना वैज्ञानिक दृष्टि से तार्किक नहीं है कि जाति व्यवस्था समाप्त हो रही है।

फिर भी परिवर्तित परिस्थितियां, सामाजिक पर्यावरण नगरीय क्षेत्रों में जाति व्यवस्था के पक्ष में नहीं हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में परम्परागत विचारों की जड़ें काफी गहरी हैं अत: जाति प्रथा के भविष्य के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य है कि जैसे जैसे

शिक्षा का प्रसार व जागरूकता में वृद्धि होगी जाति व्यवस्था के सिद्धान्त अप्रभावी होते जाएंगे।

10.10 सारांश

सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख प्रकार जाति व्यवस्था भारतीय समाज की आधारभूत विशेषता है। अत: भारतीय समाज को समझने के लिए जाति व्यवस्था से अवगत होना अनिवार्य है। प्रस्तुत इकाई में सर्वप्रथम हमने जाति प्रथा के अर्थ व अवधारणा पर स्पष्ट दृष्टिकोण विकसित किया। तत्पश्चात विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा दी गयी जाति प्रथा की विशेषताओं से अवगत हुए। जाति प्रथा को गहरायी से जानने के लिए आवश्यक था कि इसकी पत्पत्ति के सिद्धान्तों से भी अवगत हुआ जाए। अत: इन्हें जानने के पश्चात जाति प्रथा के प्रकार्यों से अवगत हुए कि किस प्रकार यह प्रथा हमारे व्यक्तिगत जीवन, समुदाय व सम्पूर्ण समाज के लिए लाभदायक हैं इस प्रथा ने हमारे समाज को लाभ के साथ साथ हानियां भी पहुंचाई हैं अत: हम ने इसके दुष्कार्यों पर भी ध्यान दिया। जैसे कि हम जानते हैं कि जाति प्रथा बहुत तीव्रता से परिवर्तित हो रही है। अत: सर्वप्रथम हमने उन कारकों को जानने का प्रयास किया जिनके कारण इस प्रथा में परिवर्तन दिखायी दे रहे हैं। साथ ही वर्तमान परिवर्तनों से भी अवगत हुए। अन्त में जाति प्रथा के भविष्य के बारे में विभिन्न समाजशास्त्रियों के विचारों की सहायता से एवं स्वत: निष्पक्ष मूलयांकन किया।

10.11 सन्दर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

1. डा. घुरिये - कॉस्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, संदर्भित डा. श्रीनिवास इन सोशल इनइक्वलिटी पृ0 269 (1969)
2. डा. घुरिये - कास्ट, क्लास एण्ड अक्यूपेंशन पृ0 2-27, 52, 159-177 (1961)
3. जे. एच. हट्टन - कास्ट इन इण्डिया, पृ0 46-50, 111-132, 170, 176-177, 181 - 191
4. इ. ए. एच. ब्लण्ट - द कॉस्ट सिस्टम इन नार्दन इण्डिया पृ0 5, 11-13, 28
5. नेसफील्ड - ब्रीफ व्यूज ऑफ द कॉस्ट सिस्टम
6. सेनार्ट - संदर्भित एन. एम. दत्त, ओरिजन एण्ड ग्रोथ ऑफ कॉस्ट इन इण्डिया पृ0 2
7. डा. इलावती कर्वे - व्हाट इज कॉस्ट, द इकोनामिक वीकली, जनवरी 1958
8. मजूमदार एण्ड मदान - एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल एन्थ्रोपोलोजी 1967 (पृ0 231-237)
9. डा. डी. एन. मजूमदार - रेसेज एण्ड कल्चर ऑफ इण्डिया (1961) पृ0 301
10. नर्मदेश्वर प्रसाद - जाति व्यवस्था पृ0 26, 52
11. डा. एम. एन. श्रीनिवास - कॉस्ट इन मार्डन इण्डिया, पृ0 70

2.12 प्रश्नोत्तर

लघुउत्तरीय प्रश्न –

प्र. 1 जाति की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए?

प्र. 2 जाति की उत्पत्ति के व्यावसायिक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए?

प्र. 3 जाति व्यवस्था से हमारे समाज को होने वाली हानियां पर प्रकाश डालें?

प्र. 4 जाति व्यवस्था के भविष्य पर टिप्पणी लिखें ।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न –

प्र. 1 जाति की परिभाषा दीजिए एवं इसकी प्रमुख विशेष्ताओं का विवेचन कीजिए।

प्र. 2 जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों की संक्षेप में समीक्षा कीजिए।

प्र. 3 जाति प्रथा के लाभ व हानियों का उल्लख करें?

प्र. 4 जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारक व वर्तमान परिवर्तनों पर प्रकाश डालें।

बहु विकल्पीय प्रश्न –

प्र. 1 जातिप्रथा की निम्न में से कौन विशेषता नहीं है?

1. बहिर्विवाह 2. सामाजिक संस्तरण 3. जन्मजात सदस्यता 4. पेशे का परम्परागत स्वरूप ।

उ.1 (1)

प्र. 2 जातिप्रथा की उत्पत्ति में प्रजाति के महत्व पर किस समाजशास्त्री ने विचार व्यक्त किये?

1. नेसफील्ड 2. सेनार्ट 3. रिजले 4. हट्टन

उ. (3)

प्र. 3 जाति प्रथा की उत्पत्ति का व्यावसायिक सिद्धान्त किस समाजशास्त्री ने दिया?

1. पेसफील्ड 2. रिजले 3. मजूमदार 4. हट्टन

उ. (1)

प्र. 4 जाति एक बंद वर्ग है'' यह किस समाजशास्त्री द्वारा परिभाषित किया गया ?

1. इरावती कर्वे 2. मजूमदार व मदान 3. कूले 4. हट्टन

उ. (2)

इकाई 11 वर्ग, अर्थ, अवधारणा, भारत में उदय व विकास

इकाई की रूपरेखा

11.1 उद्देश्य

11.2 प्रस्तावना

11.3 वर्ग, अर्थ, परिभाषा

11.4 वर्ग की विशेषताएं

11.5 वर्ग के निर्धारक मापदण्ड

11.6 प्रमुख समाजशास्त्रियों के विचार

11.6.1 मार्क्स

11.6.2 बेवर

11.6.3 वेबलन

11.7 वर्ग संरचना में घटित आधुनिक परिवर्तन

11.8 भारतीय वर्ग संरचना - उदय व विकास

11.8.1 कृषक वर्ग संरचना

11.8.2 नगरीय वर्ग संरचना

11.8.3 श्रमिक वर्ग

11.8.4 मध्यम वर्ग

11.8.5 उद्यमी वर्ग

11.9 सारांश

11.10 संदर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

11.11 प्रश्नोत्तर

11.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप:

* 'वर्ग' का अर्थ व परिभाषा स्पष्ट कर सकेंगे।
* वर्ग की विशेषताएं और मापदण्ड पर टिप्पणी कर सकेंगे।
* प्रमुख समाजशास्त्रियों के विचारों का उल्लेख कर सकेंगे।
* इनका भारत में उदय व विकास की विवेचना कर सकेंगे।

11.2 प्रस्तावना

वर्ग व जाति के समान वर्ग भी सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख प्रकार है। यह एक सार्वदेशिक व सार्वभौमिक प्रक्रिया है, अर्थात वर्ण और जाति जैसे प्रकार भारतीय समाज में ही दिखायी देते हैं। जबकि वर्गीय आधार पर विभाजन प्रत्येक देश व समाज में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। इसका प्रमुख कारण है कि किसी भी समाज के सदस्यों की शारीरिक, आर्थिक, बौद्धिक और सामाजिक स्थिति एक समान नहीं होती है। व्यक्ति की प्रतिष्ठा के निर्धारण में व्यक्ति की योग्यता , शिक्षा, आर्थिक स्थिति महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस प्रकार से प्रतिष्ठा आधारित विभाजित समूहों का यह सामाजिक अंतर ही सामाजिक वर्ग कहलाता है।

वर्ग संरचना सम्बन्धित प्रस्तुत इकाई वर्ग की अवधारणा के साथ साथ वर्ग से सम्बन्धित समस्त पक्षों को वर्णित करने का एक प्रयास है।

11.3 वर्ग- अर्थ व परिभाषा

सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया ऐतिहासिक, स्वाभाविक एवं सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो कि प्रत्येक समाज में न्यूनाधिक रूप में अवश्य विद्यमान नही है। वर्ण और जाति के समान ही वर्ग भी सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख आधार है। परन्तु यह जाति व्यवस्था के विपरीत अर्जित व्यवस्था है व्यक्ति अपनी शिक्षा, योग्यता के आधार पर अपने वर्ग में परिवर्तन कर सकता है। प्रत्येक मानव समाज में आयु, विवाह शिक्षा और ज्ञान, धन-सम्पत्ति एवं आय तथा व्यवसाय आदि के आधार पर व्यक्ति की प्रतिष्ठा का निर्धारण होता है। इस प्रकार से विभाजित समूहों का यह सामाजिक अंतर ही सामाजिक वर्ग कहलाता है। उदाहरणार्थ - पूंजीपति वर्ग, मजदूर वर्ग, शिक्षक वर्ग, महिला वर्ग, आदि समूहों का विभाजन वर्ग विभाजन ही है।

सामान्यतया वर्ग विभाजन का आधार आर्थिक माना जाता है परन्तु यह मात्र आर्थिक ही नहीं वरन् सामाजिक प्रस्थिति सम्बन्धित भी है। इसको दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं। कि जन्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी आधार पर निर्मित व्यक्तियों का समूह ही वस्तुत: सामाजिक वर्ग होता है। इस प्रकार एक समान सामाजिक प्रस्थिति रखने वाले व्यक्ति समानता के आधार पर परस्पर सम्बन्धित होते हैं एवं दूसरे वर्ग के सदस्यों के साथ सामाजिक दूरी अथवा पृथकता को अनुभव करते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि एक सामाजिक वर्ग एक समान स्थितियों वाले व्यक्तियों का ऐसा समूह या समुदाय होता है जिनमें वर्ग चेतनता होती है। और विचारों व व्यवहारों में समानता भी पायी जाती है।

वर्ग को निम्न परिभाषाओं द्वारा समझा जा सकता है:

(1) मौरिस जिन्सबर्ग के अनुसार -

"वर्ग व्यक्तियों का समूह है जो कि वंशक्रम व्यवसाय, धन, शिक्षा, जीवन स्तर, विचारों, भावनाओं, मनोवृत्तियों तथा व्यवहारों में परस्पर समान होते हैं अथवा इनमें से कुछ आधारों पर एक दूसरे से समानता का बोध करते हुए एक समूह का सदस्य मानते हैं।

(2) जोसेफ गिटलर के अनुसार -

एक सामाजिक वर्ग को व्यक्तियों की एक ऐसी श्रेणी से परिभाषित किया जा सकता है जिसमें एक विशिष्ट संस्कृति के मान्य कुछ गुणों के सामान्य रूप से उपस्थित होने के कारण निश्चित विशेष सुविधाएं उत्तरदायित्व तथा शक्ति प्राप्त होती है।

(3) बी. जे. कोहेन के अनुसार -

एक सामाजिक वर्ग व्यक्तियों की एक श्रेणी है जो कि सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में समान पद रखते हैं। प्रत्येक सामाजिक वर्ग धन, शक्ति और प्रतिष्ठा की कुछ समानता के द्वारा पहचाना जाता है।

(4) ई. डब्ल्यू. स्टीवर्ट के अनुसार -

सामाजिक वर्ग में वे लोग सम्मिलित रहते हैं जो कि आय, शिक्षा, व्यावसायिक प्रतिष्ठा, सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से लगभग समानता रखते हैं और जो कि इस रूप में स्वयं के द्वारा तथा अन्यों के द्वारा स्वीकार किए गये हैं।

(5) ई. ए. होबेल के अनुसार -

एक सामाजिक वर्ग एक समाज में वह समूह है जिसके सदस्यों की सामाजिक स्थितियां सामान्य होती हैं तथा जो इन स्थितियों से सम्बद्ध कार्यों को करते हुए अपने कतिपय ऐसे समान हितों के सम्बन्ध में इस जागरूकता का निकास कर लेते हैं। जो अन्य समूहों तथा लक्षणों के विरूद्ध होती है।

(6) मैकाइवर एवं पेज के अनुसार -

सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो कि सामाजिक स्थिति के आधार पर दूसरों से पृथक किया जा सके।

(7) रिचर्ड लैपियर के अनुसार -

सामाजिक वर्ग, एक सांस्कृतिक समूह है, जिसे सम्पूर्ण जनसंख्या में एक विशेष स्थिति अथवा पद प्रदान किया जाता है।

(8) आगबर्न एवं निमकॉक के अनुसार -

एक सामाजिक वर्ग किसी समाज में अनिवार्य सामाजिक स्थिति रखने वाले व्यक्तियों का योग होता है।

11.4 वर्ग की विशेषताएं (Characteristics of class)

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर वर्ग की निम्न विशेषताएं सामने आती हैं-

(1) समानता (Similarity) -

सामान्यतया एक जैसी आर्थिक व सामाजिक स्थिति वाले व्यक्ति एक वर्ग का निर्माण करते हैं। एक वर्ग के सभी सदस्य, किसी न किसी क्षेत्र में जैसे - व्यवसाय, कार्य, धन, शिक्षा, जीवन स्तर, विचार का आचरण के क्षेत्र में समरूपता रखते हैं। उदाहरण स्वरूप व्यापारी, प्राध्यापक, विद्यार्थी, शिक्षित व अशिक्षित ये क्रमश: व्यापारी वर्ग, प्राध्यापक वर्ग, विद्यार्थी वर्ग, शिक्षित वर्ग और अशिक्षित वर्ग के सदस्य होते हैं।

(2) उच्च व निम्न में वर्गीकरण (Higher or lower position of the Classes)-

प्रत्येक समाज में अनिवार्य रूप से वर्गों की एक सुव्यवस्थित श्रेणी पायी जाती है, जिसके अनुसार सर्वोच्च ऊंचाई पर उच्चतम वर्ग तत्पश्चात क्रमश: निम्न वर्ग आते जाते हैं। इस प्रकार भिन्न भिन्न वर्गों के सदस्यों की ऊँची-नीची स्थितियों के परिणामस्वरूप उनमें ऊँच-नीच की भावना पनपती है। और उसे सभी व्यक्ति व सरानुकूल परिस्थितियों में प्रकट भी करते हैं।

(3) वर्ग के निर्धारण में जन्म का महत्व नहीं होता है- (Birth plays no role in class determination) -

वर्ग की सदस्यता जन्म के आधार पर नही होती है। व्यक्ति के द्वारा किए जाने वाले व्यवसाय अथवा उसके शैक्षणिक स्तर, आय, जीवन-स्तर आदि के आधार पर उसे वर्ग की सदस्यता प्राप्त होती है।

(4) सामाजिक दूरी (Social Distance) -

समाज के सभी वर्गों के मध्य सामाजिक सम्बन्ध एक ही प्रकार के नहीं होते हैं । वर्गों में ऊंच नीच का संस्तरण भी पाया जाता है। इसीलिए सभी वर्गों की पारस्परिक स्थिति एक समान न होकर कुछ वर्ग श्रेष्ठ माने जाते हैं तो कुछ की स्थिति तुलनात्मक रूप में हीन होती है। एक सामाजिक वर्ग के सदस्य ऊँच नीच की भावना धीन होकर अपने ही वर्ग में संकुचित हो जाते हैं। यह अपने वर्ग से घनिष्ठ प्रथा अन्य वर्गों से सामाजिक सम्बन्धों की पर्याप्त दूरी बनाए रखते हैं।

उदाहरणार्थ - एक मिल मालिक मिल मालिकों से मजदूर , मजदूरों से तथा शिक्षक शिक्षकों से ही अपेक्षाकृत अधिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

(5) अप्रतिबधित (खुला) प्रवेश (Unrestricted (Open) member-ship) -

वर्ग की सदस्यता का निर्धारण जन्म आधारित नहीं होता है, इसलिए इसकी सदस्यता सभी

व्यक्तियों के लिए खुली होती है। विशिष्ट वर्ग की योग्यताएं गुण अर्जित करने के पश्चात व्यक्ति उस वर्ग विशेष की सदस्यता ग्रहण कर सकता है। उदाहरणार्थ चिकित्सक की शिक्षा व योग्यता अर्जन के पश्चात एक व्यक्ति चिकित्सक वर्ग की सदस्यता ग्रहण कर सकता है।

(6) सदस्यों को अवसरों की उपलब्धि (Privileges) -

किसी वर्ग विशिष्ट की सदस्यता ग्रहण करने के पश्चात व्यक्तियों को वर्ग से सम्बद्ध अधिकार व सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं । उदाहरणार्थ व्यापारी वर्ग के सदस्यों को अपनी व्यापारिक क्षेत्र से सम्बन्धित उन्नति व नियमों के अधीन अधिकाधिक लाभ अर्जित करने के अवसर उपलब्ध रहते हैं।

(7) वर्ग चेतना (Class - consciousness) -

एक वर्ग के सदस्यों में अपने वर्ग से सम्बद्ध लोगों के प्रति जागरूकता, चेतना की भावना पायी जाती है। श्रम यूनियनें, राज्य कर्मचारियों के संघ आदि वर्ग चेतना पर ही आधारित होते हैं?

(8) विभिन्न वर्गों में खान पान, विवाह की सहमति (Permission of Inter Class marriage and feeding) -

वर्ग की अवधारणा सामाजिक खुलेपन पर आधारित है। अत: एक वर्ग व्यक्ति के लिए यह सम्भव है कि वह किसी अन्य वर्ग के सदस्य के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है यही बात खान पान के साथ लागू होती है।

(9) अस्थिर गतिशीलता : (Instable Mobility) -

वर्ग व्यवस्था परिश्रम, योग्यता, शिक्षा, कार्यक्षमता आधारित होती है। एक वर्ग विशेष का सदस्य सदैव तथा अनिवार्यत: उसी वर्ग में रहने के लिए मजबूर नहीं होता है। धन सम्पत्ति, शिक्षा तथा व्यवसाय आदि कारणों से कोई भी व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन करने के लिए सर्वथा स्वतंत्र होता है।

(10) एक परिवार में भिन्न भिन्न सदस्यों के भिन्न भिन्न वर्ग होना (Different class membership to different members of the same family) -

एक ही परिवार के सदस्य यदि अलग अलग योग्यता व क्षमता रखते हैं अलग अलग व्यवसाय करते हैं तो वे भिन्न भिन्न वर्गों के सदस्य होते हैं। यदि एक परिवार का कोई सदस्य इंजीनियर है तो वह इंजीरियर वर्ग का होगा। यदि व्यापारी हैं तो व्यापारी वर्ग का सदस्य होगा इस प्रकार एक ही परिवार में विभिन्न वर्गों के सदस्य एक साथ रहते हैं।

(11) वर्ग की समाज के साथ सम्बद्धता (Class - an integral part of society). - समाज में व्यक्ति की अनन्त आवश्यकताएं होती हैं इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्तियों में अलग अलग योग्यता व क्षमता पायी जाती है। एवं ये व्यक्ति अलग अलग वर्गों के सदस्य बनते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि समाज और वर्ग परस्पर सम्बन्धित होते हैं।

11.5 वर्ग के निर्धारक मापदण्ड (Main Criteria of Class in Modern Societies)

वर्ग व्यवस्था सभी समाजों में कम या अधिक रूप में अनिवार्य रूप से पायी जाती है। वर्गों का निर्धारण भी समाजों में पृथक पृथक आधारों पर होता रहा है। समाज शास्त्री लिप्सटे का दृढ़ मत है कि आधुनिक युग में पाए जाने वाले जटिल समाजों की वर्ग संरचना में निम्नलिखित दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित माने जाते हैं ।

(1) प्रथम दृष्टिकोण आर्थिक तथ्व को वर्ग निर्धारण का सर्व प्रमुख मापदण्ड मानता है।

(2) द्वितीय दृष्टिकोण प्रजातांत्रिक विकास व समानता के अवसरों को अधिक महत्व देता है, आर्थिक तत्व को नहीं।

वर्तमान समाजों में वर्ग निर्धारण के संदर्भ में निम्नलिखित मापदण्ड माने जाते हैं।

(1) **शक्ति (Power)** -शक्ति सामाजिक वर्ग के निर्धारक के रूप में स्वीकार करते हुए मैक्स बेवर ने माना है कि सामाजिक क्रियाओं तथा व्यवहार के संचालन में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। चूँकि किसी भी मानव समाज में शक्ति का वितरण असमान होता है इसलिए शक्ति की मात्रा व्यक्तियों के ऊँचे नीचे समूहों में विभक्त करती है। यह शक्ति आर्थिक हो अथवा सामाजिक अथवा राजनैतिक सम्बन्धी शक्ति हो, वह प्रत्येक स्थिति में व्यक्ति की प्रस्थिति को ऊँचा करती ही है।

(2) **व्यवसाय (Occupation)** - वर्ग के निर्धारण में आर्थिक आधार का महत्व अधिक होने के कारण व्यवसाय को भी अत्यधिक सशक्त और महत्वपूर्ण कारक माना जाता है। नार्थ एण्ड हैट द्वारा किये गये व्यवसाय सम्बन्धित अध्ययन में यह निष्कर्ष सामने आया कि संयुक्त राज्य अमेरिका के व्यवसायों में सर्वाधिक प्रतिष्ठित व्यवसाय ''चिकित्सा'' और निम्नतर व्यवसाय ''जूते की पालिश'' का माना जाता है। किन्तु व्यवसाय आधारित वर्ग निर्धारण एक जटिल कार्य है उदाहरणार्थ पैतृकता के आधार पर प्राप्त धन सम्पत्ति व प्रतिष्ठादि को किस व्यवसाय के साथ संलग्न किया जाए, इसका निर्धारण जटिल है।

(3) **धन सम्पत्ति (Wealth-Property)** - आधुनिक युग में सर्वत्र धन सम्पत्ति ही व्यक्ति की स्थिति को उच्च बनाती है भले ही यह आय अथवा सम्पत्ति के स्वरूप में हो । पूंजीवादी देशों एवं भारत जैसे देश में भी धन के माध्यम से ही आर्थिक शक्ति को प्राप्त किया जाता है यहां तक कि सामाजिक व राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने का भी धन व सम्पत्ति सशक्त माध्यम है।

(4) **प्रतिष्ठा (Prestige)** - व्यक्ति के सामाजिक मान सम्मान एवं प्रतिष्ठा को भी वर्ग का एक प्रमुख निर्धारक मापदण्ड माना जाता है। यह प्रतिष्ठा व्यक्ति को शिक्षा, कार्यकुशलता, योग्यता, व्यवसाय आदि के द्वारा प्राप्त होती है। इस प्रकार कम या अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्तियों का अलग अलग समूह विभिन्न वर्गों का निर्माण करता है। अमेरिकन समाज शास्त्री लायडवार्नर ने **'Yankee City'** के अपने अध्ययन में स्पष्ट

किया कि किसी व्यक्ति की स्थिति का निर्धारण अन्य व्यक्तियों द्वारा किए गये मूल्यांकन से ही होता है। आपने इस बध्ययन में 6 वर्गों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

(1) सर्वोच्च उच्चवर्ग

(2) निम्न उच्च वर्ग

(3) उच्च मध्यम वर्ग

(4) निम्न मध्यम वर्ग

(5) उच्च निम्न वर्ग

(6) निम्नतर निम्न वर्ग

(5) **प्रजाति (Race)** - प्रजाति भी वर्ग संरचना का एक प्रमुख माप दण्ड माना जाता है । संयुक्त राज्य अमेरिका तथा दक्षिणी अफ्रीका जैसे कुछ देशों में नीग्रो लोगों को निम्न स्थिति प्राप्त है। शिक्षा, योग्यता के बावजूद भी इन्हें प्रजातीय स्तर पर निम्न माना जाता है। विभिन्न प्रकार की सामाजिक गतिविधियों तथा सामाजिक सम्पर्क आदि के क्षेत्र में इनको द्वितीय स्तर की नागरिकता प्राप्त है।

(6) **जाति (Caste)** - जाति के आधार पर सामाजिक स्थिति का निर्धारण भारतीय सामाजिक व्यवस्था में परम्परागत रूप से होता आया है। यद्यपि वर्ण व्यवस्था में सामाजिक स्थिति का निर्धारण कर्म के आधार पर होता था परन्तु जाति व्यवस्था में जन्म के आधार पर होने लगा। जातियों में भी वर्ग की ही भांति जाति सम्बन्धी जागरूकता और चेतना उपस्थित होती है तथा विभिन्न जातियां ऊँच नीच की भावना के आधार पर ही सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करती है।

(7) **शिक्षा (Education)** - शिक्षा भी वर्ग निर्धारण का महत्वपूर्ण कारक है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को सामाजिक पद प्रतिष्ठा आर्थिक उन्नति के अवसर प्राप्त होते हैं।

निष्कर्ष (Conclusion) - इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शक्ति, प्रतिष्ठा, धन सम्पत्ति, शिक्षा, व्यवसाय जाति प्रजाति आदि वर्ग निर्धारण के प्रमुख कारक हैं।

11.6 वर्ग –प्रमुख समाजशास्त्रियों के विचार वर्ग सम्बन्धी विचार पर मार्क्स का दृष्टिकोण

मार्क्स वाद का ऐतिहासिक भौतिकवाद तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त वर्ग की मूल धारणा पर ही आधारित है। आपके अनुसार वर्गों का निर्माण 'भौतिक विभाजन की प्रक्रिया' के परिणामस्वरूप होता है, शासीरिक लक्षणों, धर्म, जाति बौद्धिक विशेषताओं तथा सम्प्रदाय आदि तत्वों के आधार पर नहीं होता है। कार्लमार्क्स कृत वर्गों को हम आर्थिक वर्ग भी कह सकते हैं जो उत्पादन की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप विकसित होते हैं इस प्रकार मार्क्स के अनुसार जिन लोगों की उपार्जन विधि एक समान होती है वह एक वर्ग में आते हैं।

34.6.1 **कार्ल मार्क्स** — मार्क्स के अनुसार अति प्रारम्भ से ही मानव समाज स्पष्टतया 2 वर्गों में विभाजित रहा है। प्रथम वर्ग जो उत्पादन के सम्पूर्ण साधनों का स्वामी होता है तथा

द्वितीय वर्ग जो अपने शारीरिक मानसिक श्रम द्वारा उत्पादन कार्य करता है। पहला वर्ग राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक दृष्टि से शासक व दूसरा वर्ग शोषित होता है। आपका मानना है कि इन दोनों वर्गों का अस्तित्व क्रमशः दासयुग में स्वामी और सेवक के रूप में, सामन्तवादी युग में जमीदार या सामन्त तथा कृषक के रूप में तथा आधुनिक युग में पूंजीपति तथा श्रमिक के रूप में देखा जा सकता है।

मात्र आर्थिक आधार को वर्ग की उत्पत्ति सम्बन्धी एक मात्र कारक स्वीकार किए जाने के कारण मार्क्स के सिद्धान्त की आलोचना की गयी। जैसा कि मैकाइवर और पेज का मानना है कि वर्गों को मात्र आर्थिक भेद पर आधारित नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सामाजिक स्थिति पर भी तो आधारित होते हैं। राबर्ट बीरस्टीर वर्ग निर्धारण प्रक्रिया में निम्नलिखित 7 तत्वों का प्रमुख योगदान मानते हैं।

(1) सम्पत्ति, धन, पूंजी अथवा आय

(2) परिवार अथवा रक्त सम्बन्धी समूह

(3) निवास का स्थान

(4) निवास की अवधि

(5) आजीविका साधन

(6) शिक्षा

(7) धर्म

34.6.2 मैक्स बेवर — जर्मन समाजशास्त्री मैक्सबेवर ने प्रतिष्ठा के वितरण के आधार पर अपनी सामाजिक वर्ग की अवधारणा का प्रतिपादन किया है तथा सामाजिक व्यवस्था के सामाजिक, आर्थिक तथा वैधानिक नामक 3 प्रमुख अंगों में सर्वाधिक महत्व आर्थिक कारक को दिया है आपके अनुसार सम्पत्तिवान होना अथवा सम्पत्ति हीन होना ही वर्ग निर्माण का मुख्य कारण होता है। इसी प्रकार सम्पत्ति और सेवाओं के प्रकार से सम्पत्ति तथा सम्पत्ति हीन वर्गों का उपविभाजन होता है। जिनके पास न तो कोई सम्पत्ति होती है और न ही उनको किसी प्रकार की सेवाओं ओर वस्तुओं के उपभोग का अवसर ही प्राप्त होता है। मैक्सबेवर ने उनको किसी भी वर्ग में सम्मिलित नहीं माना है। वेबर इनको प्रस्थिति समूह (Status Camp) मानते हैं वेबर के अनुसार गुलाम अथवा दास इस समूह के उदाहरण हैं।

34.6.3 थार्सरीन वेबलन - अमेरिकन विचारक थार्सटीन वेबलन के अनुसार सम्पूर्ण मानवीय क्रियाओं सम्बन्धित वर्ग के दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) उत्पादक कार्य सम्बन्धित उत्पादक या श्रमिक वर्ग

(2) अनुत्पादक कार्य सम्बन्धित अनुत्पादक या विलासी वर्ग

प्रथम प्रकार के उत्पादक कार्य समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति व संतुष्टि हेतु रचनात्मक होते हैं इन्हें करने वाला वर्ग उत्पादक अथवा श्रमिक होता है। यह वर्ग मात्र

जीवित रहने भर की वस्तुओं का उपभोग कर पाता है।

जबकि द्वितीय प्रकार के अनुत्पादक कार्य वह है जो समाज की आवश्यकताओं सम्बन्धित उपयोगी व रचनात्मक नहीं होते हैं। इस वर्ग से सम्बन्धित उपयोगी व रचनात्मक नहीं होते हैं। इस वर्ग से सम्बन्धित लोग विलासी जीवन व्यतीत करते हैं। यह वर्ग उपभोग और उत्पादन के सम्पूर्ण साधनों का स्वामी होता है और आर्थिक व्यवस्था पर हावी होता है।

आपके अनुसार प्रारम्भिक स्तर में 'पुरूष वर्ग' तथा 'स्त्रीवर्ग' यही दोनों वर्ग थे। सामन्तयुगीन समाज में उत्पादक कार्य करने वाले व्यक्ति को 'खेतिहर मजदूर तथा कृषकों द्वारा उत्पन्न वस्तुओं के आधार पर विज्ञासी जीवन व्यतीत करने वाले वर्ग को 'सामन्त' कहा जाता था। आधुनिक युग में इनको पूंजीपति और श्रमिक शब्दों से पहचाना जाता है।

इस प्रकार वेबलन की विलासी वर्ग की अवधारणा पूर्णतया आर्थिक है, जिसमें उत्पादन के स्थान पर उपभोग पर अधिक जोर दिया गया है। वेबलन शोषण के निवारणार्थ वर्ग संघर्ष का भी उल्लेख करते हैं।

11.7 वर्ग संरचना में घटित आधुनिक परिवर्तन

वर्तमान युग के जटिल औद्योगिक तथा पूंजीवादी समाजों में वर्ग संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन सामने आये हैं - जैसा कि समाजशास्त्री रॉल्क डेहसडार्फ का मत है कि वर्तमान औद्योगिक समाज कारपोरेट व्यवस्था (संयुक्त स्वामित्व व्यवस्था) पर आधारित है। अब निजी स्वामित्व का स्थान अंशधारियों एवं संयुक्त समूह के हाथ में है। अत: अब समाज में पूंजीपति वर्ग की अवधारणा जटिल हो गयी है।

पूंजीपति वर्ग के ही समान आधुनिक युग का श्रमिक वर्ग भी विभिन्न प्रकार की असमानताओं तथा विभिन्नताओं के कारण विभाजित है, जिसके कारण श्रमिक वर्ग की सजातीयता आधारित चेतना लुप्त हो चुकी है।

वर्तमान औद्योगिक जटिल समाज में मध्यमवर्ग एक सशक्त वर्ग के रूप में उभर कर सामने आया है। यह वेतनभोगी वर्ग अपनी शिक्षा, योग्यता के आधार पर अधिकारी तंत्र मे भी सम्मिलित होता है। साथ ही कम आय वर्ग के आधार पर श्रमिक वर्ग के समीप भी माना जाता है।

11.8 भारतीय वर्ग संरचना - उदय व विकास

भारतीय वर्ग संरचना से अवगत होने के लिए हम इसका कृषक वर्ग व नगरीय वर्ग के रूप में अलग अलग अध्ययन करेंगे।

कृषक वर्ग संरचना -

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासनकाल से पूर्व की अवधि : भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर थी। उत्पादन की व्यवस्था विभिन्न जातियों के बीच प्रकार्यात्मक निर्भरता पर आधारित थी। थार्नर के अनुसार ग्रामीण अपने पारम्परिक उद्योग धन्धों को विरासत में पाते

थे। शिल्पकार और दस्तकार भी कृषि पर निर्भर थे। ग्रामीण अपने द्वारा उत्पादित भालों का स्वयं उपभोग करते थे। ग्राम समुदायों पर राज्य का नियंत्रण रहता था राज्य भू स्वामी के सोपान क्रम में शीर्ष पर था । इनके ठीक नीचे जागीरदार थे, राजा ने इन्हें भूमि आवंटित की थी। इने पश्चात जमींदार तथा सोपान क्रम में सबसे नीचे कृषक थे। उन दिनों न तो भूमि का क्रय विक्रय होता था और न ही मासिक मजदूर (सम्बन्ध थे)।

ब्रिटिश शासन काल में कृषक वर्ग संरचना - औपनिवेशिक भूमि नीति लागू करने के साथ-साथ ब्रिटिश शासनकाल में कृषक समाज स्तरीकृत हो गया था। ब्रिटिश शासन ने भारत में मुख्य तीन प्रकार की भूमि पट्टेदारी व्यवस्थाएं लागू की थी (1) जमीदारी (2) रैयतवाड़ी (3) महलवारी । इन व्यवस्थाओं का उद्देश्य था - अधिकाधिक लगान वसूल करना व कृषि में मुक्त व्यापार आरम्भ करके इसे औपनिवेशिक बाजार का हिस्सा बनाना।

ब्रिटिश शासनकाल में भारत में निम्न कृषक वर्ग उभर कर आए -

(1) **जमींदार** - इस वर्ग में कई उपवर्ग भी सम्मिलित थे जैसे - बिचौलिए, भूस्वामी व धनी किसान आदि। ये पट्टेदारों बटाई द्वारों व कृषि श्रमिकों का उपयोग कृषि कार्य हेतु अपनी भूमि पर करते थे।

(2) **पट्टेदार** - ये छोटे भूस्वामियों से भूमि पट्टे पर लेते थे। एवं अपनी भूमि के कुछ हिस्सों पर खेती करवाने हेतु उप पट्टेदारों का उपयोग करते थे।

(3) **कृषक भू-स्वामी** - ये छोटे भूखण्डों के जोतदार थे और जीवन निर्वाह हेतु ही खेती कर पाते थे।

(4) **कृषि श्रमिक वर्ग** - ये अपने जीवन यापन हेतु खेतिहर मजदूर के रूप में दूसरों के खेतों पर कार्य करते थे।

इस औपनिवेशिक शासन काल में एक नए भूस्वामी वर्ग का उदय हुआ जिसने सूदखोरी का धंधा अपनाया।

रामकृष्ण मुखर्जी बंगाल का गहन अध्ययन करते हुये लिखते हैं कि इस समय की आर्थिक प्रणाली ने वर्ग - 1 (जमींदारों और पर्यवेक्षी किसानों का वर्ग) के उदय को आधार दिया और वर्ग ॥। (बटाइदारों और कृषक श्रमिकों का वर्ग), वर्ग - ॥ (आत्मनिर्भर कृषक, शिल्पकार और व्यापारियों का वर्ग) के बिखरने से बना।

34.8.1 कृषक वर्ग संरचना :-

कृषि की दशा को सुधारने हेतु स्वतंत्रता पश्चात राष्ट्रीय और राज्य सरकारों ने भूमि सुधार व ग्रामीण विकास कार्यक्रमों को अपनाया। लेकिन ग्रामीण विकास की रणनीतियों ने कृषक समाजों में क्षेत्रीय विषमताओं और घोर असमताओं को भी उत्पन्न किया। बड़े भूस्वामियों ने भूमिसुधार व आधुनिकीकरण का अधिकतम लाभ उठाया।

कोतोवस्की के अनुसार भारतीय ग्रामीण सामाजिक संरचना में बुर्जुआ, भूस्वामी, बटाईदार और कृषि श्रमिक ही मुख्य वर्ग है। **अशोक रूद्र** भारत के कृषक समाज में मोटे तौर पर दो मुख्य वर्गों - बड़े भू स्वामियों और कृषि श्रमिकों के वर्गो को सम्मिलित करते है।

इस प्रकार भारत में कृषक वर्ग संरचना को निम्न रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं-

(1) धनी कृषक (2) मध्यम कृषक (3) निर्धन कृषक (4) भूमिहीन श्रमिक। यह वर्गीकरण भूमि की मात्रा पर आधारित है भूमिहीन श्रमिक इस क्रम में सर्वाधिक निचले स्तर पर होते हैं। जो पारिश्रमिक भुगतान के आधार पर अपना श्रम बेचते हैं।

ए.आर. देसाई के अनुसार विकास की इस प्रक्रिया द्वारा विभिन्न निर्धन वर्गों का एक बड़ा हिस्सा ओर भी अधिक निर्धन हो गया है। उच्च और निम्न वर्ग के बीच तनाव और संघर्ष भी और गहरे हो गये हैं। औद्योगीकरण के पश्चात उदारीकरण औरवैश्वीकरण की प्रक्रिया से कृषि के लाभकारी व्यवसाय न रह पाने के कारण कृषकों की स्थिति और दयनीय व असुरक्षित होती जा रही है।

11.8.2 नगरीय वर्ग संरचना -

सामान्यतया नगरीय वर्ग संरचना का उदय भारत में औपनिवेशिक शासन के प्रभाव स्वरूप सामने आया। औपनिवेशिक औद्योगिक नीति ने भारतीय परम्परागत ग्रामीण व कुटीर उद्योगों को अलाभदायक कर दिया। शनैः शनैः इनके समाप्त होने से ग्रामीण दस्तकारों व शिल्पियों का एक बड़ा हिस्सा रोजगार की तलाश में नगरों की ओर आने लगा। भारत में उद्योगों की शुरूआत 1850 से मानी जाती है। 1890 तक लगभग 3,00,000 श्रमिक कपास व जूटमिलों ने तथा लगभग 2,00,000 श्रमिक खदानों में काम करते थे।

भारत में पारम्परिक नगर तो थे ही, ब्रिटिश उपनिवेशीय शासनकाल में नए नगरीय केन्द्र उभर कर सामने आए। इन नगरीय केन्द्रों में नए नए सामाजिक समूह भी उभर कर सामने आए जैसे - प्रशासक और व्यापारी अभियान वर्ग, व्यावसायिक समूह, शिक्षित लिपिक वर्ग और श्रमिक वर्ग। श्रमिक वर्गों में मुख्यतः कारखाने के श्रमिक और असंगठित क्षेत्रों में लगे अकुशल मजदूर थे।

11.8.3 श्रमिक वर्ग संरचना -

स्वतंत्रता के पश्चात भी श्रमिकों का नगरीय क्षेत्रों में रूझान बढ़ा ही है। 1951 में पूरे श्रमिकों में मात्र 14% नगरीय थे। मगर 1981 में इनका प्रतिशत बढ़कर 20 हो गया। संगठित क्षेत्रों में श्रमिकों की जनसंख्या बढ़ रही है। साथ ही असंगठित क्षेत्र जैसे - सब्जी, फल, अखबार बेचने वाला, निर्माण क्षेत्र में लगे श्रमिक , दैनिक मजदूर दुकानों व घरेलू नौकरों के रूपये भी इनकी जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुयी है। संगठित क्षेत्रों के श्रमिक वर्ग श्रम संघों के माध्यम से अपनी कार्य दशाओं वेतन आदि में सुधार हेतु सौदेबाजी करने में सक्षम रहे हैं। इसके विपरीत असंगठित क्षेत्र के श्रमिक मूल भूत सुविधाओं को भी नहीं प्राप्त कर सके।

11.8.4 मध्यम वर्ग संरचना -

औद्योगिक औपनिवेशिक शासन की देन मध्यम वर्ग के रूप में भी सामने आयी। यह मध्यम वर्ग एक सशक्त वर्ग के रूप में उभरा।

बी. बी. मिश्रा के अनुसार भारतीय मध्यम वर्ग में मुख्य रूप से निम्न समूह है:

1) व्यापारी, व्यापारिक फर्मों के मालिक व एजेन्ट ।

2) प्रबन्धक, पर्यवेक्षक, तकनीकी स्टाफ आदि।

3) उच्चवेतन भोगी अधिकारी, राजनीतिक समाजसेवी, सांस्कृतिक, शैक्षिक निकाय।

4) सार्वजनिक क्षेत्रों के कर्मचारी।

5) वकील, डाक्टर, प्राध्यापन, पत्रकार, कलाकार, प्रोफेसर, धर्माचार्य आदि।

6) संयुक्त और कृषि सम्पत्ति, किराया जीवी वर्ग, राजस्व कृषक आदि।

7) स्थापित दुकानदार, संयुक्त पूजी कम्पनियों के नियुक्त प्रबंधन, लेखाकार, होटलों के संचालक आदि।

8) ग्रामीण उद्यमी, भू-सम्पदा के वेतन भोगी प्रबंधक।

9) विश्वविद्यालय अथवा समान स्तर पर पढ़ने वाले पूर्णकालिक विद्यार्थी।

10) लिपिकीय कार्य करने वाले कर्मचारी।

11) उच्च माध्यमिक स्कूलों के अध्यापक, स्थानीय निकायों के अधिकारी और राजनीतिक कार्यकर्ता।

मध्यम वर्ग का एक और वर्गीकरण वर्ग संघर्ष सम्बन्धी मार्क्सवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत किया जाता है। इनको दो श्रेणियों पुराना मध्यम वर्ग ओर नया मध्यम वर्ग में विभाजित किया जा सकता है।

पुराना मध्यम वर्ग –

इस वर्ग के लोग उत्पादन के साधनों के मासिक के साथ साथ इन पर कार्य करने वाले श्रमिक भी होते हैं। इनमें व्यापारी, देनदार, स्वतंत्र व्यवसायी दुकानदार, छोटे विनिर्माता आदि सम्मिलित होते हैं।

नया मध्यम वर्ग –

नये मध्यम वर्ग में प्रौद्योगिकीय वैज्ञानिक और प्रबंधकीय विकास से सम्बद्ध कार्मिकों की एक नयी सामाजिक श्रेणी आती है। इस वर्ग का उदय उत्पादन पद्धति में वैज्ञानिक और तकनीकी क्रान्ति से हुआ है।

इस वर्ग की वृद्धि से औद्योगिक समाजों की वर्ग संरचना में परिवर्तन आया है। पहले पूंजीवादी समाज की वर्ग संरचना पिरामिड के आकार की थी, जो अब हीरक आकार की हो गयी है

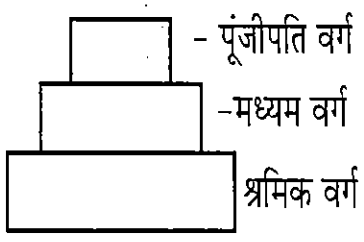

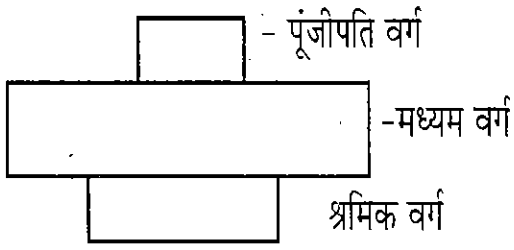

11.8.5 उद्यमी वर्ग संरचना -

भारतीय पूंजीपति वर्ग या उद्यम वर्ग का प्रारम्भ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सूती वस्त्र उद्योग की स्थापना से हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारतीय जनता की मांग पूर्ति के लिए भारतीयों द्वारा उद्योगों का तीव्र गति से विकास किया गया प्रारम्भ में पारसी , गुजराती और मारवाड़ी मूलत: उद्यमी थे इन उद्यमियों द्वारा किया गया निवेश कम पूंजी लागत वाले उद्योगों में किया गया अत: स्वतंत्रता पश्चात योजना बद्ध आर्थिक विकास की प्रक्रिया में आधारभूत उद्योगों में सरकारी निवेश पर ध्यान दिया गया।

बाद के वर्षों में भारत के उद्यमी वर्ग के सामाजिक आर्थिक संगठन में परिवर्तन देखने को मिला। ग्रामीण और लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकारी प्रोत्साहन दिया जाता रहा। साथ ही नया उद्यमी वर्ग उभरकर सामने आया है जो उन्नत प्रौद्योगिकी का प्रयोग कर रहा है। इनमें परम्परागत जातियों से हटकर विभिन्न जातियों के प्रौद्योगिकीविद शिक्षित युवक, उद्यमी महिलाएं आदि हैं।

11.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई वर्ग संरचना आधारित इकाई थी, जिसका हम लोगों ने अध्ययन किया। इस इकाई में हम सर्वप्रथम वग्र के अर्थ, परिभाषा और विशेषताओं से अवगत हुए, तत्पश्चात वर्ग के निर्धारण में किन कारकों का महत्व है उन्हें भी जाना। साथ ही विभिन्न समाज शास्त्रियों ने अपने अध्ययनों में वर्ग को किस रूप में परिभाषित किया उनसे भी अवगत हुए। वर्ग की संरचना में समाज में परिवर्तन के साथ साथ न्यूनाधिक परिवर्तन आते हैं अत: इसमें घटित आधुनिक परिवर्तनों का भी अध्ययन किया। अंत में हम भारतीय परिप्रेक्ष्य में ग्रामीण व नगरीय दोनों ही क्षेत्रों में वर्गों के उदभव और विकास से भी हम अवग्न हुए।

11.10 संदर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

1. आर. एम. मैकाइवर व पेज - सोसायटी - पृ 348
2. कार्ल मार्क्स - जर्मन आइडियालॉजी
3. मैक्सवेबर - द थ्योरी आफ सोशल एण्ड एकोनॉमिक आर्गनाइजेशन
4. थार्सटीन वेबलन - द थ्योरी ऑफ लेबर क्लास
5. के. एम. पणिक्कर - भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण
6. बेते ए. 1976 ''स्टडीज इन एग्रेनियन सोशल स्ट्रक्चर न्यू देहली, आक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस
7. सेन, एस 1979, वर्किंग क्लास ऑफ इण्डिया हिस्ट्री ऑफ एमरजेंस एण्ड मूवमेंट, के. पी. बागची एण्ड कं0 कलकत्ता।
8. डा. बी. बी. मिश्रा, 1978 द इण्डियन मिडिल क्लासेज, देयर ग्रोथ इन माडर्न टाइम्स, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस दिल्ली

9. सिंघर एम. 1973 – इण्टरप्रीन्योरशिप एण्ड मार्डनाइजेशन आफ आक्यूपेशनल कल्चर इन साउथ एशिया, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

11.11 प्रश्नोत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न –

प्र. 1 वर्ग की अवधारणा स्पष्ट करें ।

प्र. 2 वर्ग के क्या निर्धारक मापदण्ड हैं?

प्र. 3 वेबलन द्वारा दी गयी वर्ग की अवधारणा स्पष्ट करें?

प्र. 4 कृषक वर्ग संरचना के उद्भव को संक्षेप में बताएं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न –

प्र. 1 वर्ग किसे कहते हैं? इसकी विशेषताओं का उल्लेख करें ?

प्र. 2 वर्ग सम्बन्धी प्रसिद्ध समाजशात्रियों के विचारों की आलोचनात्मक विवेचना करें?

प्र. 3 वर्ग के निर्धारक मापदण्ड का विस्तृत उल्लेख करें?

प्र. 4 ग्रामीण (कृषक) वर्ग संरचना व नगरीय वर्ग संरचना के उद्भव का विकास पर प्रकाश डालो?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न –

प्र. 1 "एक सामाजिक वर्ग किसी समाज में अनिवार्य सामाजिक स्थिति रखने वाले व्यक्तियों का योग होता है।" यह परिभाषिक समाजशास्त्री ने दी है।

1. आगबर्न व निमकोफ 2. इ. ए. होबेल 3. जिन्सबर्ग 4. मैकाइवर व पेज

उ. (1)

प्र0 2 निम्न में कौन वर्ग का निर्धारण मापदण्ड नहीं है।

1. व्यवसाय 2. शक्ति 3. प्रतिष्ठा 4. रंग रूप

उ. (4)

प्र. 3 राबर्ट बीरस्टीड ने वर्ग निर्धारण के कितने तत्वों का योगदान माना है?

1. 4 2. 5 3. 6 4. 7

उ. (4)

प्र. 4 ब्रिटिश शासन काल में निम्न में से कौन सी भूमि पट्टेदारी व्यवस्था लागू नही थी?

1. जमीदारी 2. रैय्यतवादी 3. महलवादी 4. पट्टेदारी

उ. (4)

इकाई 12 वर्ण, जाति एवं वर्ग में अन्तर व जाति व वर्ग के मध्य अन्तक्रियात्मक सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

12.1 उद्देश्य

12.2 प्रस्तावना

12.3 जाति व वर्ण में अन्तर

12.4 जाति व उपजाति

12.5 जाति व वर्ग में अन्तर

12.6 जाति और वर्ग का अर्न्तक्रियात्मक स्वरूप

12.7 सारांश

12.8 संदर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

12.9 प्रश्न उत्तर

12.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप:

* वर्ण और जाति के सह-सम्बन्ध के साथ-साथ अंतर की विवेचना कर सकेंगे।
* जाति के उप विभाजन, उपजाति की भी विवेचना कर सकेंगे।
* जाति और वर्ग के मध्य अंतरक्रियात्मक रूप की व्याख्या कर सकेंगे।

12.2 प्रस्तावना

विश्व के समस्त समाजों में स्तरीकरण पाया जाता है, परन्तु इनके स्वरूप में भिन्नता हो सकती है। पश्चिमी समाजों में स्तरीकरण का आधार आर्थिक है जो कि वर्ग आधारित है जबकि भारत में यह आधार सामाजिक है जो वर्ण, जाति, उपजाति आधारित है। पूर्व इकाइयों द्वारा हम वर्ण, जाति व वर्ग से अलग अलग अवगत हो चुके हैं । इनकी उत्पत्ति व विशेषताओं का भी अध्ययन कर चुके हैं। नि:सन्देह कोई भी व्यक्ति अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति अकेले नहीं कर सकता है। इसके लिए श्रम विभाजन आधारित स्तरीकरण अपरिहार्य है। इस स्तरीकरण का सर्व स्वीकार आधार क्या हो, यह विवाद का विषय है। भारत जैसे देश में जहां सामाजिक व्यवस्था को अधिक महत्व दिया गया है वही पश्चिमी समाजों में आर्थिक व्यवस्था को । अत: स्तरीकरण के आधार में भी भिन्नता दिखाई देती है।

वर्तमान में उदारीकरण वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने सम्पूर्ण विश्व को संकुचित कर दिया है। विश्व के एक कोने में घटित किसी भी घटना का प्रभाव अन्य दूसरे क्षेत्रों में भी दिखायी देने

लगा है। किसी भी देश की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था देश विशेष की न होकर विश्वव्यापी हो गयी है। अर्थ तंत्र के बढ़ते महत्व ने वर्ग व्यवस्था को अधिक प्रभावशाली बना दिया है। अत: विद्वानों के अनुसार जाति उपजाति में भी वर्ग रूपान्तरण की प्रक्रिया दिखायी देने लगी है।

12.3 जाति और वर्ण (Caste and Varna)

जाति एवं वर्ण भारतीय सामाजिक व्यवस्था की आधारभूत विशेषताएं हैं। भारतीय जाति व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था से पृथक करके नहीं समझा जा सकता। यद्यपि जाति प्रथा की उत्पत्ति के वास्तविक आधार को समझना आसान कार्य नहीं है। जैसा कि ब्लण्ट लिखते हैं कि "जाति के उद्गम के कुछ सिद्धान्त तो बिल्कुल हास्यास्पद है लेकिन जिन सिद्धान्तों को बहुत चालाकी एवं वैज्ञानिक आधारों के साथ रखा गया है, वे भी जाति के उद्गम के यथार्थ आधार को स्पष्ट करने में असफल रहे।" फिर भी जाति की उत्पत्ति में वर्ण की भूमिका अत्यन्त ही महत्वपूर्ण रही है। हिन्दुओं के कुछ प्रमुख धर्मग्रन्थों में जैसे गीता महाभारत स्मृतियों में जाति की उत्पत्ति को किसी न किसी रूप में वर्ण व्यवस्था से जोड़ा गया है। महाभारत व गीता में जातियों की उत्पत्ति की व्याख्या 'वर्ण संकरता' के आधार पर की गयी है।

मनुस्मृति में मनु उल्लेख करते हैं कि जातियों की उत्पत्ति प्रतिलोभ विवाह एवं वर्ण संकरता के आधार पर हुयी है। वर्ण संकर श्रेणियां एक नयी जाति व उपजाति का रूप लेती गयी। इस तरह वर्ण व्यवस्था, के सैद्धान्तिक आधार पर ही हजारों जातियों का निर्माण हुआ। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत खान-पान, विवाह, सामाजिक सम्पर्क और पवित्रता सम्बन्धी विभिन्न नियम वर्ण व्यवस्था के नियमों पर आधारित है इसीलिए कुछ विचारकों के अनुसार वर्ण और जाति में केवल नाम का ही अंतर है। कार्य का नहीं। किन्तु हट्टन का मत है कि ये दोनों भिन्न भिन्न होने के कारण इसके विभिन्न खण्डों जैसे - ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्रों का दोनो में ही उपस्थित होना है।

1. व्यक्ति के गुण और कर्म वर्ण निर्धारण के आधार माने गये हैं। जबकि जाति व्यवस्था का एक मात्र आधार व्यक्ति का जन्म अथवा आनुवांशिकता है।

2. वर्ण व्यवस्था भारतीय सामाजिक जीवन की प्राचीन व्यवस्था जबकि जाति व्यवस्था का इतिहास अधिक पुराना नहीं है इसकी उत्पत्ति बौद्ध और जैन धर्मों के ह्रास के बाद से ही मानी जाती है।

3. वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत समाज का विभाजन केवल 4 प्रमुख वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में देखने को मिलता है जबकि जाति व्यवस्था लगभग 3000 जातियों और उपजातियों में विभाजित है। इस प्रकार जाति व्यवस्था की विचारधारा वर्ण व्यवस्था की अपेक्षा संकुचित है।

4. गुण और कर्म पर आधारित होने के कारण व्यक्ति अपने वर्ण की सदस्यता परिवर्तित कर सकता था इस प्रकार इस व्यवस्था में खुलापन ओर उदारता है जबकि जाति व्यवस्था एक बंद व्यवस्था है व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है वह जीवन पर्यन्त

उसी जाति का सदस्य रहता है। इसी संदर्भ में डा0 राधाकृष्णन का मत है कि ''जन्म के समय प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है बाद में अपने कर्मों के अनुसार ही वह एक विशेष वर्ण की सदस्यता प्राप्त करता है।

5. वर्ण व्यवस्था में ऊंच-नीच का संस्तरण नहीं पाया जाता है, सभी वर्णों का समान महत्व माना गया है। दूसरी ओर जातियों में ऊँच नीच की भावना होती है। महात्मा गांधी के अनुसार ''वर्ण व्यवस्था एक वैज्ञानिक तथ्य है जिसका कार्य सभी के कर्तव्यों को स्पष्ट करके व्यक्ति को अवांछनीय प्रतिस्पर्धा से बचाना था। इसके पूर्णतया विपरीत जाति व्यवस्था कुछ निहित स्वार्थों पर आधारित असमानता का एक ज्वलन्त उदाहरण है जिसमें उच्च जातियों को सभी प्रकार से विशेषाधिकार दिए गये हैं और शूद्रों को सभी अधिकारों से वंचित कर दिया गया है सभी जातियां इतनी संकीर्ण सामुदायिक भावना को प्रदर्शित करती हैं कि उनकी वर्णव्यवस्था जैसी उदार नीति से तुलना भी नहीं की जा सकती।

6. वर्ण व्यवस्था कर्तव्यों की व्याख्या करती है जबकि जाति खान पान विवाह, सामाजिक सहवास एवं पेशे सम्बन्धी निषेधों की।

7. वर्ण व्यवस्था की प्रकृति लोचशील है विभिन्न वर्णों के धर्म अथवा कर्तव्य पृथक पृथक होने पर भी इस व्यवस्था में अनुलोम विवाद (अर्थात पुरूष के वर्ण से निम्न वर्ण की स्त्री के बीच वैवाहिक सम्बन्ध की स्वीकृति दी गयी है। इसके विपरीत जाति व्यवस्था में सभी जातियां पूर्णतया अन्तर्विवाही है और किसी स्थिति में भी एक जाति को दूसरी जाति के अंदर विाह करने की अनुमति नहीं दी गयी है।

12.4 जाति और उपजाति (Caste and Sub-Caste)

भारतीय जाति व्यवस्था में जाति और उपजाति का विकास समय अन्तराल के साथ हुआ है। यह सही है कि जाति और उपजाति में व्यवसाय और सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी कुछ सामान्य विशेषताएं होती हैं किन्तु समाज में दोनों का पृथक अस्तित्व है दोनों में अन्तर है यद्यपि ये अन्तर बहुत स्पष्ट नहीं है क्योंकि दोनों के समान लक्षण है एक उपजाति जाति का ही उपविभाजन है। 'ब्राह्मण वर्ण' और जाति दोनों ही हैं। कान्यकुब्ज सरयूपारीय और गौड़ ब्राह्मण जाति के उदाहरण है और श्रीमाली पुरोहित आदि उप जातियों के उदाहरण है।

उपजातियों की उपत्पत्ति के विषय में दो दृष्टिकोण है प्रथम कि उनका एक ही समूह के विखण्डन से उदय हुआ, और दूसरा कि उनका उदय स्वतंत्र समूहों के रूप में हुए घुरिये के अनुसार उपजातियों का जातियों से अन्तर निम्न कारकों के आधार पर किया जा सकता है क्षेत्रीय पृथकता मिश्रित उत्पत्ति, व्यावसायिक श्रेष्ठता, व्यावसायिक तकनीकि में अन्तर रीति रिवाजों में असमानता और उपनाम को अपनाना। रिजले हट्टन और मजूमदार ने उपजाति को मुख्य जाति से अपनी प्रस्थिति को उठाने के लिए टूटने का परिणाम माना। इसी तरह बी. आर. चौहान विखण्डन के कारण उपजाति का जन्म मानते हैं। विखण्डन के अतिरिक्त अन्य कारकों जैसे प्रव्रजन, रिवाजों में परिवर्तन, राजनैतिक निर्णयों आदि कारकों को भी उपजाति के निर्माण में सहायक मानते हैं। **क्रिकपैट्रिक** का मानना है कि उपजातियां, जो

जातियों से विखण्डित समूह है प्रारम्भ में प्रव्रजन तथा सामाजिक व राजनैतिक कारकों के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में आई, लेकिन आज वे किसी घृणित जाति में समृद्ध व्यक्तियों द्वारा अपने निम्न जातीय भाइयों से अलग हो कर नए नाम से सामाजिक पैमाने में अपने को उठाने और अपने को किसी उच्च जाति से सम्बद्ध करने के प्रयत्नों के फलस्वरूप अस्तित्व में आ रही है ।

सामान्यतया जातियों व उप जातियों में कोई भेद नहीं किया जाता है किन्तु कुछ विद्वान व्यावहारिक दृष्टि से इनमें भेद करना उचित मानते हैं । एक जाति की सभी उपजातियों में जाति की कुछ सामान्य विशेषताएं पायी जाती हैं, जैसे सामान्य व्यवसाय तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध के नियम आदि । जाति व उपजाति में मूल अन्तर यह है कि जाति नहीं वरन् उपजाति ही एक अन्तर्विवाही समूह है।

गेत का मत है कि प्रत्येक उपजाति ही जाति है क्योंकि अन्तर्विवाह का नियम उपजातियों पर ही दृढ़ता से लागू होता है। फिर भी गेत के मत को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि उपजातियों में जाति के सभी संरचनात्मक और सांस्कृतिक पक्ष नहीं होते और ऐसा करने से जातियों की संख्या में वृद्धि हो जाएगी।

उप जातियों और जातियों के मध्य कार्यों के आधार पर निम्न प्रकार भेद किया जा सकता है उप जातियों द्वारा किए जाने वाले तीन कार्य है अन्तर्विवाह सहभोज सम्बन्धों का प्रतिबन्ध और एक वृहत समाज के भीतर ही सामुदायिक जीवन का संचालन जातियों के तीन कार्य है। प्रस्थिति प्रदान करना, नागरिक और धार्मिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाना और पेशों का निर्धारण करना।

उपरोक्त कार्यों के अन्तर के संदर्भ में डा0 घुरिये का मानना है कि उपजातियों को ही जातिंभावना चाहिए क्योंकि उपजातियों के पाये जाने वाले कार्य जातियों की ही विशेषताएं हैं। इसी लिए हमें उपजातियों को ही वास्तविक जातियों की मान्यता देनी चाहिए। श्रीनिवास का मानना है कि 'उपजाति' ही जाति व्यवस्था की वास्तविक इकाई है परन्तु अपने अध्ययन में (कर्नाटक राज्य के मैसूर प्रदेश में रामपुरा गांव में) उन्होंने जाति को केन्द्र बिन्दु माना था। मेयर के अनुसार क्षेत्रीय स्तर पर उपजाति अन्तर्जातीय तथा अन्त: जातीय सम्बन्धों की इकाई हो सकती है लेकिन गांव के भीतर अन्तर्जातीय सम्बन्ध उपजाति के बजाए जातियों के सन्दर्भ मे देखे जाते हैं। इरावती कर्वे उपजातियों को विश्लेषण की अन्तिम इकाइयां मानती हैं।

हट्टन जाति और उपजाति में कोई भेद नहीं मानते हैं। उनके अनुसार जब एक जाति का एक समूह पेशे भाषा या स्थान परिवर्तन के आधार पर मुख्य समूह से अलग हो जाता है तो ऐसे समूह को स्वतंत्र जातिया उपजाति कहा जाता है।

निष्कर्षत: कह सकते हैं कि जाति व उपजाति में भेद को लेकर विद्वानों में मतभेद है। इन दोनों में पर्याप्त समानता होने पर भी इन्हें एक ही नहीं माना जा सकता है सही अर्थों में जाति बड़ा समूह है। उपजाति छोटा। एक व्यक्ति यदि अपनी जाति की विभिन्न उपजातियों में विवाह करता है तो उतना बड़ा अपराध नहीं माना जाता जितना कि दूसरी जातियों से

विवाह करने पर माना जाता है । यही बात भोजन और सामाजिक सहवास के नियमों पर भी लागू होती है।

12.5 जाति और वर्ग का अन्तर या भेद (Distinctions Between Caste and Class)

जाति और वर्ग से सम्बन्धित अध्ययन हम खण्ड 2 व 3 में कर चुके हैं। ये दोनों ही एक दूसरे से भिन्न अवधारणाएं हैं यद्यपि दोनों ही सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख रूप हैं लेकिन जाति व्यवस्था में विभिन्न जातियों के निर्माण का एक आधार व्यक्ति का जन्म है जबकि सामाजिक वर्गों का निर्माण व्यवसाय, धन, शिक्षा, जीवन स्तर, विचारों, मनोभावों और इसी प्रकार के अनेक दूसरे आधारों पर होता है।

सामाजिक संस्तरण के इन दोनों प्रमुख स्वरूपों अर्थात जाति और वर्ग में अनेकानेक आधारभूत अन्तर पाए जाते हैं। राधा कमल मुखर्जी का इस सदंर्भ में मानना है कि "न तो कोई जाति पूर्णतया बंद है और न ही कोई वर्ग पूर्णतया विमुक्त । दोनों का ही व्यक्तियों तथा समूहों की प्रस्थिति व भूमिका को स्पष्ट करने में योगदान है।"

निम्न बिन्दुओं के आधार पर हम जाति व वर्ग के मध्य अन्तर स्पष्ट कर सकते हैं। -

1. जाति की सदस्यता व्यक्ति के जन्म पर ही आधारित होती है अर्थात एक व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है वह जीवन पर्यन्त उसी जाति का अनिवार्य सदस्य बना रहता है।

इसके विपरीत वर्ग की सदस्यता व्यक्ति के जन्म पर आधारित नहीं होती है। कोई भी व्यक्ति शिक्षा, व्यवसाय तथा सम्पत्ति के आधार पर अत्यधिक सुगमता पूर्वक अपना वर्ग परिवर्तित कर सकता है।

2. जाति प्रथा एक प्रतिबन्धित या बंद व्यवस्था है अर्थात् इसमें कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छा से जाति में परिवर्तन नहीं कर सकता है। जातिगत कठोर नियमों की अवहेलना व्यक्ति विशेष को जाति से बहिस्कृत तो कर सकती है किन्तु जातिच्युत नहीं कर सकती।

इसके विपरीत वर्ग की सदस्यता में किसी भी समय परिवर्तन किया जा सकता है क्योंकि यह एक खुली व सर्वथा विमुक्त व्यवस्था है। कोई भी व्यक्ति शिक्षा, व्यवसाय और जीवन सम्बन्धी सफलताओं और विफलताओं के आधार पर किसी भी भी समय में किसी भी वर्ग में स्वतंत्रता पूर्वक आ जा सकता है।

3. जाति की सदस्यता प्रदत्त होती है। व्यक्ति इसे प्राप्त करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता है। बल्कि यह जन्म के द्वारा उसे अपने आप प्राप्त हो जाती है। इसकी सदस्यता पर व्यक्ति की योग्यता अयोग्यता अज्ञानता, निर्धनता या सम्पन्नता किसी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

इसके विपरीत वर्ग की सदस्यता अर्जित होती है,अर्थात कोई भी व्यक्ति अपने ज्ञान, गुण, कुशलता और अनुभव के आधार पर किसी भी वर्ग सदस्य बन सकता है।

4. जाति एक अन्तर्विवाही समूह है । एक जाति या उपजाति का सदस्य अपनी ही

जाति या उपजाति में विवाह कर सकता है किसी भी अन्य अर्थात अन्तर्जातीय विवाह कदापि नहीं कर सकता।

इसके विपरीत वर्ग व्यवस्था में वैवाहिक सम्बन्धों सम्बन्धित प्रतिबन्ध नहीं होते। उच्चवर्ग या निम्न वर्ग काव्यक्ति अपने ही वर्ग में या विपरीत वर्ग में भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

5. जाति व्यवस्था के अन्तर्गत परम्परागत रूप से प्रत्येक जाति का व्यवसाय निश्चित रहता है। इसी के अनुसार जीविका उपार्जिक करना सदस्यों का नैतिक दायित्व माना जाता है।

इसके विपरीत वर्ग का आधार ही एक विशेष सामाजिक आर्थिक स्थिति है। जिसको किसी भी व्यवसाय के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार वर्ग व्यवस्था में व्यवसायपूर्व निर्धारित न होकर व्यक्ति के गुण और योग्यता आधारित होते हैं।

6. जाति में सामाजिक सम्पर्क व खान पान सम्बन्धी कठोर प्रतिबन्ध होते हैं। यह पूर्व निर्धारित रहता है कि कोई जाति किस किस जाति के हाथों का बना हुआ अन्न जल ग्रहण कर सकती है और किन किन का नहीं कर सकती है।

वर्ग व्यवस्था में इस प्रकार के कोई निश्चित और स्पष्ट नियम नहीं है। एक वर्ग के सदस्यों को किसी भी वर्ग के संदस्यों के साथ खान पान सम्बन्धी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त रहती है इसमें कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा होता है।

7. जाति की प्रकृति न्यूनाधिक स्थिर होती है। अर्थात जन्म के परिणामस्वरूप व्यक्ति की जाति में किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन घटित नहीं होता है। इसकी विशेषताओं में हजारों वर्षों के बाद भी अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है।

वर्ग की सदस्यता व्यक्ति की सामाजिक और आर्थिक स्थिति से सम्बन्धित होने के कारण इसमें सदैव परिवर्तन होता रहता है। समाज की राजनीतिक और आर्थिक दशाओं में परिवर्तन होने के साथ वर्गीय संरचना में भी परिवर्तन होते देखे गये हैं।

8. जाति की प्रकृति समष्टिवादी होती है जिसमें व्यक्ति का महत्व गौण होता है चूँकि जाति की इकाई परिवार है, व्यक्ति नहीं इसलिए व्यक्ति के प्रत्येक कार्य में जाति समूह का निर्देशन और नियंत्रण रहता है।

इसके विपरीत वर्ग व्यवस्था व्यष्टि प्रधान होती है जिसमें समूह गौण होता है। व्यक्ति मात्र वर्ग हितों के संदर्भ में ही समूह का नियंत्रण स्वीकार करता है। व्यक्ति अपने क्रिया कलापों के लिए स्वतंत्र होता है। इस प्रकार जाति व्यवस्था के विपरीत वर्ग में वैयक्तिक मनोवृत्तियों का उदय और विकास होता है।

9. जाति व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति की स्थिति दूसरी जाति की अपेक्षा स्पष्ट रूप से ऊँची अथवा नीची होती है। यह संस्तरण निश्चित प्रकृति का होता है कोई व्यक्ति इसकी अवहेलना करने का साहस नहीं करता ।

इसके विपरीत विभिन्न वर्गों में किसी को भी महत्व और कार्य के दृष्टिकोण से दूसरे की अपेक्षा निम्न अथवा उच्च नहीं कहा जा सकता। यद्यपि मार्क्स ने पूंजीपति, मध्यम और श्रमिक वर्ग के एक निश्चित संस्तरण का उल्लेख किया है। लेकिन सामाजिक आधार पर इनमें भिन्नता की बात नहीं स्वीकार की ।

10. जाति व्यवस्था में पूर्व निर्धारित पेशे होने के कारण व्यक्ति स्वयं को आर्थिक रूप से सुरक्षित महसूस करता है उसे प्रतियोगिता के आधार पर व्यवसाय चयन की समस्या का सामना नहीं करना पड़ता है।

इसके विपरीत वर्ग व्यवस्था में आर्थिक सुरक्षा कम होती है, क्योंकि इसकी प्रकृति अस्थिर होती है वर्ग व्यवस्था में आर्थिक उतार चढ़ाव की समस्या सदैव उत्पन्न रहती है।

11. जाति व्यवस्था में निम्न जातियों के पास कुछ निश्चित कार्यों का एकमात्र आधिपत्य होता है, इसीलिए उच्च जातियों में इनकी सेवाओं को प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता भी होती है।

इसके विपरीत वर्ग व्यवस्था में उच्च वर्गीय व्यक्तियों की उच्च स्थिति के परिणाम स्वरूप उनको कुछ विशेष महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं इसीलिए निम्नवर्गीय लोग इन अधिकारों का साथ उठाने के लिए प्रयत्न व योग्यता से प्रतियोगिता का सामना करते हैं।

उपर्युक्त वर्णित अन्तरों के आधार पर निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि जाति तथा वर्ग दोनों ही सामाजिक स्तरीकरण के दो पृथक पृथक प्रकार हैं। एक स्वरूप में अर्थात जाति में व्यक्ति की सामाजिक, पेशेगत, वैवाहिक आदि स्थिति का निर्धारण जन्म से हो जाता है तो दूसरा स्वरूप पूर्णतया योग्यता, व्यवसाय तथा शिक्षा पर निर्भर करता है । मैकाइवर व पेज के अनुसार ''जब स्थिति पूर्णतया इस रूप में निश्चित हो कि बिना किसी परिवर्तन की आशा किए मनुष्य जन्म के साथ ही अपना जीवन भाग्य लाए, तभी वर्ग जाति का रूप लेता है।

12.6 जाति और वर्ग का अन्त: क्रियात्मक स्वरूप

जाति और वर्ग दोनों ही स्तरीकरण के प्रकार हैं परन्तु जाति जन्म आधारित प्रदत्त व्यवस्था है जबकि वर्ग गुण, योग्यता आधारित अर्जित व्यवस्था। आधुनिक भारत में औद्योगीकरण, पश्चिमीकरण, शिक्षा के प्रभाव आदि विभिन्न कारकों ने वर्गों का स्थान महत्व पूर्ण बना दिया है **डा. राधा कमल मुखर्जी** के अनुसार आज छुआछूत और खान पान के प्रतिबन्ध ही ढीले नहीं पड़े हैं बल्कि जातियों की परम्परागत स्थिति भी परिवर्तित हो रही है। विभिन्न जाति गत संघ अपनी जाति के सभी सदस्यों के लिए समान अभिवृत्ति न अपनाकर एक विशेष आर्थिक स्थित वाले व्यक्तियों के लिए सेवाएं प्रदान करने की प्रवृत्ति अपना रहे हैं। विशेष व्यवसाय से सम्बद्ध लोगों की संख्या बढ़ रही है इनकी भावनाएं भी जाति आधारित न होकर वर्ग आधारित होने लगी हैं। यह प्रवृत्ति व्यवहारिक रूप में वर्ग व्यवस्था की स्वीकृति को शनै: शनै: सहमति दे रही है।

जातियों के अन्दर वर्ग बनने की प्रवृत्ति सामने आयी है। जातियों ने अपने जातीय संगठन बनाकर वर्ग की विशेषताएं ग्रहण की है। उदाहरण के लिए शहरों में हरिजनों की अपनी ट्रेड

यूनियन हैं जो अपने हितों के लिए उसी प्रकार से संघर्ष करती हैं जैसे - मजदूर वर्ग पूंजीपति वर्ग से। इसी प्रकार से विभिन्न उद्योगों में पाए जाने वाले श्रमिक संगठनों में सभी जातियों के सदस्य होते हैं। एक व्यवसाय में लगे विभिन्न जातियों के लोगों में वर्ग चेतना दिखायी देती है। इनके द्वारा निर्मित संगठन का आधार जाति नहीं वरन् समान व्यवसाय होता है। **रजनी कोठारी** ने गुजरात में क्षत्रिय जाति के संगठन का उल्लेख करते हुए कहा है कि इस संगठन में एकाधिक जातियों के सदस्य हैं इस प्रकार जाति जो कि पहले एक बंद व्यवस्था थी, उनमें वर्ग की भांति खुला पन आता जा रहा है। विशेष रूप से निम्न जातियों द्वारा बनाए जाने वाले संगठनों में एकाधिक निम्न जातियां सम्मिलित हुयी हैं।

ए0 आर0 देसाई नम्बूदरीपाद, गेलोम्बेर का मानना है कि औद्योगीकरण के कारण ग्रामीण व्यवसायों के नष्ट हो जाने से ग्रामीण क्षेत्रों की दलित जातियां उद्योगों के मजदूर वर्ग के रूप में परिणित हुयी है इसी तरह ग्रामीण व्यवसायों के नष्ट होने के कारण ग्रामीण दस्तकारी जातियां अपने व्यवसाय को छोड़कर कृषि कार्य करने लगी हैं और वे भूमिहीन कृषक के रूप में सर्वहारा वर्ग में बदल रही हैं निम्न जातियो को वर्ग के रूप में बदलने में प्रजातंत्रीय व्यवस्था एवं उन्हें दिए गये आर्थिक राजनीतिक अधिकारों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। सरकारी नौकरियों, विधान मण्डलों एवं संसद आदि में निम्न जातियों को प्रदत्त सुविधा ने उनमें राजनीतिक सत्ता के द्वारा अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए एक जुटता की प्रवृत्ति ने वर्ग की विशेषता को दर्शाया है ।

वर्ग संरचना के आवश्यक तत्व राजनैतिक आर्थिक वर्चस्व पर ध्यानाकर्षित करते हुए एम. एन. श्रीनिवास का मानना है कि जब आर्थिक और राजनीतिक स्थितियां सहसम्बन्धित हो जाती है। विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्र में प्रभुत्व वर्ग जैसे समूह उदीयमान हो जाते हैं यद्यपि एम. एन. श्रीनिवास वर्ग को ज्यादा महत्व नहीं देते हैं लेकिन उन्होंने भी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में प्रभुत्वशील जातियों के रूप में राजनैतिक आर्थिक वर्ग की बात स्वीकार की है।

ब्राइस रेन का मानना है कि जाति व्यवस्था का आधार विभिन्न जातियों के बीच सांस्कृतिक भिन्नता का पाया जाना रहा है, किसी प्रकार के संघर्ष का पाया जाना नहीं। आज एक ओर विभिन्न जातियों के बीच सांस्कृतिक अंतर कम हुआ है। अर्थात विवाह खान पान एवं सामाजिक सहवास के नियमों में शिथिलता आयी है। किन्तु दूसरी ओर उनके बीच पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा एवं संघर्ष में दिन प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है। इसका अर्थ है कि जाति में वर्ग संघर्ष की विशेषताएं आती जा रही हैं और जाति वर्ग का रूप ले रही हैं।

के.एल. शर्मा योगेन्द्र सिंह के अनुसार ज्यों ज्यों भारतीय समाज के औद्योगीकरण के कारण व्यावसायिक संरचना का फैलाव होता जा रहा है यह अर्जन आधारित होता जा रहा है। अत: स्वभावगत रूप से अपने प्रदत्त स्वरूप के स्थान पर जातियां वर्गीय रूप लेने लगी हैं। किंग्सले डेविस भी औद्योगीकरण के प्रभाव से जाति के वर्ग में परिवर्तन की सम्भावना व्यक्त करते हैं परन्तु मार्क्सवादी विचारधारा का प्रयोग नहीं करते।

उपरोक्त विचारधाराएं यह स्पष्ट करती हैं कि जाति प्रथा क्रमशः वर्ग के रूप में परिवर्तित हो रही हैं इसके उपरान्त भी यह मान लेना कि जाति व्यवस्था किसी स्तर पर पूर्णतया वर्ग व्यवस्था के समान हो जाएगी, बिलकुल सम्पूर्ण है। वास्तव में वर्ग व्यवस्था का आधार आर्थिक है जबकि जाति व्यवस्था का सामाजिक। जैसा कि डा. योगेन्द्र सिंह का मानना है कि किसी समान राजनीतिक या आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कई बार कुछ जातियां संगठित हो जाती हैं ओर इस दृष्टि से उनमें वर्ग की विशेषताएं दिखायी देने लगती हैं लेकिन ये परिवर्तन क्षणिक है। ऐसे लौकिक लक्ष्यों की प्राप्ति के बाद जातियां पुनः अपने मौलिक प्रकायों जैसे वैवाहिक , सहभोजी तथा धार्मिक अनुष्ठान पर लौट आती है।'' इसी सन्दर्भ में डा. नर्मदेश्वर प्रसाद का भी मानना है कि ''भारतीय जाति व्यवस्था धार्मिक पौराणिक किस्म की है जबकि यूरोपीय जाति व्यवस्था आर्थिक राजनैतिक किस्म की आधुनिक समय में भारतीय जाति व्यवस्था में आर्थिक राजनैतिक विशेषताओं को भी ग्रहण कर लिया है। अर्थात इसमें दोनों किस्मों का सम्मिश्रण है लेकिन फिर भी भारत में जाति ने कभी भी अपने को पूर्णतः वर्ग के रूप में परिवर्तित नहीं किया है।

डा. के. एल. शर्मा का मानना है कि 'जाति की प्रकृति संस्कारात्मक प्रक्रिया से हटकर चुनावों, व्यवसायों एवं नौकरियों में अपने सदस्यों को सुविधाएं प्रदान कर रही है, लेकिन जातियां न तो मार्क्सवादी और न ही वेबर द्वारा बतलाए गये वर्गों के रूप में बदलती हैं।

उपरोक्त विचार यह स्पष्ट करते हैं कि यह कहना भ्रमपूर्ण ही है कि भारत में जाति व्यवस्था वर्ग व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो रही है। यह अवश्य है कि जाति की विशेषताएं अपनी मौलिक प्रकृति से कुछ विचलित हैं लेकिन कभी भी पूर्णतया वर्ग व्यवस्था के समान नहीं हो सकती।

12.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई पूर्व अध्ययनित इकाईयों का विस्तार है इस इकाई के अध्ययन से पूर्व हम वर्ण जाति वर्ग के अर्थ, उत्पत्ति व विशेषताओं से अवगत हुए थे। प्रस्तुत इकाई में हमने इनसमस्त स्तरीकरण के प्रकारों के अन्तर का अध्ययन किया है। वर्ण जाति से किस प्रकार भिन्न है । जाति व उपजाति में क्या सह सम्बन्ध व क्या अन्तर है? जाति व वर्ग में क्या अन्तर है? इन अन्तरों से अवगत होने के पश्चात हमने यह भी जानने का प्रयास किया कि क्या जाति वर्ग में परिवर्तित हो रही है? वे क्या लक्षण है जो इसे परिवर्तनशील स्वरूप को दर्शाते हैं एवं इस सम्बन्ध में विभिन्न समाजशास्त्रियों के विचारों से भी हम अवगत हुए।

12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. Dr. Radhe Kamal Mukherjee - Inter Caste Tension, Cate Tension Study P. 14.
2. Bryce Ryan - Quoted by Dr. N. Saxena p. 95.
3. Sharma, K.L. - 'New Introduction' in Review of Caste in India by J.

Mundock p. xxv.

4. Kothari Rajini (ed.) . Caste in Indian Politics, Orient Longman Delhi (1970) reprinted 1973.

5. Atal Yogesh, The Changing Frontiers of Caste, National Publishing House, Delhi 1968.

6. Narmadeshwar Prasad, The Mythe of the Caste System Patna, 1956.

7. Singh Yogendra - Modernisation of Indian Tradition, Thomson Press, New Delhi, 1973.

8. Srinivas, M.N. – Caste in Modern India, Asia Publishing House, Bombay, 1962, p. 70.

12.9 प्रश्नोत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न –

प्र. 1 वर्ण और जाति के मध्य अंतर स्पष्ट करें?

प्र. 2 जाति और उपजाति का सह सम्बन्ध स्पष्ट करें?

प्र. 3 जाति और वर्ग के मध्य अन्तर को संक्षेप में लिखें?

प्र. 4 क्या जाति वर्ग में रूपान्तरित हो रही है? संक्षेप में उल्लेख करें?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न –

प्र. 1 वर्ण और जाति को अलग अलग परिभाषित कर जाति और वर्ण में अंतर स्पष्ट करें?

प्र. 2 जाति व उपजाति के सहसम्बन्ध व अंतर को स्पष्ट करें?

प्र. 3 जाति में होने वाले अभिनव परिवर्तनों की विवेचना कीजिए? क्या यह वर्ग व्यवस्था में रूपान्तरित हो रही है?

प्र. 4 जाति और वर्ग के मध्य अर्न्तक्रियात्मक स्वरूप की विवेचना करें?

बहु विकल्पीय प्रश्न –

प्र. 1 "जन्म के समय प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है, बाद में अपने कर्मों के अनुसार ही वह एक विशेष वर्ण की सदस्यता प्राप्त करता है"। यह कथन किसका है?

अ. महात्मा गांधी ब. डा. घुरिये स. डा. राधाकृष्णन

द. डा. योगेन्द्र सिंह ।

उ. 1 (स)

प्र. 2 जाति जन्म आधारित है जबकि वर्ण –

अ. गुण ब. कर्म स. उपरोक्त दोनो ही द. दोनों में से कोई नही

उ. 2 (स)

प्र. 3 उपजाति को मुख्य जाति से अपनी प्रस्थिति को उठाने के लिए टूटने का परिणाम किस समाजशास्त्री ने माना?

अ. रिजले ब. हट्टन स. मजूमदार द. उपरोक्त चारों

उ. (द)

प्र. 4 ब्राइस रेन के अनुसार जाति व्यवस्था का क्या आधार रहा है?

अ. सांस्कृतिक भिन्नता ब. व्यावसायिक भिन्नता

स. पारम्परिक भिन्नता द. राजनीतिक भिन्नता

उ. (अ)

NOTES

खण्ड

4

इस्लाम एवं ईसाईयत तथा सुधार सम्बन्धी आन्दोलन

इकाई 13

इस्लाम का प्रभाव तथा पारस्परिकता

इकाई 14

ईसाईयत का प्रभाव तथा पारस्परिकता

इकाई 15

सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

इकाई 16

सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

संदर्भ ग्रन्थ सूची

खण्ड - 4 : खण्ड परिचय - इस्लाम एवं ईसाइयत तथा सुधार सम्बन्धी आन्दोलन

इस खण्ड में इस्लाम एवं ईसाई धर्म के सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों का परिचय दिया गया है। **पहली इकाई का** शीर्षक है ''इस्लाम का प्रभाव तथा पारस्परिकता''। इसमें इस्लाम पंथ के प्रमुख तत्वों को स्पष्ट किया गया है। भारतीय जनजीवन पर इस्लाम के प्रभाव को स्पष्ट किया गया है। **इकाई दो** का शीर्षक है ''ईसाइयत का प्रभाव तथा पारस्परिकता'' । इस ईकाई में ईसाई धर्म की अवधारणाओं को स्पष्ट किया गया है। भारतीय समाज पर ईसाइयत के प्रभाव की विवेचना की गई है। **ईकाई तीन** का शीर्षक है ''सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव'' । इसमें समाज सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलनों के अवधारणात्मक स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। भारत के प्रमुख सुधारवादी आन्दोलनों एवं समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख किया गया है। **ईकाई चार** का शीर्षक है ''सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव''। इसमें सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन के अर्थ को स्पष्ट किया गया है। सुधारवादी सामाजिक आन्दोलनों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए भारत के प्रमुख समाज सुधार आन्दोलनों के प्रभाव की विवेचना की गई है।

इकाई 13 इस्लाम का प्रभाव तथा पारस्परिकता

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 विषय परिचय

13.2 इस्लाम ग्रन्थ

13.3 धार्मिक जीवन पर प्रभाव

13.4 जाति व्यवस्था पर प्रभाव

13.5 सामाजिक संरचना पर प्रभाव

13.6 आर्थिक जीवन पर प्रभाव

13.7 संस्कृति पर प्रभाव

13.8 भाषा, संगीत और कला पर प्रभाव

13.9 भारतीय मुसलमानों पर पारस्परिक प्रभाव

13.10 सार संक्षेप

13.11 उपयोगी पुस्तकें तथा सन्दर्भ

13.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

* इस्लाम पंथ के प्रमुख तत्वों के विपय में जान सकेंगे।
* भारत में धार्मिक जीवन पर प्रभाव, जाति व्यवस्था पर प्रभाव, सामाजिक संरचना पर प्रभाव, आर्थिक जीवन पर प्रभाव, संस्कृति पर प्रभाव, और भाषा, संगीत और कला पर प्रभाव का वर्णन कर सकेंगे।
* भारतीय मुसलमानों पर पारस्परिक प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे।

13.1 विषय परिचय

समाजशास्त्रीय दृष्टि से विभिन्न संस्कृतियों का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण होता है। इसके द्वारा उस समाज की व्यवस्था और जनजीवन के विषय में रोचक जानकारी प्राप्त होती है। जिसकी कि वह संस्कृति है। दूसरे देशों को जीतने और अपना पंथ और अपनी संस्कृति के प्रसार के उद्देश्य से अनेक योद्धा विभिन्न क्षेत्रों पर आक्रमण किया करते थे। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि योद्धा की नीतियाँ और व्यवहार उसके अपने पंथ के सिद्धान्तों से मेल खाते हों यह आवश्यक नहीं है।

शहाबुद्दीन गोरी ने बारहवीं शताब्दी में भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना किया। इस्लाम पंथ का जन्म 7वीं शताब्दी में हुआ था। इसके पैगम्बर मुहम्मद साहब हुये। एक पंथ के रूप में यह धीरे-धीरे फैल रहा था। किन्तु मुस्लिम योद्धाओं ने नये-नये क्षेत्रों पर आक्रमण और विजय प्राप्ति के द्वारा पराजित देशों पर इस्लाम पंथ आरोपित करने का कार्य किया जिसमें कभी-कभी बल प्रयोग और प्रोत्साहनों का प्रयोग भी किया गया। इसका आधार शासक के अपने विचार ज्यादा होते थे। जिन्हें पंथ के प्रसार के बहाने लागू किया जाता था।

भारतीय समाज पर मुस्लिम शासकों की नीतियों, इस्लाम पंथ के सिद्धान्तों तथा धर्म प्रचारकों एवं सूफी संतों का जो प्रभाव पड़ा उसका अध्ययन हमारे वर्तमान समाज और संस्कृति के विकास की पृष्ठभूमि को समझने और विश्लेषण करने के लिये महत्वपूर्ण हैं। अत: यह इकाई उक्त जानकारियों को प्रस्तुत करने की दृष्टि से लिखी गयी है।

13.2 इस्लाम पंथ

इस्लाम एक एकेश्वरवादी पंथ है जिसे 7वीं शताब्दी में पैगम्बर मुहम्मद साहब ने अरबिया में प्रारम्भ किया था। उन्होंने सबसे पहले मक्का और मदीना व्यापारिक नगरों में इसका प्रचार किया तदुपरान्त पड़ोस की अन्य जनजातीय जनों को इसमें शामिल किया गया। इस्लाम का प्रमुख सिद्धान्त अल्लाह के प्रति समर्पण है। इसका प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ कुरान है। इस्लाम की धार्मिक संहिताओं में कुरान का फातिहा, जिसमें मुहम्मद साहब के कलमा संकलित हैं; सुन्नाह जिसमें मुहम्मद साहब की जीवन और परम्परायें हैं, हदीस, जिसमें मुहम्मद साहब द्वारा मुस्लिमों के लिये बताए गए नियम और सिद्धान्त हैं तथा इज्मा, जो मुस्लिमों के धार्मिक नेताओं द्वारा बताये गये नियम हैं।

इस्लाम पंथ के अनुयायियों के लिये 5 मुख्य नियमों का पालन बताया गया है जो निम्नांकित है :—

1. कलमा पढ़ना—ईश्वर एक है और मुहम्मद साहब उसके पैगम्बर हैं। एक ईश्वर की पूजा की जानी चाहिये।
2. नमाज़—दिन भर में पांच बार ईश्वर से प्रार्थना करना।
3. रोज़ा—रमजान का माह जब कुरान का अवतरण हुआ था, तें रोजा (उपवास) रखना।
4. ज़कात—वार्षिक आय का 1/40 भाग दान में देना।
5. हज—जीवन में कम से कम एक बार मक्का तीर्थ की यात्रा करना।

कुछ लोग जिहाद (धर्मयुद्ध) को भी धार्मिक नियम का दर्जा देते हैं जिसका संदर्भ आत्मोन्नति की प्रक्रिया के रूप में आता है। न कि युद्ध के रूप में। इस्लाम पंथ में ब्याज पर धन बांटना, चार से अधिक पत्नियाँ रखना तथा मद्यपान करना आदि का निषेध किया गया है।

इस्लाम पंथ की विशेषताओं में एकेश्वरवाद, मानवों की सामाजिक आर्थिक, लैंगिक समानता, मानव का सम्मान, न्याय, विश्व भ्रातृत्व आदि प्रसिद्ध है।

13.3 धार्मिक जीवन पर प्रभाव

इस्लाम का प्रभाव भारत में सन् 1193 में प्रारम्भ हुआ जब शहाबुद्दीन गोरी ने भारत में सर्वप्रथम मुस्लिम राज्य स्थापित किया। 14वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अलाउद्दीन खिलजी ने हिन्दू संस्कृति के प्रति आक्रामक रवैया अपनाया। फीरोज शाह तुगलक तथा सिकन्दर लोदी भी धर्मान्ध शासक बने रहे। इन्होंने हिन्दू उपासना, मन्दिर निर्माण/जीर्णोद्धार आदि का विरोध किया। मंदिरों को गिराना और उसके स्थान पर मस्जिद बनवाने का कार्य राज्य की ओर से होने लगा। हिन्दुओं को इस्लाम पंथ स्वीकार करवाने के लिये दण्ड और प्रोत्साहन के तरीके अपनाये गये। हिन्दुओं पर जजिया नामक धार्मिक टैक्स लगाया गया। उन हिन्दुओं को जो कलमा पढ़ते थे और इस्लाम स्वीकार करते थे उन्हें इस कर से मुक्त कर दिया जाता था। बलात धर्मान्तरण की प्रतिक्रिया स्वरूप धार्मिक संघर्ष और हिन्दू कट्टरता को बल मिला।

हिन्दुओं में आडम्बर, कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास, देवी देवताओं की पूजा प्रचलित थी। जिन पर प्रश्नचिन्ह लगने लगे। सूफी सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धान्त हिन्दुओं में काफी लोकप्रिय हुये। सूफियों के ये सिद्धान्त कि केवल ईश्वर का ही एक अस्तित्व है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसकी अभिव्यक्ति है (बहदत-अल-वजूद) तथा सभी शान्ति से रहे (सुलह-ए-कुल), मानव-मानव के बीच की सब प्रकार के भेद और दूरी समाप्त कर देते हैं। इनसे आकर्षित होकर हिन्दुओं की निम्न जातियों के लोग इस्लाम पंथ अपनाने लगे। हिन्दू पंथ में सुधारवादी चिन्तन का उद्भव हुआ। वेदान्त का अद्वैतवादी दर्शन तथा निर्गुण और सगुण भक्ति आन्दोलन इसी के परिणाम माने जाते हैं। रामानुजाचार्य, निम्बकाचार्य, माधवाचार्य, रामानन्द, कबीर,,वल्लभाचार्य, गुरुनानक, सूरदास, मीराबाई, चैतन्यमहाप्रभु, तुलसीदास, दादू दयाल, रविदास, आदि सन्त भक्ति का प्रचार-प्रसार करने लगे। शूद्रों और अछूतों के प्रति उच्च जातियों का दृष्टिकोण बदला। स्वामी रामानन्द ने निम्न जातियों में से शिष्य बनाए जो कि प्राचीन परम्परा से भिन्न परम्परा का प्रारम्भ कहा जायेगा। इनमें धना (जांट), सेना (नाई), रैदास (चमार), कबीर (जुलाहा), विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने पद्मावती तथा सुरसीर नामक महिलाओं को भी शिष्य बनाया था।

13.4 जाति व्यवस्था पर प्रभाव

सल्तनत शासनकाल में भारत में वर्ण व्यवस्था का स्थान जाति व्यवस्था ने ले लिया। जातियाँ पुनः उपजातियों में विभाजित होने लगी। शूद्रों में एक नाई उपजाति अस्पृश्यों की बन गयी। अनेक वर्ण संकर जातियाँ बन गयीं जिन्हें जाति व्यवस्था में समायोजित किया गया था।

इस्लाम पंथ की श्रेणीविहीन सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्त ने हिन्दू जाति व्यवस्था को गहराई से प्रभावित किया। मुसलमान समाज सुधारकों ने जन्म आधारित जाति की अवधारणा का विरोध किया। हिन्दुओं में उन जातियों के लोग जो जाति व्यवस्था में निम्न श्रेणी क्रम में आते थे, उक्त व्यवस्था से असंतुष्ट रहते थे। उन्होंने अपनी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थिति को सुधारने के लिये मुस्लिम संस्कार और उत्सवों को अपना लिया यद्यपि यह प्रभाव

प्राय: नगरीय क्षेत्रों में सीमित रहा। कायस्थ, खत्री और क्षत्रिय जातियों ने इस्लाम से निकटता रखने का रूख अपनाया किन्तु ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठता सुरक्षित रखने की दृष्टि से उनसे दूर बने रहे। वैश्यों ने भी दूरी बनाये रखा।

धीरे-धीरे ब्राह्मणों का महत्व घटने लगा। बदलती हुई स्थिति में समायोजन करने के उद्देश्य से शूद्रों के प्रति अपने दृष्टिकोण और व्यवहार को उन्होंने नरम किया। शूद्रों ने व्यापार का कार्य भी शुरु कर दिया। स्वच्छ और प्रतिष्ठित शूद्रों का भोजन उच्च जातियों के लोग स्वीकार करने लगे।

13.5 सामाजिक संरचना पर प्रभाव

स्त्रियों की असुरक्षित स्थिति को देखते हुये उनकी घरों में बाहर आने-जाने की आजादी समाप्त कर दी गयी। उन्हें शिक्षा प्राप्त करने पर पाबंदी लगा दी गयी। केवल कुछ प्रतिष्ठित परिवारों में घर पर ही उन्हें शिक्षा दी जाती थी।

इस स्थिति में संयुक्त परिवार के मुखिया की जिम्मेदारियाँ बढ़ गयी और उनमें विविधता भी आई। परिवार के समस्त सदस्यों के जीवन को खुशहाल बनाने के लिये मुखिया को कठिन अनुशासन और नियंत्रण की नीति अपनानी पड़ी। उन्हें अपनी पुत्रियों की आबरु और पवित्रत बचाना आवश्यक हो गया। इस कारण कम उम्र में विवाह को एक सरल उपाय के रूप में अपनाया गया और इसे शास्त्र सम्मत सिद्ध करने के उद्देश्य से पुराणों आदि से उद्धरण भी प्रयोग किये जाने लगे।

विधवा स्त्रियों की इज्जत की रक्षा करना भी एक सामाजिक समस्या बन गई थी। इसे हल करने के लिये सती प्रथा प्रचलित हुई। विधवा को अपने पति की चिता पर साथ ही जल जाना धर्मसम्मत माना जाने लगा। परिवार और गांव के लोग गाते-बजाते समारोह पूर्वक इस कार्य को सम्पादित करवाते थे। यहां तक कि स्त्री की इच्छा न होने अथवा विरोध में होने पर उसे बलात पति की चिता पर चढ़ा दिया जाता था। सती को महिमा मंडित करके उसे एक धार्मिक कर्मकाण्ड बना दिया गया था।

युद्ध के दौरान राजाओं और सामन्तों की स्त्रियों को अपनी इज्जत बचाना आवश्यक हो गया था, क्योंकि आक्रांता की गिद्धदृष्टि उन पर रहती थी। ऐसी स्त्रियों ने जौहर करके कुल के मर्यादा की रक्षा की। अनेक बार आक्रमण करने का कारण भी स्त्रियाँ ही होती थीं। स्त्रियों को विजेता लूट के माल की तरह साथ ले जाते थे और उनसे संतान उत्पन्न करके मुस्लिम जनसंख्या का विस्तार करते थे।

इस प्रसारवादी नीति का मुकाबला करने की दृष्टि से जो उपाय हिन्दूओं ने किये उनमें कुलीन विवाह और अन्तर्विवाह को गिनाया जा सकता है। इनके द्वारा रक्त की शुद्धता को बनाये रखने का कार्य किया गया। धीरे-धीरे इस नियम का दुरुपयोग भी होने लगा और कुलीन परुषों से विवाह करने के लिये अनेक अभिभावक अपनी पुत्रियाँ समर्पित कर देते थे। इस

पकार ऐसे पुरुषों की पत्नियों की संख्या असीमित हो जाती थी जबकि पत्नी की दशा दयनीय हो जाती थी।

प्रत्यक्ष न्याय प्रणाली लागू की गयी इस कारण ग्राम पंचायत कमजोर होती गयी।

परिणामस्वरूप ग्रामवासियों के जीवन और व्यवहार पर पंचायत का प्रभाव ढीला हो गया और सामाजिक नियंत्रण की यह व्यवस्था निष्क्रिय सी हो गयी। गांव की आत्मनिर्भरता में इसके द्वारा कमी आयी।

जनता को सार्वजनिक शिक्षा मुल्ला और काजी द्वारा अपने घरों पर दी जाती थी।

13.6 आर्थिक जीवन पर प्रभाव

व्यक्ति का भूमि पर स्वतंत्र अधिकार समाप्त कर दिया गया और अस्थायी भूमि व्यवस्था लागू की गयी। जमींदार का नया वर्ग अस्तित्व में आ गया तो जमीन का टैक्स वसूल कर शासक को देने का कार्य करता था। वह मनमाने तरीके से तथा कभी-कभी बल का प्रयोग करके इस कार्य को करता था। जमींदारों के अत्याचार गरीब किसानों को सहन करना पड़ता था। भूमि का उपयोग और फसल उगाने का लाभ किसान को न मिलकर जमींदार को मिलता था। प्राय: जमींदार किसानों से बेगार में कार्य करवाते थे अर्थात् काम की मजदूरी नहीं देते थे। इसे एक प्रकार से दास प्रथा का परिवर्तित स्वरूप कहा जा सकता है।

इस शासनकाल में कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन मिला। हथकरघे द्वारा वस्त्रों का निर्माण और उनकी छपाई के कार्य का विकास हुआ। कागज बनाने का कार्य और उसके उपयोग में वृद्धि हुयी। बर्तन निर्माण की नयी कला का विकास हुआ। हाथों की कुशलता से तैयार होने वाले उत्पाद अधिक होते थे। शिल्पकला में कुशलता का विकास हुआ। अनेक प्रकार की कारीगरी की विधाओं का आविष्कार और विकास हुआ। भवनों और इमारतों में पच्चीकारी द्वारा बेलबूटों का निर्माण करने की कुशलता में वृद्धि हुयी।

13.7 संस्कृति पर प्रभाव

इस्लामी शासकों के सम्पर्क में प्राय: नगरीय क्षेत्र ही आये अतएव उसका प्रभाव भी नगरीय संस्कृति पर हुआ। मुसलमानों में प्रचलित पर्दा प्रथा को हिन्दू स्त्रियों में भी प्रचलित कर दिया गया ताकि उनके सम्मान की रक्षा हो सके। दोनों संस्कृतियों के बीच निकटता प्रदर्शित करने का यह एक तरीका भी था।

वस्त्र और वेशभूषा में व्यापक प्रभाव दिखाई देता है। सामान्य जन की वेशभूषा में साफा, अंगरखा, जैकेट, कमीज, पैजामा, अचकन और लुंगी का प्रचलन हुआ। महिलाओं में जम्पर, घाघरा और दुपट्टा अपनाया जाने लगा। इसी प्रकार प्रतिष्ठित परिवारों में शेरवानी चूड़ीदार पैजामा, मलमल का कुर्ता, कूला टोपी, सोने-चांदी के काम वाली पोशाकें, चूड़ीदार पैजामा, शलवार आदि प्रयोग में शामिल हुये। दूल्हे की वेशभूषा में कामदार अचकन, चूड़ीदार पैजामा,

साफा, लम्बा कुर्ता, तंग पैजामा, कमीज, टोपी तथा फूलों का सेहरा आदि अपनाये जाने लगे।

खानपान और पकवान की आदतों में मांसाहारी भोजन तथा पकवान का प्रचलन बढ़ा। भोजन में स्वाद को महत्व दिया जाने लगा और अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन तैयार किये जाने लगे।

आचरण और शिष्टाचार के क्षेत्र में विशेष प्रभाव के रूप में सम्मान देना तथा मुहावरे दार बातचीत की शैली को गिनाया जा सकता है। यद्यपि इस्लाम पंथ में चित्रकारी को अच्छा नहीं माना गया है किन्तु इस क्षेत्र में भी विकास कम नहीं हुआ। तुर्की तथा ईरानी तूराचड शैली के चित्रों को प्रोत्साहन मिला। इस शैली में राम और कृष्ण की लीलाओं का चित्रण अत्यन्त आकर्षक माना गया।

मनोरंजन के साधनों में संगीत, नृत्य, कला प्रदर्शनियों, नाटक, शतरंज, ताश, चौपड़ तथा पचीसी आदि का प्रचलन इस्लामी संस्कृति का प्रभाव कहा जा सकता है।

13.8 भाषा, संगीत और कला पर प्रभाव

संस्कृति और उर्दू के मिश्रण से खड़ी बोली का निर्माण हुआ जो कालान्तर में हिन्दी भाषा के रूप में विकसित हुयी। भाषा में अरबी, और फारसी शब्दों का प्रयोग होने लगा जो इस्लाम का प्रभाव कहा जायेगा। उर्दू गद्य लेखन भी इस का उदाहरण है।

संगीत के क्षेत्र में सितार वाद्य का निर्माण अमीर खुसरो की देन है। सूफी भक्ति में संगीत का विशेष महत्व देखा गया। इसी के प्रभाव से हिन्दुओं में भजन तथा कीर्तन पूजा शैलियों का विकास हुआ। शास्त्रीय तथा अर्द्धशास्त्रीय संगीत शैलियों में ठुमरी, दादरा, कव्वाली, गजल तथा खयाल गायकी का प्रचलन इसी का प्रभाव है जो आज भी पसन्द किया जाता है।

कला शैलियों की छाप स्थापत्य के क्षेत्र में विशेष दिखाई देता है। जसमें पतली मीनारें बनाना, तिपतिया महराब, डांटदार छत, अठपहली पृष्ठभूमि वाली इमारतें बनाने का प्रचलन हुआ। तुर्की शैली के गुम्बदों का प्रयोग अधिकतर इमारतों में किया जाने लगा।

13.9 भारतीय मुसलमानों पर पारस्परिक प्रभाव

इस्लाम पंथ में सभी मनुष्यों को एक समान माना गया है और इसीलिये उसमें जाति या वर्ग की संकल्पना नहीं पायी जाती। भारत के मुसलमानों में अधिक संख्या उनकी है जो पहले हिन्दू थे और धर्मान्तरण द्वारा इस्लाम पंथ में आ गये हैं। उन्होंने इस्लाम पंथ तो अपना लिया किन्तु वे जातीय श्रेष्ठता, रक्त की शुद्धता, अन्तर्विवाह आदि मान्यताओं को छोड़ नहीं पाये। अत: मुसलमानों में जातीय वर्णक्रम और ऊंच-नीच की मान्यतायें व्याप्त हो गयी।

पैगम्बर मोहम्मद के वंश से स्वयं को जोड़कर देखने के कारण अरब मूल के मुसलमान कुरैशी और सैयद सर्वोच्च स्थान पर माने गये। दूसरे क्रम पर ईरानी मुसलमान शिया और ईरानी का महत्व पाया जाता है। तुर्क, मंगोल, पठान तथा भारतीय मुसलमान क्रमश: तीसरे,

चौथे, पांचवें तथा छठें क्रम पर महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

भारतीय मुसलमानों में सैयद, मुगल (अशरफ/शरीफ), शेख और पठान को उच्च स्तर, मुस्लिम, राजपूत,त्यागी जाट आदि को मध्यम स्तर, तथा जुलाहा, दर्जी, कसाई, नाई, कबाड़िया, कुम्हार, मनिहार, धुनियां, फकीर, तेली, धोबी, घोसी, और लाल बेगी आदि को निम्न स्तर की जातियों के रूप में देखा जाता है। शादी तथा अन्य सम्बन्धों के निर्माण के लिये ये आधार बनाये जाते हैं। व्यवसायगत आधार भी श्रेष्ठता तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के लिये उपयोग में पाया जाता है। सर्वोच्च व्यवसाय योद्धाओं का माना जाता है। इनमें उच्चतम स्थान खान को और तत्पचात् क्रमश: मलिक, अमीर, सिपहसलार तथा सरे-खैल आते हैं। समाज में मध्यम प्रतिष्ठा लेखकों और विद्वानों को दी गयी जिसमें मौलवी, उलेमा (अध्यापक/काजी) आते हैं। निम्न स्तर के व्यवसायों में कारीगर, दूकानदार, मुंशी, छोटे व्यापारी, कलन्दर, फकीर, सूफी संत आदि को शामिल किया जाता है।

यद्यपि पशु पक्षियों के चित्र बनाना इस्लाम पंथ में निषिद्ध है तथापि मुगल शासकों ने चित्रकारों को संरक्षण दिया और विद्या को प्रोत्साहन प्रदान किया।

हिन्दुओं के प्रमुख त्योहार रामलीला, होली आदि भारतीय मुसलमानों में लोकप्रिय हैं और वे इनमें भाग लेते हैं। मुसलमान स्त्रियों की खुशहाली के लिये तथा शिक्षा और नौकरी के क्षेत्रों में प्रोत्साहन के लिये हिन्दू संस्कृति के साथ होने वाले सम्पर्क को एक प्रभावशाली कारक माना जाता है।

13.10 सार संक्षेप

जब कभी दो संस्कृतियों का मिलन होता है तब उनके बीच सांस्कृतिक तत्वों का आदान-प्रदान होता है। यह प्रक्रिया और गहरी छाप छोड़ती है जब सम्पर्क एक लम्बी अवधि तक बना रहे और इसमें शासकों का संरक्षण भी शामिल हो।

इस इकाई में हमने इस्लाम पंथ और मुस्लिम संस्कृति का भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका विवेचन किया। इसमें इस्लाम पंथ के शुद्ध स्वरूप का वर्णन किया गया और इसके प्रचार-प्रसार के लिये मुस्लिम शासकों द्वारा अपनाये गये उपायों की चर्चा की गयी। धार्मिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा के दौरान हमने सूफी संतों की वाणी और मत का प्रभाव भी देखा। सदियों से भारत में प्रचलित जाति व्यवस्था के मूल आधार जन्म आधारित ऊंच-नीच की भावना में आने वाले अंतर की पहचानकी गयी। शासकीय तथा धर्म प्रचारकों की नीतियों से सामाजिक संरचना पर पड़ने वाले प्रभावों का हमें ज्ञान हुआ। आर्थिक जीवन तथा संस्कृति पर पड़ने वाले प्रभावों से हमारा परिचय हुआ। भाषा, संगीत और कला के क्षेत्र में पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन किया गया। पारस्परिक प्रभाव के रूप में इस्लाम पंथ के अनुयायियों भारतीय मुसलमानों पर भारतीय संस्कृति का क्या प्रभाव पड़ा इसे भी वर्णन किया गया।

13.11 उपयोगी पुस्तकें तथा सन्दर्भ

असगर अली इंजीनियर	:	इस्लाम एण्ड माडर्न एज
केनेथ डब्लू. मार्गन	:	दि स्ट्रेट पाथ : इस्लाम इन्टरप्रेटेड बाई मुस्लिम्स
अमीर अली	:	दि स्पिरिट ऑफ इस्लाम
रिबेन लेवी	:	दि सोशल स्ट्रक्चर ऑफ इस्लाम
डॉ० आई० एच० कुरेशी	:	ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि सलतनत-ए-दिल्ली
अवध बिहारी पाण्डेय	:	पूर्व मध्यकालीन भारत
एम० डब्लू. मिर्जा	:	हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इण्डियन पीपुल
डॉ० ताराचन्द	:	इन्फ्लूएन्स ऑफ इस्लाम आन इंडियन कल्चर
लईक अहमद	:	भारतीय मध्यकालीन संस्कृति
रामकृष्ण भण्डारकर	:	धर्मों का इतिहास
विन्सेन्ट स्मिथ	:	अकबर दि ग्रेट मुगल
डॉ० पी० एन० चोपड़ा	:	सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ सोसायटी एण्ड कल्चर इन मुगल एज

13.12 सम्बन्धित प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. इस्लाम पंथ का प्रतिपादन किस शताब्दी में हुआ?
   (अ) छठवीं शताब्दी
   (ब) सातवीं शताब्दी ( )
   (स) आठवीं शताब्दी
   (द) नौवीं शताब्दी
2. इस्लाम पंथ के पैगम्बर का क्या नाम है?
   (अ) फीरोज शाह तुगलक
   (ब) अलाउद्दीन खिलजी
   (स) मोहम्मद साहब ( )
   (द) सिकंदर लोदी
3. जजिया क्या है?
   (अ) एक संस्कार

(ब) एक शासक

(स) एक राज्य

(द) एक टैक्स ( )

4. इस्लाम पंथ का प्रमुख ग्रंथ जो अवतरित हुआ उसका क्या नाम है?

(अ) सुन्नाह

(ब) कुरान( )

(स) हदीस

(द) इज्मा

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. इस्लाम पंथ के पांच मुख्य नियम क्या हैं?
2. इस्लाम के प्रमुख सिद्धान्त क्या है?
3. उन इस्लामी शासकों के नाम बताइए जिन्होंने भारतीय समाज को प्रभावित किया?
4. सूफी इस्लाम और वेदान्त दर्शन में क्या संबंध है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. इस्लाम का भारतीयों के धार्मिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है? वर्णन करें।
2. भारतीय जाति व्यवस्था पर इस्लाम के प्रभावों की विवेचना कीजिए।
3. इस्लाम का भारतीय स्त्रियों की स्थिति पर क्या-क्या प्रभाव पड़ा? संक्षेप मे बताइये।
4. भारतीयों के संपर्क में आने के कारण मुस्लिम समाज और संस्कृति पर पड़ने वाले पारस्परिक प्रभावों का वर्णन कीजिए।

इकाई 14 ईसाइयत का प्रभाव तथा पारस्परिकता

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 ईसाइयत अर्थात् ईसाई सामाजिक व्यवस्था : अवधारणात्मक स्वरूप

14.3 ईसाईयों की भारत में रुचि एवं सांस्कृतिक प्रसार

14.4 ईसाइयत का भारतीय समाज पर प्रभाव

14.4.1 सामाजिक जीवन पर प्रभाव

14.4.2 सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव

14.4.3 धार्मिक जीवन पर प्रभाव

14.5 ईसाइयत पर भारतीय प्रभाव अर्थात् पारस्परिकता

14.6 सारांश

14.7 सन्दर्भ ब्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

14.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- ईसाइयत के अवधारणात्मक स्वरूप से परिचित हो सकेंगे,
- ईसाइयत के भारतीय समाज पर प्रभाव का उल्लेख कर सकेंगे।
- पारस्परिकता अर्थात् ईसाइयत पर भारतीय प्रभाव की विवेचना भी कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई ईसाई धर्म के भारतीय समाज पर प्रभाव तथा ईसाइयत पर भारतीय प्रभाव से सम्बन्धित हैं। इस इकाई के अन्तर्गत सर्वप्रथम ईसाई सामाजिक व्यवस्था के अवधारणात्मक स्वरूप से परिचित कराया गया है ताकि आप सम्पूर्ण विवेचना को सरलता के साथ समझ सकें। जैसा कि सर्वविदित ही है, एक ओर जहां ईसाइयत का भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों में गहरा प्रभाव पड़ा है, वहीं दूसरी ओर भारतीय समाज ने भी ईसाइयत को काफी हद तक प्रभावित किया है। इस दृष्टि से इस इकाई में पारस्परिक प्रभाव सम्बन्धी सभी पक्षों की चर्चा की गयी है।

इस इकाई में हम आपको ईसाइयत के भारतीय समाज पर प्रभाव एवं पारस्परिकता से अवगत करा रहे हैं। इसको स्पष्ट करने के लिये हमने इस इकाई में अधिक से अधिक उदाहरण भी दिये हैं और आपके लिये यथा स्थान प्रश्न भी दिये हैं।

14.2 ईसाइयत अर्थात् ईसाई सामाजिक व्यवस्था : अवधारणात्मक स्वरूप

भारत विभिन्न धर्मों की रंग स्थली रहा है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में यद्यपि 'हिन्दू सामाजिक व्यवस्था' एवं 'इस्लाम सामाजिक व्यवस्था' का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है, लेकिन इससे अन्य धर्मों और उनकी सामाजिक व्यवस्था का महत्व कम नहीं हो जाता। जनसंख्या के आंकड़ों के अनुसार यद्यपि भारत में ईसाइयों का प्रतिशत बहुत कम है, परन्तु फिर भी आधुनिकता, जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण एवं प्रगतिशील तथा आधुनिक विचारों के कारण ईसाई सामाजिक व्यवस्था का स्थान भारतीय समाज में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इतना ही नहीं ईसाई सामाजिक व्यवस्था के परिणामसवरूप भारतीय सामाजिक व्यवस्था में भी अनेक संरचनात्मक एवं संस्थात्मक परिवर्तन हुये हैं, जिनका विस्तृत उल्लेख प्रस्तुत इकाई में आगे किया गया है।

ईसाई सामाजिक व्यवस्था मूलत: ईसाई धर्म की देन है। ईसाई धर्म का प्रारम्भ 'पैलेस्टाइन' नामक स्थान से माना जाता है एवं इस धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह (Jesus Christ) माने जाते हैं। ईसाई धर्म मूलत: ईसा मसीह के प्रवचनों, उपदेशों, आदेशों और उनकी शिक्षाओं की देन है। जीसस ने ईश्वर की एकता और उसकी सर्व वत्सलता एवं निष्पक्षता को लोगों के सामने रखने और प्रेम, करुणा, मानव सेवा, अहिंसा, त्याग और परोपकार का सन्देश दिया। उन्होंने अपने धर्म के माध्यम से समस्त संसार, दु:खी और असहाय जनता के लिये नवीन आशा और जीवन का सन्देश दिया। उन्होंने घोषणा की "तुम गरीब धन्य हो, क्योंकि ईश्वर का राज्य तुम्हारा ही है। इस समय जो लाग भूखे हैं सो धन्य हैं क्योंकि भविष्य में तुम्हीं को सन्तुष्टि मिलेगी। तुम रोने वाले धन्य हो, क्योंकि तुम्हीं तो हंसोगे। ईसा मसीह ने दु:खी और असहाय जनता को समझाया कि "सम्पदा में विश्वास करने वाले लोगों का ईश्वर के राज्य में प्रवेश पाना बहुत कठिन है। सुई के छेद में ऊंट का प्रवेश पाना ईश्वर के राज्य में धनियों के प्रवेश पाने से कहीं अधिक सुगम है।" उन्होंने उपदेश दिया "अपने दुश्मनों को प्यार करो। जो तुमसे घृणा करते हैं उनसे तुम नम्रता का बर्ताव करो। जो तुम्हें अभिशाप देते हैं उन्हें तुम वरदान दो, और जो तुम्हें गाली देते हैं उनके लिये दुआएं करो। ... अपने को पहचानो और अपने शत्रुओं को भी प्यार करो, उन्हें सहायता दो। कभी निराश मत हो, तुम्हें इसका पुरस्कार अवश्य ही प्राप्त होगा।" ईसा मसीह के अनुसार "ईश्वर गरीब का है और वह उसी को प्यार करता है। ईश्वर धन और वेद देखकर पक्षपात नहीं करता। वह तो प्रेम का भूखा है। अत: सबसे प्रेम करो ..... सबके प्रति यह प्रेमभाव ही ईश्वर प्रेम में बदल जायेगा और तुम ईश्वर के राज्य में प्रवेश पाने

के अधिकारी बन जाओंगे।'' (रवीन्द्रनाथ मुकर्जी : भारतीय समाज व संस्कृति, 1984, प० 440)

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसाई धर्म तार्किक ज्ञान,वैयक्तिक, स्वतन्त्रता, एकतावादी और बंधुत्व की भावना, प्रेम, त्याग, करुणा, मानवतावादी विचारधारा और ईश्वर में आस्थ आदि विशेषताओं से युक्त है। यद्यपि आधुनिक समाज में हमें ईसाई धर्म में दो प्रमुख सम्प्रदाय, कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेन्ट दिखाई देते हैं, परन्तु मूलत: यह विभाजन अनेक वैचारिक, संघर्षों एवं धर्म युद्धों के कारण हैं। वस्तुत: मूल में दोनों सम्प्रदायों को मानने वाले एक ही अलौकिक, रहस्यवादी और दिव्यशक्ति (ईसा मसीह) में विश्वास करते हैं। और दोनों सम्प्रदायों के सदस्यों की जीवन विधि एवं व्यवहार प्रतिमानों में भी इतनी अधिक समानता है कि उनमें कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती।

मूलत: ईसाई समाज भी हिन्दू समाज की भांति एक धर्म प्रधान समाज है। ईसाई लोग एक ईश्वर की अवधारणा में विश्वास करते हैं। यहां ईश्वर को एक सर्वशक्तिमान तथा ऐसे पुरुष के रूप में स्थापित किया जाता है जो पूरे विश्व के कष्टों का निवारण करता है। ईसाईयों का मानना है कि ईश्वर ने विश्व को सन्मार्ग पर ले जाने के लिये एक दूत ''ईसा मसीह को भेजा।'' ईसा मसीह को स्वयं ईश्वर न मानकर उन्हें ईश्वर का ''दूत'' या सन्देशवाहक माना गया। ईसाई लोग ईश्वर को निराकार मानते हैं।

ईश्वर में आस्था के साथ-साथ ईसाई लोग आत्मा के अस्तित्व एवं उसकी पवित्रता में विश्वास करते हैं। ईसाई धर्म में ''त्रियकवाद'' की विवेचना की गयी है जो ईश्वर, पवित्र आत्मा एवं ईसा मसीह से मिलकर बना है। ये तीनों परस्पर विपरीत न होकर एक ही शक्ति के विभिन्न प्रतिरूप हैं ईसाई लोग अपने जीवन में अनेक धार्मिक अनुष्ठानों को भी पूरा करते हैं। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म में मानवता, समानता एवं भ्रातृत्व का महत्वपूर्ण स्थान है। यह धर्म एवं इसके अनुयायी किसी प्रकार के वर्ग विभेद में विश्वास नहीं करते। ईसाई धर्म में सम्पूर्ण मानव जाति एवं सृष्टि के कल्याण की आकांक्षा की गयी है। ईसाई धर्मावलम्बी केवल अपने समाज के हित में कार्य नहीं करते बल्कि वे सम्पूर्ण सृष्टि के समस्त लोगों से प्यार करते हैं। ईसाई सामाजिक व्यवस्था में किसी प्रकार के वर्ग भेद का स्थान नहीं है। ईसाई सामाजिक व्यवस्था में विवाह को पवित्र माना गया है। उत्तर भारत संयुक्त चर्च के संविधान में कहा गया है कि ''विवाह एक पवित्र व्यवस्था है, जो ईश्वर द्वारा स्थापित है और इसीलिए यह अपने प्राकृतिक क्रम में विद्यमान है .... विवाह सम्बन्ध इस प्रकार ईसा और गिरिजाघर के अलौकिक सम्बन्धों का प्रतीक है।'' (डॉ० शर्मा, भारतीय समाज एवं संस्कृति, पृ० 468)

परिवार को भी ईसाई सामाजिक व्यवस्था में काफी महत्व दिया गया है। स्त्रियों की स्थिति काफी उच्च एवं सम्मानपूर्ण है ईसाई सामाजिक व्यवस्था अखण्ड एवं परिवर्तनशील नहीं रहती। भौतिक मूल्यों एवं स्वतन्त्रता की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण परम्परागत ईसाई सामाजिक व्यवस्था में अनेक परिवर्तन हुये हैं। वर्तमान समय में ईसाई सामाजिक व्यवस्था में चर्च का स्थान कम हुआ है। ईसाई भी अन्य लोगों की तरह ही धर्म से हटते जा रहे हैं। विवाह

विच्छेद का प्रारम्भ भी ईसाई सामाजिक व्यवस्था में हो गया है कानून ने भी विवाह विच्छेद को मान्यता प्रदान की है।

साथ ही अब यहां विधवा विवाह को भी मान्यता दी गयी है। जो परम्परागत ईसाई सामाजिक व्यवस्था में नहीं थी। स्वतन्त्रता के मूल्यों के कारण ईसाई सामाजिक व्यवस्था में रोमांस के प्रभावों में भी वृद्धि हुई है। इसी प्रकार वैवाहिक निषेधों में भी अब शिथिलता आ गयी है। अन्तर्जातीय एवं अन्तर्धार्मिक विवाह भी अब ईसाई समाज में होने लगे हैं। वैवाहिक निषेधों में भी अब शिथिलता आ गयी है इन सब कारणों से परम्परागत ईसाई सामाजिक व्यवस्था में अब अनेक परिवर्तन हो गये हैं। अत: ईसाई समाज भी अखण्ड एवं अपरिवर्तनशील न होकर गतिशील एवं परिवर्तनशील हैं तथा उसने अनेक नवीन मूल्यों को ग्रहण किया है एवं परम्परागत मूल्यों को छोड़ा है।

14.3 ईसाइयों की भारत में रुचि एवं सांस्कृतिक प्रसार

एशिया में यूरोपीय विस्तार के लिये मुस्लिम विरोधी पक्ष का स्थान यूरोप में कैथोलिक और प्रोटेस्टैण्ट शक्तियों की प्रतिस्पर्धा ने ले लिया। 1517 में जर्मनी में आरम्भ हुये ''सुधारों से प्रेरित होकर हालैण्ड ने स्पने के अत्याचारों के विरुद्ध बगावत कर दी और 1579 में वह स्वतन्त्र हो गया। जल्दी ही इंग्लैण्ड भी उसमें शामिल हो गया और प्रोटेस्टेन्ट राष्ट्रों ने पोप के विरुद्ध अभियोजन शुरू कर दिया, जिन्होंने आधी दुनिया पर स्पेन और पुर्तगाल का अधिकार बना रखा था। पूर्व में व्यापारिक वरिष्ठता के लिये संघर्ष भी उनके धार्मिक विद्रोह का एक अंग था। एलिजाबेथ प्रथम के समय में अंग्रेजों का दुनिवावी दृष्टिकोण विस्तृत हो गया और स्पेनी आरमैडा पर विजय से व्यापारिक गतिविधियां बढ़ाने के लिये उनका आत्मविश्वास और भी बढ़ गया। अत: पूर्वी भारत में अत्यन्त लाभप्रद पुर्तगाली व्यापार को तोड़ने के लिये 1600 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुयी। पुर्तगालियों को जल्दी ही अपदस्थ कर दिया गया और लाभ एवं शक्ति की लालसा ने यूरोपीय धार्मिक प्रतिस्पर्द्धा को गौण बना दिया, वस्तुत: अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य एक धार्मिक प्रतिस्पर्धा ने राजनीतिक एवं आर्थिक संघर्ष का रूप ले लिया था।

मुगल सत्ता की समाप्ति के बाद राजनीतिक उथल-पुथल का लम्बा सिलसिला चला। बौद्धिक जड़ता ही तत्कालीन भारतीय समाज का मुख्य लक्षण बन गयी और यह देश गड़बड़ी, अराजकता और किंकर्तव्यविमूढ़ता का शिकार हो गया। पुनर्जागृत यूरोप की तुलना में अट्ठारहवीं शताब्दी का भारत इतना कमजोर हो गया था कि यह अपनी स्थिति पर नियन्त्रण न रख सका। इतना भी न हो पाया कि भारतीय क्षेत्र में शक्ति के लिये संघर्ष करते हुये यूरोपीय देशों में से किसी एक का पक्ष लेकर यह स्थिति को अपने पक्ष में करता। इस संघर्ष में अन्ततोगत्वा अंग्रेजों को सफलता मिली, यद्यपि फ्रांसीसियों ने सबसे पहले भारतीय शासकों पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था।

अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक कई अन्य धर्म प्रचारकों ने भी व्यक्तिगत रूप से

भारतीय साहित्य, भाषा और तत्कालीन जीवन सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त कर लिया था परन्तु भारतीय सभ्यता को समझने की दशा में कम ही लोगों ने प्रयास किया और उन्होंने भी भारतीय संस्कृति का ऊपरी ज्ञान ही प्राप्त किया, इसके मूल का अनुसंधान अथवा इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन नहीं किया।

उस समय भारत आने वाले यूरोपियनों का दल एक रंग बिरंगे झुण्ड के समान था जिसमें, व्यापारी, वैद्य, सन्देशवाहक, पुजारी, सिपाही, नाविक और अन्य भाग्य की तलाश में निकले सभी तरह के लोग थे। वे विभिन्न देशों से, विभिन्न मार्गों से, विविध उद्देश्यों से प्रेरित होकर आये थे, उनमें से कुछ लोग सरकी भी थे, जैसे टाम कोरियट अलेप्पो से पैदल चलकर अजमेर आया था। धन लाभ अथवा उत्साह से प्रेरित ये आरम्भिक यूरोपियन प्राय: अशिक्षित और भावों का आदान-प्रदान करने में अक्षम होते थे। अंग्रेज भी अपवाद नहीं थे। केवल व्यापार ही उनका उद्देश्य था और उसे प्राप्त करने के लिये वे यह आवश्यक नहीं समझते थे कि अपने ग्राहकों के विश्वासों में हिस्सा बटावें या उनकी संस्कृति को समझें परन्तु वे अपने को उनक अनुरूप बनाना जरूरी मानते थे। इसलिये उन्होंने भारतीयों की सी आदतें अपनाना शुरू किया, भारतीय भोजन कर लेते, यहां की लड़कियों से विवाह कर लेते और यहां के रीति-रिवाजों और विश्वासों तथा अधिकारियों के प्रति आदर प्रदर्शित करते। व्यापारी के रूप में उन्हें केवल पैसे से मतलब था, इसके लिये वे विवेक और नैतिकता को भी तिलांजलि दे देते थे और अध्यवसायी युवकों के लिये भारत सोने की चिड़िया था।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि प्राचीन यूरोपीय ईसाइयों में इस्लाम के विरुद्ध भावनायें भरी रहती थीं, परन्तु ये हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों जैसा दृष्टिकोण ही रखते थे सम्भवत: ऐसा इसलिये हुआ कि यहूदी परम्परा के कारण वे इस्लाम के बारे में बहुत कुछ जानते थे और कुछ इसलिये कि वे मुगल दरबारों की चकाचौंध से प्रभावित थे। वे हिन्दुओं को गिरा हुआ और अन्धविश्वासी समझते थे। उनकी इन धारणाओं को एबे ट्यूबोआ जैसे पादरियों की बातों से और भी अधिक बल मिलता था जो सदा हिन्दू धर्म में बुराइयां ही देखता था और उनको अपने धर्म में परिवर्तित करने के प्रयत्न करता रहता था।

कुछ दूसरे प्रबुद्ध फ्रांसीसी लेखकों को भी भारत के बारे में थोड़ी बहुत ही जानकारी थी। दिदेरो ने भारतीय धर्म और दर्शन पर विश्वकोश (1751) में कुछ लेख लिखे। 1770 में दिदेरो द होलबक एवं नाइगो की सहायता से एबे रायल ने फिलॉसॉफिकल एण्ड पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ द यूरोपियन्स इन द टु इण्डियाज प्रकाशित की।

सुप्रसिद्ध सर विलियम जोन्स (1746-1794) संस्कृत अध्ययन में अग्रणी था। यह सितम्बर, 1783 में कलकत्ता उच्च न्यायालय का उत्तरवर्ती न्यायाधीश बनकर भारत आया था। इससे पूर्व ही उसने एशियाई सिद्या में योग्यता प्राप्त कर ली थी, मुख्यत: अरबी और फारसी में भारतीय संस्कृति के विषय में तो वह आदर भावना लेकर ही आया था। उसने बड़े उत्साह से भारतीय सेवा में नियुक्ति करायी और बेचैनी तथा अनिश्चितता में पहले पांच वर्ष यहां बिताये। इसका एक कारण तो यह था कि वह बिना आर्थिक कठिनाई के शोध-कार्य जारी

रखने के लिये पर्याप्त धन इकट्ठा करके समय से पूर्व सेना निवृत्त होना चाहता था, दूसरे वह अपने प्राच्य ज्ञान को विशिष्टता के शिखर पर पहुंचाने का इच्छुक था। यद्यपि उसकी मृत्यु असमय में ही हो गयी थी परन्तु मृत्यु पर्यन्त वह रहा भारत में ही। अपनी प्रकृति से वह एक खुशमिजाज व्यक्ति था परन्तु सन्तोष की जो प्रतीति उसके अपने दस वर्षीय भारत प्रवास में हुयी वह इंग्लैण्ड में कभी न हो सकी।

वह भारतीय विचारधारा और संस्कृति की प्रशंसा करता हुआ कभी नहीं थकता था वह कहता है, अपने आपको ऐसे उदात्त वातावरण में पाकर मुझे अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति हुयी है जो दूर-दूर तक एशियाई क्षेत्रों से घिरा हुआ है जिसको विज्ञान की धात्री होने का सम्मान प्राप्त है, जिसने गौरवपूर्ण कार्यों के दृश्य उपस्थित किये हैं, जो मानवीय प्रतिभा का उर्वर उत्पत्ति स्थान है, जो आश्चर्यजनक प्राकृतिक विचित्रताओं से भरा पड़ा है और जो धर्म, प्रशासन, शास्त्रीय नियमों, शिष्टाचार, रीति-रिवाजों, विविध भाषाओं तथा मनुष्यों के विविध वर्णों का अटूट भण्डार है। ऐसे समय में भी जब हिन्दुत्व उतार पर था और लोगो में इसको अवमानित करना एक फैशन ही बन गया था, वह इस धर्म को बहुत महत्व देता था। जोन्स यद्यपि ईसा और ईसाई मत पर श्रद्धा रखता था परन्तु शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित, हिन्दू सिद्धान्तों, ब्रह्म के अद्वैत और आत्मा के पुनर्जन्म के प्रति आकृष्ट था। उसकी दृष्टि में यह सिद्धान्त ईसाई मत के दु:ख और अन्तिम दण्ड विधान की अपेक्षा अधिक युक्ति संगत था। जब उसको भारत में रहते तीन वर्ष हो गये, तो 1787 में उसने अपने भूतपूर्व शिष्य और निकटतम मित्र अर्ल स्पेन्सर को लिखा—''मैं हिन्दू नहीं हूँ, परन्तु हिन्दुओं के इस सिद्धान्त को मानता हूँ कि भविष्य में अब से अच्छे एक अतुलनीय विवेकपूर्ण, पवित्र और मनुष्यों को पापमुक्त करने वाले युग का समारम्भ होगा, जो अवश्य ही अन्तहीन दण्ड व्यवस्था की भयावह आशंकाओं से श्रेष्ठ है। (ए० जे० आरबेरी, ओरिएण्टल एसेज, 63 में उद्धृत)।

1792 में जोन्स ने जयदेव के 'गीत गोविन्द' का अनुवाद करके कलकत्ता में प्रकाशित किया, और कालिदास के 'ऋतुसंहार' के मूलपाठ को भी प्रकाशित किया जो प्रथम मुद्रित पुस्तक है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण था 'मनुस्मृति' का अनुवाद जो उसकी मृत्यु के बाद 'इंस्टीट्यूट ऑफ हिन्दू लॉ' या 'आर्डिनेन्स ऑफ मनु' नाम से 1794 में प्रकाशित हुआ। प्राय: इसी समय एनक्वेति द्यु पेरों (1731-1805) भारत आया और 1786 में मुगल शाहजाद दाराशिकोह के लिये फारसी में अनुदित उपनिषदों के आधार पर उसने उनका प्रथम यूरोपीय अनुवाद लैटिन भाषा में किया।

उपनिषदों के इस अनुवाद का यूरोप वालों पर जो बहुत गहरा प्रभाव पड़ा वह एक संयोग मात्र था। विल्किन्स द्वारा भगवद्गीता और द्यु पेरों के द्वारा उपनिषदों के अनुवाद ऑपनिखेत से पाश्चात्य विचारकों को भारतीय दर्शन के मूल ग्रन्थों के पाठ उपलब्ध हो गये। द्यु पेरों संस्कृत नहीं जानता था, परन्तु उसका अशुद्ध अनुवाद भी यूरोपीय साहित्य के लिये एक महत्वपूर्ण देन सिद्ध हुआ। दूसरी ओर जर्मन दार्शनिक शेलिंग का और फिर शॉपेनहॉवर का भी ध्यान आकर्षित हुआ, जिसने 1813 में इसकी प्रशंसा में कहा, यह मानव की उच्चतम बुद्धि का

प्राकट्य है' और उसने इस औपनिषदिक आदर्श वाक्य को ग्रहण किया—'ब्रह्मविद् ब्रह्मवै भवति' अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही बन जाता है। (दामोदर सिंहल, आधुनिक भारतीय और संस्कृति पृष्ठ 47-64)।

14.4 ईसाइयत का भारतीय समाज पर प्रभाव

भारतीय समाज की कहानी अविच्छिन्नता, संश्लेषण और समृद्धि की कहानी है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर ईसाई सामाजिक व्यवस्था का अत्यन्त गहन प्रभाव पड़ा है। यद्यपि यह प्रभाव दोहरा है—अर्थात् भारतीय समाज ने भी ईसाई समाज को काफी प्रभावित किया है लेकिन फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर ईसाई सामाजिक व्यवस्था के प्रभाव बहुत अधिक हैं। ईसाई सामाजिक व्यवस्था ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था के संरचनात्मक एवं संस्थापक दोनों ही पक्षों को अत्यन्त प्रभावित किया है। ईसाई सामाजिक व्यवस्था मूलत: शिक्षा, ज्ञान, आदेशों आदि में पश्चिमी संस्कृति का अनुकरण करती है। व्यक्तिवादिता, समानता, मातृत्व, बंधुत्व, प्रेम, करुणा, स्वतन्त्रता, मानवीय मूल्यों आदि विशेषताओं से युक्त ईसाई समाज ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था के परम्परागत स्वरूपों को परिवर्तित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि अंग्रेजी शासन के दौरान राजनीतिक संघर्ष के कारण भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर ईसाई सामाजिक व्यवस्था का उतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि हमारे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद पड़ा। ईसाइयत ने भारतीय समाज को निम्न प्रकार से प्रभावित किया—

14.4.1 सामाजिक जीवन पर प्रभाव—ईसाई धर्म ने भारतीय सामाजिक जीवन एवं संस्थाओं को बहुत अधिक प्रभावित किया है। प्राथमिकता के तौर पर यदि देखा जाये तो ईसाइयत ने सबसे करारा प्रहार भारत की जाति व्यवस्था पर किया, परिणामस्वरूप जातीय बन्धन काफी शिथिल हुये, अस्पृश्यता की भावना में कमी आयी, सामाजिक एवं धार्मिक निर्योग्यताओं में परिवर्तन हुआ, जातीय आधार पर पेशों के निर्धारण में परिवर्तन हुआ, उच्चता अद्यमता की भावना में परिवर्तन हुआ खान-पान सम्बन्धी निषेध शिथिल हुये, जातीय संस्तरण में परिवर्तन दिखाई देने लगा तथा वैवाहिक नियमों एवं प्रतिबन्धों में परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। जाति व्यवस्था के संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक पहलू में होने वाले इन समस्त परिवर्तनों का श्रेय ईसाइयत को ही है।

ईसाइयत के प्रभाव के कारण ही भारत की संयुक्त परिवार प्रथा भी एक बहुत बड़ी त्रासदी से होकर गुजरी है वैयक्तिक स्वतन्त्र तथा वैयक्तिक सम्पत्ति के प्रभाव से संयुक्त परिवारों में विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुयी। ईसाई सामाजिक व्यवस्था में परिवारों का स्वरूप संयुक्त न होकर एकाकी है। संयुक्त सम्पत्ति एवं घरेलू झगड़ों की वजह से युवा लोग एकाकी परिवारों की ओर आकर्षित होने लगे और इस प्रकार संयुक्त परिवार विघटित होने लगे।

भारतीय व्यवस्था में परम्परागत रूप से बाल विवाह, अन्तर्विवाह, कुलीन विवाह, आदि की

जो प्रथा थी, ईसाइयत के प्रभाव से इसमें काफी परिवर्तन आये हैं। आज भारतीय सामाजिक व्यवस्था में परम्परागत विवाह की आयु में काफी वृद्धि हुयी है। विवाह संस्था के उद्देश्यों, कर्मकाण्डों, रीति रिवाजों एवं प्रथाओं में भी अनेक परिवर्तन ईसाइयत के कारण ही उत्पन्न हुये हैं। सह शिक्षा, स्त्री पुरुषों की समानता, स्वतन्त्रता, साथ-साथ कार्य करना एवं रोमांस आदि के कारण परम्परागत विवाहों के स्वरूपों में काफी परिवर्तन आया है।

परम्परागत भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। इसके विपरीत ईसाई धर्म स्त्रियों को पुरुषों के समान स्वतन्त्रता एवं अधिकार देता है। इस प्रकार एक ओर जहां स्वतन्त्रता व सभ्यता ने भारतीय समाज की स्त्रियों को आकर्षित किया, वहीं दूसरी ओर शिक्षा के प्रचार-प्रसार से स्त्रियां स्वयं भी जागरूक होने लगी। इस प्रकार ईसाई समाज के सम्पर्क से भारतीय स्त्रियों की परम्परागत स्थिति में अनेक परिवर्तन आने लगे। स्त्री शिक्षा, उनके रहन-सहन, वेश-भूषा तथा उनके अधिकारों में विशेषत: जो परिवर्तन दिखाई देते हैं वे मूलत: ईसाई समाज द्वारा ही लाये गये हैं। लूनिया ने लिखा है कि "भारतीय स्त्रियों को धार्मिक और सामाजिक बेड़ियों से मुक्त करने और उनके उत्थान के प्रयत्न करने में ईसाइयत के प्रभाव ने अत्यधिक योग दिया। अखिल भारतीय महिला परिषद् की स्थापना हुयी। महिलाओं के उत्थान व प्रगति के लिये इसने देशव्यापी सफल आन्दोलन किया है। (बी० एन० लूनिया, उद्धृत एम० एस० जैन, आधुनिक भारत का इतिहास, पृ० 298-99)

ईसाइयत ने अस्पृश्यता निवारण हेतु आवश्यक पृष्ठभूमि को तैयार किया जिसके परिणामस्वरूप आज देश से अस्पृश्यता का काफी सीमा तक निवारण हो गया हैं। ईसाइयत के स्वतन्त्रता एवं समानतवादी मूल्यों से प्रभावित होकर देश में एक तो सुधारवादी आन्दोलन की शुभारम्भ हुआ जिसने अस्पृश्यता निवारण हेतु प्रयास किये। दूसरे ईसाइयों की शिक्षा तथा मूल्यों ने देश में अस्पृश्यता विरोधी परिवेश तैयार किया। तीसरे, औद्योगीकरण, नगरीकरण, यातायात के साधनों तथा पश्चिमी संस्कृति आदि ने ऐसी स्थितियां उत्पन्न कर दीं जहां छुआ-छूत एवं ऊंच-नीच पर आधारित सम्बन्धों को बनाये रखना असम्भव हो गया। चौथे स्वतन्त्रता एवं समानता पर आधारित ईसाइयत (पाश्चात्य मूल्यों) से प्रेरित होकर ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अस्पृश्यता को अवैधानिक एवं दण्डनीय घोषित किया गया। इस प्रकार अस्पृश्यता निवारण में ईसाइयत का बहुत बड़ा योगदान रहा है।

इसी प्रकार वेशभूषा, खान पान, रीति रिवाज आदि को भी ईसाइयत ने काफी गहरे तक प्रभावित किया है।

14.1.2 सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव—ईसाइयत ने भारतीय सांस्कृतिक जीवन को भी विविध प्रकार से प्रभावित किया है। जैसा कि निम्न विवेचना से स्पष्ट है।

हमारे देश की शिक्षा पद्धति मूलत: वही है जो ब्रिटिश शासनकाल में लार्ड मैकाले द्वारा स्थापित की गयी थी। थोड़े बहुत परिवर्तनों एवं संशोधनों के साथ वही शिक्षा प्रणाली आज भी देश में लागू है। भारत में अंग्रेजों के शासन से पहले केवल उच्च जातियों के ही कुछ व्यक्ति सामान्य शिक्षा प्राप्त कर पाते थे। अंग्रेजों ने भारत में पहली बार एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था आरम्भ की,

जो धर्म और जाति के भेद-भाव के बिना सभी लोगों के लिये सुलभ हो गयी। अब तक अध्ययन की सुविधा केवल ब्राह्मणों, शासकों अथवा अभिजात्य वर्गों तक ही सीमित थी परन्तु अब वह उन सभी को सुलभ हो गयी थी जो इसके लिये इच्छुक थे, छापाखानों की संख्या बढ़ने से पुस्तकों का खूब प्रचार हुआ और फलस्वरूप शिक्षा का भी। पाश्चात्य शिक्षा ने प्राचीन मान्यताओं और अन्धविश्वासों को भस्मीभूत कर दिया। भारतीय अपने विश्वासों और संस्थाओं के मूल पर पुनर्विचार करने तथा यूरोपीय स्तर से उनकी तुलना करने को बाध्य हुये। जहां यह नव-चिन्तन भारत के आधुनिकीकरण में सहायक हुआ वहाँ इसने मेकॉले जैसे विचारक भी उत्पन्न किये जो प्राच्य विद्या का अध्ययन किये बिना ही इसका विरोध करते थे। भारतीयों ने पाश्चात्य शिक्षा को इतनी लगन के साथ आँख मींचकर अपनाया कि उनमें से कितने ही नव शिक्षित तो उपहासास्पद रूप में नकलची बन गये। न वे पाश्चात्य विद्या का समीक्षात्मक अध्ययन करते थे, न अपनी विद्या को जानने का प्रयत्न करते थे। अंग्रेजी शिक्षा के कुछ परिणाम तो बहुत ही भद्दे निकले क्योंकि अपने स्पष्ट लक्षणों और अभिरुचियों से इसने एक प्रकार का भिन्न सांस्कृतिक दल पैदा कर दिया। यद्यपि अंग्रेजी पढ़े लोग देश में बहुत कम (1 प्रतिशत)ही थे परन्तु वे अपना एक वर्ग बना लेने के लिये पर्याप्त थे। ब्रिटिश सरकार से संरक्षित होने के कारण ऐसे लोग भारतीय जीवन की ऊपरी सतह पर छाने लगे। मालिकों और जनता के बीच मध्यम वर्ग बन गया। यह वर्ग प्राय: मालिकों के लिये जनता के विरुद्ध ढाल का काम करता था। किसान, मजदूर और छोटे व्यापारी अंग्रेजी नहीं बोलते थे परन्तु उनसे ऊपर के लोग क्लर्क से कॉंसिलर तब सब अंग्रेजी बोलते थे। वर्ग रक्षा की भावना से प्रेरित होकर पश्चिमी रंग में रंगा हुआ भारतीय आँख मींचकर पाश्चात्य भाषा, वेश और रहन-सहन को अपना लेता था और अपने ही लोगों में से 'अनपढ़ों' और 'असभ्यों' से दूर-दूर रहता था। उसमें अच्छी बात यह थी कि वह मेहनत करके एक सभ्य अंग्रेज सा बन गया था। दूसरा पक्ष यह था कि वह उपहास योग्य नहीं तो अस्पष्ट व्यक्ति अवश्य बन जाता था जो अंग्रेजी भोजन, संगीत और चित्रकला में रस लेने के बहाने करता और कभी-कभी अपनी मातृ-भाषा को भी अंग्रेजी लहजे में बोलता था। अंग्रेजी उपाधियों का दम्भपूर्ण प्रदर्शन इतना बढ़ गया कि जिनके पास कोई उपाधि होती वे उसका बड़े रौब से प्रदर्शन करते थे और जो परीक्षा में सफल न हो पाते वे यह जताने का प्रयत्न करते कि वे मंजिल तक पहुंच चुके थे। नतीजा यह हुआ कि केवल ऐसे ही लोग नहीं थे जो बी० ए० की उपाधि अर्जित करके अपने आपको बी० ए० पास कहते परन्तु ऐसे लोगों की भी कोई कमी नहीं थी जो बी० ए० परीक्षा पास न कर पाने पर अपने को बी० ए० फेल या इण्टरमीडिएट पास लिखने से न चूकते थे। अंग्रेजी पढ़े लोगों की अपनी ही एक परम्परा थी, इनमें ब्राह्मणों का वह वर्ग भी था जो शिक्षा अर्जन के लिये इंग्लण्ड जाता और आमतौर से कोई न कोई उपाधि अर्जित करके स्वदेश लौटता। इस पाश्चात्य शिक्षा से यह लोग केवल आत्मदम्भी ही नहीं होते थे, अपितु जी हुजूरी करते उन्हें कोई शर्म महसूस न होती थी। इस शिक्षा में किसी तरह के धार्मिक विश्वासों अथवा प्रथाओं की सीख का कोई महत्व नहीं था। यह तर्क और वैज्ञानिक खोजों पर आधारित शिक्षा थी। इसके फलस्वरूप भारतीय समाज में सामाजिक समानता, सामाजिक

न्याय और स्वतन्त्रता के विचारों को प्रोत्साहन मिलने लगा। अंग्रेजी शासनकाल के दौरान मिलने वाली शिक्षा के फलस्वरूप ही भारत में पहली बार मनुस्मृति के विधानो का व्यापक विरोध होना आरम्भ हुआ। इस समय शिक्षित व्यक्तियों को अधिक सम्मान ही दृष्टि से देखा जाने लगा। स्पष्ट है कि पश्चिमी संस्कृति पर आधारित शिक्षा ने हमारी सम्पूर्ण सामाजिक संरचना तथा व्यक्तियों की मनोवृत्तियों में व्यापक परिवर्तन उत्पन्न किये। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ईसाई धर्म ने शिक्षा क्षेत्र में व्यापक प्रभाव डाले हैं।

जहां तक साहित्य और भारतीय कलाओं पर पड़ने वाले प्रभावों का प्रश्न है तो इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि अंग्रेजी शिक्षा, ईसाई धर्म प्रचारकों के कार्यों प्रेस के प्रयोग, पत्र पत्रिकाओं के प्रकाश तथा अंग्रेजी ाहित्य के पढ़ने एवं समझने ने देश की विभिन्न भाषाओं की साहित्यिक परम्पराओं को नवीनता में ढाल दिया। फलस्वरूप परवर्ती साहित्य में कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, जीवनी आदि में नई प्रवृत्तियों के दर्शन हुये। भारतीय भाषाओं के साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। भारत में कविता को ऋग्वेद के समय से होती आयी है परन्तु गद्य-लेखन कोई एक हजार वर्ष से अधिक भी समय के अन्तराल के बाद आरम्भ हुआ। धार्मिक और सामाजिक सुधारों के पक्ष और विपक्ष में विवादस्वरूप लिखे जाने वाले गद्य ने शीघ्र ही परिपक्वता प्राप्त कर ली। उपन्यास, लघु कथायें, निबन्ध और आधुनिक नाटक, विशेषकर लघु कथाओं का बीसवीं शताब्दी में भारतीय लेखन का विकास हुआ। शेक्सपीयर भारतीय अध्ययन का मुख्य विषय बन गया और यहां के साहित्य और नाटक पर उसका बहुत असर हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी तक भारतीय शेक्सपीयर से परिचित नहीं थे, यद्यपि उसने अपने दु:खान्त नाटक 1600 के आस-पास लिखे थे जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुयी थी। परन्तु जब एक बार अंग्रेजी शिक्षा आरम्भ हो गयी और पश्चात्य साहित्य एवं दर्शन का ज्ञान व्यावसायिक तथा आर्थिक लाभ के लिये आवश्यक हो गया तो शेक्सपीयर का साहित्य भारतीय साहित्यिक एवं नाटक मण्डलों के लिये सुपरिचित हो गया। शेक्सपीयर के अनेक अच्छे नाटकों के अनुवाद भारतीय भाषाओं में हुये। इसी प्रकार ईसाइयत के प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय स्थापत्य कला, चित्रकला, नृत्यकला, नाट्यकला एवं संगीत कला के क्षेत्र में अत्यधिक परिवर्त- हुये हैं। मानवता और बुद्धिवादी की नयी शक्ति से भारतीय चिन्तन और साहित्य को बहुत बल मिला। भारतीय लेखन अब अध्यात्मवाद और रूढ़िवाद से ही चिपका हुआ नहीं रह गया था। अब साहित्य में देवी देवता स्वर्ग से अवतरित होकर मानव जीवन में भूमिका नहीं निभाते थे। मनुष्य ने अब अग्रतम स्थान प्राप्त करके दैवी सहायता की अपेक्षा न रखते हुये जीवन नौका पार कर लेना सीख लिया था। जगत के विषय में जो धारणा प्राचीन काल से चली आ रही थी उसकी एक हल्की सी झलक अभी बनी हुयी थी। पुराने ढांचों में नये विचार भर गये और भारतीय लेखक व विचारक मानवतावाद की नयी शक्ति से ही प्रेरित नहीं हुये, अपितु फ्रांस की स्वतन्त्रता एवं समानता की क्रान्तिकारी भावनाओं से भी प्रभावित हुये।

ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्म प्रसार के उद्देश्य से भारतीयों के निकट आकर उनकी समस्याओं में रुचि लेनी प्रारम्भ की और लोगों को धर्म परिवर्तन हेतु प्रेरित किया। मिशनरियों के इन प्रयासों

से भारतीय में चेतना आयी और उन्होंने समाज सुधार के महत्व को समझा। भारत में जो भी समाज सुधार आंदोलन चलाये गये उन सभी को प्रारम्भ कराने का श्रेय ईसाई धर्म एवं पाश्चात्य संस्कृति को है, जिन्होंने इन आंदोलनो को प्रारम्भ करने के लिये परिस्थितियां उत्पन्न की। इन आंदोलनों में 'रामकृष्ण मिशन', 'भारतीय दलित वर्ग मिशन समाज' आदि प्रमुख हैं।

इस प्रकार आज के भारत मे जितना पंजीकरण औद्योगीकरण आदि जो भी विज्ञान सम्बन्धी प्रचार-प्रसार हो रहा है, उसमें पाश्चात्य संस्कृति अथवा ईसाइयत का बहुत बड़ा योगदान है।

14.1.3 धार्मिक जीवन पर प्रभाव—भारतीय सामाजिक व्यवस्था में धर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था, लेकिन शनैः शनैः हमारे यहां धार्मिक क्रियाकलापों का स्थान अनेक रूढ़ियों एवं कर्मकाण्डों ने ले लिया। फलस्वरूप असंख्य देवी देवताओं, भूत प्रेतों, शकुन-अपशकुन भाग्य, स्वर्ग-नरक आदि की अवधारणाओं को असाधारण महत्व दिया जाने लगा। ईसाई सामाजिक व्यवस्था ने भारत में एक ईश्वरवादी धारणा को बल दिया।

भारत में जहां धर्मपरायण व्यक्ति सामाजिक छुआछूत को अपनाते थे। वहां ईसाई मिशनरी निम्न जातियों मे घुल मिलकर समानता एवं भ्रातृत्व का पाठ पढ़ाते थे। ईसाईयों ने धर्म को प्रेम, करूणा, स्नेह एवं मानवता का सन्देश माना एवं इस प्रकार धर्म के मानवतावादी पक्ष का समर्थन एवं प्रचार-प्रसार किया। अतः धर्त एवं धार्मिक प्रतिमानों में अनेक परिवर्तन ईसाइयत के परिणामस्वरूप आये।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था के लगभग सम्पूर्ण पक्षों पर ईसाइयत की गहन छाप दिखाई देती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ईसाई समाज ने परम्परागत भारतीय समाज का स्वरूप बदलने में बहुत बड़ी भूमिका अदा की है। फिर भी भारतीय समाज का मूल स्वरूप सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया हो ऐसा नहीं माना जा सकता। भारतीय समाज अनेक परिवर्तनों एवं प्रभावों के बाद भी अपनी मौलिक विशेषताओं को अब तक बचाये रखने में सफल हुआ है।

14.5 ईसाइयत पर भारतीय प्रभाव तथा पारस्परिकता

समूचे ईसाई समुदाय के चिन्तन और जीवन को प्रभावित करने वाले अनेक तत्वों में से भारत भी एक था। वस्तुतः भारतीय विचारों के प्रति ईसाइयों की प्रतिक्रिया प्रत्येक शताब्दी में विचारकों के साथ बदलती रही। कुछ लोगों ने तो भारतीय विचारधारा को तुरन्त अपना लिया, कुछ ने स्वभाववश इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की।

ईसाइयत पर पड़ने वाले प्रभाव का आरम्भ हुआ भारतीय दर्शन और साहित्य से जिसकी शुरूआत हुयी जर्मनी से। अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त तक जर्मनी भारतीय दर्शन एवं साहित्य से काफी परिचित एवं प्रभावित हुआ। यूरोप के ईसाई समुदाय ने भारत के 'शाकुन्तलम' नाटक को प्रेम से अपनाया। जयदेव रचित 'गीत गोविन्द' और 'कालिदास'

और कालिदास रचित 'मेघदूत' को भी यूरोप में काफी प्रशंसा मिली। एक ओर शेक्सपीयर और दूसरी ओर भारतीय साहित्य ने जर्मन रोमांटिक आंदोलन को प्रेरित किया। उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मन रोमांटिक भारतीय धर्मों के प्रति भी आकृष्ट होते रहे। पाश्चात्य धार्मिक आलोचना को भारतीय बहुदेववाद से प्रेरणा मिली।

19वीं शताब्दी के मध्य तक तो भारत सम्पूर्ण रूप से आकर्षण का विषय बना रहा। बाद में ईसाई विद्वानों का ध्यान बौद्ध दर्शन और साहित्य की ओर भी गया। महान अंग्रेजी कवि विलियम वड्र्सवर्थ और उसका सहयोगी व आत्म बंधु सैमुअल टेलर कॉलरिज दोनों हिन्दू विचारधारा से प्रभावित थे। वर्ड्सवर्थ की कविताओं और कॉलरिज के ईसाई प्रेमगीम 'ल्यूटी' में इस बात के प्रभाव स्पष्ट दिखाई देते हैं। कॉलरिज ने नव प्लेटोवादी परम्पराओं पर बल दिया और इंग्लैण्ड में जर्मन आदर्शवाद का सूत्रपात किया जो भारतीय विचारधारा से प्रभावित था। कॉलरिज भारतीय साहित्य से प्रभावित था। उसने एक स्थान पर लिखा है कि ''मैं भारतीय विष्णु के समान शयन करना या मरना चाहता हूँ। जो अगाध समुद्र में कमलासन पर तैरता रहता है और कभी दस लाख वर्षों में उसकी निद्रा भंग होती है''। (बोरिस फोर्ड (स०), फ्राम ब्लेक टू बायरन, 193 उद्धृत जी० एल० सौलिगर)।

भारतीय चिंतन की प्रतिध्वनियां ऐसे देशों में भी सुनी गयी, जिनका भारत से केवल दूर- दराज का ही सम्बन्ध था।

अमेरिका में ईसाइयों ने जो विज्ञान आन्दोलन चलाया उसमें भी भारतीय प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। स्वामी विवेकानन्द, रविन्द्र नाथ टैगोर ने जब जब अमेरिका की यात्रायें की तब जब उन्होंने वहाँ के विद्वानों को गहरे तक प्रभावित किया।

आधुनिक भारतीय विचारकों में गांधी जी का वाह्य जगत पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। गांधीजी को प्राय: ईसा के बाद पैदा होने वाला सबसे बड़ा आदमी माना जाता है। और भारत में तो बुद्ध के बाद सबसे महान वही हुए हैं वे अहिंसावादी थे—अहिंसावादी का वास्तविक अर्थ है—विरोधी से भी प्रेम करना और आक्रमण के लिये प्रार्थन करना। नि:सन्देह बहुत से ईसाई गांधीवाद में ईसाई विचारों का दर्शन करते हैं। इसके अतिरिक्त स्वामी विवेकानन्द, आनन्द कुमार स्वामी, सर्वपल्ली राधाकृष्णन जैसे महापुरुषों के विचारों ने भी ईसाई समाज को प्रभावित किया।

भारतीय चिन्तन ने ब्रह्मविद्या द्वारा पश्चिम को कितनी गहराइयों तक प्रभावित किया है इसका अनुमान जे० कृष्णामूर्ति के ग्रन्थों की सर्वप्रियता से लगाया जा सकता है जो अपने यौवनकाल में ही 'मसीहा' के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। उनके उपदेशों का सार यह था कि मनुष्य आत्म ज्ञान द्वारा ही परम सत्य को प्राप्त कर सकता है। 'थियॉसॉफी' शब्द संस्कृति के 'ब्रह्मविद्या' पद का अनुवाद है। सबसे पहले इसका प्रयोग तीसरी शताब्दी में यूनानी दार्शनिक इयामब्लिकस ने 'ईश्वरीय वस्तुओं के आन्तरिक ज्ञान' के अर्थ में किया था। आधुनिक अर्थों में थियॉसॉफी' उस आन्दोलन का नाम है जो श्रीमती एम० पी० ब्लावत्स्की ने न्यूयार्क में 1875 में आरम्भ किया था थियॉसॉफिकल सोसायटी वर्तमान में एक ऐसा असाम्प्रदायिक समाज है जो हम इस म.. में

विश्वास करता है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। इसका लक्ष्य जाति, धर्म, लिंग और वर्णभेद से रहित मानव समाज में विश्व बन्धुत्व की स्थापना, सभी धर्मों दर्शनों और विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहित करना और प्रकृति के गूढ़ नियमों की व्याख्या करना तथा मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तियों को प्रकट करना है।

नाजी जर्मनी मे जो आन्दोलन देश में ही बढ़कर विकसित हुआ था, वह भी गांधीवादी शान्ति और सत्याग्रह पर आधारित था। इस आन्दोलन के नेता डिएट्रिक बॉनहॉफर ने इन विचारों को ईसाई मत पर प्रयुक्त करने की सम्भावना देखी और हिटलर के अत्याचारों के विरुद्ध गांधीवादी सिद्धान्तों के प्रयोग से इतना प्रभावित हुआ कि उसने गांधी जी से मिलने के लिये भारत की यात्रा करने का कार्यक्रम भी बनाया परन्तु राजनीतिक कारणों से यह सम्भव नहीं हुआ।

यद्यपि यह सत्य है कि ईसाई समाज पर भारतीय दर्शन का प्रभाव तो पड़ा, किन्तु भारत के विषय में अपने ज्ञान का कोई उन्होंने कोई महत्वपूर्ण उपयोग नहीं किया। यदि किया जाता तो केवल तकनीकी और औद्योगिक क्रान्ति की अपेक्षा एक सर्वतोन्मुखी सभ्यता अथवा व्यापक ईसाई समाज के पुनर्जागरण का अभ्युदय होता।

14.6 सारांश

* इस इकाई के अन्तर्गत आपने ईसाइयत अर्थात् ईसाई सामाजिक व्यवस्था के अवधारणात्मक स्वरूप एवं ईसाइयत एवं भारतीयता दोनों के पारस्परिक प्रभाव की विस्तृत जानकारी प्राप्त की। अब आप ईसाइयत के प्रभाव एवं पारस्परिकता से अवगत हो गये हैं।
* ईसाई सामाजिक व्यवस्था मूलत: ईसाई धर्म की देन है, जिसके प्रवर्तक ईसा मसीह माने जाते हैं। उन्होंने मानव समाज को प्रेम, करुणा, मानव सेवा, अहिंसा, त्याग और परोपकार का सन्देश दिया। समाजशास्त्र विषय के अन्तर्गत ईसा मसीह की शिक्षाओं का उल्लेख रवीन्द्र नाथ मुकर्जी की पुस्तक भारतीय समाज व संस्कृति में किया गया है।
* ईसाइयत ने भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित किया, जिसमें सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्षेत्र प्रमुख हैं।
* जहाँ तक ईसाइयत पर भारतीयता के प्रभावों का प्रश्न है तो भारतीय दर्शन और साहित्य ने ईसाइयत को सर्वाधिक प्रभावित किया।

14.7 सन्दर्भ/सहायक ग्रन्थ

1. डॉ० शर्मा : भारतीय समाज एवं संस्कृति
2. एबे रायल : फिलॉसाफिकल एण्ड पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ य यूरोपियन्स इन द

टू इण्डियन

3. ए जे० अरबेरी : ओरियण्टल एसेज

4. दामोदर सिंहल : आधुनिक भारतीय समाज और संस्कृति

14.8 प्रश्नोत्तर

बोध प्रश्न—

1. ईसाई धर्म के प्रवर्तन कौन है? (सही उत्तर के सामने का निशान लगायें)।

   (अ) ईसा मसीह ( )

   (ब) मोहम्मद साहब ( )

   (स) जान अब्राहम ( )

   (अ) सैंट जॉन पाल ( )

2. ईसाई लोग ईश्वर के स्वरूप को कैस मानते हैं? (सही उत्तर के सामने का निशान लगायें)।

   (अ) निराकार ( )

   (ब) साकार ( )

   (स) अनेक प्रकार ( )

   (अ) निर्विकार ( )

3. ईसार्म धर्म में निम्न में से किसकी विवेचना की गयी है? (सही उत्तर के सामने का निशान लगायें)।

   (अ) अनेकवाद ( )

   (ब) त्रियकवाद ( )

   (स) बहुलतावाद ( )

   (अ) साम्राज्यवाद ( )

4. ईसाइयत ने भारत के सामाजिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित किया? (उत्तर दस पंक्तियों में दें)

   .....

   .....

   .....

5. ईसाइयत पर भारतीय प्रभाव का प्रारम्भ कैसे हुआ? (सही उत्तर के सामने का

निशान लगायें)।

(अ) भारतीय दर्शन और साहित्य से ( )

(ब) औद्योगिक क्रान्ति से ( )

(स) कृषि व्यवस्था से ( )

(अ) पशुपालनसे ( )

बोध प्रश्न

1. देखें (1.2)
2. देखें (1.2)
3. देखें (1.2)
4. देखें (1.4.1)
5. देखें (1.5)

अभ्यास

अभ्यास सम्बन्धित उत्तर इकाई पढ़कर स्वयं लिखे और परामर्शक को दिखायें।

इकाई 15 सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 सुधार सम्बन्धी आन्दोलन: एक अवधारणात्मक व्याख्या

15.3 भारत के प्रमुख सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

15.3.1 जैन धर्म : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

15.3.2 सिख धर्म : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

15.3.3 बौद्ध धर्म : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

15.3.4 आन्दोलनात्मक दृष्टि से उपरोक्त तीनों धर्मों में समानता

15.3.5 कबीर पंथ : धार्मिक साधना की विशिष्ट प्रणाली–आन्दोलन के रूप में

15.3.6 दादू पंथ : धार्मिक साधना की विशिष्ट प्रणाली–आन्दोलन के रूप में

15.3.7 आर्य समाज : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

15.3.8 ब्रह्म समाज : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

15.4 सारांश

15.5 सन्दर्भ/सहायक ग्रन्थ

15.6 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- समाज सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलनों के अवधारणात्मक स्वरूप को समझ सकेंगे
- भारत के प्रमुख सुधारवादी आन्दोलनों एवं समाज पर पड़ने वाले उनके प्रभावों क विवेचना कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई समाज सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों के विवेचनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित हैं। इस इकाई में विभिन्न आन्दोलनों से आपको परिचित कराया गया है। सर्वप्रथम सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों के अवधारणात्मक स्वरूप को स्पष्ट किया गया है ताकि आप विभिन्न धार्मिक

आन्दोलनों एवं उनके प्रभावों अर्थात् सम्पूर्ण विवेचना को सरलता के साथ समझ सकें।

सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलनों में जैन धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सिक्ख धर्म अपने आन्दोलनात्मक स्वरूप के कारण प्रमुख रहे हैं। यद्यपि आर्य समाज, ब्रह्म समाज तथा प्रार्थना समाज आन्दोलन विभिन्न सामाजिक कुरीतियों के समान किये जाने के लिए जाने जाते हैं। किन्तु इन आन्दोलनों ने धार्मिक क्षेत्र में व्यास बुराइयों को भी दूर करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत इकाई में ऐसे सभी आन्दोलनों की विवेचना की गयी है जो धार्मिक क्षेत्र में व्यास बुराइयों के उन्मूलन से जुड़े हैं।

इस इकाई में हम आपको सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलनों से अवगत करा रहे हैं। इसलिए हमने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि किसी धर्म विशेष के विरुद्ध कोई विवादास्पद बात न कही जाये। आपके लिए यथास्थान अभ्यास प्रश्न भी दिये गये हैं। आप अभ्यास कार्य मेहनत से करें। इससे आपकी परीक्षा सम्बन्धी तैयारी अच्छे ढंग से हो सकेगी।

15.2 सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलनन: एक अवधारणात्मक व्याख्या

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में जिस प्रकार सामाजिक आन्दोलनों की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण रही है, उसी प्रकार भारत जैसे धर्म प्रधान देश में धार्मिक आन्दोलनों का इतिहास भी बहुत पुराना है।

कोई भी समाज स्थिर नहीं होता समय और परिस्थिति के अनुरूप इसमें परिवर्तन की पहल होती रहती है (इस दृष्टि से भारत में भी सामाजिक धार्मिक उद्देश्यों को लेकर परिवर्तन एवं सुधार हेतु आन्दोलन होते रहे हैं। चूँकि भारतीय सामाजिक व्यवस्था धर्म प्रधान व्यवस्था रही है। इस कारण यहाँ धार्मिक सुधारवादी आन्दोलन भी अधिक हुए हैं। हिन्दू धर्म में व्याप्त बुराइयों और कुरीतियों को दूर करने के उद्देश्य से ही सुधारवादी आन्दोलनों के रूप में जैन, बौद्ध और सिक्ख धर्मों का अभ्युदय हुआ है। जिसमें कि सुधारवादी नेतृत्व की छत्रछाया में सामूहिक आन्दोलन को नये धर्मों के रूप में अभिव्यक्ति मिली है।

19वीं शताब्दी को भारतीय पुनर्जागरण का काल कहा जा सकता है। इसमें पूर्व धार्मिक क्षेत्र में कर्मकाण्ड और पशुबलि का प्रधान्य था, विविध धार्मिक मत-मतान्तर प्रचलित थे और व्यक्तियों के द्वारा धर्म के वास्तविक स्वरूप को भुला कर छोटे-छोटे धार्मिक भेदों के आधार पर एक दूसरे के साथ संघर्ष करना प्रारम्भ कर दिया था। धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त यह अधोगति भारतीय समाज एवं संस्कृति की अवनति का कारण और उसका परिणाम थी। जब ब्रिटिश शासन काल में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ तो भारतीय धार्मिक जीवन की इन कुरीतियों के कारण ईसाई धर्म का प्रभाव तेजी से फैलने लगा। भारतीय नवयुवक ईसाई धर्म के सीधे-सीधे सिद्धान्तों से प्रभावित होकर ईसाई धर्म ग्रहण करने लगे और ईसाई धर्म प्रचारकों के द्वारा वैदिक धर्म और हिन्दू जाति का उपहास किया जाने लगा। इस उपहास ने भारतीय नेताओं की आँखें खोल दी। अब उन्होंने भारतीय धर्म व समाज में सुधार करने के प्रयत्न किये। इसी

समय पर सर विलियम जोन्स, मैक्मूलर और रौथ पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय धर्म और शस्त्रों का अध्ययन कर भारतीयों के सम्मुख भारतीय राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास का ऐसा विवरण प्रस्तुत किया जो समकालीन यूरोपियन सभ्यताओं की तुलना में निश्चित रूप से श्रेष्ठ था। पश्चिमी विद्वानों द्वारा किये गये इन अनुसंधानों ने भारतीयों में नवीन चेतना भर दी और वे ऐसा सोचने लगे कि धार्मिक और सामाजिक जीवन में सुधार कर भारत के भूतकालीन गौरव को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य साहित्य ने भी भारतीयों को इस दिशा में सोचने के लिए प्रोत्साहित किया। सौभाग्य से इसी समय भारत में राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य अनेक सुधारकों का जन्म हुआ, जिन्होंने धर्म सुधार, सामाजिक परिवर्तन व पुरातन संस्कृति के पुनरूद्धार का बीड़ा उठाया। इन महामानवों द्वारा धार्मिक क्षेत्र में सुधार हेतु ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज जैसे सुधार आन्दोलनों को जन्म दिया गया। जिनका मुख्य उद्देश्य धर्म सुधार, विविध सामाजिक कुरीतियों की समाप्ति और आर्य संस्कृति की रक्षा करता था। इसी सन्दर्भ में संत कबीरदास और महात्मा दादू दयाल जैसे धर्म सुधारकों ने भी इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य कियेव इन्होंने कबीर पंथ व दादू पंथ जैसे आन्दोलनों को जन्म दिया।

15.3 भारत के प्रमुख सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

भारत जैसे धर्म प्रधान देश के धार्मिक क्षेत्र में ही व्यास विभिन्न कुरीतियों को दूर करने के लिए विभिन्न सुधारकों द्वारा अनेक धार्मिक आन्दोलन चलाये गये, जिनका उल्लेख निम्नलिखित है।

15.3.1 जैन धर्म: एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में—ई० पू० छठी शताब्दी (600 बी० सी०) धार्मिक सामाजिक आन्दोलन की शताब्दी थी। इस समय न केवल भारत बल्कि विश्व के तमाम स्थानों पर नवीन धार्मिक विचारों का उदय हुआ। ईओनिया द्वीप में हेराक्लिटस, ने ईरान में जोरास्टर ने, और चीन में कम्फ्यूसियस ने नवीन धार्मिक विचारों का प्रसार किया था। भारत भी युग और परिस्थिति के प्रभाव से मुक्त न रहा। यहाँ पर भी उन धार्मिक आन्दोलनों और धर्मों का उदय हुआ कि बाद में चल रहा न केवल भारत बल्कि विश्व के अन्य देशों में भी प्रभावशाली रहे। वैदिक धर्म अपना प्रभाव खोने लगा था। यज्ञ और बलि पर आधारित इस धर्म में अनेकों बुराइयों और कर्मकाण्डों की भरमार थी। दूसरी ओर उपनिषदों ने धर्म में जिस स्वतंत्र विचारधारा को जन्म दिया था वह दार्शनिकों, चिंतनशील विद्वानों और शिक्षितों के लिए नये आकर्षण का केन्द्र बन गया। इस युग में लोग यज्ञों की जटिलता और अपार धन खर्च से तंग आ गये थे। यहाँ तक कि यज्ञ जनसामान्य की पहुँच से बाहर हो गये थे। इस पर भी यह कहा जाता था कि यज्ञ के विधान में यदि त्रुटि हो गयी तो न केवल यज्ञ की क्रिया निष्फल होगी, बल्कि यज्ञ कराने वालों को इसका पाप लगेगा और खामियाजा भुगतना पड़ेगा। अत: यज्ञ कराने वालों का भी समाज में बहुत अधिक प्रभाव हो गया था। वे सामान्य जनों से भिन्न विशिष्ट विशेषज्ञ के रूप में जाने माने जाते थे। यज्ञों में पशुओं की बलि की हिंसा से भी लोगों

को घृणा होने लगी थी। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और शूद्रों की हीनता पर आधारित व्यवस्था भी लोगों के क्षोभ और आक्रोश का कारण बन गयी थी।

साधारण जनता तंत्र मंत्र, जादू टोने के अन्धविश्वास में फंसी हुई थी। मन्दिरों मे पेशेवर पुजारी नियुक्त किये जाते थे। यह चिंतन की भी अराजकता का युग था, क्योंकि महात्मा बुद्ध को जब ज्ञान प्राप्त हुआ, उस समय लगभग बासठ सिद्धान्त विश्व तथा आत्मा के बारे में प्रचलित थे, जो क्षत्रिय और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता की चुनौती दे रहे थे।

इस प्रकार तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति के प्रति, असंतोष, जीवन के दु:खों तथा उनके कारणों की खोज, धर्म में सत्य की खोज के कारण धार्मिक सामाजिक आन्दोलन आवश्यक हो गये। इसी पृष्ठभूमि में विभिन्न क्रान्तिकारी आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, जिसमें से एक नवीन धर्म के रूप में जैन धर्म का जन्म हुआ। जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी ने वैदिक धर्म की जड़ों पर प्रहार करते हुए अवैदिक सम्प्रदाय के रूप में जैन धर्म की सुदृढ़ नींव रखी। जैन परम्पराओं के अनुसार महावीर स्वामी से पहले इस धर्म के तेईस गुरू हो चुके थे जो तीर्थ कर कहलाते थे। महावीर स्वामी 24वें तीर्थंकर थे।

महावीर स्वामी के जीवनकाल में जैन धर्म का पर्याप्त प्रचार हुआ। इस धर्म ने वैदिक धर्म की बुराइयों से लोगों का परिचय कराया। यज्ञ में पशुबलि का विरोध किया और अहिंसा परमोधर्म: के लक्ष्य को प्रतिष्ठित किया। कर्म और त्याग पर बल दिया। ईश्वर जैसी शक्ति के प्रति अनास्था प्रकट की। पंचमहाव्रत के माध्यम से नैतिक शिक्षा पर बल दिया। इसके साथ ही स्पादवाद की धारणा से धर्म के वैज्ञानिक स्वरूप को नष्ट करने की चेष्टा की। सापेक्ष और निरपेक्ष के अर्थ को स्पष्ट करते हुए वस्तुनिष्ठ चिंतन की आधारशिला रखी। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि जैन धर्म ने वैदिक धर्म में वेदों के प्रति इसीलिए अनास्था प्रकट की क्योंकि वैदिक धर्म की कुरीतियां पासखण्डवाद और यज्ञादि कर्म समाजोत्थान के मार्ग में बाधक थे। वे बदली हुई सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थे।

जैन धर्म ने साहित्यिक क्षेत्र में भी उत्कृष्ठ कार्य किया। इस धर्म के प्रचारकों ने, प्राकृत, संस्कृत, कन्नड़, तमिल आदि भाषाओं में अनेक ग्रन्थों की रचना करके इन भाषाओं को समृद्ध बनाया। कला के क्षेत्र में भी जैन धर्म का महत्वपूर्ण योगदान है। 11वीं तथा 12वीं शताब्दी में जैन कला उन्नत अवस्था में थी।

जैन धर्म के अन्तर्गत तप और संयम पर अधिक जोर दिया गया है। महावीर स्वामी ने जातिवाद को अतात्तिवक घोषित किया। बिना किसी भेदभाव के हर वर्ग के लोगों के लिए धर्म को अंगीकृत करने का अधिकार दिया। फलस्वरूप ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, गुलाम सभी महावीर के अनुयायी बने। भगवान महावीर ने नारी को भी धर्म सम्बन्धी पूर्ण अधिकार दिया। आत्मविश्वास में पुरुषों के बराबर उनकी भूमिका हो सकती है। भगवान महावीर ने छत्तीस हजार महिलाओं को साहिवयां बनाकर तत्कालीन धर्म समुदायों में एक नया आयाम खोल दिया।

भगवान महावीर ने बलि प्रथा का विरोध किया। उन्होंने बलि देने की प्रक्रिया को हिंसा जन्य बताया। दास प्रथा को भी उन्होंने अमानवीय करार किया। भगवान महावीर का दर्शन आत्मवादी दर्शन का उनका कहना था कि व्यक्ति अपने सत-असत पुरूषार्थ से सुख-दुख पाता है। इसमें किसी अन्य महाशक्ति का हस्तक्षेप नहीं। व्यक्ति स्वयं के प्रति जिम्मेवाद है। जैन धर्म ने एक आन्दोलन के रूप में भारतीय जनमानस के एक बड़े वर्ग को मुख्य रूप से अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकान्त जैसे सिद्धान्तों को अपनाने के लिए विवश किया।

15.3.2 सिक्ख धर्म : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म का सुधरा हुआ रूप है। इस दृष्टि से हिन्दू धर्म की तमाम विसंगतियों, ऊँच-नीच की भावना, कर्मकाण्ड और आडम्बर का अन्त करने के लिए यह धर्म एक धार्मिक आन्दोलन के रूप मे विकसित हुआ। गुरूनानकदेव ने हिन्दू धर्म की अच्छाइयों तथा मूल सिद्धान्तों के प्रति अनास्था प्रकट नहीं की है। वह एक ईश्वर के निर्गुण और निराकारी स्वरूप को मानते रहे। इसीलिए उन्होंने निराकर ब्रह्म की विस्तृत व्याख्या की है। 19वीं शताब्दी के पुनर्जागण में सिख धर्म के अनुयायियों की विशेष भूमिका रही है। इस दृष्टि में अमृतसर का सिंह सभा आन्दोलन बहुत ही प्रसिद्ध है। इस आन्दोलन में खालसा दीवान नामक संस्था ने पंजाब में बहुत से गुरूद्वारे स्थापित किये तथा विद्यालय और महाविद्यालय भी खोले। सिंह सभा आन्दोलन की शुरूआत अमृतसर में खालसा कालेज की स्थापना के साथ ही हुई थी, किन्तु वास्तव में आन्दोलन 1920 ई० में प्रारम्भ हुआ। इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य गुरूद्वारों का प्रबन्धकरण, तथा उसकी बुराइयों को दूर करना था। अकालियों के नेतृत्व में 1921 में सिक्ख जनता ने महन्तों के विरुद्ध अहिंसात्मक सत्यागह प्रारम्भ किया। सरकार ने इसे दबाने के लिए दमन चक्र का सहारा लिया, किन्तु बाद में सरकार को जनशक्ति के आगे झुकाना पड़ा और 1922 में सिख गुरूद्वारा अधिनियम पारित करना पड़ा। इस अधिनियम को 1925 में संशोधित भी किया गया। इससे सिखों को गुरूद्वारों से भ्रष्ट महन्तों को निकालने में सहायता मिली तथा उनमें नयी चेतना व संगठन क्षमता भी विकसित हुई। (Patil & Bhadauria, Major Concepts of Sociology, P. 83) सिख धर्म समानता, सत्य, सच्चरित्रता, कर्मकाण्ड विहीनता और न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित धर्म है। इसे एक धर्म कहने के साथ-साथ महान सुधारवादी आन्दोलन कहना अधिक उपयुक्त है।

15.3.3 बौद्ध धर्म : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

बौद्ध धर्म भारत में सबसे अधिक प्रभावशाली धर्म साबित हुआ। अनेकों विद्वानों का यह भी तर्क है कि महात्मा बुद्ध किसी नवीन धर्म के संस्थापक न थे बल्कि वे हिन्दू धर्म के सुधारक थे। अपने जन्म काल के थोड़े समय बाद ही बौद्ध धर्म समस्त भारत में फैल गया। महात्मा बुद्ध के जीवन काल में ही मगध, कौशल, कौशाम्बी के राजाओं तथा प्रजा ने इस धर्म को अपनाया। इसके अतिरिक्त लिच्छवि, मल्ल तथा शाक्य गणराज्यों की प्रजा ने भी इस धर्म को अपनाया। मौर्य सम्राट अशोक, कुषाणु शासक कनिष्ठ, वर्धन संध के सम्राट हर्ष ने बौद्ध धर्म को अपना राज्य धर्म बना लिया था। राजपूत काल में इस धर्म का पतन हो गया, किन्तु इस धर्म ने

समाजोत्थान में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

बौद्ध धर्म ने गौतम बुद्ध के आदर्शों के अनुरूप संसार के दुखमय होने के कारणों और उनके निवारण के लिए जो रास्ता बताया उसका भारतवासियों पर बहुत ही गहरा असर हुआ। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म के तप, त्याग, करूणा और अहिंसा के उपदेशों का भी भारतीय जनता पर अनुकूल असर हुआ तथा जीवन मूल्यों के प्रति नये उत्साह में भी वृद्धि हुई। बौद्ध धर्म ने सामाजिक सहिष्णुता और सामाजिक सामानता में भी वृद्धि की। इससे धार्मिक सहिष्णुता और जाति-पाँति से सम्बन्धित भेदभाव में कमी आयी। आर्यों के साथ की ऊंच नीच पर आधारित वर्ण और जाति व्यवस्था के मूल आधारों पर प्रहार करते हुए बौद्ध धर्म ने सामाजिक समानता की सुदृढ़ नींव रखी। उसी का परिणाम यह निकला कि इस धर्म से प्रेरित होकर अनेकों निम्न जातियों तथा वर्गों के लोगों ने हिन्दू धर्म को छोड़कर बौद्ध धर्म को अपनाया। इसके अतिरिक्त हिन्दू धर्म के कट्टरपन और पुरातन पंथी विचारों में भी परिवर्तन आया तथा लोकतांत्रिक आधुनिक विचारों को नयी दिशा मिली। बौद्ध संघ स्वयं ही लोकतांत्रिक सिद्धान्त पर आधारित थे।

बौद्ध धर्म के प्रभाव से वास्तुकला, भवन निर्माण कला, चित्रकला और मूर्तिकला का भी बहुत विकास हुआ। मथुरा तथा गन्धार की कला शैली के उदाहरण भी बौद्ध धर्म के प्रभाव को स्पष्ट करते हैं।

शिक्षा साहित्य और चिन्तन के क्षेत्र में भी भारतीय समाज के उत्थान में बौद्ध धर्म का बहुत अधिक योगदान है। बौद्धों ने तर्क प्रधान साहित्य पर सृजन कर भारतीय समाज की सेवा की है।

यद्यपि बौद्ध धर्म और हिन्दू सांख्यदर्शन में बहुत अधिक समानता है, किन्तु फिर भी दोनों में कर्म-सिद्धान्त और जीव के आवागमन के सिद्धान्त में अन्तर है। हिन्दुओं में देवता आवागमन के सिद्धान्त से मुक्त रहते हैं। किन्तु बुद्ध के अनुसार ब्रह्म को भी अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। साधारण मनुष्य भी सत्कर्मों से देवतत्व प्राप्त कर सकता है। हिन्दुओं के ईश्वर की भांति बौद्धों का ईश्वर नहीं होता। इसीलिए बौद्धों की भाग्य की परिभाषा हिन्दुओं से अलग है इस प्रकार भले ही महात्मा बुद्ध हिन्दू धर्म के सुधारवादी ही क्यों न माने जायें, फिर भी उनका बौद्ध धर्म क्रान्तिकारी धार्मिक सामाजिक आन्दोलन था जिसे कि सम्राट अशोक के भगीरथ प्रयत्नों से बहुत अधिक सफलता मिली थी।

15.3.4 आन्दोलनात्मक दृष्टि से उपरोक्त तीनों धर्मों में समानता

उपरिलिखित जैन, बौद्ध तथा सिख धर्मों के सुधारात्मक धार्मिक सामाजिक आन्दोलनों की दृष्टि से देखे जाने

* तीनों का ही उद्देश्य वैदिक हिन्दू धर्म के कर्मकाण्ड, यज्ञ, अनुष्ठान और पशुबलि की क्रियाओं के प्रति अनास्था प्रकट करना और इसमें सुधार के लिए एक नये पंथ या धर्म की स्थापना करना है।

* तीनों ही सुधारवादी आन्दोलन जातिवाद, छुआछूत और ऊँच-नीच के विरोधी और समता के पक्षधर है।

* तीनों ही धार्मिक आन्दोलनों ने मानवतावाद व बुद्धिवाद को सर्वाधिक महत्व दिया। साथ ही सदाचार, पवित्रता सद्कर्म एवं नैतिक आचरण पर बल दिया।

* तीनों ही धर्म अपने युग की विचारधारा से प्रभावित हुए। इस कारण वे हिन्दू धर्म के विरोधी आन्दोलन के रूप में प्रकट हुए।

15.3.5 कबीरपंथ : धार्मिक साधना की विशिष्ट प्रणाली आन्दोलन के रूप में

भारत में धार्मिक सुधारकों में अग्रणी कबीरदास द्वारा चलाया गया धार्मिक कबीर पंथ नाम से एक सुधारवादी आन्दोलन के रूप में पुकारा जाता है।

यद्यपि कबीरदास ने किसी भी प्रचलित धर्म या सम्प्रदाय का विरोध नहीं किया, परन्तु हिन्दू व मुस्लिम समाज के बाहरी आडम्बरों की ओर लोगों का ध्यान अवश्य आकर्षित किया। संत कबीर ने परम सत्य के सहज रूप को ही जनता के समक्ष प्रस्तुत किया और साथ ही उसकी सहज अनुभूति के लिए सबको प्रेरित भी किया। कबीर ने भारतीय समाज को जो धार्मिक दिशा प्रदान की,उसे किन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित एक धार्मिक आन्दोलन कहना कोई अतिश्योक्ति नहीं होगा, जिसका उल्लेख निम्न प्रकारर है,

* प्रथमत: संत कबीर के विचारों का एक दार्शनिक सिद्धान्त प्रस्तुत हुआ, जिसके अन्तर्गत उन्होंने एकेश्वरवाद, भक्तिवाद, जन्मान्तरवाद, अहिंसावाद और संसार की असारता के प्रतिपादक एवं मायावाद, अवतारवाद देववाद, हिंसावाद, मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड, व्रत-उपवास, तीर्थ यात्रा और वर्णश्रम धर्म के घोर विरोधी रहे हैं। वह हिन्दू और मुसलमानों के धर्मग्रन्थों और धर्म नेताओं के कट्टर विरोधी भी हैं। संत कबीर ने अपने दार्शनिक विचारों में माया पर विशेष बल दिया है आपका कहना है कि माया ही हमारे जीवन की समस्त समस्याओं की जड़ है। जब तक हम इसे समूल नष्ट नहीं करेंगे, हमारा कल्याण होना सम्भव नहीं और न ही हमारा जीव सार्थक हो सकता है। कबीन ने मन की चंचलता को दूर करने और मन को स्थायी रूप से एकाग्र करने के लिए हमारे सामने एक सहज समाधि का आदर्श भी प्रस्तुत किया है। आपके इस सिद्धान्त का समाज के वर्ग पर अच्छा खास प्रभाव पड़ा।

* द्वितीय: कबीर के विचारों पर आधारित सामाजिक सिद्धान्त के अन्तर्गत जाति, कुल, धन व धर्म सम्बन्धी विभिन्नताओं के सम्बन्ध में अनेक विचार प्रस्तुत किये। आपका मत है कि ''सर्वप्रथम एक ही ज्योति से सारी सृष्टि की रचना हुई एतएव मूलत: हम किसी एक को अच्छा या बुरा नहीं कह सकते। मिट्टी एक ही है, न तो पात्र में कोई कमी है और न ही उस कुम्हार में कोई बुराई। सभी प्राणियों में वही एक अदृश्य रूप से विद्यमान है।'' अपने इसी सिद्धान्त के तहत उन्होंने परोपकार के महत्व को भी स्पष्ट किया तथा आध्यात्मिक पुरूष बन जाने के लिए ईश्वर जैसा परोपकारी बनने

की सलाह दी।

अपने इसी सामाजिक सिद्धान्त के अन्तर्गत उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता पर भी प्रकाश डाला। इसके साथ ही उन्होंने दोनों धर्मों के विभिन्न कर्मकाण्डों की भी जमकर आलोचना की।

* तृतीयत: संत कबीर ने समाज की आर्थिक व्यवस्था के बारे में भी अपने विचार प्रस्तुत किये। इस हेतु उनके विचारों को हम आर्थिक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं। कबीर कहते हैं कि इस समाज में निर्धन को कोई आदर नहीं देता। यदि निर्धन धनवान के पास जाता है तो धनवान पीठ फेर लेता है, परनतु यदि धनवान निर्धन के पास जाता है कि निर्धन धनवान को आदर देता है और उसे अपने निकट बुला लेता है लेकिन वास्तव में ''निर्धन तथा धनवान दोनों भाई-भाई हैं और जो उन दोनों में अन्तर दिखाता है वह प्रभु का नित्य कौतुक मात्र है। संत कबीर भिक्षावृत्ति के विरुद्ध रहे हैं, उनका कहना है कि ''जब कभी कोई व्यक्ति अपना हाथ किसी से कुछ मांगनने के लिए फैलाता है उस समय उसके सभी सदगुण जैसे मान, महत्व, गौरव, स्नेह आदि उसका साथ तुरन्त छोड़ देते हैं।'' आप तो स्वयुं अपने हाथ से कमाये गये धन के आधार पर जीवन व्यतीत करना सबके लिए उचित समझते थे।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संत कबीर ने समाज को ऐसी राह दिखाई जो जीवन के यथार्थ से रूबरू थी।

15.3.6 दादू पंथ : धार्मिक साधना की विशिष्ट प्रणाली-आन्दोलन के रूप में

धार्मिक सुधारकों में महात्मा दादू दयाल का नाम काफी उल्लेखनीय है। शिष्य परम्परा में वह कबीरदास की छठी पीढ़ी से सम्बद्ध थे। वह हिन्दू और मुस्लिम दोनों सम्प्रदायों एवं विभिन्न धर्मो के बीच आपसी भाई चारा एवं प्रेमिल सम्बन्धों के पक्षधर थे। कबीर की भांति दादू ने भी निर्गुण एवं निराकर ईश्वर की उपासना, संसार एवं सांसारिक सुखों की निस्सारत, दया, सत्यता, ईमानदारी, सहयोग एवं भाई-चारे का लोगों को उपदेश दिया। दादू के अनुसार ईश्वर निर्गुण एवं निराकर अवश्य है, किन्तु वह सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी है। उसे पाने के लिए संयास लेने अथवा जंगलों, पहाड़ों, गुफाओं में आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है। उसे गृहस्थ धर्म का निर्वाह करते हुए भी पाया जा सकता है। इस प्रकार वह सन्यासी एवं गृहस्थ दोनों को सुगम है।

दादू पंथ का अनुकरण करने वाले गृहस्थ और ब्रह्मचारी साधु दोनों ही होते हैं। हिन्दू धर्मकोश के अनुसार दादू पंथी गृहस्थ को 'सेवक' कहा जाता है और ब्रह्मचारी साधुओं के लिए दादू पंथी शब्द व्यवहत होता है। दादू ने साधना की जिस प्रणाली को जन्म दिया, उसने आन्दोलन का रूप धारण कर समाज की धार्मिक दशा को एक नई दिशा प्रदान की।

3.3.7 आर्य समाज : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

आर्य समाज आन्दोलन के प्रणेता स्वामी दयानन्द सरस्वती ने धार्मिक क्षेत्र में सुधारवादी कार्यों को काफी महत्वपूर्ण माना। धर्म के क्षेत्र में आर्य समाज का सबसे बड़ा योगदान धार्मिक अन्धविश्वासों, पाखण्डों को दूर करने के रूप में है। ''वदों की ओर लौट चलो'' के नारे के साथ वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना करना और उसके लिए जनजागृति पैदा करना आर्य समाज का कार्य है। ''वेद ही सत्य हैं'' ''पुराण इत्यादि उतने अंश में ही सत्य है, जितने कि वे वेदों से सम्बन्धित हैं'' का विचार लोगों के समाने रखकर आर्य समाज ने मूर्ति पूजा, तीर्थयात्रा, आत्मकर्म इत्यादि के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कार्य शुद्धिकरण के लिए चलाया जाने वाला आन्दोलन है। भारत में जो लोग ईसाई या मुसलमान बन गये थे, परम्परवादी कट्टरपंथी उन्हें वापस हिन्दू धर्म में लेने के विरोधी थे। स्वामी जी की शिक्षा के अनुरूप आर्य समाज ने ऐसे लोगों को पुन: हिन्दू धर्म मे सम्मिलित किये जाने हेतु शुद्धिकरण आन्दोलन चलाया। न केवल भारत में बल्कि विदेशों में भी आर्य समाज ने वैदिक धर्म का प्रचार किया। यूरोप, एशिया और अफ्रीका जहां कहीं भी भारतीय रहते थे वहां-वहां आर्य समाज की स्थापना हुई और वेदों का संदेश पहुँचाने का प्रयत्न किया गया।

15.3.8 ब्रह्म समाज : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

ब्रह्म समाज के प्रणेता रामाराम मोहन राय ने ब्रह्म समाज के माध्यम से न केवल समाज सुधार सम्बन्धी कार्य किये बल्कि ब्रह्म समाज को एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में भी आगे बढ़ाया। उन्होंने विभिन्न धर्मों, पाश्चात्य सभ्यता तथा सांस्कृतिक का अध्ययन किया था जिसके परिणामस्वरूप वे तमाम धार्मिक अन्ध विश्वासें और पाखण्डों को समाप्त करना चाहते थे ब्रह्म समाज के माध्यम से उन्हें अपने प्रयास में सफलता भी प्राप्त हुई। ब्रह्म समाज ने 'आत्मा एक है' कि सिद्धान्त की प्रचारित कर विभिन्न धर्मों के मतभेदों को समाप्त करने की चेष्टा की। मूर्ति पूजा का विरोध एक ईश्वर मे विश्वास तथा सभी धर्मों के प्रति सद्भाव के आधार पर इस समाज में मानवतावादी धर्म तथा बुद्धिवादी दृष्टिकोण विकसित किया।

15.4 सारांश

* इस इकाई के अंन्तर्गत आपने सुधार धार्मिक आन्दोलनों की अवधारणात्मक जानकारी प्राप्त की। अब आप सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों के अर्थ एवं विभिन्न धर्मों की आन्दोलनात्मक प्रक्रियाओं से अवगत हो गये हैं।
* जैन धर्म, बौद्ध धर्म और सिख धर्म यद्यपि तीनों अलग धर्म हैं किन्तु एक आन्दोलन के रूप में तीनों के मध्य काफी समानता है।
* कबीर पंथ और दादू पंथ दोनों ही धार्मिक साधना की एक विशिष्ट प्रणाली हैं, किन्तु धार्मिक क्षेत्र में सुधारात्मक कार्यों की दिशा में इन दोनों का विशेष योगदान रहा है।
* ब्रह्म समाज और आर्य समाज ने यद्यपि सामाजिक क्षेत्र में विभिन्न सुधार कार्य किये हैं किन्तु धार्मिक क्षेत्र भी इन दोनों समाजों ने अहम भूमिका अदा की है जो एक आन्दोलनात्मक प्रक्रिया है।

15.5 सन्दर्भ ग्रन्थ/सहायक पुस्तकें

1. के. दमोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा
2. डी० एस० शर्मा : हिन्दूइज्म थ्रू द एजेस
3. दुर्गा दत्त पाण्डेय : धर्म दर्शन
4. बुद्ध प्रकाश: भारतीय धर्म और संस्कृति

15.6 सम्बन्धित प्रश्न

बोध प्रश्न

1. सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलन से आप क्या समझते हैं? (तीन पंक्तियों में उत्तर दो)
2. धार्मिक सामाजिक आन्दोलन की शताब्दी माना जाता है। (सही उत्तर के सामने सही का निशान लगायें)

   (अ)ई० पू० छठी शताब्दी को ( )

   (ब)9वीं शताब्दी को ( )

   (स)19वीं शताब्दी को ( )

   (द)21वीं शताब्दी को ( )
3. जैन धर्म के प्रर्वतक कौन थे? (सही उत्तर के सामने सही का निशान लगायें)

   (अ)महावीर स्वामी ( )

   (ब)गौतम बुद्ध ( )

   (स)राजाराम मोहन राय ( )

   (द)भगवान जैनाचार्य ( )
4. सिंह सभा का वास्तविक आन्दोलन किस सन् में प्रारम्भ हुआ? (सही उत्तर में सामने सही का निशान लगायें)

   (अ)1935 ई० में ( )

   (ब)1920 ई० में ( )

   (स)1905 ई० में ( )

   (द)1810 ई० में ( )
5. आन्दोलनात्मक दृष्टि से जैन, बौद्ध तथा सिख धर्म में क्या समानता है? (उत्तर 50 शब्दो में दें)

6. कबीर पंथ कौन से तीन सिद्धान्तों पर आधारित था? बताइये।

1.

.....

2.

.....

3.

.....

7. आत्मा एक है का विचार किसने प्रस्तुत किया? (सही उत्तर के समाने सही का निशान लगायें)

(अ)ब्रह्म समाज ने ( )

(ब)आर्य समाज ने ( )

(स)जैन धर्म ने ( )

(द)दादू पंथ ने ( )

8. अभ्यास

सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों को संक्षिप्त रूप से स्पष्ट करें। (उत्तर दस पंक्तियों में दें)

15.7 प्रश्नोत्तर

बोध प्रश्न

1. सुधारवादी धार्मिक आन्दोलन से अभिप्राय के अन्तर्गत उसका परिचय दिया जाता है। (देखें 3.2)
2. देखें 3.3
3. देखें 3.3.1
4. देखें 3.3.2
5. देखें 3.3.4
6. देखें 3.3.5
7. देखें 3.3.8

अभ्यास

अभ्यास सम्बन्धी उत्तर इकाई पढ़कर स्वयं लिखें और परामर्शक को दिखायें।

इकाई 16 सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन : एक अधारणात्मक व्याख्या

16.3 सुधारवादी सामाजिक आन्दोलन की विशेषताएं

16.4 भारत के प्रमुख समाज सुधार आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

16.4.1 प्रार्थना समाज आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

16.4.2 ब्रह्म समाज आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

16.4.3 आर्य समाज आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

16.4.4 थियोसॉफिकल सोसाइटी एवं उसका प्रभाव

16.4.5 रामकृष्ण मिशन एवं उसका प्रभाव

16.4.6 नामधारी आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

16.4.7 मुस्लिम सुधार आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

16.4.8 गाँधी जी का सुधार आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

16.5 सारांश

16.6 सन्दर्भ ग्रन्थ /सहायक पुस्तकें

16.7 सम्बन्धित प्रश्न

16.8 प्रश्नोत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

* सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन के अर्थ को समझ सकेंगे,
* सुधारवादी सामाजिक आन्दोलनों की विशेषताओं का उल्लेख कर सकेंगे,
* भारत के प्रमुख समाज सुधार आन्दोलनों एवं उनके प्रभाव की विवेचना कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

* प्रस्तुत इकाई विभिन्न समाज सम्बन्धी आन्दोलनों के विवेचनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है। इस इकाई में सुधारवादी आन्दोलनों का भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा, इससे भी परिचित कराया गया है। सर्वप्रथम सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन का अर्थ स्पष्ट किया गाय है ताकि आप सम्पूर्ण विवेचना को सरलता के साथ समझ सकें।

* सुधारवादी सामाजिक आन्दोलनों को जिन विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट किया गया है कि वे सभी विशेषतायें विभिन्न आन्दोलनों से जुड़ी हुई है।

* इस इकाई में हम आपको सुधार सम्बन्धी विभिन्न आन्दोलनों से अवगत करा रहे हैं। इसीलिए हम इकाई में प्रत्येक आन्दोलन के प्रत्येक पहलू को प्रस्तुत कर रहे हैं और आफके लिए यथा स्थान अभ्यास प्रश्न भी दिये गये है। आप अभ्यास कार्य मेहनत से करें ताकि आप परीक्षा की तैयारी अच्छे ढंग से कर सकें।

16.2 सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन : एक अवधारणात्मक व्याख्या

समाज सुधार का भारत मे एक विशेष महत्व रहा है सामज सुधार के अन्तर्गत कई आन्दोलन एवं कार्य पद्धतियाँ देश के भिन्न-भिन्न भागों में चलती रही हैं तथा चलती रहेंगी। समाज सुधार का अर्थ होता है समाज में सुधार करना। इससे स्पष्ट है कि जब इस समाज की समस्याओं के निराकरण का प्रयास करते है तो वह समाज सुधार कहलाता है। समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। समस्त सामाजिक संस्थायें मिलकर सामज का निर्माण करती हैं अत: हम यह कह सकते हैं कि समाज सुधार का अभिप्राय सामाजिक संस्थाओं के प्रतिमानों के परिवर्तन से होता है। समाज सुधार तथा सामाजिक संस्था में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है एक ही वस्तु के ये दो पक्ष है।

प्राचीन भारत में समाज सुधार का अर्थ दो रुपों में होता था। प्रथम तो बहुत संकुचित या सीमित रुप में और द्वितीय व्यापक या विशाल रुप में। इस प्रकार के आन्दोलनों का उद्देश्य किसी सामाजिक कुरीति को समाप्त करना अथवा विशिष्ट (सामान्यत: निम्न एवं दलित) सामाजिक समूहों के उत्थान के लिए उन्हें विशेषाधिकार एवं विशेष सुविधायें दिलवाना है। ऐसे आन्दोलन खुले रुप में होते है और ऐच्छिक समितियों का निर्माण करने हेतु एक विशेष प्रकार के जनमत को संगठित करने का प्रयास करते है। सुधारात्मक आन्दोलनों का उद्देश्य सम्पूर्ण व्यवस्था में परिवर्तन करना नहीं होता, अपितु इसके किसी एक भाग (जिसे अच्छा नहीं समझा जाता अथवा जिससे कुरीति सम्बन्धी है) को परिवर्तित करना होता है।

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में समाज सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हूआ। 1828 में राजाराम मोहन राय द्वारा स्थापित ''ब्रह्म समाज'', सन् 1875 में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित ''आर्य समाज'', तथा 1897 में विवेकानन्द द्वारा स्थापित ''रामकृष्ण मिशन'' आदि संस्थायें इस संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सन 1905 में गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा स्थापित ''सर्वेण्ट ऑफ इण्डिया सोसाइटी'', 1926 में ''ऑल इण्डिया वीमेन्स कॉन्फ्रेन्स'' तथा सन 1942 में महात्मा गाँधी द्वारा ''हरिजन सेवा संघ'' आदि स्थापित हुए।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में समाज सुधार का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाने लगा है। जैसे सब नागरिकों में शिक्षा का प्रसार, देशवासियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न, अपराधों में सुधार, अच्छे राजनैतिक संगठन की स्थापना करना, निम्न कोटि के लोगों की दशा सुधारना तथा वेश्यावृत्ति और मद्यपान का निषेध इत्यादि कुरीतियों को दूर करने हेतु प्रयत्न किये जा रहे हैं। ये सभी समाज सुधार के ही अंग माने जाते हैं। आचार्य गोरे ने लिखा है कि समाज सुधार का मन्तव्य सामाजिक संस्थाओं के परिवर्तन से है। समाज सुधार सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन लाने का प्रयत्न करता है। समाज सुधार किसी समुदाय के जीवन के प्रतिमानो में परिवर्तन को लक्षित करता है। अत: स्पष्ट रुप से हम कह सकते हैं कि समाज सुधार समाज के मूल्यों एवं ढांते में परिवर्तन हैं। जैसे हरिजनों की स्थिति में परिवर्तन की मांग करना, जाति प्रथा को समाप्त करने का प्रयत्न करना आदि समाज सुधार के प्रयत्न हैं। इस प्रयत्नों के द्वारा हम वर्तमान सामाजिक ढांचे एवं मूल्यों में परिवर्तन लाने का प्रयत्न करते हैं। अर्थात् एक नवीन समाज का निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं।

समाज सुधार हमारे देश की परम्परा रही है। अनेक समाज सुधारक जैसे - स्वामी दयानन्त सरस्वती, राजाराम मोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानन्द, जस्टिस रानाडे, देवेन्द्रनाथ.टैगोर, ड० भण्डारकर, गोपाल कृष्ण गोखले, चिन्तामणि, नरेन्द्र नाथ सेन, लाला बैजनाथ, महात्मा गाँधी, ठक्कर बापा, विनोबा भावे व पण्डित नेहरु आदि समय-समय पर समाज सुधार के कार्य करते रहे हैं।

समाज सेवा कार्य तथा समाज सुधार सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन लाता है तथा समाज सेवा कार्य किसी सामाजिक संस्थान के प्रतिमान की सीमाओं में रहते हुए उन व्यक्तियों तथा समूहों के लिए कल्याण कार्य करता है जो सामाजिक संस्थाओं से अपना सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते हैं। समाज सेवा कार्य प्राथमिक रुप से वर्तमान सामाजिक मूल्यों की सीमाओं में रहते हुए कल्याण कार्य से सम्बन्धित है, जैसे अनाथ बालकों के लिए अनाथालय चलाना, बाल अपराधियों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध करना आदि समाज सेवा कार्य है। सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन को और अच्छे ढंग से समझने के लिए आपको अग्रलिखित बिन्दुओं पर ध्यान देना होगा।

* सामान्यत : सुधारवादी आन्दोलनों का उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था में सुधार करना अथवा किसी सामाजिक कुरीति को समाप्त करना।
* सुधारवादी आन्दोलनों का कार्यक्षेत्र सीमित होता है अर्थात् इसका प्रभाव सीमित क्षेत्र, विशेष रुप से कुरीति द्वारा प्रभावित क्षेत्र में ही अधिक होता है।
* इन आन्दोलनो में सामान्यत: सामाजिक व्यवस्था में प्रचलित मान्यताओं एवं प्रथाओं को स्वीकार किया जाता है तथा इनके नैतिक औचित्य पर प्रहार नहीं किया जाता।
* सुधारवादी आन्दोलनों को अधिक प्रतिष्ठित माना जाता है तथा समाज के अधिकांश संगठन ऐसे आन्दोलनों में सामान्यत: समर्थन प्रदान करते हैं।
* सुधारवादी आन्दोलनों की कार्यविधि केवल आन्दोलन के अनुकूल जनमत बनाने तक ही सीमित होती है। इनमें हिंसक कार्यविधि की सम्भावना नहीं होती।
* सुधारवादी आन्दोलनों का प्रभाव सामान्यत: उन वर्गों पर ही पड़ता है जिनके उत्थान के लिए इन्हें चलाया जाता है।

आधुनिक भारत में पाश्चात्य संस्कृति के बुद्धिवाद, क्रियावाद और वैज्ञानिक दृष्टिकोणों से प्रभावित ऐसे बुद्धिजीवियों का उदय हुआ, जिन्होंने समाज सुधार आन्दोलनों की श्रृंखला प्रारम्भ की।

16.3 सुधारवादी सामाजिक आन्दोलनों की विशेषतायें

सुधारवादी सामाजिक आन्दोलनों की अवधारणात्मक विवेचना से निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट होती हैं-

* सुधारवादी आन्दोलनों का उद्देश्य किसी निश्चित उद्देश्ये को ही प्राप्त करना होता है।
* सुधारवादी आन्दोलन समाज में सत्ता विभाजन के केवल किसी एक भाग में ही परिवर्तन करने का प्रयत्न करते हैं।
* सुधारवादी आन्दोलनों का उद्देश्य किसी समाज के निश्चित वर्ग के लिए कुछ अधिकार तथा सुविधायें दिलवाना होता है।
* सुधारवादी आन्दोलन अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वामपंथी तथा दक्षिण पंथी विचारधाराओं में से किसी का भी प्रयोग कर सकते हैं।
* सुधारवादी आन्दोलनों को उतना अवैध नहीं समझा जाता, जितना कि क्रान्तिकारी आन्दोलनों का समझा जाता है, क्योंकि वे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध नहीं होते। उनका उद्देश्य तो वर्तमान सामाजिक मूल्यों को तथा सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार करते हुए केवल उसके किसी निश्चित भाग में ही परिवर्तन करना होता है।

16.1 भारत के प्रमुख समाज सुधार आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

भारत में निम्नलिखित समाज सुधार आन्दोलनों का महत्वपपूर्ण स्थान रहा है इनमें समकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति की रचना में व्यापक प्रभाव पड़े हैं।

16.4.1 प्रार्थना समाज आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

इस आन्दोलन का श्रीगणेश महादेव गोविन्द रानाडे ने किया। रानाडे का जन्म का जन्म 18 जनवरी सन 1842 को नासिक जनपद के चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वह एक सुप्रसिद्ध न्यायविद, अर्थशास्त्री, साहित्यकार, राजनीतिज्ञ, इतिहासकार एवं समाज सुधारक थे। उन्होनें सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर समाज के बौद्धिक और आध्यात्मिक पुनरूत्थान के लिए बम्बई में 31 मार्च 1867 को प्रार्थना समाज की स्थापना की। प्रार्थना समाज के मुख्य नियम एवं सिद्धांत निम्नलिखित थे।

* ईश्वर एक है और वही इस ब्रह्माण्ड का रचयिता है।
* ईश्वर की आराधना से ही इस संसार और दूसरे संसार में सुख प्राप्त हो सकता है।
* ईश्वर के प्रति प्रेम और श्रद्धा, उसमें अनन्य आस्था, प्रेम, श्रद्धा और आस्था की भावनाओं सहित आध्यात्मिक रूप से उसकी प्रार्थना और उसका कीर्तन ईश्वर को अच्छे लगने वाले कार्यों को कराना—यह ही ईश्वर की सच्ची आराधना है।
* मूर्तियों अथवा अन्य मानव सृजित वस्तुओं की पूजा करना, ईश्वर की आराधना का सच्चा मार्ग नहीं है।
* ईश्वर कभी अवतार नहीं लेता और कोई भी एक पुस्तक ऐसी नहीं है जिसे स्वयं ईश्वर ने रचा हो अथवा प्रकाशित किया हो अथवा जो पूर्णत: दोषरहित हो।
* सभी मनुष्य ईश्वर की संतान है, अत: उन्हें बिना किसी भेदभाव के आपास में भाई-भाई की तरह व्यवहार करना चाहिए। इससे ईश्वर प्रसन्न होता है और वही मनुष्य का कर्त्तव्य है।

रानाडे उत्कृष्ट सुधारवादी थे एवं रूढ़ियों को मिटाकर वे हिन्दुत्व का निर्मल रूप प्रस्तुत करना चाहते थे। रानाडे के नेतृत्व में प्रार्थना समाज के अन्तर्गत जाति प्रथा, बाल-विवाह मूर्ति पूजा, विधवा पुनर्विवाह निषेध, धार्मिक अन्धविश्वासों, अस्पृश्यता आदि कुरीतियों एवं समस्याओं के विरुद्ध आन्दोलन चलाया गया। स्त्री शिक्षा, विभिन्न जातियों, धर्मों एव सम्प्रदायों के बीच भाई-भाई की भावना, अनाथालयों एवं विधवाश्रमों की स्थापना, स्त्रियों को सामाजिक अधिकार दिलाने तथा अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देने हेतु प्रयास किये गये। बाल विवाह के विरोध तथा विधवा पुनर्विवाह के प्रचलन के प्रति जागरूकता पैदा करने क लिए रानाडे ने ''विधवाओं के पुनर्विवाह के समर्थन में वेद'' तथा ''बाल-विवाह के विरुद्ध शास्त्रों का मत'' नामक ग्रन्थ लिखें।

प्रार्थना समाज द्वारा किये जाने वाले समाज सुधार कार्यक्रमों के पीछे रानाडे का मूल उद्देश्य

देव में नव जागरण लाना था। इसी प्रकार वे देश में सामाजिक तथा राजनैतिक एकता को भी स्थापित करने के पक्षधर थे। ताकि राष्ट्रीयता की भावना सुदृढ़ हो सके। रानाडे सामाजिक और धार्मिक सुधारों और राजनीति में अटूट सम्बन्ध समझते थे। रानाडे ने यद्यपि प्रत्यक्षत: राजनीति के क्षेत्र में कोई कार्य नहीं किया, किन्तु प्रार्थना समाज के माध्यम से किये गये सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक क्षेत्र के सुधार कार्यों से भारतीय राजनीति अप्रभावित नहीं रही, अपितु अत्यधिक प्रभावित हुई।

16.4.2 ब्रह्म समाज आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

22 मई 1772 को बंगाल में हुगली जिले के राधानगर ग्राम के एक ब्राह्मण परिवार में जन्में राजा राम मोहन राय ने अपने धार्मिक तथा सामाजिक विचारों को व्यावहारिक रूप देने के उद्देश्य से 20 अगस्त 1828 को ब्रह्म समाज की स्थापना की। यह संगठन पूरी तरह भारतीय था, जिसने धर्म से जुड़े हुए अन्धविश्वासों की जड़ों पर कुठाराघात करते हुए वैज्ञानिक समाज की संरचना पर जोर दिया। रामधारी सिंह दिनकर का कथन है कि "यूरोप के सम्पर्क से जैसे भारत में नयी मानवता का हिन्दुत्व का एक विशिष्ट रूप था। इसने मूर्ति पूजा का बहिष्कार किया, अवतारों को नहीं माना और लोगों का ध्यान उस निराकार निर्विकार एक ब्रह्म की ओर आकृष्ट किया, जिसका निरूपण वेदान्त में हुआ है। किन्तु ब्रह्म समाज की इससे भी बड़ी विशेषता यह थी कि यह सभी धर्मों के प्रति सहानुभूतिशील और उदार था। राजाराम मोहन राय ने समाज के लिए जो भवन खड़ा किया उसके ट्रस्ट के दस्तावेज में (सन 1830 ई०) स्पष्ट प्रतिबन्ध रखा गया था कि इस समाज में होने वाली पूजा में किसी भी ऐसी सजीव या निर्जीव वस्तु की निन्दा नहीं की जायेगी, जिसकी थोड़े से लोग भी पूजा या आराधना करते हों या इस समाज में केवल ऐसे ही उपदेश दिये जायेंगे जिनमें सभी धर्मों के लोगों के बीच एकता, समीपता और सद्भाव की वृद्धि होती हो।" (रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय)।

इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म समाज केवल हिन्दू धर्म तक ही सीमित नहीं था, बल्कि इसका उद्देश्य धार्मिक सुधार और अन्तत: सामाजिक सुधार था। इसका सही उद्देश्य मानवतावादी था। यह राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत मानव समाज के उत्थान के लिए बना था। यद्यपि सुधारात्मक रूप से इसे शिक्षित हिन्दुओं ने अपनाया तथापित जाति-पांति, छुआ-छूत तथा धार्मिक अन्धविश्वासों और कुरीतियों को दूर करने के रूप में ब्रह्म समाज ने हिन्दू धर्म और जीवन दर्शन को भी बहुत अधिक प्रभावित किया। ब्रह्म समाज के सिद्धान्त एवं मान्यताओं को अग्रलिखित दो भागों में बांटा गया है, (अ) धार्मिक सिद्धान्त एवं मान्यतायें (ब) सामाजिक सिद्धान्त एवं मान्यतायें।

(अ) धार्मिक सिद्धान्त एवं मान्यतायें

* ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, सर्वदृष्टा तथा समस्त सृष्टि का पालनकर्ता है।
* द्वैतवाद का खण्डन करते हुए, एकेश्वरवाद का समर्थन।

* आत्मा अमर है।
* ईश्वर के समक्ष सभी व्यक्ति साधन हैं, अत: सभी ईश्वर की उपासना कर सकते हैं।
* पाप के त्याग और पश्चाताप से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।
* ईश्वर निर्गुण है उसका जन्म अथवा अवतार नहीं होता।
* सभी धर्म समान हैं। सभी का सम्मान किया जाना चाहिए तथा सभी धार्मिक ग्रन्थों के प्रति श्रद्धा का भाव रखना चाहिए।
* कोई भी पुस्तक त्रुटिहीन या दैवीय नहीं है।
* ईश्वर में पितृ भावना, मनुष्य मात्र में, भ्रातृ-भावना और जीवों के प्रति दया का भाव ही सभी धर्मों का सार है।

(ब) सामाजिक सिद्धान्त और मान्यतायें

* विश्व-बन्धुत्व की भावना में सम्पूर्ण विश्वास
* बाल विवाह अनुचित
* विधवा पुनर्विवाह उचित
* जाति भेद का विरोध
* अस्पृश्यता का विचार अनुचित
* बाल-हत्या अपराध
* अंधविश्वासों, रूढ़ियों तथा भ्रमपूर्ण परम्पराओं का त्याग
* प्रेम, दया, भक्ति का प्रचार

ब्रह्म समाज ने सुधार, धर्म सुधार, शिक्षा सुधार तथा राष्ट्रीय सुधार के द्वारा आधुनिक भारत के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह पहली संस्था थी जिसने भारतीय समाज की आवश्यकताओं और समस्याओं को भारतीयों के सामने बौद्धिक जागृति पैदा करने के उद्देश्य से रखा।

16.4.3 आर्य समाज आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

काठियावाड़ की पृष्ठभूमि में जन्में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् 1875 में मुम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज के प्रमुख सिद्धान्त एवं नियम निम्न प्रकार हैं:-

* सब सत विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।
* ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा अनन्त निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करना उचित है।

* वेद सम सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।
* सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।
* सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।
* संसार का उपकार करना अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है।
* सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य, बर्ताव करना चाहिए।
* अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।
* प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।
* सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।

आर्य समाज आन्दोलन ने नाना प्रकार की कुप्रथाओं तथा समस्याओं से पीड़ित भारतीय सामाजिक जीवन को पूर्णतया संजीवित कर प्रभावित किया। यथा, उन्होंने दलित जातियों के उद्धार और जन्म पर आधारित जाति-पति के भेद-भाव को दूर करने पर बल दिया। हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय भाषा बनाने के लिए भी उन्होंने आर्य भाषा हिन्दी में अनेक ग्रंथ लिखे। राजनैतिक चेतना को जागृत करने की दिशा में भी आर्य समाज आन्दोलन का सक्रिय योगदान रहा। परिणामस्वरूप राजनीतिक दासता जनित राष्ट्र की दुरावस्ता पर लोगों का ध्यान गया और 'स्वराज्य' की भावना जागृत हुई। राष्ट्रीय शिक्षा के विस्तार की दिशा में भी आर्य समाज का योगदान सराहनीय रहा है। राष्ट्रीय जागृति और उसके द्वारा स्वराज्य की प्राप्ति की आर्य समाज की एक बड़ी देन ''गुरूकुल की शिक्षा प्रणाली'' के रूप में मिली। लड़के एवं लड़कियों (दोनों) के लिए गुरूकुल की स्थापना के साथ-साथ डी०ए०वी० स्कूल एवं कालेजों का एक बड़ा जाल सा देश के विभिन्न भागों में फैलाकार आर्य समाज ने शिक्षा के विस्तार में योगदान दिया, उससे भारतीय समाज गहरे तक प्रभावित हुआ। स्त्री शिक्षा का जोरदारा समर्थन और उसके लिए आर्य विद्यालयों की स्थापना वास्तव में एक नये युग का सूत्रपात करता है। फलत: स्त्री शिक्षा की मानो बाढ़ सी आ गयी। कन्या पाठशालाओं के अतिरिक्त अनेक स्थानों पर विधवा आश्रम तथा अनाथ कन्या आश्रमों की भी स्थापना आर्य समाज द्वारा की गयी, जिसके फलस्वरूप भारतीय स्त्री समाज तो प्रभावित हुआ ही, सार्थ ही पुरुष प्रधान समाज की मानसिकता में भी परिवर्तन आया। दलितोद्वार की दिशा में भी आर्य समाज के प्रयत्न आरम्भ से ही सरहानीय थे। महर्षि दयानन्द जन्म के आधार पर जाति-पाति के भेदभाव को शास्त्र और युक्ति दोनों के विरुद्ध मानते थे। अत: आर्य समाज द्वारा अस्पृश्यता को दूर करने का कार्य किया गया, जिसमें उसे काफी हद तक सफलता मिली।

स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए स्त्रियों में जो शिक्षा का अभाव, पर्दा प्रथा, बहुपत्नी विवाह

प्रथा, विधवाओं के विवाह पर निषेध तथा सती प्रथा आदि का प्रचलन था, उन दोषों की दीवारों को आर्य समाज ने हिला दिया। इन दोषो के विरुद्ध जनमत को जागृत कर दिया और उनको दूर करने के लिये क्रियात्मक कदम उठाया। इसी प्रकार बाल विवाह के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने में भी आर्य समाज ने योगदान दिया। महर्षि दयानन्द ने पुरुष और स्त्री के लिये विवाह की कम से कम आयु 24 और 16 वर्ष ठहरायी थी। दहेज प्रथा को भी आर्यसमाजियों ने बुरा बताया।

अत: स्पष्ट है कि आर्य समाज आन्दोलन ने विभिन्न प्रकार की कुप्रथाओं तथा समस्याओं से पीड़ित भारतीय सामाजिक जीवन को पूर्णतया संजीवित किया।

16.4.4 थियोसॉफिकल सोसायटी एवं उसका प्रभाव—रूसी महिला श्रीमती ब्लावत्स्की और कर्नल ओलकोट ने 1882 में मद्रास में न्यूयार्क की थियोसॉफिकल सोसायटी की स्थापना की। सन् 1893 में श्रीमती एनीबेसेंट भारत आयी। उन्होंने रूसी महिला के साथ मद्रास में समाज सुधार आन्दोलन का कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। इस आन्दोलन ने भारत में बाल-विवाहों का विरोध किया और अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित किया। जातिगत दूरी, खानपान के प्रतिबन्धों, अशिक्षा, गंदगी, गरीब इत्यादि सामाजिक समस्याओं के प्रति जन आन्दोलन विकसित किये। अछूतोद्धार के रचनात्मक कार्यक्रमों को क्रियान्वित करवाया। इस प्रकार भारत में सुधार आन्दोलन के रूप में थियोसॉफिकल सोसायटी की दशा में सुधार के प्रयत्न किये, सामाजिक सेवाओं के लिये बाल-स्काउट संगठन विकसित किया और मानवतावादी मूल्यों को प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप भारतीय समाज का एक बड़ा हिस्सा इस संस्था से प्रभावित हुआ।

16.4.5 रामकृष्ण मिशन एवं उसका प्रभाव—पश्चिमीकरण के बुद्धिवाद, क्रियावाद और विज्ञान के मूल्यों से प्रभावित स्वामी विवेकानन्द ने अपने मार्गदर्शक गुरु स्वामी रामकृष्ण परमहंस की स्मृति में 1897 ई० में रामकृष्णन मिशन की स्थापना की। इस संगठन को स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानंद, स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी शारदानंद, शुद्धानंद, विरजानंद आदि ने पल्लवित एवं पुष्पित किया। यद्यपि स्वामी विवेकानन्द ने, ब्रह्म समाजियों, प्रार्थना समाजियों एवं आर्य समाजियों की भांति समाज सुधारक आन्दोलनों को विकसित नहीं किया, तथापि उन्होंने हिन्दू धर्म को सार्वभौमिक धर्म बनाने का प्रयत्न किया। वह सम्मेलनों, सभाओं लेखों आदि में यूरोप अमेरिका आदि राष्ट्रों में अपने भ्रमण के अनुभवों के वर्णन प्रस्तुत करते हुये भारतीय समाज के जातिगत बंधनों एवं स्त्रियों की दयनीय दशाओं की निंदा करते थे। वह भगवान का रूप दु:खी दरिद्र एवं असहाय लोगों की सेवा में देखा करते थे, इसलिये मानव मात्र की सेवा के लिये उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। इसकी अनेक शाखाओं ने सामाजिक सेवाओं के अन्तर्गत प्राकृतिक विपत्तियों जैसे बाढ़ अकाल आदि से पीड़ितों की सेवाओं, अनेक रोगों से पीड़ित असहाय जनता की सेवाओं आदि की ओर महत्वपूर्ण कार्य किये। इस प्रकार रामकृष्ण मिशन ने अनेक सार्वजनिक संस्थाओं जैसे स्कूलों, कालेजों, अस्पतालों शिशु-गृहों, अनाथालायों, होस्टलों इत्यादि को स्थापित करके भारतीय समाज में पुनर्जागरण विकसित किया।

16.4.6 नामधारी आन्दोलन एवं उसका प्रभाव—सिक्खों के संत बाबा रामसिंह ने पंजाब में नामधारी सुधार आन्दोलन को शक्ति प्रदान की। इस आन्दोलन ने समाज की बुराइयां जैसे बाल विवाह, कन्यावध, पर्दा दहेज, दावत आदि को दूर करने के अभियान छेड़े और उनमें उसे महत्वपूर्ण सफलतायें भी प्राप्त हुयी। इस आन्दोलन ने नशीली वस्तुओं के सेन को समाप्त कर दिया। नामधारियों ने समाज की बुराइयों के खिलाफ प्रबल आन्दोलन छोड़ा। उन्होंने पर्दा, बाल विवाह और कन्यावध को अपने सम्प्रदाय से बिलकुल उखाड़ दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने विधवा विवाह और स्त्री शिक्षा का काफी प्रचार किया और स्त्री को पुरुष के बराबर दर्जा दिया। जाति-पांति के तो वे बिल्कुल ही खिलाफ थे और छोटे बड़े सब को बराबर समझते थे। शादी विवाह पर दावत, दहेज, सजावट और रौनक पर उन्होंने पूरी पाबन्दी लगायी, जिससे देहात के लोगों की कर्जदारी बहुत कम हो गयी और वे साहूकारों के चंगुल से बहुत कुछ बच सके।

16.4.7 मुस्लिम सुधार आन्दोलन एवं उसका प्रभाव—सन् 1816 में दिल्ली के एक कुलीन परिवार मे जन्में सर सैय्यद अहमद खाँ ने मुसलमानों की पुरातनपंथिता और रूढ़िवादिता के विरुद्ध सुधार आन्दोलन की नींव डाली। वह पश्चिमीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित थे। उन्होंने ''तहजीबुल अखलाक'' नामक उर्दू पत्रिका के द्वारा मुसलमानों को आधुनिक शिक्षा, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास एवं समाज सुधार आन्दोलनों की ओर प्रेरित किया। उन्होंने कहा कि इस्लाम ब्याज लेने की इजाजत देता है। यदि कोई पति अपनी सभी पत्नियों को समान न्याय नहीं दे सकता तो उसे बहुपतित्व की प्रथा को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिये। उन्होंने कहा कि इस्लाम में सम्प्रदाय प्रेम (हब्बे इमानी) का पूरक है। उन्होंने मुस्लिमों को व्यवहारवादी एवं लौकिक बनने की सलाह दी। सन् 1875 में सैय्यद साहब ने अलीगढ़ में एक विद्यालय स्थापित किया जो आज ''अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय'' के रूप में फल-फूल रहा है।

16.4.8 गांधी का सुधार आन्दोलन एवं उसका प्रभाव—बीसवीं सदी के समाज सुधारकों में महत्मा गांधी का प्रमुख स्थान है। यद्यपि आपने अपने सुधार आन्दोलन में विविध कार्यक्रमों जैसे किसानों एवं श्रमिकों की दशाओं में सुधार एवं बाल विवाह, विधवा विवाह, पर्दा प्रथा, दहेज प्रथा, वेश्यावृत्ति और देवदासी प्रथा के विरोध आदि को शामिल किया तथापि इनका प्रमुख सुधार कार्यक्रम दलित वर्गों के उत्थान और हिन्दू-मुस्लिम एकता में निहित है। गांधीजी ने अछूतोद्धार के लिये जीवन भर सतत् प्रयत्न किया। 1904 में महात्मा गांधी के राजनैतिक गुरु गोपाल कृष्ण गोखले ने दलित वर्गों के उत्थान के लिये शपथ ली। गोखले से प्रभावित गांधी जी ने ''हरिजन सेवक समाज'' नामक संगठन स्थापित करके अछूतोद्धार से सम्बन्धित कार्यक्रमों को कार्यान्वित किया। महात्मा गांधी की स्पष्ट धारणा थी कि ''भारतीय जीवन में अस्पृश्यता एक कलंक है। छुआछूत धर्म का अंग नहीं है, बल्कि उसमें पैदा हुयी सड़न है, वहम है, पाप है और उसको दूर करना हममें से प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य है।'' गांधी जी का विचार था कि समाज के सभी व्यक्तियों को एक जैसी समानता एवं स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। सर्वोदय समाज में प्रत्येक सदस्य एक समान हैं अर्थात् न कोई छोटा है और न कोई

बड़ा। भारतीय स्त्रियों की दुर्दशाओं को अवलोकित करके उनमें जागरूकता उत्पन्न करने के उन्होंने भरसक प्रयत्न किये। उन्होंने भारतीय पर्दा प्रथा और विशेष तौर पर घूंघट निकालने की प्रथा की कटु निन्दा की। उन्होंने भारतीय स्त्रियों को पर्याप्त संख्या में राजनैतिक समितियों में सेवायें करने की ओर प्रेरित किया। इस प्रकार एक समाज सुधारक के रूप में गांधीजी ने जीवन भर भारतीय सामाजिक संरचना को शान्तिपूर्ण साधनों के द्वारा पूर्णरूपेण परिवर्तित करने की भरसक चेष्टा की। परिणामस्वरूप भारतीय समाज में अद्वितीय परिवर्तन परिलक्षित हुये।

अत: स्पष्ट होता है कि भारत में समय-समय पर हुये विभिन्न समाज सुधार आन्दोलनों के परिणामस्वरूप व्यापक परिवर्तन दिखलाई पड़े हैं। आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन ने देश में राष्ट्रीयता की भावना का विकास किया। विभिन्न आन्दोलनों के समर्थकों ने शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की। सती प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल विवाह प्रथा, मद्यपान, अस्पृश्यता, दहेज प्रथा आदि कुप्रथाओं को दूर करने की दिशा महत्वपूर्ण सुधार हुआ, स्त्रियों और पिछड़े वर्गों की स्थिति में सुधार हुआ और वे समाज के अन्य वर्गों के समकक्ष आने लगे।यद्यपि ये आन्दोलन अपने उद्देश्यों में पूर्णतया सफलता प्राप्त नहीं कर सके, क्योंकि इनके पास बहुत कम साधन थे, किन्तु फिर भी इन आन्दोलनों के माध्यम से जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुयी, वह देश को स्वतन्त्रता मिलने के बाद राष्ट्रीय सरकार के सहयोग और प्रयासों से आगे बढ़ रही है। भारत में लागू आरक्षण व्यवस्था इसका एक सशक्त उदाहरण है। समाज सुधार की इस प्रक्रिया में जनता का भी सहयोग मिल रहा है।

16.5 सारांश

* इस इकाई के अन्तर्गत आपने ''भारत में समाज सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों'' की विस्तृत जानकारी प्राप्त की। अब आप समाज सुधार एवं सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों, उनकी विशेषताओं तथा भारत में चलाये गये विभिन्न समाज सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलनों एवं समाज एवं समाज पर पड़ने वाले उनके प्रभावों से अवगत हो गये हैं।

* जहां तक सुधारवादी आन्दोलनों की विशेषताओं का प्रश्न है तो निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि इस प्रकार के आन्दोलन एक निश्चित भाग में तथा एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चलाये जाते हैं। साथ ही एक निश्चित सामाजिक वर्ग के लिये भी होते हैं। ये आन्दोलन सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध नहीं होते अपितु समाज की व्यवस्था के किसी एक निश्चित भाग में परिवर्तन करने के लिय चलाये जाते हैं।

* वास्तव में देखा जाये तो भारत में चलाये गये समस्त सुधारवादी आन्दोलनों, यथा प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, आर्य समाज, मुस्लिम सुधार आन्दोलन आदि सभी में निश्चितता एक प्रभुत्व गुण रहा है। यद्यपि सभी आन्दोलन अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल नहीं हो पाये किन्तु स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय सरकारों को उनसे एक दिशा अवश्य मिल सके, जिस ओर निरन्तर प्रयास जारी हैं।

16.7 सन्दर्भ ग्रन्थ/सहायक पुस्तकें

1. एस. नटराजन : ए सैन्चुरी आफ सोशल रिफार्मस इन इण्डिया
2. कैमरौन : माडर्न सोशल मूवमैन्ट्स
3. ब्लूमर : कलैक्टिव बिहेवियर

16.6 सम्बन्धित प्रश्न

बोध प्रश्न

1. ब्रह्म समाज की स्थापना किसने और किस सन् में की? (सही उत्तर के सामने सही (✔) का निशान लगायें)

   (अ) राजाराम मोहन राय (1828) ( )

   (ब) राजाराम मोहन राय (1832) ( )

   (स) विवेकानन्द (1526) ( )

   (द) महात्मा गाँधी (1930) ( )

2. रामकृष्ण मिशन की स्थापना किस सन् में हुई? (सही उत्तर के सामने सही (✔) का निशान लगायें)

   (अ) 1897 ( )

   (ब) 1895 ( )

   (स) 1826 ( )

   (द) (1880) ( )

3. सुधारवादी आन्दोलनों की विशेषताओं के प्रमुख तत्वों के विषय में बतांइये । (उत्तर तीन पंक्तियों में दें)।

   .....

   .....

   .....

4. प्रार्थना समाज के प्रवर्तक महादेव गोविन्द रानाडे का जन्म कब हुआ था? (सही उत्तर के सामने सही (✔) का निशान लगायें)

   (अ) 18 जनवरी 1842 ( )

   (ब) 18 फरवरी 1842 ( )

   (स) 18 मार्च 1842 ( )

   (द) 18 दिसम्बर 1842 ( )

5. ''बाल विवाह के विरूद्ध शास्त्रों का मत'' नामक ग्रन्थ किसने लिखा? (सही उत्तर के सामने सही (✔) का निशान लगायें)

(अ) महादेव गोविन्द रानाडे ( )

(ब) पंडित नेहरु ( )

(स) राजाराम मोहन राय ( )

(द) बाल गंगाधर तिलक ( )

6. आर्य समाज की स्थापना किस सन् में हुई थी? (सही उत्तर के सामने सही (✔) का निशान लगायें)

(अ) 1875 ( )

(ब) 1775 ( )

(स) 1820 ( )

(द) 1935 ( )

7. ''तहजीबुल अखलाक'' नामक उर्दू पत्रिका के माध्यम से किसने मुसलमानों को समाज सुधार आन्दोलनों की ओर प्रेरित किया? (सही उत्तर के सामने सही (✔) का निशान लगायें)

(अ) मोहम्मद साहब ने ( )

(ब) सर सैय्यद अहमद खाँ ने ( )

(स) गुलाम मुस्तफा सूफी ने ( )

(द) डा. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम ने ( )

8. किसने कहा था ''भारतीय जीवन में अस्पृश्यता एक कलंक है, छुआछूत धर्म का अंग नहीं है।'' (सही उत्तर के सामने सही (✔) का निशान लगायें)

(अ) इन्दिरा गाँधी ने ( )

(ब) महात्मा गाँधी ने ( )

(स) राजीव गाँधी ने ( )

(द) सोनिया गाँधी ने ( )

9. बोध प्रश्नों के उत्तर

1. देखें (4.2 व 4.4.2)
2. देखें (4.2 व 4.4.5)
3. देखें (4.3)
4. देखें (4.4.1)
5. देखें (4.4.1)

6. देखें (4.4.3)
7. देखें (4.4.7)
8. देखें (4.4.8)

अभ्यास

अभ्यास सम्बन्धित उत्तर इकाई पढ़कर स्वयं लिखें और परामर्शक को दिखायें।

NOTES

खण्ड

5

भारतीय समाज में निरन्तरता एवं परिवर्तन

इकाई 17

संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण तथा संस्थागत परिवर्तन

इकाई 18

नगरीकरण एवं औद्योगीकरण का सामाजिक प्रभाव

इकाई 19

उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण के सामाजिक सांस्कृतिक परिणाम

इकाई 20

भारतीय समाज में आधुनिकीकरण: परम्परा एवं आधुनिकता

खण्ड - 5 : खण्ड परिचय - भारतीय समाज में निरन्तरता एवं परिवर्तन

इस खण्ड में भारतीय समाज में निरन्तरता एवं परिवर्तन की व्याख्या की गयी है। **पहली इकाई का** शीर्षक है ''संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण तथा संस्थागत परिवर्तन''। इसमें भारत में जाति और परिस्थिति गतिशीलता को स्पष्ट किया गया है। संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण एवं आधुनिकीकरण की व्याख्या की गई है। **इकाई दो** का शीर्षक है ''नगरीकरण और औद्योगीकरण का सामाजिक प्रभाव है। इसमें नगरीकरण और औद्योगीकरण के अर्थ को स्पष्ट किया गया है। भारतीय सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर औद्योगीकरण के प्रभाव की व्याख्या की गई है। **ईकाई तीन** का शीर्षक है ''उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण के सामाजिक, सांस्कृतिक परिणाम''। इसमें उदारीकरण के अर्थ को स्पष्ट किया गया है। आर्थिक एवं सामाजिक उदारीकरण के अर्थ एवं प्रतिफल की धारणा की गयी है। भूमण्डलीकरण के प्रभाव को स्पष्ट किया गया है। **ईकाई चार** का शीर्षक है ''भारतीय समाज में आधुनिकीकरण : परम्परा एवं आधुनिकता''। इसमें भारतीय समाज परम्परागत एवं आधुनिक रूप को स्पष्ट किया गया है। आधुनिकता के अर्थ एवं लक्षण को स्पष्ट किया गया है।

सामाजिक स्थिति को पूर्णरूप से ईश्वर का फैसला मान लेती तो अपनी वर्तमान स्थिति को सुधारने व जाति संस्तरण में ऊपर उठने का प्रयास न करती।

6. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के द्वारा सामाजिक पद में परिवर्तन के लिए एक निम्न जाति दो या तीन पीढ़ी पूर्व अपना सम्बन्ध किसी ऊँची जाति से जोड़ती है यह एक प्रकार से अग्रिम समाजीकरण होता है यह प्रक्रिया एक प्रकार से सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का सूचक है जो नीच जातियों की इस महत्वाकांक्षा और प्रयत्न का द्योतक है कि वे ऊँची जातियों की जीवन शैली को अपनाये और अपनी जातीय स्थिति को ऊँचा उठायें।

7. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया एक दोहरी प्रक्रिया है इसमें सदैव ही निम्न जातियाँ ऊँची जातियों की संस्कृति को ग्रहण नहीं करती वरन् उच्च जातियां भी निम्न जातियों की संस्कृति के कुछ तत्वों को ग्रहण करती है।

8. जब किसी जातीय समूह का संस्कृतिकरण होता है तो वह किसी उच्च जाति की प्रथाओं और जीवन पद्धति को ही नहीं अपनाती बल्कि संस्कृत साहित्य में उपलब्ध कुछ नवीन विचारों एवम् मूल्यों को भी स्वीकार कर लेता है जैसे पाप-पुण्य, धर्म - कर्म, माया संसार,मोक्ष आदि।

संस्कृतिकरण निम्न जाति को उच्च पद प्राप्ति में सहायक न भी हो तो भी यह उसे मांस खाने, मदिरा पान को बन्द करने और कुछ सांस्कृतिक परम्पराओं, मूल्यों, विश्वासों व देवताओं को अपनाने से तो नहीं रोकता।

1.7 संस्कृतिकरण तथा भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के स्वरूप

संस्कृतिकरण की अवधारणा सामान्य रूप से भारतीय समाज और विशेष रूप से भारतीय जाति व्यवस्था में घटित होने वाले सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन को समझाने में काफी सहायक सिद्ध हुई है।

भारतीय सामाजिक सन्दर्भ में संस्कृतिकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एक निम्न जाति, उच्च जाति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या प्रभुजाति के खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाजों, मूल्यों संस्कारों, विश्वासों और जीवन शैली को ग्रहण करती है। इस दृष्टिकोण से नीची जाति में होने वाले विभिन्न सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन को प्रकट करती है।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा एक निम्न जाति की स्थिति में पदमूलक परिवर्तन आ जाता है। यद्यपि संरचनात्मक परिवर्तन नहीं आता है फिर भी इससे उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा बहुत बढ़ जाती है।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया जाति प्रथा में गतिशीलता का सूचक है। भारतीय सामाजिक संगठन में जाति प्रथा एक अत्यन्त कठोर व्यवस्था है इसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होती है। मनुष्य एक बार जिस जाति में जन्म ले लेता है फिर उसे बदल नहीं सकता आजीवन

उसी जन्मता, जाति का सदस्य बना रहता है किन्तु संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के माध्यम से यदा-कदा जाति बदलना सम्भव है।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया निम्न जातियों के विवाह एवं परिवार प्रतिमानों में होने वाले परिवर्तनों को भी प्रकट करती है संस्कृतकरण ग्रहण करने वाली जाति बाल विवाह करने लगती है विधवा विवाह निषेध का पालन करती है तथा संयुक्त परिवार परम्परा को उच्च जातियों की ही भाँति अपनाती है।

17.8 निष्कर्ष

संस्कृतिकरण के विस्तार का मूल आधार औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण, व्यवसायिक गतिशीलता, अति विकसित संचार साधन, प्रौद्योगिकी विकसित शिक्षा प्रणाली तथा पश्चिमीकरण को जाता है। संचार साधनों के विकास के कारण संस्कृतिकरण उन सुदूर क्षेत्रों में पहुंच गया जो पहले अगम्य और दूरूह थे, साक्षरता के विस्तार ने इस प्रक्रिया को जाति संस्तरण निम्न जातियों को आभास करा दिया जिससे निम्न जातियों में पदमूलक परिवर्तन की स्थिति सम्भव हो गई। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में ब्राह्मणों के संस्कार सभी हिन्दू जातियों एवम् अस्पृश्यों को भी सुलभ हो गये। विवाह व्यवस्था की परम्परायें जो केवल उच्च जातियं ही करती थीं निम्न जातियों तक सुलभ हो गई। आज निम्न जातियाँ भी अपनी बारात में दूल्हे को घोड़े या कार पर ही बैठा कर ले जाते हैं। इस प्रकार निम्न जाति के लोग ब्राह्मणों के सामाजिक एवम् संस्थागत आचार-विचार को सरलता से अपना लिया।

17.9 पश्चिमीकरण की अवधारणा

आधुनिक समय में पश्चिमीकरण ने भारत में सामाजिक पवितर्न के लाने में एक अति महत्वपूर्ण कार्य किया है। पश्चिमीकरण का अर्थ है पाश्चात्य नियमों, मूल्यों और संस्कृति को अपनी संस्कृति में सम्मिलित करना। ब्रिटिश शासन काल में पश्चिमीकरण का प्रभाव भारतीय समाज पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

डा0 एम. एन. श्रीनिवास भारतीय सामाजिक संगठन में परिवर्तन की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए पश्चिमीकरण के प्रत्यय को प्रस्तुत किया। सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का सिद्धान्त यह मानता है कि परिवर्तन का स्रोत व्यवस्था के अन्दर तथा बाहर दोनो तरफ पाये जाते हैं। संस्कृतिकरण भारतीय जाति व्यवस्था के अन्तर्गत वास्तविक तथा आकांक्षित सांस्कृतिक गतिशीलता को प्रकट करती है। जबकि पश्चिमीकरण की अवधारणा उन परिवर्तनों की ओर इंगित करती है जो पश्चिम, विशेष रूप से ग्रेट ब्रिटेन के सांस्कृतिक सम्पर्क का परिणाम है। पश्चिमीकरण, भारत में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के ब्रिटिश शासन में उन परिवर्तनों का प्रतिफल कहा जा सकता है। पश्चिमीकरण की व्याख्या करते हुए डा. श्रीनिवास ने लिखा है ''मैने पश्चिमीकरण शब्द का प्रयोग भारतीय समाज व संस्कृति में उन परिवर्तनों के लिए किया है जो एक सौ पचास वर्षों से अधिक समय के

ब्रिटिश राज्य के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए हैं और यह शब्द प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, वैचारिकी और मूल्यों, आदि विभिन्न स्तरों पर घटित होने वाले परिवर्तनों का सम्मिलित है'' (एम. एन. श्रीनिवास, शोसल चेन्ज इन मार्डन इण्डिया, पृ0 47)

श्रीनिवास परिवर्तन की इस प्रक्रिया को आधुनिकीकरण के स्थान पर पाश्चात्यीकरण का नाम देना अधिक उचित मानते हैं। बड़े पैमाने पर पश्चिमीकरण में वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानवतावाद, समानता, आध्यात्म के बजाय भौतिकता पर बल, व्यक्तिवाद, समाज की विभिन्न समस्याओं के प्रति उदार दृष्टिकोण और बुद्धिवाद आदि शामिल हैं। देश में वैज्ञानिक प्रौद्योगिक और शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना राष्ट्रवाद का उदय, नयी राजनीतिक संस्कृति एवं नवीन नेतृत्व पश्चिमीकरण का ही परिणाम है। श्रीनिवास का विचार है कि पश्चिमीकरण सांस्कृतिकरण की प्रगति में अवरोध नहीं डालता वरन् दोनों साथ-साथ आगे बढ़ सकते हैं। पश्चिमीकृत व्यक्ति जाति के संसार में कम तथा वर्ग के संसार में अधिक रहते हैं। पश्चिमीकृत लोग अपनी परम्परागत जीवन शैली पद्धति को त्याग कर पश्चात्य प्रतिरूपों को अपनाने की ओर अग्रसर होते दिखाई देते हैं, दूसरी ओर जाति व्यवस्था में ऊँचा स्तर पाने के इच्छुक निम्न जातियाँ इस रिक्त स्थान की पूर्ति करते हुये संस्कृतिकरण के वे तत्व अपना रही हैं जो उच्च जातियों के लोग पश्चिमीकरण के प्रभाव में छोड़ रहे हैं।

ब्रिटिश शासन के विधिवत स्थापना के बाद भारत में अनेक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवम् प्रौद्योगिक ताकतें कार्य करने लगी। इन ताकतों ने धीरे-धीरे भारतीय सामाजिक एवम् सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रभावित किया। इस प्रकार यहीं से पश्चिमीकरण की प्रक्रिया कार्य करने लगीं। भारतीय उच्च जातियों ने अपनी परिस्थिति के पूर्व की भाँति ऊँचा बनाये रखने के लिए अंग्रेजों की प्रथाओं, जीवन शैली तथा आदतों का अनुकरण करना प्रारम्भ किया। यहाँ तक उच्च जातियों के लोग जिन आचरणों को अभी तक अपवित्र मानते थे उन्हें स्वीकारने लगे जैसे भोजन में आने वाली वस्तुयें - मदिरा, मांस चूँकि यह सब अंग्रेजों में प्रचलित थी। ब्रह्मण जो अभी तक जातीय संस्तरण में सर्वोच्च शिखर पर थे यह स्थान अंग्रेजों ने प्राप्त कर लिया और ब्राह्मणों का स्थान द्वितीय हो गया। जहाँ एक ओर निम्न जातियाँ अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा प्रस्थिति को ऊँचा उठाने के उद्देश्य से ब्राह्मणों के जीवन शैली को अपनाने में लगी हुई थी वही दूसरी ओर ब्राह्मण तथा अन्य ऊँची जातियों के लोगों ने अंग्रेजों के जीवन शैली को अपनाने में बड़ी तत्परता दिखाई। लोग शीघ्र ही समझ गये कि जब तक अंग्रेजीयत जीवन पद्धति तथा अंग्रेजी शिक्षा को नहीं प्राप्त करते तब तक शासन और सत्ता से सम्बन्धित लाभ उन्हें नहीं मिल सकता। परिणाम यह हुआ कि भारत की उच्च जातियों के रहन-सहन का स्वरूप, वेश-भूषा, खान-पान आदि समग्र रूप से बदल गया। इस प्रकार देश में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी।

पश्चिमीकरण का स्वरूप और गति देश के सभी भागों व समूहों में समान नहीं थी। श्रीनिवास ने मैसूर राज्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हुये इस बात का संकेत दिया कि पश्चिमीकरण के दौड़ में, अपनी शैक्षणिक परम्परा के कारण, ब्राह्मण सबसे आगे थे क्योंकि उन्होंने यह

अनुमान लगा लिया था कि अंग्रेजी राज्य की स्थापना से नवीन अवसर मिलने वाले हैं। इसके बावजूद कुछ अन्य मामलों में पश्चिमीकरण की दौड़ में दूसरों का मुकाबला नहीं कर सके विशेष रूप से दक्षिण में जहाँ अधिकांश शाकाहारी थे तथा मदिरा का प्रयोग नहीं करते थे।

संस्तरण के इस नवीन प्रणाली में ब्राह्मण अंग्रेजों की नकल कर रहे थे बाकी सभी लोग ब्राह्मणों और अंग्रेजों दोनों का। जैसे-जैसे पश्चिमी संस्कृति का प्रसार बढ़ने लगा उच्च जातियों की जीवन शैली बदलने लगी जैसे परम्परागत वस्त्रों के स्थान पर पश्चिमी किस्म के वस्त्र और जूते पहनने लगे साथ ही साथ वस्त्र पहिने हुए टेबुल पर भोजन करने लगे, यहाँ तक भोजन में उन वस्तुओं का प्रयोग किया जाने लगा जो पहले वर्जित थी। ब्राह्मणों ने उन व्यवसायों को अपना लिए जो कभी उन कार्यों के लिए सोच भी नहीं सकते थे। इस प्रकार जीवन-शैली और वेश-भूषा में परिवर्तन से संस्कारात्मक पवित्रता सम्बन्धी विचार भी धीरे-धीरे शिथिल पड़ने लगे।

पश्चिमीकरण के प्रभाव से पहले, जो ब्राह्मण अपनी कन्याओं का विवाह यौवनारम्भ के पूर्व कर देते थे आज वे अपनी कन्याओं का विवाह 18 वर्ष की कम आयु में नहीं करते। अब बाल विधवाएं नहीं के बराबर पायी जाती हैं।

आज विभिन्न जातियां ब्राह्मणों के अनुकरण या संस्कृतिकरण के माध्यम से नहीं बल्कि सीधे पश्चिमीकरण की विचारधारा की ओर बढ़ रहे हैं। श्रीनिवास ने स्वयं लिखा है कि "मैं यहाँ इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि पश्चिमीकरण के लिए संस्कृतिकरण आवश्यक नहीं है यह बात आधुनिक अवलोकन से सम्बन्धित है और मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि पश्चिमी करण के पूर्व संस्कृतिकरण कोई तार्किक आवश्यकता है। यह सम्भव है कि संस्कृतिकरण की मध्यवर्ती प्रक्रिया के बिना ही पश्चिमीकरण हो जाय, ऐसा नगरों में रहने वाले समूहों और व्यक्तियों और साथ ही ग्रामीण और जनजातीय लोगों में हो सकता है, और विशेषत: विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के तहत तेजी से हो रहे औद्योगीकरण में ऐसा होना और भी सम्भव है। बढ़ते हुए पश्चिमीकरण का तात्पर्य लोगों के दृष्टिकोण का अधिक लौकिकीकरण है।" (एम. एन. श्रीनिवास, शोसल चेन्ज इन मार्डन इण्डिया पृ0 60)।

श्रीनिवास का ऐसा मानना है कि यदि व्यवहार का एक क्षेत्र पश्चिमीकरण से प्रभावित है तो व्यवहार के अन्य सभी क्षेत्र भी पश्चिमीकरण से अनिवार्यता प्रभावित ही होंगे आवश्यक नहीं है जैसे सम्पूर्ण भारत में विश्वकर्मा पूजा के अवसर पर अपने धन्धे से सम्बन्धित औजारों को साफ करने, उनमें सिन्दूर लगाने, धूप देने फूल माला चढ़ाने का एक सामान्य रिवाज है। इस कथन से स्पष्ट है कि भारत में परम्परा तथा आधुनिकता साथ-साथ चलती है दोनों में कोई विरोध नहीं पाया जाता है।

यातायात और संचार माध्यमों के विकास, औद्योगीकरण तथा कृषि में होने वाले विकास तथा सामाजिक गतिशीलता में तीव्र वृद्धि ने पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को और तेज बना दिया।

17.10 पश्चिमीकरण और नगरीकरण

नगरों में पश्चिमीकरण का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है परन्तु इस तथ्य के आधार पर पश्चिमीकरण को नगरीकरण का पर्यायवाची नहीं मान लेना चाहिए। भारत के तमाम ग्रामीण क्षेत्रों में नगरों की तुलना में अधिक पश्चिमीकरण दिखाई पड़ता हैस् इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि पश्चिमीकरण, नगरीकरण का परिणाम है यह दोनों स्वतंत्र प्रक्रियाएं हैं इसीलिए इन दोनों का क्षेत्र अलग है।

17.11 पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण

बहुत से व्यक्ति पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण दोनों को एक ही मान लेते हैं, परन्तु इन दोनों में अन्तर पाया जाता है। पश्चिमीकरण आधुनिकीकरण की तुलना में एक सीमित अवधारणा है। विश्व के सभी देश पश्चिम के प्रभाव से आधुनिक नहीं हुये हैं। उदाहरण स्वरूप कुछ विश्व के देश जापान के प्रभाव से आधुनिक बने हैं आधुनिकीकरण में उन सभी कारकों को सम्मिलित किया जाता है जिन्होंने संचार के साधनों में, नगरीकरण के विस्तार में साक्षरता के क्षेत्र में, पर कैपटा आय की वृद्धि में व्यस्क मतदान में क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

17.12 पश्चिमीकरण की सीमा

पश्चिमीकरण और पाश्चात्य संस्कृति के मध्य अन्तर किया जा सकता है पाश्चात्य संस्कृति के सभी तत्व पश्चिम में ही अंकुरित नहीं हुए हैं जैसे ईसाइयत का जन्म ऐशिया में हुआ। दश्मलव व्यवस्था का जन्म भारत में हुआ और अरबिया के द्वार पश्चिम में पहुँचा। इस प्रकार गनपाउढर, छपाई मशीन, तथा कागज का अविष्कार चीन में हुआ। भारत को जिस प्रकार से पश्चिमीकरण ने प्रभावित किया उसका मूल कारण ब्रिटिश शासन का प्रभाव था।

17.13 पश्चिमीकरण एक जटिल अवधारणा

पश्चिमीकरण की एक विकसित अवधारणा है जिसके अन्तर्गत सभी प्रकार के परिवर्तन, चाहे वे पाश्चात्य प्रौद्योगिकी या आधुनिक विज्ञान के द्वारा घटित हो सम्मिलित है। भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर पश्चिमीकरण का प्रभाव किसी न किसी रूप में दिखाई पड़ता है जैसे प्राचीन समय में भारतवासी थाली या केले के पत्ते में पलथी मार कर भोजन करते थे परन्तु आज वे भोजन की मेज पर बैठकर भोजन करते हैं। इस प्रकार, पश्चिमीकरण का प्रभाव भारतीय समाज पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

17.14 सारांश

पश्चिमीकरण के प्रभाव के कारण भारतीय समाज और संस्कृति में अनेक परिवर्तन घटित हुए हैं और उनका परम्परागत स्वरूप काफी बदला है। भारत में नवीन आविष्कार, प्रौद्योगिकी यन्त्रों

तथा प्रविधियों का विकास हुआ है। स्वतंत्रता के पश्चात् पश्चिमीकरण की प्रक्रिया और अधिक विकसित हुई और अब तो रूस तथा अमरीका देशें से अनेक सामाजिक सांस्कृतिक तत्वों को ग्रहण किया जा रहा है। पश्चिमी करण ने सबसे अधिक जाति प्रथा को प्रभावित किया है। घटती हुई रूढ़िवादिता काफी हद तक पश्चिमीकरण के प्रभाव का परिचायक है इसी ने संयुक्त परिवार की संस्था के ह्रास को बढ़ावा दिया है तथा समाज सुधार के कई आन्दोलनों को प्रेरणा दी हैस्। आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में अन्तर आया है, इससे कुटीर उद्योग विघटित हुए, खेती में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, भूमि सम्बन्धी सुधार हुए लोकतंत्रीय मूल्यों, मान्यताओं और आदर्शों को प्रोत्साहन मिला तथा सामाजिक न्याय और सम्पूर्ण देश में एक समान प्रशासन पद्धति की व्यवस्थाएं सम्भव हो सकी। मानवतद्यवादी दृष्टिकोण पर पश्चिमीकरण ने बल दिया जिससे भारत में अनेक सामाजिक व संस्थागत सुधार हुये।

पहले ऐसा विचार था कि यह प्रक्रिया केवल उच्च जातियों तक ही सीमित हैं क्योंकि उनके पास इस प्रक्रिया को अपनाने के अधिक साधन हैं लेकिन वास्तविक परिस्थितियों में देखा गया है कि शहरी क्षेत्रों में निम्न जातियों के सम्पन्न लोग अपनी सामाजिक स्थिति को श्रेष्ठ बनाने के लिए संस्कृतिकरण की अपेक्षा पश्चिमीकरण को अपनाना अधिक पसन्द करते हैं। निम्न जाति के लोग अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने के लिए संस्कृतिकरण पर अपनी ऊर्जा अधिक खर्च करते है जबकि बहुत सी ऊंची जाति के लोग अपने और निम्न जातियों के बीच की दूरी को बनाए रखने के लिए पश्चिमीकरण की तरफ अग्रसर हो जाते है इस प्रवृत्ति का मुख्य कारण यह है कि पुरानी सामाजिक व्यवस्था में निम्न जातियों की संस्कृतिकरण सम्बन्धी क्षमता के कारण उच्च जातियों के लिए सामाजिक दूरी बनाये रखना कठिन हो गया है।

उपर्युक्त तर्क का सम्पूरक प्रस्तुत करते हुए हैराल्ड गोल्ड ने ए डानामिक बिव एकनामिक वीकली में ठिप्पणी करते हैं— ब्राह्मण और राजपूत चूँकि पहले से ही सांस्कृतिकृत हैं इसलिए वे अब और अधिक स्तरीकृत व्यवस्था में ऊपर नहीं जा सकते यदि यह उच्च वर्णीय लोग यदि राजनैतिक या आर्थिक शक्ति के माध्यम से वस्तुस्थिति को उसी रूप में नहीं कायम रख सकते, जिस रूप में वे हैंतब वे या तो नीचे के सोपान पर चले जायेंगे या फिर समानता की अवधारणा को स्वीकारें जिसका अर्थ है कि सामान्य रूप से सोपानिक सम्बन्धों की निषेधात्मकता को स्वीकार करना जो उच्च जातियों के लिए घातक और असम्भव होगा। क्योंकि उनकी मानसिकता में जन्मगत श्रेष्ठता या कुलीनता का विचार घर किये हुये है।

इसलिए उच्च जातियों के बहुत से लोग पश्चिमीकरण को अपना लेते हैं जो स्तरीकृत यथास्थिति को बनाये रखने मे कामयाब रहते हैं। ऐसी स्थिति में निम्न जातियों के लोग उच्च जातियों से समानता की मृगतृष्णा के पीछे सदा भागते रहते हैं परन्तु जब वे अपने लक्ष्य तक पहुँचते हैं तो पाते हैं कि जिस स्थान को उन्होंने प्राप्त किया है उसे ब्राह्मण या अन्य उच्च जाति के लोग स्वयं रिक्त कर चके हैं और पश्चिमीकरण के उच्चतर शिखर पर प्रतिष्ठित हो

गये है, जहाँ से वे नीचे के लोगों को तिरस्कृत भाव से देख रहे हैं । इस प्रकार संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के मध्य तक महत्वपूर्ण व गतिशील रोचक खेल चल रहा है।

संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण की अवधारणायें सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या मुख्य रूप से संस्कृति के सन्दर्भ में करती हैं न कि संरचना के सन्दर्भ में यह जाति व्यवस्था के अन्तर्गत केवल स्थिति परिवर्तन की ओर इंगित करती हैं संरचनात्मक परिवर्तन की ओर नहीं। श्रीनिवास द्वारा प्रस्तुत माडल भारत में केवल जाति व्यवस्था पर आधारित सामाजिक परिवर्तन को ही प्रकट करता है परिवर्तन की इस प्रक्रिया को अन्य समाजों पर लागू नहीं किया जा सकता। इससे स्पष्ट है कि श्रीनिवास द्वारा विकसित की गई दोनों अवधारणायें भारत में सम्पूर्ण परिवर्तन को नहीं बल्कि आंशिक परिवर्तन की ओर संकेत है।

17.15 संदर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

1. एम. एन. श्रीनिवास, शोसल चेन्ज इन मार्डन इण्डिया, कैलीफोर्निया प्रेस, लोस ऐगेज संख्या 1966
2. एम. ए. श्रीनिवास, ''ए नोट आन संस्कृताइजेशन और वेर्स्टनाइजेशन'' इन फार ईर्स्टन क्वालिटी, 15 पी पी 481-496
3. एच. ए. गोल्ड, संस्कृताइजेशन और वेर्स्टनाइजेशन- ए डायनिमिक बिव, एकनामिक वीकली, वेलमू xviii, नं0 25, जून 24, 1961 पृ0 947
4. देवराज, चन्ना, ''सास्कृताइजेशन और वेर्स्टनाइजेशन इन इन्डियाज नार्थ वेस्ट,'' इकनामिक वीकली, वालूम 8 नं0 9 मार्च, 4, 1961, पी पी 409-414

17.16 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय

1. समकालीन भारत में हो रहे सामाजिक परिवर्तन की प्रवृत्ति पर प्रकाश डालिए।
2. ''संस्कृताइजेशन भारत में जाति व्यवस्था पर आधारित सामाजिक परिवर्तन की ओर संकेत है'' सिद्ध कीजिए।
3. पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय

1. ब्राह्मणीकरण एवं संस्कृतिकरण में अन्तर बताएं।
2. नगरीकरण एवं पश्चिमीकरण के मध्य अन्तर बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. संस्कृतिकरण की अवधारणा किसने प्रस्तुत की :

   (अ) श्री निवास, (ब) दुबे (स) देसाई (द) योगेन्द्र सिंह उत्तर (अ)

2. पश्चिमी करण के लिए संस्कृतिकरण :

   (अ) आवश्यक है (ब) आवश्यक नहीं है उत्तर (ब)

इकाई 18 नगरीकरण एवं औद्योगीकरण का सामाजिक प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 नगरीकरण और औद्योगीकरण का अर्थ

18.2.1 नगरीकरण का अर्थ

18.2.2 औद्योगीकरण का अर्थ

18.3 नगरीकरण एवं औद्योगीकरण एक संयुक्त प्रक्रिया

18.4 भारत में नगरीकरण का प्रभाव

18.4.1 सामाजिक जीवन पर प्रभाव

18.4.2 आर्थिक जीवन पर प्रभाव

18.4.3 सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव

18.5 भारतीय समाज पर औद्योगीकरण का प्रभाव

18.5.1 सामाजिक जीवन पर प्रभाव

18.5.2 आर्थिक जीवन पर प्रभाव

18.5.3 सांस्कृतिक प्रभाव

18.6 सारांश

18.7 सन्दर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

18.8 सम्बन्धित प्रश्न

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

* नगरीकरण और औद्योगीकरण का अर्थ बता सकेंगें।

* भारत में इन प्रक्रियाओं के आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव पर टिप्पणी कर सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

जब से मानव इस धरती पर अवतरित हुआ है तब से वह अपनी जीविका को चलाने के लिए कुछ न कुछ प्रयास सदैव करता रहा है। उसका यह प्रयास उसके युग और सामाजिक दशाओं के अनुरूप था। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसने उद्योगों की ओर ध्यान दिया। यही कारण है कि प्रारम्भ में छोटे स्तर के उद्योग प्रारम्भ हुए। आगे चलकर उद्योगों का अधिकाधिक विकसित होने के कारण मनुष्य की अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताएं हैं कालान्तर में समय ने करवट ली और मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया। चूंकि उसके पास एक विकसित मस्तिष्क और ऊर्जा का अपार भण्डार था उसकी सहायता से उसने आखेटक रूप से औद्योगिक युग तक यात्रा की । अर्थात आवश्यकतानुसार परिवर्तन की प्रक्रिया घटित हुई।

सन 1850 के पूर्व भारत में फैक्ट्री युग नहीं था केवल कुटीर धन्धे और लघु उद्योग थे। जैसे दस्तकारी, रेशम के कीड़े पालना, खादी बनाना आदि। सन 1985 में आधुनिक फैक्ट्री उद्योग की नींव पड़ी। उन्नीसवीं शताब्दी में बड़े उद्योगों जैसे जूट, चीनी, तथा कपड़े के उत्पादन की मिलें स्थापित होने लगे। भारत के उद्योगों में तीव्र विकास तो वास्तव में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से हुआ। और उत्पादन भी बड़ी मात्रा में होने लगा। उद्योगों में उत्पादित माल केा खपाने के लिए बड़े बाजारों और व्यावसायिक केन्द्रों का अनुभव किया जाने लगा। जिसने कालान्तर में नगरों की परिकल्पना प्रस्तुत की । शीघ्र ही नगरीकरण की प्रक्रिया भी भारत में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगी। फलत: बड़े बड़े औद्योगिक नगरों में जैसे राउरकेला, जमशेदपुर, भिलाई, बोकारों, टाटानगर, दुर्गापुर, मोदीनगर, आदि आदि में वन विकास हुआ। जिसके परिणाम स्वरूप अहमदाबाद, दिल्ली, मद्रास, कोलकाता, कानपुर, बड़ौदा, जलंधर, टाटानगर, गाजियाबाद, जैसे विशालकाय नगरों ने अपने आस पास के क्षेत्रों को नगरों की विशेषताओं से प्रभावित किया।

अत: स्पष्ट है कि भारतीय सन्दर्भ में औद्योगीकरण व नगरीकरण एक संयुक्त प्रक्रिया है इनका आपस में घनिष्टम सम्बन्ध है इन्होंने समाज के विभिन्न पक्षों पर प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से अपने दूरगामी प्रभाव डाले हैं जिनको विशेष रूप से सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में देखा जा सकता है। इस विषय में ऐसा भी कहा जाता है कि इन दोनों प्रक्रियाओं ने मानव जीवन में बिखराव को प्रोत्साहित किया है। किन्तु यह विचार एकाकी प्रतीत होता है। वास्तव में इस प्रक्रिया में ही मानव जीवन में समृद्धि के द्वार खोल कर उसे प्रगतिशील बनाया है वास्तव में इस प्रक्रिया में भी मानव जीवन में समृद्धि के द्वार खोलकर उसे प्रगतिशील बनाया है। एक नया दृष्टिकोण देकर जीवन के उपागम को बदला है जिन पर प्रकाश डालना वांछनीय है।

18.2 नगरीकरण और औद्योगीकरण का अर्थ

18.2.1 नगरीकरण का अर्थ –

नगर शब्द अंग्रेजी भाषा के सिटी शब्द का हिन्दी अनुवाद है। सिटी शब्द लैटिन भाषा के सिविटास से बना है इसका अर्थ है नागरिकता शब्द नगरीकरण नगर से बना है अत: सामान्य भाषा में नगरीकरण का अर्थ नगरों के विकास और प्रसार से लगाया जाता है। वास्तव में नगरीकरण कई घटक तत्वों पर आधारित होता है जो सामान्यत: प्रकृति से भिन्न है यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें शहर में रहने वाले व्यक्तियों की संख्या बदली है। इस प्रक्रिया में तीन विशेषताएं देखने को मिलती है जैसे 1. नगर की जनसंख्या में वृद्धि होना 2. गांवों का नगरों में परिवर्तित होना। 3. ग्रामीण क्षेत्र में नगर की विशेषताओं का प्रसार होना। बर्गेल ने नगरीकरण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए कहा कि – ''ग्रामीण क्षेत्रों को नगरीय क्षेत्र में बदलने की प्रक्रिया का नाम नगरीकरण है'' इससे यह इंगित होता है कि जब कभी औद्योगिक विकास होता है तो उसके आस पास का क्षेत्र नगरों की विशेषता को स्वीकार करता है। गांव से आने वाले लोग शहरी जीवन की विशेषताओं को अपना कर उसका प्रसार गांव में करते हैं। फलत: गांव में भी आधुनिकता का संदेश प्रसारित होता है, तथा नगरीय जीवन की विशेषताएं दिखाई पड़ने लगती हैं गोल्ड तथा गोल्ब का ऐसा मत है कि ''नागरीय जीवन सम्बन्धी व्यवहार का ग्रामीण जीवन कर प्रसार हो जाने का नाम ही नगरीकरण है'' डेविस के अनुसार नगरीय करण एक निश्चित प्रक्रिया है, परिवर्तन का वह चक्र है जिससे कोई समाज कृषक से औद्योगिक में परिवतर्तित होता है। नेल्स एन्डरसन का ऐसा मत है कि ''नगरीकरण का अर्थ लोगों का ग्रामीण क्षेत्र से शहरी निवास के क्षेत्रों की ओर जाना है, जो कृषि के स्थान पर अकृषि के कार्यो को अपनाते हैं इस प्रभाव के कारण नगर में जाए बिनाही वे अपने विचारों एवं व्यवहारों में नगरीय हो सकते हैं। इस प्रकार नगरीकरण एक जीवन विधि हैंजिसका प्रसार नगर से बाहर की ओर होता है। '' फयरचाइल्ड के अनुसार ''नगरीकरण का अर्थ नगरीय बनाने की प्रक्रिया से है'' ब्रीज ने इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए यह कहा कि ''नगरीकरण एक प्रक्रिया है जिसके कारण लोग नगरीय कहलाने लगते हैं शहरों में रहने लगते हैं कृषि के स्थान पर अन्य व्यवसाय को अपनाते हैं जो नगर में उपलब्ध होते हैं और अपने व्यवसाय प्रतिमानों में अपेक्षाकृत परिवर्तन आते हैं।

अत: स्पष्ट है कि ग्रामीण अचल के लोगों को नगरीकरण के द्वारा आकर्षित कियाजाता है नगरों में उपलब्ध सुविधायें ही नगरीकरण की प्रक्रिया में अपना योगदान देती है, यही नहीं आज के युग में मानव जीवन में बढ़ता हुआ भौतिक वाद, अच्छे जीवन की चाह और उसकी राह भी नगरीकरण को तीव्र गति से प्रभावित करती है जिसके कारण छोटे नगरों का बड़े नगरों में तीव्र गति से विकास होना स्वाभाविक है।

18.2.2 औद्योगीकरण का अर्थ -

साधारण बोलचाल में औद्योगीकरण का अर्थ उद्योगों में बढ़ते हुए मशीनों के प्रयोग में वृद्धि से लगाया जाता हैं। वास्तव में औद्योगीकरण एक प्रक्रिया है जिसमें छोटे उद्योगों के स्थान पर उत्पादन में वृद्धि करने के लिए बड़ी बड़ी मशीनों का प्रयोग किया जाता है जिसका उद्देश्य उत्पादन में गुणात्मक और परिमाणात्मक परिवर्तन लाना है। दूसरे शब्दों में उत्पादन के क्षेत्र में लगी और विकसित हुई इस प्रक्रिया को औद्योगीकरण कहते हैं। इसकी अपनी कुछ विशेषताएं हैं जैसे - औद्योगीकरण की दशा में उत्पादन की मात्रा मशीनो के माध्यम से सम्पन्न होता है, उद्योगों का विशाल स्वरूप प्रौद्योगिकी से प्रभावित होने के कारण विशेषीकरण और श्रमविभाजन पर जोर देता है, उत्पादन का मूल उद्देश्य अधिकाधिक लाभार्जन करना है, औद्योगिक केन्द्रों पर कार्य करने वाले श्रमिकों पर उनके पारिश्रमिक के रूप में वेतन का भुगतान होना है, इस प्रक्रिया में उत्पादन को अधिकाधिक रूप से गुणवत्ता की ओर ले जाया जाता है। अत: संक्षेप में औद्योगीकरण का आशय मशीनों द्वारा उत्पादन करने की प्रक्रिया को कहा जाता हैजिसमें श्रम विभाजन और विशेषीकरण प्रमुख होते हैं। इसमें उत्पादन के लिए शक्ति के साधनों का व्यापक और नियोजित ढंग से प्रयोग किया जाता है। क्लार्क के अनुसार ''औद्योगीकरण एक ऐसी दशा है जिसमें पहले कृषक या व्यापारिक समाज एक औद्योगिक समाज के रूप में बदलने लगता है'' एम. एस. गोरे ने औद्योगीकरण की प्रक्रिया की व्याख्या में कुछ आवश्यक तत्वों की ओर इशारा किया है उनके अनुसार औद्योगीकरण से अभिप्राय एक ऐसी प्रक्रिया से है जिसमें उत्पादन दस्तकारी के स्थान पर शक्ति चालित मशीनों से किया जाता है इस परिवर्तन के साथ साथ कृषि यातायात तथा संचार की तकनीकी में परिवर्तन घटित होता है, व्यापार एवम वित्त व्यवस्थ में भी परिवर्तन आते हैं।'' इन्होंने भी औद्योगीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट करने में तीन बातों का आधार माना है अर्थात अर्थ व्यवस्था का ध्रुवीकरण, व्यावसायिक विशेषीकरण की एक उत्तम सीमा तथा फैक्ट्री उत्पादन व्यवस्था का नातेदारी पर निर्भर न होकर व्यक्ति पर निर्भर होता है इनकी इस व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परम्परागत साधनों के स्थान पर मशीनों के माध्यम से उत्पादन क्षमता को बढ़ाने का नाम ही औद्योगीकरण है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि औद्योगीकरण उद्योगों की विशेषता और उनकी उपयोगिता के आधार पर उत्पादन की नयी प्रणाली को बड़ी बड़ी मशीनों के द्वारा करता है जिसमें विवेकीकरण की प्रक्रिया भी सम्मिलित होती है। अत: उद्योगों का बड़े पैमाने पर प्रसार ही औद्योगीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट करता है।

18.3 नगरीकरण और औद्योगीकरण एवं संयुक्त प्रक्रिया है

औद्योगीकरण और नगरीकरण में घनिष्ट सम्बन्ध है ऐसा देखा गया है कि जहां कहीं उद्योगों का विकास हुआ वहीं नगरों का भी विकास हुआ इसके पीछे एक महत्वपूर्ण कारण यह है

कि एक उद्योग की स्थापना विभिन्न प्रकार की आवश्कताओं और विशेषताओं को देखकर की जाती है जैसे - कच्चे माल की उपलब्धता, श्रमिकों की पर्याप्त मात्रा में पाया जाना, बिजली की सुविधा, यातायात व संदेशवाहन की सुगमता आदि । इन आवश्यकताओं की पूर्ति अनेक श्रोतों तथा एजेन्सियों के द्वारा होती है और यही परिस्थिति नगरों की उत्पत्ति में अपना योगदान देती है। अत: स्पष्ट है कि दोनों की प्रवृत्ति संयुक्त है किसी समाज पर इनके प्रभावों का आकलन तभी हो सकता है जब इनके स्वभाव और प्रकृति की व्याख्या हो। इस स्थल पर यह कहना प्रासंगिक होगा कि जब कभी किसी समाज में औद्योगीकरण बढ़ता है तो उसे परिणाम स्वरूप नगरीकरण की प्रवृत्ति को भी बढ़ावा मिलता है। इसके विपरीत नगरीकरण भी औद्योगीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करती है। अर्थात दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। बड़े बड़े उद्योगों में जन शक्ति की आवश्यकता होती है उसकी आपूर्ति तो नगरों के माध्यम से ही सम्भव होती है। इसके विपरीत नगरीकरण भी औद्योगीकरण भी नगरीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन देता है । टाटानगर और भिलाई नगर आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। अत: यह एक मिली जुली प्रक्रिया है।

उक्त प्रक्रिया को एक अन्य उदाहरण के द्वारा और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है जैसे संयुक्त परिवार और जाति प्रथा में जो परिवर्तन औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप होते हैं वही परिणाम नगरीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से भी देखे जाते हैं इसी प्रकार संयुक्त परिवार का विघटन केवल इस कारण नहीं होता कि व्यक्ति अच्छी आय की लालसा से गांव से भागकर औद्योगिक केन्द्रों पर आ रहे हैं। इसका एक कारण यह भी है कि बड़े बड़े औद्योगिक केन्द्रों की विभिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से आने वाले लोगों के संपर्क के परिणाम स्वरूप उनमें वैचारिक बदलाव आता है अर्थात इनमें बदलावों को जन्म देने वाली नगरीकरण और औद्योगीकरण की प्रक्रिया किसी न किसी रूप में अपना प्रभाव डालती है। यही बात जाति प्रथा में घटित होने वाले परिवर्तनों पर भी लागू होती है। अर्थात जातिपात के बन्धनों को शिथिल करना इन दोनों प्रक्रियाओं की अपनी महत्वपूर्ण विशेषता है। अर्थात वे खान पान सम्बन्धी परम्परागत नियमों को तोड़ देते हैं। अत: स्पष्ट है कि इन दोनों प्रक्रियाओं ने परम्परागत बन्धनों को शिथिल कर विचारों में परिवर्तन लाकर अपनी महती भूमिका समाज में अदा की है। ऐसी स्थिति में समाज के विभिन्न पक्षों पर इनके पड़ने वाले प्रभावों को देखना ही अधिक व्यवहारिक और तर्क संगत होना।

इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय हैं कि इन दोनों ने अपनी सम्मिलित प्रक्रियाओं से सामाजिक कुरीतियों पर भी कुठाराघात किया है अर्थात बदले सामाजिक परिवेश में बाल विवाह का विरोध विधवा विवाह की पक्षधरी पर्दा प्रथा का अन्त आदि इनकी विशेषता है जाति पात की विचारधारा खान पान के आधारों पर प्राय: लुप्त होती है। नवीन विचारों के उद्‌गम में कर्मकाण्डों और धार्मिक अनुष्ठानों पर अधिक जोर न देकर उनको गौड़ स्थान प्रदान किया व्यवसायिक भेदभाव भी समाप्त हो रहे हैं अर्थात उनका आधार जाति व्यवस्था न होकर खुली व्यवस्था है यही कारण है कि आज शुक्ला जलपान गृह, मिश्रा भोजनालय

के नाम से प्रतिष्ठान दिखाई पड़ते हैं। जो यह स्पष्ट करता है कि व्यवसाय का चुनना एक खुले समाज की देन है जिस पद पर परम्परागत प्रतिबन्धों का दबाव नहीं है।

18.4 भारत में नगरीकरण का प्रभाव

भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया सामाजिक दृष्टिकोण से संरचनात्मक परिवर्तन का द्योतक है। प्राचीन अथवा मध्यकालीन नगरों की आधुनिक नगरों से तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है कि आज के नगरीय जीवन विधि और समाज व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन हुये हैं। पूर्व जीवन प्रणाली में कठोरता और परिवर्तन विरोधी दृष्टिकोण का बाहुल्य रहा है। सामाजिक संरचना में संस्तरणात्मक प्रवृत्ति बन्द रही है परम्परागत जीवन का बोलबाला रहा है उसी के अनुसार उसका प्रसार भी होता रहा है किन्तु जो परिवर्तन हुये वे पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने के कारण भी हुआ । नगरों के उत्तरोत्तर विकास में औद्योगीकरण ने भी अपनी भूमिका अदा की । इस प्रकार नगरों ने अपना विकसित और विकराल रूप धारण किया तथा अपने प्रभावों को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से समाज के विभिन्न पक्षों पर डाला इसकी प्रतिक्रिया आज के वर्तमान समाज में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। दूसरे शब्दों में इन प्रभावों को सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक पक्षों में देखा व समझा जा सकता है।

18.4.1 सामाजिक जीवन पर प्रभाव

भारतीय सामाजिक जीवन को नगरीकरण की प्रबल प्रक्रिया ने एक बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है। अत: सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से इसकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है उदाहरण के लिए इसमें समाज की संस्थाओं और मानवीय सोच पर अत्यधिक प्रभाव डाला है। परिवारों के परम्परागत कार्य भी तेजी से बदले हैं संयुक्त परिवार के स्वरूप को नकारा गया है। मनुष्य ने भी आत्मकेन्द्रित विचारों को जन्म दिया है। यह सब इस कारण घटित हुआ कि व्यक्ति को नगरीय संस्कृति में घुलने मिलने का अवसर मिला, वह उसके लिये एक नया अनुभव था। इस तरह बदले परिवेश में वह अपने को न रोक सका तथा परिवर्तन के प्रवाह में बहने लगा। अत: प्रश्न है कि सामाजिक जीवन के वे प्रमुख और महत्वपूर्ण पक्ष कौन हैं जिन पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ा और एक नई सामाजिक सोच का जन्म हुआ। वे निम्नवत हैं=

(अ) संयुक्त परिवार का विघटन :

नगरीकरण की जानी पहचानी संस्कृति में घुलने मिलने के कारण व्यक्ति में परिवर्तन आया और वह यह मानने लगा कि एकाकी परिवार की अपनी उपयोगिता है। अर्थात वह यह सोचने लगा कि अपने द्वारा अर्जित आय को अपने तथा अपने परिवार के सदस्यों पर व्यय करना ही ठीक होगा। उसने यह भी देखा कि नगरीय जीवन में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति आयु पर निर्धारित न होकर उसकी आय पर निर्धारित होती है। जितना अधिक धन का उपार्जन होगा उतना ही उसका जीवन स्तर ऊँचा उठेगा। समाज में उसकी प्रतिष्ठा की वृद्धि

होगी अत: उसने संयुक्त परिवार की मूल भावना को नकारना ही ठीक समझा जो अपने में एक बहुत बड़ा बदलाव था। पढ़ी लिखी स्त्रियों में भी वैचारिक अंकुर देखे गये। उन्होंने संयुक्त परिवार में न रहना पसन्द कर एकाकी परिवार को प्रोत्साहन दिया। इसके साथ ही साथ नगरों में मकानों की कमी तथा छोटे होने की दशाओं ने भी संयुक्त परिवार की दशा को हतोत्साहित करने में बड़ा योगदान दिया। इस सन्दर्भ में यह कहना भी समीचीन होगा कि नगरीयकरण की प्रक्रिया ने लोगों के मध्य प्रतिस्पर्धा आगे बढ़ने की चाह तथा जीवन स्तर को ऊँचा करने जैसी भावनाओं को विकसित किया। जो अपने में एक महत्वपूर्ण घटना है।

(ब) परिवार के कार्यों का हस्तान्तरण

नगरीय जीवन में परिवार के कार्यों पर भी धीरे धीरे प्रभाव पड़ा। परिवार के परम्परागत कार्यों का महत्व समाप्त हुआ। नगरीय संस्कृति ने परिवार की स्त्रियां की भी काम करने के लिए प्रेरित किया। इसके पीछे आमदनी को बढ़ा कर जीवन स्तर को ऊँचा उठाना था अत: स्पष्ट है स्त्रियों को घर के बाहर काम पर जाना और उसे अधिक महत्व देना समयाभाव से ग्रसित होना आदि आदि ऐसे अनेक कारण उभरकर सामने आये जिन्होंने परम्परागत कार्यों को गौढ़ स्थान प्रदान किया। पारिवारिक दायित्व की अवहेलना की फलत: पारिवारिक विघटन औरव्यक्तिगत विघटन आदि आदि घटनाओं को भी देखा जाने लगा। अत: स्पष्ट है कि बदली हुई सामाजिक स्थिति ने जीवन स्तर में सुधार तो किया। खुले दृष्टिकोण को जन्म दिया, मगर इस तथ्य को नहीं नकारा जा सकता है कि उसने परिवार के संगठित स्वरूप में बिखराव का बढ़ा दिया।

(स) परिवार में नये आदर्शों और मूल्यों को प्रोत्साहन

नगरीय मनोवृत्ति को भी जन्म देने का श्रेय नगरीकरण को प्रक्रिया को प्राप्त है। व्यवहारिक रूप से प्रस्थापित आदर्शों और मूल्यों में गिरावट और उनमें संकट पारिवारिक स्तर पर दिखाई पड़ने लगा। उदाहरण के लिए व्यक्तिवाद की भावना के कारण नगरीय व्यक्ति अपने परिवारों के हितों को ध्यान में रखकर उसे वरीयता देने लगा उसके सोचने का दायरा भी और अधिक संकुचित हुआ। परिवार के सदस्यों के बीच निष्ठा त्याग स्नेह और सहानुभूति जैसे मानवीय मूल्यों का ह्रास हुआ वैचारिक परिवर्तनों के कारण प्रेम और विलम्ब विवाह तथा विवाह विच्छेद जैसे नये विचार आदर्श के रूप में प्रकट हुये और समाज में पनपने लगे। तथाकथित आधुनिकता भी पारिवारिक जीवन को प्रभावित करने लगी। इस प्रकार नये मूल्यों के आर्विभाव ने असंन्तुलन की प्रक्रिया को जन्म दिया।

(द) पारिवारिक नियंत्रण में गिरावट

वास्तव में पारिवार और संयुक्त परिवार अपने सदस्यों पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए महत्वपूर्ण संस्थाओं के रूप में जाने जाते हैं लेकिन नगरीय जीवन में स्वच्छन्दता का वातावरण देकर मनुष्य को अपरिचित संसार में खो जाने की सुविधा प्रदान की। इसका प्रभाव परिवार में सदस्यों के ऊपर नियंत्रण की कमी के रूप में उभर कर सामने आया है। इसके अतिरिक्त पारिवारिक प्रथायें और परम्परायें स्थान खो बैठी, उनके स्थान पर नई नगरीय

परम्परायें और प्रथाओं का विकास हुआ है जिन्होंने परिवार के परम्परागत नियन्त्रण को ढीला कर दिया है यह भी देखने में आया है कि व्यक्ति का परिवारों पर निर्भरता नगरीय जीवन पद्धति में घटी है क्योंकि आज का मानव स्वतन्त्र होकर जीना चाहता है अर्थात नियन्त्रण को नकारता है। निरन्तर बढ़ती हुई उपभोक्ता वादी नगरीय संस्कृति भी आग में घी डालने का काम कर रही है।

18.4.2 आर्थिक जीवन पर प्रभाव

नगरीयकरण की प्रक्रिया ने समाज के आर्थिक पक्ष को भी एक बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है जिसके कारण आर्थिक गतिविधियां नगरीय समाज में स्पष्ट रूप से बढ़ती हुई दिखाई पड़ रही हैं। जैसे - नगरीय व्यक्ति की दिन प्रतिदिन की आवश्यकताओं और आकाक्षाओं में वृद्धि हुई निरन्तर बढ़ती हुई आर्थिक प्रतिस्पर्धा का प्रभाव समाज के विभिन्न पक्षों पर दिखाई पड़ रहा है अत: मानव के आर्थिक जीवन में आमूल चूल परिवर्तन घटित हो रहे हैं जो निम्नवत हैं।

(अ) आर्थिक प्रतियोगिता को जन्म देना

वर्तमान युग की प्रमुख देन आर्थिक प्रतिस्पर्धा है। नगरों में नये नये व्यवसायिक केन्द्र की स्थापना के द्वारा उत्पादक का मूल्य घटाना तथा गुणात्मक परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है। यही नहीं ग्राहकों का ध्यान निरन्तर रखने के लिये उनकी आवश्यकताओं को पहचाना जा रहा है तथा उनके ध्यान को आकर्षित करने के लिए प्रचार के नये नये साधन व्यवहार में लाये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त कुद नये उपाय भी देखे जा रहे हैं जैसे - इनामी योजनाओं को चलाना, मीडिया की भूमिका को स्वीकार करना आदि है। जिनका मूल उद्देश्य बिक्री को प्रोत्साहित करना है। इस प्रकार की मानसिकता ने प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहित किया। उसका वह एक स्वाभाविक पक्ष भी है।

(ब) आर्थिक असमानता

नगरीकरण की प्रक्रिया ने जहाँ विविध क्षेत्रों में कुछ उत्वाहित प्रभाव डाले हैं वहीं पर ऐसा देखने में आया है कि आर्थिक असमानता की वृद्धि हुई है। उसका मूल कारण पूँजी की व्यवस्था है। समाज का ऐसा वर्ग है जो आर्थिक रूप से सम्पन्न है व बड़े बड़े प्रतिष्ठानों की स्थापना करने में सक्षम हैं। इसके विपरीत वह वर्ग जो इससे वंचित है पूंजी नहीं लगा सकता है वह छोटे उद्योग धन्धों को अपनाकर ही संतोष प्राप्त करता है इस प्रकार की विषमता नगरीय परिस्थिति की प्रत्यक्ष देन है।

(स) बेरोजगारी की समस्या

गांव से शहर की ओर भागने की प्रवृत्ति ने नगरों में भीड़ बढ़ायी है इस प्रकार से जाने वाले सभी लोगों को रोजगार चाहिए जो सम्भव नहीं है। जो अपने में एक महती समस्या है। इसके अतिरिक्त नगरों में शिक्षित बेरोजगारी का एक बड़ा अनुपात भी देखा जा रहा है नगरों में नौकरियों की सुविधा होने के कारण येन केन प्रकारेण नगर में ही रहना चाहता है।

विशेषकर ग्रामीण युवा वर्ग गांव को लौट कर नहीं जाना चाहता है इसका मुख्य कारण यह है कि परम्परागत व्यवसाय से उसका मोह भंग हो चुका है।

इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि नगरों ने आर्थिक शोषण की प्रक्रिया को रोकने के लिए उत्पादक को उसका सही मूल्य दिलाने के नियत से मंडी परिषद की स्थापना की गयी है इसका एक अच्छा प्रभाव आर्थिक जगत पर देखा जा रहा है।

18.4.3 सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव

नगरीकरण की प्रक्रिया ने समाज के परम्परागत मूल्य और प्रतिमान तेजी से बदले । उनके स्थान पर नयी प्रतिमानों का जन्म हुआ। आधुनिक मानव परम्परागत मूल्य में कोई प्रासंगिकता नहीं देखता। नयी विचारधारा, आधुनिकीकरण का संदेश पश्चिमीकरण तथा नवोदित भूमण्डलीय करण की अवधारणा नगरीय जीवन पद्धति की नयी परिभाषा कर रहा है। संस्कृति के प्रसार और समागम ने मानव को नये प्रतिमान खोजने के लिए प्रेषित कर दिया है सदभावना, परोपकार, त्याग, दुख और सुख में सहभागिता करने के प्राचीन मूल्य तथा विचारधारायें का कोई अर्थ नहीं है, जिसकी अपनी भौतिक विशेषताएं हैं।

18.5 भारतीय समाज पर औद्योगीकरण का प्रभाव

औद्योगीकरण का स्पष्ट प्रभाव केवल नगरीय जीवन पर ही नहीं पड़ा वरन उसने ग्रामीण जीवन पद्धति को एक बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है। उसकी सबसे बड़ी भूमिका यह रही कि उसने लोगों में काम की तलाश में गाँव से औद्योगिक केन्द्रों की ओर जाने का स्थान बढ़ाया है। यहाँ पर आये लोगों ने संस्कृति के कुछ नये तत्वों को ग्रहण किया है जो उनकी संस्कृति से पूर्णत: भिन्न है अत: इनके परम्परागत मूल्य में परिवर्तन हुआ है जीविका उपार्जन के परम्परागत श्रोत जैसे लघु उद्योग धन्धे, तथा कुटीर उद्योगों का ह्रास हुआ। इस प्रकार औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने समाज पर नकारात्मक व समारात्मक प्रभाव डाले। अत: उनके प्रभावों को सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पक्षों पर देखना समीचीन होगा।

18.5.1 सामाजिक जीवन पर प्रभाव

औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने भारत के सामाजिक जीवन पर क्रान्तिकारी प्रभाव डाले हैं औद्योगिक केन्द्रों पर वैचारिक परिवर्तन और औद्योगिक झगड़ों का जन्म हुआ हैजिसके कारण मानव जीवन में बदलाव आया है। और उसका स्पष्ट प्रभाव सामाजिक संरचना पर पड़ा है अत: प्रश्न है कि सामाजिक जीवन के कौन से पक्ष हैं जिन पर इसका नकारात्मक तथा सकारात्मक प्रभाव पड़े हैं।

(अ) वैचारिक परिवर्तन

औद्योगिक नगरों में विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में आने के कारण व्यक्तियों में घोर व्यक्तिवादिता की प्रधानता हुई है सांस्कृतिक मेल विलाप ने वैचारिक परिवर्तन के आधार पर

प्रेम व विलम्ब विवाह को प्रोत्साहन दिया है। प्राचीन प्रथाओं और परम्पराओं का विरोध होने लगा है वाह्य आडम्बरों के कारण पारम्परिक विचार भी कमजोर हुये हैं, जीवन के प्रति एक नयी चेतना का संचार हुआ है मनुष्य का अब यह सोचना कि उसकी सामाजिक स्थिति जन्म से निर्धारित न होकर उसके कार्यों के आधार पर आंकी जाती है। अर्थात जितना बढ़ा कार्य उसके पास होगा उतनी ही बढ़ी सामाजिक स्थिति होगी। इस प्रकार के नये विचारों का मानव के सामाजिक जीवन में बोलबाला हो रहा है।

(ब) औद्योगिक झगड़ों का जन्म

बढ़ते हुये औद्योगीकरण ने मिल मालिक और श्रमिकों के बीच औद्योगिक झगड़ों को प्रोत्साहित किया है। उदाहरण के लिए मिल मालिक कम पैसा देकर अधिक लाभ कमाना चाहता है। जबकि श्रमिक वर्ग अपने कार्य के घण्टों के अनुसार भुगतान की आशा करता है। इस तरह दोनों में विवाद का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति प्राय: सभी औद्योगिक केन्द्रों पर देखी जाती है। तालाबन्दी, काम रोको, नारे बाजी, अनशन, हड़ताल आदि आदि के उपायों का सहारा लिया जाता है। इसमें श्रमिक संगठनों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है इसके अतिरिक्त औद्योगिक केन्द्रों ने कुछ अपने स्तर से भी समस्याओं को जन्म दिया है जैसे - असुरक्षा की भावना तथा कार्य करने की खराब दशायें आदि हैं।

(स) औद्योगीकरण एवं गन्दी बस्तियाँ

औद्योगिक केन्द्रों पर आवास की समस्या के कारण या बहुत छोटे होने के कारण श्रमिकों को एकाकी परिवार में रहना पड़ता है। इसने भी अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। मजदूर अपने परिवार की नहीं जा पाते हैं जिसके कारण पारिवारिक समस्याओं को जन्म मिलता है। जिनमें पारिवारिक विघटन प्रधान और मुख्य है इसके अतिरिक्त गन्दी बस्तियों में रहने के कारण जिनमें हवा और रोशनी का विशेष अभाव रहता है जिनके कारण श्रमिकों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है और वे भयंकर रोगों से ग्रसित होते देखे गये हैं। रहने के स्थान में गोपनीयता न होने के कारण अनैतिकता जैसी समस्याओं को प्रोत्साहन मिलता है। मध्यपान और जुआखोरी आदि आदि की समस्याओं ने भी श्रमिक जीवन में बिखराव को बढ़ाया है। व्यक्तिगत विघटन तथा आत्महत्या जैसी समस्याओं ने अपना सर ऊपर उठाया है अत: यह स्पष्ट है कि औद्योगिक गन्दी बस्तियों में स्थानाभाव के कारण श्रमिक अपने परिवार को पैतृक आवास पर छोड़ कर आते हैं जिसके कारण पारिवारिक नियन्त्रण में शिथिलता आती हैं यही कारण है कि इन समस्याओं के कारण पारिवारिक विघटन जैसी समस्याओं को प्रोत्साहन मिलता है।

18.5.2 आर्थिक जीवन पर प्रभाव

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि औद्योगीकरण की वृद्धि ने श्रमिकों के जीवन स्तर में परिवर्तन लाकर उनके दिन प्रतिदिन बढ़ती आवश्यकताओं को पूरा करने में बड़ी सहायता की है। औद्योगिक केन्द्रों पर लोगों को कार्य मिला है। तथा अन्य लोगों के सम्पर्क में आने के कारण

उनमें आगे बढ़ने की चाहत तथा व्यवसायिक गतिशीलता को प्रोत्साहन मिला है। इस चाहत के परिणाम स्वरूप ग्रामीण उद्योग धन्धों का विनास हुआ है। इसके अतिरिक्त आर्थिक क्षेत्र में कुछ अन्य कठिन समस्याओं का भी जन्म हुआ है जिनका मानव जीवन पर दूरगामी प्रभाव पड़ता है जैसे मशीनों द्वारा बड़ी मात्रा में उत्पादन, मजदूरों की छटनी, नयी मशीनों को लगाना आदि आदि ने श्रमिकों में बेरोजगारी की समस्याओं को भी जन्म दिया है। और उनकी आर्थिक स्थिति अस्त व्यस्त हुई है।

(अ) बेरोजगारी की वृद्धि

वैसे तो औद्योगीकरण के कारण रोजगार के अवसरों में काफी वृद्धि होती है लेकिन भारत के सन्दर्भ में यह बेकारी उत्पन्न करने में एक प्रमुख कारण रहा है। उदाहरण के लिए हजारों लोगों के परिवार जो भारतीय उद्योग धन्धों में कार्य करते थे बड़ी बड़ी उद्योगों के कारण बेरोजगार हो गये। यद्यपि इन केन्द्रों पर कुछ लोगों को कार्य करने का अवसर तो मिला मगर यह बेरोजगारी के अनुपात में बहुत कम था। जिसके कारण इनका जीवन स्तर नीचे गिरा। कुछ दशाओं में तो कर्ज लेने की आदत भी बढ़ी है। जिसके कारण उनके जीवन में अनेक समस्याओं का समावेश हुआ है।

(ब) आर्थिक असमानता को बढ़ावा

औद्योगीकरण ने जहाँ कुछ अच्छे प्रभाव डाले वहां उसने समाज के विभिन्न वर्गों के बीच आर्थिक असमानता को बढ़ाया है। उदाहरण के लिए उत्पादन की शक्ति पर अधिकार रखने वाला वर्ग करोड़ों रूपयों का लाभ उठाते हैं। जबकि दूसरी तरफ श्रमिक जो कि इससे वंचित होकर अपने श्रम को बेचकर जीवन यापन करता है बड़ी मुश्किल से जीवन की न्यूनतम आवश्कताओं को पूरा करता है कभी कभी ऐसा भी होता है कि वे अपने आर्थिक संकटों से निपटने के लिए कर्ज का सहारा लेते हैं जो उनके जीवन में अभिशाप सिद्ध होता है। लम्बे समय तक कर्जदार बने रहते हैं जिसका एक बुरा प्रभाव उनकी आर्थिक स्थिति पर पड़ता है।

(स) औद्योगिक मतभेदों को प्रोत्साहन

औद्योगीकरण ने समाज को पूंजीपति और श्रमिक जैसे दो वर्गों में बाँट दिया है पूंजीपति दो वर्ग है जो औद्योगिक प्रतिष्ठानों का मालिक है तथा आर्थिक सम्पन्नता उसी विशेषता है। इन उद्योगों का संचालन उसके हाथ में रहता है जबकि समाज का दूसरा वर्ग वह है जो आर्थिक रूप से पिछड़ा है जिसकी आर्थिक विपन्नता अपनी विशेषता है उसके सामने मात्र एक विकल्प होता है कि वो अपने श्रम को बेचकर अपने श्रम को बेचकर अपने तथा परिवार के लिये जीविकोपार्जन करें। पूंजीपतियों को लगातार यह प्रयास रहता है कि श्रमिकों की मेहनत को अनदेखा कर अधिक से अधिक लाभ कमायें। जबकि दूसरी तरफ श्रमिक अपनी मेहनत के बदले में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने की लालसा रखते हैं उद्योग में लाभ हानि से उनका कोई सरोकार नहीं होता। स्पष्ट है यह विरोधी धारणायें आपस में मतभेद उत्पन्न कर तालमेंल में बाधा डालते हैं जिसके कारण उद्योगों में झगडो की शुरूआत होती है

तालाबन्दी, हड़ताल, नारेबाजी तथा आंशिक हड़तालों का सहारा मजदूरों को लेना पड़ता है। यहां तक कि कभी कभी संघर्ष ने हिंसा का रूप भी धारण किया है ऐसी दशा में वर्ग संघर्ष के कारण श्रमिकों की आर्थिक दशा पर बड़े व्यापक प्रभाव पड़ते हैं।

(द) श्रम समस्याओं का जन्म

औद्योगीकरण की तीव्र प्रक्रिया ने इन केन्द्रों पर विभिन्न प्रकार की श्रमिक समस्याओं को जन्म दिया है। क्योंकि यहां कुछ ऐसी ही परिस्थिति बनती है जैसे श्रमिकों को असुरक्षित स्थानों पर काम करना पड़ता है उजाले की उचित व्यवस्था नहीं होती है कभी कभी तो अंधेरे में काम करना पड़ता है इसके अतिरिक्त मशीनो का गड़गड़ाना, दुर्घटनाओं का होना, मालिकों द्वारा छूट्टी न देना, कार्य के घण्टों को बढ़ाना, श्रमिकों के कल्याण कार्य की उपेक्षा करना, बाल श्रमिकों को उद्योग पर लगाना बढ़ाना, श्रमिकों के कल्याण कार्य की उपेक्षा करना, बाल श्रमिकों को उद्योग पर लगाना तथा उनका शोषण करना आदि आदि समस्यायें हैं जिनके कारण तमाम सी औद्योगिक बीमारियों जैसे - बहरापन, अपंगता, उत्पन्न होती है। गन्दी बस्तियों के कारण तपेदिक जैसी बीमारियों को बढ़ावा मिलता है। उल्लेखनीय हे इन समस्याओं से निजात पाने के लिये सरकारी प्रयास सामाजिक विधायकों द्वारा किये गये हैं लेकिन इनका कोई समुचित प्रभाव नहीं पड़ा है उसका मूल कारण यह है कि सच्चे मन और ईमानदारी से न तो उनका पालन हुआ और न वे औद्योगिक समाज में लागू हो पाये हैं।

18.5.3 सांस्कृतिक प्रभाव

औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने जहां सामाजिक और आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र पर प्रभाव डाले हैं वहीं पर उसकी छाप समाज की संस्कृति पर पड़ती देखा है जिसे सांस्कृतिक प्रभाव के रूप में समझा जाता है। जिसके कारण औद्योगिक समाज की संस्कृति में कुछ विचित्रतायें दृष्टिगत होती है।

(अ) धार्मिक भावनाओं का ह्रास

औद्योगिक केन्द्रों पर विभिन्न मतों और धर्मों से आने वाले लोगों के साथ मेल जोल होने पर श्रमिकों ने धार्मिक भावनाओं का ह्रास देखा जाता है। इसका एक मात्र कारण ये हैं कि एक श्रमिक संस्कृति की कुछ विशेषताओं को स्वीकार करता है, परिणाम स्वरूप उसके मानस पर प्रभाव पड़ता है, वह अपने आचार विचार, मान्यताओं, भावनाओं और विश्वासों को बदलने लगता है। जिसका प्रत्यक्ष और स्पष्ट प्रभाव उसकी धार्मिक भावनाओं पर दृष्टिगोचर होता है। संक्षेप में यह बदले हुये सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश के परिणामस्वरूप घटित होता है।

(ब) भौतिक मूल्यों की वृद्धि

श्रमिकों का वाह्य जगत से सम्पर्क होने के कारण भौतिक मूल्य उसे प्रभावित करते हैं। उसकी संस्कृति में बदलाव आने लगता है। और वह भी इच्छा करता है कि वह दूसरों की तरह ठाठ बाठ से रहे और उसका भौतिक सुख प्राप्त करे स्पष्ट है कि उसका यह वैचारिक

बदलाव उसके आस पास फैले हुये सांस्कृतिक माहौल के परिणाम स्वरूप है वह उससे अनुकूलन करना चाहता है। फलत: उसमें अपनी संस्कृति के प्रति अरूचि उत्पन्न होती है कालान्तर में उसकी संस्कृति की पहचान में संकट उत्पन्न होता है इस अलगाव के कारण वह अपनी संस्कृति की विशुद्धता पर सन्देह करने लगता है।

(स) बनावटी जीवन में विश्वास

जीवन की सरलता और कोमलता का ह्रास करना औद्योगिक जगत की अपनी पहचान है विभिन्न संस्कृतियों से आने वाले व्यक्तियों के सम्पर्क में मनुष्य की लालसा में बेतहासा वृद्धि होती है। और वह अपने जीवन में उन्हीं प्रतिमानों को उतारता है जिससे वह आधुनिक दिखें। कर्ज लेकर चीजों को इकट्ठा करना चाहता है दूसरों की संस्कृति के साथ प्रतिस्पर्धा करता है और दिखावे को प्रोत्साहन देकर बनावटी जीवन में विश्वास करता है जिसका परिणाम यह होता है कि वह प्रकृति से दूर जाता है संकटों में गोते लगाता है उचित और अनुचित के मध्य रेखा खीचने में असफल होता है यह सब इस कारण घटित होता है कि श्रमिक अपने जीवन में बनावटी विश्वासों को सृजित करता है।

18.6 सारांश

औद्योगिक क्रान्ति ने उद्योगों और प्राद्योगिकी की सहायता से वैज्ञानिक विकास की प्रक्रिया को एक दिशा प्रदान की है जिससे आगे चलकर एक औद्योगिक युग का सूत्रपात होता है। जिसका प्रभाव भारत पर भी पडा है अंग्रेजों ने अपने स्वतंत्रता के पश्चात एक नियोजित उद्योग नीति बनाई गई। ओर तब उद्योगों का विकास भारत में प्रारम्भ हुआ है भारत में बड़े बड़े उद्योग लगाये गये। परिणामस्वरूप बड़े बड़े नगरों का विकास हुआ लेकिन इनकी यह विशेषता रही कि दोनों प्रक्रियाओं अर्थात नगरीकरण और औद्योगीकरण ने भारतीय समाज को भरपूर प्रभावित किया। संक्षेप में यह दोनों प्रक्रिया एक साथ चली। अत: इनकों दोहरी प्रक्रिया के रूप में माना जाता है। जिनके कारण सामाजिक और सांस्कृतिक भूचाल भारत में आया। नगरीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ग्रामीण क्षेत्र से लोग शहर की ओर भागने लगे। शहरों की तड़क भड़क उसका रंगीला जीवन अपनी ओर आकर्षित करने लगा। यही नहीं व्यवसायों की बहुलता अपरिचित संसार के खो जाने की सुविधा जीवन स्तर को अच्छा करने तथा भोतिकवादी दौड़ में सहभागिता करने वाली प्रवृत्तियों से वशीभूत होकर नगरीय संस्कृति को स्वीकारा है और नगरीयता को अपने जीवन में उतारा हैं।

कुछ ऐसी ही स्थिति औद्योगिक केन्द्रों पर भी देखी गयी है लोगों में रोजगार की लालसा, अच्छा जीवन स्तर, जीवन में आगे बढ़ने जैसी तमाम भावनाओं से वशीभूत होकर वह औद्योगिक केन्द्रों की ओर खिचा है और उसे वहां कार्य भी मिला किन्तु इतना सब होने के बावजूद भी वह मनचाहे फल को न प्राप्त कर सका है जिसका एक मात्र कारण आयोगों की अपनी विशेषताये थी। जिनका व्यक्ति के साथ अनुकूल नहीं हो सका फलस्वरूप मानव जीवन पर दूरगामी प्रभाव पड़ा । पारम्परिक संस्कृति का विनाश हुआ सामाजिकता के

प्रतिमान बदले। सम्पन्नता के स्थान पर विपन्नता का बोलबाला हुआ।

इतनी विभिन्नता और बिखराव के पश्चात भी नगरीकरण और औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने श्रमिक जीवन में कुछ आमूल चूल तथा सार्थक परिवर्तन न सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आधार पर घटित किये जिन्हें नकारा नहीं जा सकता इन्होंने मानव को बन्द दुनिया से खुली दुनिया में लाकर सोचने, समझने और बदलने का एक अनुपम अवसर प्रदान किया है औद्योगीकरण और नगरीकरण ने ऐसी सक्तियों को सम्बल दिया जिन्होंने सांस्कृतिक समागम की सुविधा प्रदान की है। उन्होंने समाज में व्यक्ति को तर्कशील होकर परिस्थिति का आकलन करने की क्षमता भी प्रदान की है। स्पष्ट है कि गुण दोष तो सबमें होते हैं किन्तु प्रश्न यह है कि वर्चस्व किसका है, किसने किसको कितना धारण किया है यह तो व्यक्ति की अपनी बुद्धिमता पर निर्भर करता है। जिसे भावी समाज स्वयं प्रमाणित करेगा।

18.7 सन्दर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

	पुस्तक का नाम	लेखक
1.	अर्बनाइजेशन इन न्यूली डेवलपिंग कन्ट्रीज	गेराल ब्रीज
2.	अर्बनाइजेशन आफ ह्यूमन पापुलेशन	के. डेविस
3.	डिक्शनरी आफ सोसल साइंसेज	गोल्ड एण्ड कोल्ड
4.	डिक्शनरी आफ सोशियालोजी	फेयर चाइल्ड
5.	अवर इन्डस्ट्रियल अरबन सिविलाइजेशन	एम. एण्डरशन
6.	रूरल सोशियालोजी इन इण्डिया	ए. आर. देशाई
7.	ऐन इण्डियन विलेज	एस. सी. दूबे

18.8 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. नगरीकरण के गुण और दोषों की विवेचना कीजिए।

2. नगरीकरण ने समाज के सांस्कृतिक जीवन पर अत्यधिक प्रभाव डाला है। विवेचना कीजिए ।

3. औद्योगीकरण की प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं स्पष्ट कीजिए

4. औद्योगीकरण ने समाज में आर्थिक प्रगति को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया है, इस कथन की समीक्षा कीजिए ।

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. नगरीकरण क्या है? उसके सामाजिक प्रभावों पर प्रकाश डालिए।

2. भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया को जन्म देने वाले कारकों की विवेचना कीजिए।

3. औद्योगीकरण ने भारतीय जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है? इस कथन की विवेचना कीजिए।

4. औद्योगीकरण एवं नगरीकरण एक संयुक्त प्रक्रिया है भारत के सन्दर्भ इसकी व्याख्या कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से औद्योगीकरण से उत्पन्न कौन सी समस्या है -

   अ) दुर्घटना में वृद्धि

   ब) मजदूर समस्यायें

   स) बेकारी

   द) उपर्युक्त सभी

2. निम्नलिखित में से औद्योगीकरण की विशेषता नहीं है -

   अ) उत्पादन में मशीनों का प्रयोग

   ब) कुटीर व्यवसाय में वृद्धि

   स) जनशक्ति का प्रयोग

   द) मजदूरों की सहभागिता

3. निम्नलिखित में से नगरीकरण का सामाजिक जीवन पर कौन सा सकारात्मक प्रभाव नहीं है।

   अ) अर्न्तजातीय विवाह

   ब) द्वितीयत सम्बन्धी की वृद्धि

   स) स्त्री पुरूष समानता में वृद्धि

   द) श्रम विभाजन का विशेषीकरण

4. ग्रामीण क्षेत्रों को नगरीय क्षेत्रों में परिवर्तन होने की प्रक्रिया को नगरीरकण कहते हैं किसने कहा है ?

   अ) कोल्ड एण्ड कोल्व

   ब) एन. एण्डरसन

   स) बर्गल

   द) डेविस

18.9 प्रश्नोत्तर

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. द
2. ब
3. ब
4. स

इकाई 19 उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण के सामाजिक, सांस्कृतिक परिणाम

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 उदारीकरण का अर्थ

19.3 आर्थिक उदारीकरण की विशेषताएँ

19.4 आर्थिक उदारीकरण के विविध परिणाम

19.5 भूमण्डलीकरण की अवधारणा

19.6 भारत में भूमण्डलीकरण

19.7 भूमण्डलीकरण के सामाजिक परिणाम

19.8 भूमण्डलीकरण के सांस्कृतिक परिणाम

19.9 सारांश

19.10 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

19.11 प्रश्नोत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान सकेंगे :

* उदारीकरण का अर्थ क्या है?
* आर्थिक उदारीकरण का अर्थ एवं प्रतिफल
* सामाजिक उदारीकरण का अर्थ एवं प्रतिफल
* भूमण्डलीकरण का अर्थ
* समाजशास्त्र की कहानी भूमण्डलीकरण तक
* भूमण्डलीकरण के प्रभाव
* संस्कृति पर प्रभाव
* समाज पर प्रभाव

19.1 प्रस्तावना

पिछले लगभग डेढ़ दशक से उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण की आवाजें सुनाई पड़ने लगीं। इन धारणाओं पर अर्थशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने विमर्श प्रारम्भ कर दिया। आज इनका फैलाव सर्वव्यापी है। ऐसे में इन पर चिंतन-मंथन आवश्यक हो गया। इसी चिन्तन -मंथन की झलक इस इकाई में प्रस्तुत है।

19.2 उदारीकरण का अर्थ

उदारीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो लोगों और समाज को उदार बनाती है। यह पद दो शब्दों के योग से बना है उदार और कारण। उदार का अर्थ खुले मस्तिष्क का अथवा खुले दिमाग का है। खुले मस्तिष्क का वह व्यक्ति होता है जो अतिवादी अथवा अतिसंयमी नहीं होता अर्थात् अनुदार नहीं होता। जो व्यक्ति या समाज रूढ़िवादी होता है अथवा परिवर्तन रोधी होता है उसे अनुदार व्यक्ति/समाज की संज्ञा दी जाती है। उदार समाज वह होता है जो नमनशील अथवा माडरेट (संतुलित) होता है। ऐसा समाज न तो बहुत नरम होता है और न बहुत कठोर। अति कठोरता अथवा कट्टरता की स्थिति किसी भी समाज के लिए अवांछनीय है। वॉछनीय है उदारता अथवा नमनशीलता। उदारता बाह्य प्रभावों, विश्वासों, विचारों एवं व्यवहारों को ग्रहणशीलता को सुलभ बनाती है। करण का अर्थ है करना अथवा बनाना। उदारीकरण का सीधा अर्थ है उदार बनाना। उदारीकरण एक प्रक्रिया है जो व्यक्तियों एवं समाजों को उदार बनाती है। उदारीकरण के माध्य से नियंत्रणों एवं हस्तक्षेपों को शिथिल किया जाता है।

भारत में उदारीकरण की प्रक्रिया बहुत पहले से ही विद्यमान है। हमारे देश की कुछ विलक्षणताओं ने इसे उदार बनाया है। सर्वसमावेश की प्रवृत्ति एवं सहनशीलता ने इसे उदार बनाया है। भारत उदार समाज का एक अच्छा उदाहरण है। सेगल रोनाल्ड सहनशीलता को वह सामग्री मानते हैं। जिससे भारतीय चरित्र का निर्माण हुआ है (द क्राइसिस आव इंडिया, 1965)

19.3 आर्थिक उदारीकरण की विशेषताएँ

आर्थिक नीति के सन्दर्भ में उदारीकरण की चर्चा की जाती है और इसे परिणाम आर्थिक होते हैं। आर्थिक विकास में रोड़ा डालने वाले अनावश्यक नियंत्रणों अथवा हस्तक्षेपों को ढीला करने के लिए उदारीकरण की बात की जाती है आर्थिक विकास निर्बाध गति से होता रहे इस हेतु आर्थिक नीति को सरल एवं उदार बनाना पड़ता है। आर्थिक सन्दर्भ में उदारीकरण से अभिप्राय उद्योग अथवा व्यापार को अनावश्यक प्रतिबंधों से मुक्त करके अधिक प्रतियोगी बनाना है। व्यक्तियों को निजी आर्थिक निर्णय लेने की स्वतंत्रता आर्थिक उदारीकरण है जिसमें निम्न बातों का समावेश होना चाहिए।

* वस्तुओं एवं सेवाओं के आवागमन पर लगी रूकावटों एवं नियंत्रणों को हटाना।
* वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण उत्पादकों द्वारा होना।
* उत्पादों के वितरण पर किसी भी तरह की रोक का न लगाया जाना।
* निजी उपक्रम एवं पूँजी को बढ़ती मात्रा में निवेश के अवसर प्रदान करना।
* निजी उपक्रम एवं पूँजी पर लगी रूकावटों एवं नियंत्रणों को हटाना।

संक्षेप में उदारीकरण की व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक प्रणाली में सरकार की भूमिका क्रमश: कम होती जाती है जब कि मांग पूर्ति की बाजार शक्तियों की भूमिका अनुपात में बढ़ती जाती है।

18.4 आर्थिक उदारीकरण के विविध परिणाम

इसके परिणाम अधोलिखित हैं:-

* आयात-निर्यात में वृद्धि हुई है।
* कीमत स्तर में गिरावट की प्रवृत्ति रही है।
* विदेश विनिमय मुद्रा कोष (फारेन करेंसी रिजर्व्स) पर अनुकूल प्रभाव पड़ा है।
* विदेशी प्रत्यक्ष (फारेन डाइरेक्ट इनवेस्टमेंन्ट) में काफी वृद्धि हुई है।
* राजकोषीय घाटे (फिस्कल डेफिसिट) में कमी नहीं हो सकी है।
* बेरोजगारी में वृद्धि हुई है।
* घरेलू बचत तथा निवेश की दर में कमी आयी है।
* निर्धनता उन्मूलन में असफल रही है।

ध्यान रहे कि आर्थिक सुधारों का कोई कार्यक्रम (उदारीकरण कार्यक्रम) तब तक सफल नहीं होगा जब तक समाज के कमजोर वर्ग के लोगों के हितों की अनदेखी होती रहती है। उदारीकरण के आर्थिक लाभ भले ही थोड़ा सकारात्मक रहे हों पर सामाजिक लाभों की दिशा में इसका योगदान न के बराबर है। आर्थिक उदारीकरण की नीति से निर्धनता रेखा से नीचे रह रहे 26.1 करोड लोगों , खुली एवं प्रच्छन्न रोजगारी के शिकार 2.4 करोड़ लोगों, अशिक्षा एवं अज्ञानता के मकड़ जाल में फंसे 36 करोड़ लोगों, स्वच्छ एवं पेयजल को तरसते 25 करोड़ लोगों का उद्धार नहीं हो पाया है।

विविधता में एकता, समन्वयवादी प्रवृत्ति इसी के परिणाम हैं। अंग्रेजों के सामाजिक, सांस्कृतिक प्रभाव, मुस्लिम सामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव एवं पश्चिमी सामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव आदि इसी क्रिया के प्रतिफल हैं। पश्चिम के ज्ञानोदय कालीन तथा उसके बाद के प्रभाव इसी की देन है । पश्चिम के वैज्ञानिक ज्ञान एवं तार्किक विचारधाराओं को अपनाने की अनुमति उदारीकरण से ही प्राप्त हुई।

उदारीकरण का सबसे बड़ा प्रतिफल भूमण्डलीकरण है। कहते हैं कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। भूमण्डलीकरण का कारण उदारवाद है। भारत जैसा कि प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है। एक उदार चेता देश था और यहाँ का समाज एक **उदार समाज** था। अनुदारता अथवा कठोरता का समर्थन भारतीय समाज ने कभी नहीं किया। इसी उदारमना प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप भारत में भूमण्डलीकरण पल्लवित एवं पुष्पित हुआ।

19.5 भूमण्डलीकरण की अवधारणा

भूमण्डलीकरण पर 'द इकोनामिक न्यूज पेपर लिमिटेड द्वारा प्रकाशित पुस्तक (2001, पहला साउथ एशियन संस्करण 2002) में विद्वानों के लेखों का संग्रह है। इन लोगों के माध्यम से भूमण्डलीकरण की अच्छाइयों एवं बुराइयों को उजागर किया गया है। इस ग्रन्थ के परिचयात्मक विवरण में भूमण्डलीकरण के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। कुल तीन पहलुओं की चर्चा है।

सर्वप्रथम **भूमण्डलीकरण कोई नवीन धारणा नहीं है**। सहस्त्रों वर्ष पूर्व वस्तुएं, विचार एवं लोग भूमण्डल में सर्वत्र आते जाते रहे हैं। आधुनिक तकनीकी तंत्रके समूह विशेषकर इंटरनेट और ब्राडबैण्ड इंटरनेट - ने नवीन भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था की गति तेज कर दी है। ट्रेन और स्टीमशिप 19वीं शताब्दी से भूमण्डलीय आर्थिक एकीकरण के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। इनके आवागमन की लागत को उसी तरह घटा दिया है जैसे नूतन तकनीकी तंत्र ने संचार की लागतों को घटाया है।

द्वितीश, **भूमण्डलीकरण अच्छा है** । यह एक विवादास्पद धारणा है पूँजीवाद विरोधी कहते हैं कि भूमण्डलीकरण ने गरीब देशों की कीमत पर धनाढ्य देशों की सेवा की है। 11 सितम्बर को अमेरिका पर हुए आतंकवादी हमले से ऐसे आक्षेप (आलोचानाएं) और सुलभ हो गये हैं। लेकिन सत्य यह है कि आर्थिक एकीकरण से सबको लाभ हुआ हैं। इसमें कोई चौकाने वाली बात नहीं है कि व्यापार की कम बाधाओं आँर कम नियंत्रणों — याद रहे अधिक नहीं- द्वारा गरीब और अमीर देशों को समान लाभ होगा। पूँजीवादी विरोधियों के भूमण्डलीकरण के विषय में अन्य आक्षेप जैसे पर्यावरणीय विनाश और अमेरिकी सांस्कृतिक आधिपत्य भी सही नहीं हैं क्योंकि भूमण्डलीकरण का अर्थ पर्यावरणीय विनाश और अमेरिकी सांस्कृतिक आधिपत्य नहीं हैं।

तृतीय भूमण्डलीकरण अच्छा है पर यह **इतना सर्वव्यापी नहीं है, जितना लोग समझते हैं** । **मुद्रा और** वस्तुओं का बहाव उतनी आसानी से देश की सीमाओं के बाहर नहीं होता है जितनी आसानी से देश विशेष के अन्दर। आज की तुलना में उन्नीसवीं शताब्दी में भ्रम की गतिशीलता अधिक थी। इस बात का विस्तार, बताता है कि भूमण्डलीकरण की धारणा एक दुर्बल धारणा है। इसे बंद किया जा सकता है अथवा इसे उल्टा जा सकता है महान मंदी के समय यह हुआ और आगे भी हो सकता है।

19.6 भारत और भूमण्डलीकरण

वसुधैव कुटुम्बकम :

भूमण्डलीकरण एक विश्वव्यापीकरण की प्रक्रिया है । भारत में उदार मस्तिष्क की विशेषता ने बहुत पहले ''वसुधैव कुटुम्बकम'' की ज्ञान ज्योति जलाई थी जो सन् 1990 के बाद भूमण्डलीकरण के रूप में साकार हो उठी। आज भूमण्डलीकरण की चचाट जोरों पर है। इसकी चपेट में सभी देश और समाज आ रहे हैं। वसुधैव कुटुम्बकम की विचारधारा में दीवारों और सीमाओं का कोई बन्धन न था। यह देश की सीमाओं को लांघ जाने वाली विचारधारा थी और आज भी है। यह सार्वभौमिक भाई-चारे की विचारधारा थी। इसमें पूरे विश्व को अपना समझने की एक बलवती अभिलाषा थी। सबसे अच्छी बात तो यह है कि इसमें **गैर बराबरी और दासता की कहीं कोई महक न थी**। भारत में स्वतंत्रता एवं समानता के मूल्य सदा से उपस्थित रहे हैं। वसुधैव कुटुम्बकम के आदर्श में सर्व समावेश (आल् अकमोडेटिंग) की धारणा समाई हुई है। इसमें सबको अपना बना लेने और अपने में मिला लेने का प्रखर भाव मौजूद है। संक्षेप में, **भारत के दृष्टिकोण एवं सोच सदा से सर्वव्यापी थे**। अत: जब सर्वव्यापी करण (भूमण्डलीकरण) की उत्ताल तरंग डेंढ़ दशक पूर्व उठी तो चूँकि यह उत्ताल तरंग भारत के समाज से मेल खाती थी भारतवासियों ने इसे सहर्ष अपना लिया।

सहिष्णुता-

एक अन्य दृष्टिकोण अथवा प्रवृत्ति भारत में पहले से ही विद्यमान थी जिसके कारण भी भारत में भूमण्डलीकरण का स्वागत हुआ। इस दृष्टिकोण को सहिष्णुता के रूप में जाना जाता है।

सर्वकल्याण -

सर्वकल्याण की पूत भावना हमारे देश की महानता एवं विशाल हृदयता की परिचायक है यह भावना भी भूमण्डलीकरण को अपना लेने में हमें प्रेरित एवं बाध्य करती है। 'सब सुखी हों, कोई दु:खी न हो यह भावना सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसमे स्वार्थ की कहीं कोई दुर्गन्ध नहीं है। यह तो पूर्णतया परोपकार मय है। इसमें मानवता के प्रति प्रेम छलकता एवं झलकता है।

भूमण्डलीकरण एक मात्र विकल्प :

अब जब भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी है तो भारत को भी उसे अपनाना है इसके अलावा अन्य कोई विकल्प है भी नहीं। यह सच है कि यदि विश्व होड़ में सम्मिलित होना है तो इसे अपनाना है। इसका मतलब यह नहीं है कि भूमण्डलीकरण सदा एक अच्छी प्रक्रिया है। इसके आलोचक भी हैं, इसकी समीक्षायें भी हुई हैं इसे संदेह से देखने वाले विचारक भी है।

19.7 भूमण्डलीकरण के सामाजिक परिणाम

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया नूतन साम्राज्यवाद की जननी है इसने आर्थिक साम्राज्यवाद, राजनैतिक साम्राज्यवाद और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को उपजाया है। इसके सामाजिक प्रभाव निम्न हैं:-

उपभोगवादी समाज का प्रादुर्भाव:

सामाजिक जीवन, सामाजिक समूह, संस्थाओं, और सामाजिक संबंधों को इस प्रक्रिया ने बदलने का प्रयास किया है। इसने समाज और सामाजिक जीवन को भूमण्डलीय स्वरूप देकर उन्हें राष्ट्र राज्य अथवा भौगोलिक सीमाओं के पार पहुँचा दिया है। अब एक नए विश्वस्तरीय सामाजिक संगठनों और सामाजिक संस्थाओं का जन्म हो रहा है। सामाजिक चिंतन को नूतन दृष्टि प्राप्त हुई है। इसने समाजों में परस्पर निर्भरता तथा परस्पर जुड़ाव का मार्ग खोल दिया है विश्व के सभी समाज पास-पास आ गये हैं। उनके बीच की दूरी सिकुड़ गयी है। जिससे उनमें सामाजिक ज्ञान का आदान-प्रदान हो रहा है। विश्व के सभी समाजों के निकट आने से भविष्य में एक विश्व समाज के निर्माण की सम्भावना बलवती हुई है। कार्लमार्क्स की मान्यता है कि उत्पादन के सम्बन्ध समाज का आधार होते हैं और जब उत्पादन संबंध बदलते हैं तो सम्पूर्ण समाज एवं उसके सभी आयामों में परिवर्तन होता है। **भूमण्डलीय पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और मुक्त प्रतियोगी बाजार व्यवस्था ने समाज को खतरों से भरे समाज** (रिस्क सोसायटी) **और उपभोग समाज** (कन्ज्यूमर सोसायटी) **की ओर ढकेल दिया है।** पूरा विश्व पूँजीवादी समाज की स्थापना की ओर बढ़ रहा है। भौगोलिक दृष्टि से दूर-दूर के इलाकों में रहने वाले उत्पादकों, उपभौक्ताओं और वितरकों को जोड़ने का काम व्यापार एवं विश्वव्यापी पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा किया जा रहा है।

श्रम विभाजन:

श्रम विभाजन का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय बन रहा है। उदाहरण के लिए विकसित देश उन वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिनमें ज्यादा धन के निवेश की आवश्यकता है। जिनके पास धन नहीं है उनके लिए श्रम ही पूँजी है और वे श्रम करते हैं।

गरीबों की उपेक्षा -

भूमण्डलीकरण ने गरीबों के लिए कुछ नहीं किया। अमीर और गरीब के बीच की दरार और चौड़ी हो रही है। कम्प्यूटर के प्रयोग से बेरोजगारी में वृद्धि हुई है। रोजगार के अवसर के क्षेत्र बदल गये हैं। जापान जैसे देश में रोजगार के अवसर तकनीकी क्षेत्र में हैं। भारत की भी न्यूनाधिक रूप से यही स्थिति है।

एड्स -

एड्स की बीमारी का फैलाव विश्वव्यापी बन चुका है। यह बीमारी परिवार एवं समाज के लिए घातक है। इससे बचने के उपाय बताए जा रहे हैं, अभियान चलाये जा रहे हैं।

शोषण एवं असुरक्षा-

तीसरी दुनिया के बच्चों का शोषण एवं वंचन शिखर पर पहुँच गये हैं स्त्रियों की भी कुछ ऐसी ही दशा है बूढ़ां को कोई पूछने वाला नहीं है। वे भगवान' सहारे हैं।

हथियारों की गैर-कानूनी आवाजाही से समाज में असामाजिक तत्वों, डान एवं माफियों में वृद्धि हो रही है। **इनके अपराधों एवं जुल्मों से त्राहि-त्राहि मची है और असुरक्षा की भावना समाज एवं देश में व्याप्त है।** कहने की आवश्यकता नहीं, नारी बच्चों एवं भूमि का अपहरण हो रहा है। अपराध बढ़ रहे हैं अपराधी अपराध करके बाहर के मुल्कों को भाग जाते हैं। जिससे वे पकड़ से बाहर हो जाते हैं। आतंकवाद में वृद्धि हो रही है। भूमण्डलीकरण के प्रभाव व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए हितैषी नहीं दिख रहे हैं।

दत्तक ग्रहण :

यह संस्था भी भूमण्डलीकरण के प्रभाव से अछूती नहीं रही। अपुन्नता की स्थिति में गोद लेने की परम्परा रही है। बाल कल्याण एवं महिला विकास विभाग तथा यूनिसेफ द्वारा किये गये एक अध्ययन के अनुसार गरीब जनजातीय परिवारों के बच्चे अन्तर्राष्ट्रीय दत्तक ग्रहण एजेन्सियों द्वारा प्राप्त कर लिये जाते हैं। क्योंकि पश्चिमी दम्पत्ति एक शिशु को गोद लेने के लिए 50,000 डालर तक की रकम देने को तैयार रहते हैं। ऐसे भी उदाहरण है जहाँ भारतीय दम्पत्ति द्वारा गोद लिये गये बच्चे एक दत्तक ग्रहण एजेन्सी द्वारा इसलिए वापस ले लिये गये क्योंकि विदेशी दम्पत्ति एक बड़ी रकम डालर में देने को इच्छुक थे (द हिन्दू) आन्ध्र प्रदेश में दत्तक ग्रहण धोखाधड़ी (रैकट) का विरोध हो चुका है यह धारणा इस तथ्य पर प्रकाश डाल रही है। कि किस तरह **भूमण्डलीय बाजार ताकतें सामाजिक एवं विधिक बन्धनों पर विजय हासिल कर रही है।**

समाचार पत्रों में ऐसी खबरें छपी हैं कि विदेशों से धनी रोगी भारत के शहरों में गुर्दा प्रत्यारोपण के लिए आते हैं जिससे पिछड़े इलाके के गरीब किसानों को एक आकर्षक रकम का लालच देकर उनसे गुर्दा देने को कहा जाता है।

अपराध में 'हाईटेक' का प्रयोग-

अपराध पहले भी होते थे पर अपराधी पंकड़ में आ जाते थे और उन पर निगाह रखना सरल था। अब 'हाई टेक' के इस्तेमाल से अपराध की कोटि और संख्या पर प्रभाव पड़ा है। नकल के अपराध काल गर्ल के रूप में वेश्यावृत्ति के अपराध, हत्या में सूक्ष्म तकनीकी वाले आग्नेयास्त्रों के प्रयोग से हत्या की घटनाओं में वृद्धि तथा धोखाधड़ी के अपराधों में इजाफा से सामाजिक विघटन एवं पारिवारिक विदारण की स्थिति उत्पन्न हो रही है। हाई टेक का प्रयोग जहाँ अपराधी कर रहे हैं वहीं अपराध का बचाव करने वाले भी इसका प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए शातिर नकल कराने वाले माफिया नकल कराने के नायाब तरीके अपना रहे हैं एक ऐसा मामला हाल ही में प्रकाश में आया है। फिंगर प्रिन्ट से बचने के लिए अपराधी ने अंगूठे में झिल्ली चिपका ली थी जो इतनी बारीक होती है कि प्रथम दृष्टया पकड़ में नहीं आती

है यह नकल का मामला सी. पी. एम. टी. परीक्षा से जुड़ा है।

उक्त परीक्षा में एक छात्र ने तो कमाल कर दिया। उसने कक्ष निरीक्षक के हस्ताक्षर हो जाने के बाद उत्तर पुस्तक की कार्बन कापी फाडकर रख ली और मूल कापी पर सारे उत्तर काले कर दिया। अपनी कार्बन कापी पर बाद में सभी-सही उत्तर काले कर लिये। जब उसका सलेक्शन नहीं हुआ तो मुकदमा कर दिया यह अभियोग लगाते हुये कि किसी परीक्षक ने शरारतन उसकी मूल उत्तर पुस्तिका में सारे उत्तर काले कर दिये। नतीजा यह हुआ कि चिकित्सा शिक्षा विभाग द्वारा उस छात्र को प्रवेश देना पड़ा। अब इस प्रकार की धांधलियों से बचने के लिए फोरंसिक विशेषज्ञों की मदद से बेदाग परीक्षा कराने की बात चल रही है, (दैनिक जागरण, 27 दिसम्बर 2005)

जनजाति पर प्रभाव –

जनजातीय समुदाय अपने सामुदायिक जीवन और सामूहिकता की भावना से चिपका होता है। भूमण्डलीकरण सामूहिक अधिकारियों की जगह निजी अधिकारों को आगे बढ़ा रहा है इस प्रकार आदि समाज सबसे अधिक भूमण्डलीकरण का शिकार बनने जा रहा है।

दहेज की बढ़ती मांग:

भूमण्डलीकरण से प्रभावित होकर लोग लालची और भौतिकवादी बन रहे हैं। इसी कारण दहेज की माँग तेज रफ्तार से बढ़ रही है।

महिला वर्ग का प्रभाव:

स्त्रियों में सौन्दर्य चेतना एवं सौन्दर्य बोध पराकाष्ठा पर है। उनकी सुन्दर, गोरे और आकर्षव बनने की उत्कट अभिलाषा जोर पकड़ रही है। वे अलंकरण के प्रसाधनों का प्रयोग पहले से अधिक करने लगी हैं। फलत: परिवार की आय का अच्छा खासा भाग अलंकरण प्रसाधनों के प्रयोग और सौन्दर्य गृहों में जाने पर व्यय कर देती हैं। कुछ तो जब धन का अभाव देखती है तो देह व्यापार की ओर कदम बढ़ाने लगती हैं। या कदम बढ़ाने की बात सोच सकती हैं। कुछ तो कदम बढ़ा चुकी हैं। और उनकी देखा-देखी कुछ इस व्यापार में लिप्त हो जाने में लज्जा का अनुभव नहीं करती। उनके लिए इसमें कोई हर्ज की बात नहीं है।

खाते पीते घरों की कुछ लड़कियाँ सौन्दर्य गृहों, मसाज गृहों, 'आओ दोस्ती करें' जैसे धन्ध के माध्यम से काल गर्ल बनने में भी संकोच एवं लज्जा का अनुभव नहीं करती हैं। बात साफ है कि बाजार व्यवस्था के अन्तर्गत यदि प्रत्येक वस्तु बिकाऊ बन जाये तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

समाज व्यवस्था पर प्रभाव:

भारतीय समाज व्यवस्था पर जो भूमण्डलीकरण का प्रभाव पड़ा है। वह खतरनाक हानिकारक एवं प्रतिकूल है।

विवाह एवं परिवार पर प्रभाव:

विवाह परिवार का आधार है। एक परिवार में पति-पत्नी उनके बच्चे होते हैं। पति-पत्नी का रिश्ता विवाह से बनता है इसी विवाह का परिणाम बच्चे होते हैं। विवाह संबंधों के बिगाड़ने में भूमण्डलीकरण का हाथ रहा है। इस प्रक्रिया से जन्मी बन्धन मुक्तता, लड़के और लड़कियों का बेरोक टोक मिलना, साथ-साथ घूमना और काफी देर तक साथ रहना संभव हो सका है। विवाहोत्तर यौन संबंधों विवाह के पहले और विवाह के बाद यौन संबंधों की गति एवं आवृत्ति में वृद्धि भूमण्डलीकरण के कारण संभव हो सकी है। यदि यह कहा जाय कि यौन संबंध यौनाचार की ओर उन्मुख हो रहे हैं तो शायद अतिश्योक्ति न होगी। **लगता है कि यौन संबंधों में बिगाड़ इस सीमा तक हो जायेगा कि फिर से स्वच्छन्द यौनाचार के युग की ओर वापसी हो जायेगी। इससे विवाह जैसी कोई संस्था ही न रहेगी। विवाह की संस्था खतरे में है।** इसके अतिरिक्त स्त्रियों की अदला-बदली का असर भी अवांछनीय है। स्त्रियों का पर पुरूषों के साथ घूमना एवं नृत्य करना एक प्रकार का बौद्धिक खोखलापन है। इसकी उल्टी स्थिति अर्थात् पुरूषों का पर स्त्रियों के साथ नृत्य करना और घूमना भी बुरा है।

विवाह प्रत्यय के विलोप के साथ परिवार का प्रत्यय भी विलुप्त हो सकता है। विवाह के डगमगाने से परिवार भी डांवाडोल हो सकता है। विवाह संबंधों के लड़खड़ाने से पारिवारिक संबंध भी प्रभावित होंगे। **जब पति पत्नी का संबंध ही नहीं होगा तो विवाह जन्य नातेदारी का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा।** और नातेदारी शब्दावली भी प्रभावित हो जायेगी। नातेदारी में बिगाड़ व्यवहार पर भी असर डालेंगे। **केवल विवाह संबंधों के बिगाड़ से विवाह परिवार एवं समाज सबका आकार प्रकार बदल जायेगा।** ईश्वर करे ऐसी स्थिति न आये पर भूमण्डलीयकृत हालात विवाह, परिवार, समाज और संस्कृति के लिए अच्छे नहीं हैं।

परिवार अपने सदस्यों पर **धाक और पकड़** से जीवित एवं स्वस्थ बना रहता है। पारिवारिक नियंत्रण से परिवार की गाड़ी सुचारू रूप से चलती रहती है आज्ञापालकता, पारस्परिक प्रेम, वात्सल्य, परस्पर विश्वास, परस्पर सम्मान, परस्पर निष्ठा, और सहयोग परिवार को अजर अमर रखने वाले तत्व हैं। **भूमण्डलीकरण ने व्यक्तिवाद (अहंवाद), भावात्मक तटस्थता तथा औरतों में अत्यधिक स्वतंत्रता की धुन को जन्म दिया है। अहंवाद सामंजस्य का शत्रु है** क्योंकि अहंवादी अपनी बात को मनवाने की जिद पर अड़ा रहता है। वह अपनी आत्म प्रतिष्ठा की रक्षा हर कीमत पर करना चाहता है। एक व्यक्ति के अहं की तुष्टि से दूसरे व्यक्ति के अहं को ठेस पहुँचती है। अत: यदि परिवार में एकाधिक अहंवादी हो जाते हैं तो पारिवारिक जीवन नरक बन जाता है और इसकी परिणति पारिवारिक विघटन के रूप में होती है।

भावना शून्यता अथवा भावनात्मक तटस्थता पारिवारिक जीवन के लिए अनुचित है। शौक एवं चाहत की भावना स्नेह है। आदर्श परिवार के सदस्यों में एक दूसरे के प्रति चाहत होती है वे एक दूसरे को पसन्द करते हैं, एक दूसरे की इज्जत करते हैं इसकी उल्टी स्थिति

पर विचार करें। यदि परिवार के सदस्य एक दूसरे से घृणा करते हैं और उनकी परस्पर चाहत सतही है तो ऐसे परिवार में विरोध एवं असामंजस्य उत्पन्न होंगे। **स्नेह और चाहत परिवार के आधार हैं** भावनात्मक तटस्थता ज़ो भूमण्डलीकरण की पहचान है निश्चय ही पारिवारिक विदारण को जन्म देगी।

स्त्रियों की बढ़ती हुई स्वतंत्रता अनिवार्य रूप से परिवार के लिए घातक है। निर्भरता की भावना जो हम भावना का एक प्रकार है। किसी भी परिवार की जीवनी शक्ति है, संजीवनी बूटी है इसके अभाव में परिवार नीरस एवं मृत हो जाता है। स्त्रियों में बढ़ती स्वतंत्रता ने पारिवारिक बंधनों को प्रतिकूल ढंग से प्रभावित किया है। आज की कुछ शिक्षित महिलाएं छोटी-छोटी असुविधाओं को भी सहन करने के लिए तैयार नहीं हैंवे बे रोक टोक का जीवन जीना चाहती हैं। अब वे उन्मुक्त हो चली हैं उनमें हैं स्वतंत्रता का उन्माद जिसे उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण की सौगात माना जा सकता है। ऐसी महिलायें परिवार को आघात पहुँचाती हैं, ठोकर मारती हैं। उनका परिवार एवं विवाह से मोह भंग हो गया है मनचले युवकों का भी परिवार से मोह भंग हो गया है।

सारांश यह है कि पविार एवं विवाह अपने बुरे दिनों से गुजर रहे हैं और अप्रिय मोड़ पर खड़े हैं। वे अस्त-व्यस्त दिख रहे हैं। इनका भविष्य अन्धकार मय है।

19.8 भूमण्डलीकरण के सांस्कृतिक परिणाम

पहचान का संकट -

विदेशी संस्कृत के विस्तार की गति इतनी ही रही जितनी है तो हमारी पहचान समाप्त हो सकती है। हमारी संस्कृति लुप्त हो सकती है। पोप संगीत और वेस्टर्न डान्स के सामने हमारे संगीत और नृत्य शायद टिक नहीं पा रहे हैं। आल्हा, नौटंकी, छत्तीसगढ़ी पंडवानी, पंजाबी गिद्दा आदि विधाएं आज अपनी पजचान खो चुकी हैं।

सांस्कृतिक वैश्वीकरण ने हमारे पहनावे को भी करारी चोट दी है। स्त्रियों का पहनावा अब ऐसा नहीं रहा जिसके आधार पर उन्हें पहचाना जा सके। वस्त्र एवं केश के आधार पर स्त्री पुरूष की पहचान मिटती सी जा रही है।

मूल्यों का संकट :

आज की स्त्रियां घर की चहारदीवारी से बाहर निकल चुकी हैं। नई पीढ़ी की कुछ-कुछ स्त्रियाँ नाइट क्लबों में जाती हैं, मिनी स्कर्ट पहनती हैं, धूम्रपान करती हैं, मदिरापान करती हैं। जीन्स पहनती हैं जो साड़ी बांधती हैं वे उसे नाभि से नीचे बांधती हैं और आस्तीन रहित ब्लाउज पहनती हैं। ब्यूटी पार्लरों में जाती हैं। शरीर के काफी हिस्से में मेंहदी लगवाती हैं वृद्ध पुरूष एवं वृद्धा स्त्रियां बाल रंगती हैं स्त्रियां भौहें बनवाती हैं यह कृत्रिम सुन्दरता समीक्षा से परे नहीं हैं।

इन्टरनेट पर चैंटिग के परिणाम तो और भयानक हो रहे हैं। इस चैंटिंग से तलाक एवं पत्नी त्याग की घटनाएं होना शुरू हो गयी हैं। दूसरी राधा बनी पंडा का मामला बहुचर्चित हो चुका है। ये सभी घटनायं यह सिद्ध करती हैं कि **भारत में मूल्यों का संकट गहराया है।** मूल्यों में तेजी से आई गिरावट अथवा परिवर्तनों पर प्रो. योगेन्द्र सिंह ने कल्चर एण्ड चेंज इन इण्डिया (2000) पुस्तक में सम्यक प्रकाश डाला है। उन्होंने उक्त पुस्तक में भूमण्डलीकरण के सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति का लेखा जोखा ईमानदारी से प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में उन्होंने एक और संदेश दिया है कि मूल्यों के साथ संस्थाओं और विचारधाराओं में भी परिवर्तन आया है। रजनी कोठारी तथा कृष्ण कुमार ने भी भारतीय संस्कृति का विवरण भूमण्डलीकरण के सन्दर्भ में किया है।

भारतीय संस्कृति :

भारतीय संस्कृतिक के विषय में सबसे अधिक जानकारी भारत के लोग 'प्रोजेक्ट के माध्यम से उपलब्ध हुई है भूमण्डलीकरण ने भारतीय जीवन के कई सांस्कृतिक पहलुओं को हिला दिया है।

* हमारी जीवन पद्धति को बदल दिया है।
* उपभोग के प्रतिमान को उलट-पलट दिया है।
* सांस्कृतिक उत्पादन को बदल दिया है।
* अब एक पापुलर कल्चर का विकास हों चुका है।
* मौखिक समाज एक मीडिया समाज बन गया है।
* स्थानान्तरण, पर्यटन एवं यात्रा में वृद्धि हुई है।

एथनिक समूह की पहचान को खतरा उत्पन्न हो चुका है।

सांस्कृतिक आधुनिकीकरण:

संस्कृतिक का आधुनिकीकरण भूमण्डलीकरण के माध्यम से स्थानीय लोगों की संस्कृति पर प्रहार करता है। भाषा, धर्म, जीवन पद्धति और सांस्कृतिक मूल्यों पर इसके आघात से लोग तिलमिला उठे हैं। पर भारत में विविधता में एकता' की सोच ने इसे निष्प्रभावी कर दिया है।

क्षेत्रीयता की भावना=

भूमण्डलीकरण के सांस्कृतिक परिणामों में क्षेत्रीयतात की भावना के सुदृढ़ विकास की ओर ध्यानाकर्षण आवश्यक है। 'भारत के लोग' प्रोजेक्ट की सबसे बड़ी खोज यही है कि पिछले एक दशक में क्षेत्रीयता की भावना पर्याप्त मात्रा में सुदृढ़ हुई है। इस क्षेत्रीयता की भावना के सुदृढ़ होने से हमारी स्थानीय संस्कृति को कोई खतरा उत्पन्न होता नहीं दिखाई पड़ता।

संस्कृति का भूमण्डलीकरण-

भूमण्डलीकरण ने जिस प्रकार पूंजीवाद को विश्वव्यापी बनाया है उसी तरह सांस्कृतिक प्रतिमानों को भी विश्व व्यापी बनाया है। विश्व भर की संस्कृतियों के आपस में मिलने से

एक मिक्स अथवा साझा संस्कृति का विकास हुआ है। कारपोरेट और कम्पोजिट संस्कृति का विकास भूमण्डलीकरण की देन है।

संस्कृति पन नवीन दृष्टिकोण:

संस्कृतिक के तीन परिप्रेक्ष्यों का जिक्र किया जाता है। (1) अभिसरण परिप्रेक्ष्य (कनवरजेंस)

(2) अपसरण परिप्रेक्ष्य (डाइवरजेन्स) (3) संकरण परिप्रेक्ष्य (हाइब्रिडाइजेशन) । प्रथम परिप्रेक्ष्य में सांस्कृतिक मिलन पर बल है। दूसरे में सांस्कृतिक अलगाव (विभेदों) पर जोर है। तीसरा रचनात्मकतावादी (कान्स्ट्रक्टिविस्ट) उपागम है और संस्कृति पर एक नया दृष्टिकोण है।

संस्कृति के इस नवीन परिप्रेक्ष्य में, जो कि ग्लोबलाइजेशन की उत्पत्ति है, संस्कृति एवं सांस्कृतिक निष्ठा (आइडेन्टिटी) को पारिस्थितिक, उपकरणात्मक और राजनैतिक रूप में परिभाषित किया गया है। (टेम्पलमैन 1977) इस परिप्रेक्ष्य में संस्कृतियों एवं सांस्कृतिक निष्ठाओं की धारा प्रवाहिकता (फ्लूइडिटी) और आघात बर्ध्यता (मैलिअबिलिटी) पर जोर है (बार्थ 1969, 1994) । **संस्कृतियां वस्तुएं नहीं हैं वे अन्तः क्रिया एवं परिभाषा की चालू प्रक्रियाओं के लचीले परिवर्तनीय एवं अनुकूलनशील उत्पाद हैं।**

धर्मनिरपेक्षता:

भूमण्डीलकरण के पूर्व धर्म का विश्वव्यापीकरण हुआ था। कुछ धर्म दुनिया भर में फैल गये थे। इन विश्वव्यापी धर्मों में हिन्दू धर्म, बौद्व धर्म, इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म अपनी ख्याति बनाये हुए थे। **भूमण्डलीकरण ने धर्म को हाशिये पर लाकर खड़ा कर दिया है।** अब पश्चिम की धर्म निरपेक्षता की लहर विश्वव्यापी बन चुकी है। भारत ने भी अपने संविधान में अपने को धर्म निरपेक्ष घोषित किया है।

नवीन संस्कृति का उदय:

अब पूरे विश्व में विश्वव्यापी सांस्कृतिक उत्पाद जन्म ले रहे हैं। उपभोग की वस्तुएं, पहनावे, नृत्य संगीत, साहित्य ज्ञान विज्ञान सारे के सारे वैश्विक सांचे में ढलने की ओर उन्मुख हैं। विश्वव्यापी उन्मूलकता संस्कृति के क्षेत्र में भी जोर पकड़ रही है। अब इलक्ट्रानिक संस्कृति का बोलबाला है। आज मोबाइल पर या ई-मेल द्वारा सूचनाएं एवं सन्देश भेजने की संस्कृति है। सूचना तकनीकी तंत्र ने नवीन संस्कृति को जन्म दिया है और जीर्ण-शीर्ण पुरानी संस्कृति को पीछे धकेल दिया है। **आज की इलेक्ट्रानिक संस्कृति सिगनल्स पर दौड़ती है।**

स्थानीय और भूमण्डलीय संस्कृतिक मं संबंध :

भूमण्डलीय संस्कृति एक मिली-जुली अथवा मिश्रित संस्कृतिक है लेकिन इसमें पश्चिमी और अमेरिकी संस्कृति का वर्चस्व है। विश्वव्यापी संस्कृति स्थानीय संस्कृति के सम्पर्क में

आने पर उससे मूल्यों से अनुकूलन करती है। उदाहरण के लिए भारत में पंडितों की उपेक्षा नहीं की जा सकी । इस्लाम के उम्मा की अवहेलना नहीं हो सकती। मानवाधिकार के लिए गुहार भूमण्डलीकरण का प्रतिफल है पर मानवाधिकार के मामले में भी स्थानीय संस्कृति से ताल-मेल बैठाना जरूरी है। **बिना इस ताल मेल के भूमण्डलीय संस्कृति की वैधता को चुनौती दी जा सकती है।** भूमण्डलीय संस्कृति स्थानीय संस्कृति से ताल-मेल का जुगाड़ कर लेती है। फास्ट फूड बनाने वाली अमेरिका की मेकडानल्ड कम्पनी जिसके हजारों प्रतिष्ठान अमेरिका से बाहर हैं। गुजरात में यह कम्पनी शाकाहारी कोफ्ते बनायेगी और जहाँ माँसाहारी भोजन करने वाले लोग हैं वहाँ मांसाहारी कोफ्ते बनायेगी और इस तरह स्थानीय संस्कृति से सामंजस्य बैठाने का कार्य करेगी। भूमण्डलीकरण के प्रभाव के अन्तर्गत व्यंजनों, पहनावे औरमूल्यों का विश्व व्यापीकरण हो रहा है।

संक्षिप्त संदेश सेवा:

फैशन, प्रतिष्ठा चिन्ह ओर जरूरत बनती संक्षिप्त संदेश सेवा (एस.एम.एस.)

भूमण्डलीकरण का **एक अपूर्व एवं अनोखा प्रतिफल है**। मोबाइल पर यह सेवा उपलब्ध है इसकी अलग एक कोड भाषा है। इस भाषा के शब्द शब्दकोश में नहीं मिलते। 'ईलू-ईलू' से सभी परिचित हैं। इसका अर्थ है आई लव यू। इसी तरह से आल दे बेस्ट के लिए 'ए टी बी', टाक टु यू के लिए 'टी टी वाई', माइन्ड योर बिजनेस के लिए 'एम वाई ओ बी' शब्दों का प्रयोग हो रहा है। ये शब्द सामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव को दर्शाते हैं। आज कल मोबाइल पर बात करने से कहीं अधिक लोग सन्देश भेजने में रूचि ले रहे हैं। यह संक्षिप्त सेवा प्रोफेशनल लैंग्युएज बनती जा रही है। इसका प्रयोग आना आज की जरूरत बन गई है। इस सेवा का प्रयोग भूमण्डलीकरण के पहले नहीं था और न तब इसका आविष्कार ही हुआ था।

कलात्मक और हैण्डमेड ग्रीटिंग कार्ड का फैशन:

यह फैशनभूमण्डलीकरण के बाद का है । इन कार्डों में चित्रकारी एवं रंगों के प्रयोग ने जान डाल दी है। इस वर्ष लखनऊ की बाजार ऐसे कार्डों से खचाखच भरी है। इन पर मजेदार एवं रोचक संदेश भी लिखे हैं। इस कारण इन कार्डों की अन्य कार्डों की तुलना में मांग अधिक है।

ब्राण्ड बैण्ड की सुविधा :

यह सुविधा इन्टरनेट पर उपलब्ध है यह सुविधा कम समय मे ज्यादा काम करने में लोगों को सक्षम बनाती है।

19.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई में उदारीकरण के अर्थ से लेकर सामाजिक एवं आर्थिक उदारीकरण के अर्थ एवं परिणामों की चर्चा की गयी है तत्पश्चात् भूमण्डलीकरण की थीम्स, भारत और भूमण्डलीकरण और समाज शास्त्र का क्रमश: विवेचन किया गया है। अन्त में इसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों का विशद वर्णन प्रस्तुत किय गया है।

19.10 सन्दर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

1. ग्लोबलाइजेशन एण्ड डिवलपमेन्ट स्टडीज, 2001 एडिटेड बाई फ्रांस जे शूरमैन
2. द इकोनोमिस्ट, ग्लोबलाइजेशन 2002
3. राबर्टसन, आर (1995) ग्लोबलाइजेशन
4. हर्स्ट एण्ड थाम्पसन (1996) ग्लोबलाइजेशन इन क्यूश्चन, कैम्ब्रिज, पालिटि प्रेस।

इकाई 20 भारतीय समाज में आधुनिकीकरण : परम्परा एवं आधुनिकता

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 पाठ योजना

20.3 परम्परागत अथवा सरल भारतीय समाज

20.4 परम्परा इतर अथवा आधुनिक समाज

20.5 आधुनिकता का अर्थ एवं लक्षण

20.5.1 आधुनिकता पर समाज वैज्ञानिकों के मत

20.5.1.1 एन्थोनी गिडेन्स का मत

20.5.1.2 दुर्खीम का मत

20.5.1.3 मार्क्स का मत

20.5.1.4 वेबर का मत

20.5.1.5 जार्ज सिमल का मत

20.5.1.6 पारसन्स का मत

20.6 आधुनिकता के लक्षण

20.5 भारत में परम्परा की प्रकृति

20.8 आर्थिक दृष्टि से सरल समाज

20.8.1 सरल समाजों में प्रौद्योगिकी

20.9 आर्थिक दृष्टि से आधुनिक समाज

20.10 राजनैतिक दृष्टि से सरल एवं आधुनिक समाज

20.11 निष्कर्ष

20.12 सारांश

20.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

20.14 प्रश्नोत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप के द्वारा संभव होगा :

* भारतीय समाज के सरल (परम्परागत रूप) रूप को स्पष्ट करना,
* भारतीय समाज के जटिल (आधुनिक रूप) रूप को समझना एवं समझाना,
* परम्परा के लक्षणों को बताना,
* आधुनिकता के लक्षणों को बताना,
* ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज को स्पष्ट करना।

20.1 प्रस्तावना

भारतीय ही क्यों प्रत्येक समाज परम्परागत स्वरूप से आधुनिक स्वरूप की ओर अग्रसर होता है। भारतीय समाज लगातार आधुनिकता की ओर बढ़ रहा है। समाज की इस परिवर्तनशील प्रकृति को किसी समय विशेष में विद्यमान समाज संरचना का अध्ययन करके जान पाना कठिन है या यों कहें कि नहीं जाना जा सकता है। कारण यह है कि **उसके समकालीन पहलू में अतीत छुपा हुआ है और उसमें भविष्य में पहलू के बीच भी छिपे हैं**। भारतीय समाज के अतीत एवं वर्तमान स्वरूप की व्याख्या द्वारा भारतीय समाज के आधुनिकीकरण की ओर बढ़ते हुए चरण को समझा जा सकता है। यह विकास आधुनिकता के बाद उत्तर आधुनिकता की ओर अग्रसर होगा।

20.2 पाठ योजना

समाज शास्त्रियों ने समाज की जानकारी प्राप्त करने के लिए कई उपागमों को अपनाया है यहाँ एतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज का विश्लेषण करने का मन बनाया गया है। पिछले अनुभवों के आधार पर सामाजिक व्यवहार के संबंध में अन्तर्दृष्टि पाने का प्रयोग कुछ अधिक लाभप्रद दिखता है। भारत के सामाजिक आर्थिक-राजनैतिक जीवन के तथ्यों को दो भागों में बाँट कर समझने का प्रयास किया गया है। प्रथम भाग में सरल भारतीय समाज और दूसरे भाग में आधुनिक भारतीय समाज का विवेचन करने की योजना है।

20.3 परम्परागत अथवा सरल भारतीय समाज

सुविधा के लिए पूर्व औद्योगिक समाज अथवा परतंत्र भारतीय समाज को सरल समाज कहा गया है। सरल समाज में अति सरलता से प्रारम्भ कर धीरे-धीरे सरलता के कम होने की प्रवृत्ति को ध्यान में रखा गया है। अंग्रेजी शासन के दौरान यह सरलता काफी कम हुई है पहले (प्रारम्भ में) समाज अभेदीकृत अथवा समदर्शी था बाद में विभेदीकृत होने लगा।

20.4 परम्परा इतर अथवा आधुनिक भारतीय समाज

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज आधुनिक समाज का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है भारतीय समाज जटिलता अथवा विविधतता दर्शक समाज माना जाता है। यहाँ एक बड़ी सम्पूर्ण

संस्कृति के अन्तर्गत कई उपसंस्कृतियां देखी जा सकती हैं। यहां मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन बौद्ध एवं आदिम उपसंस्कृतियां देखी जा सकती हैं भाषा के आधार पर भी अप-संस्कृतियां हैं जैसे तमिलभाषी, महाराष्ट्रीय एवं पंजाबी संस्कृतियाँ। इन उप-संस्कृतियों को एक में बांधे रखने वाले तत्व (मूल्य) भी यहाँ हैं जैसे धर्म निरपेक्षता, लोकतंत्र, और सभी नागरिकों की समानता का भाव। ये सार्वभौमिक एवं सांस्कृतिक मूल्य ऐसे हैं जिन पर बराबर जोर देते रहने और उनका पोषण करते रहने की आवश्यकता है। उप-सांस्कृतिक मूल्यों के प्रभाव में बहने से उक्त मूल्यों द्वारा रोक लगाई गई है।

आधुनिकता रातों रात या सहसा नहीं आ गई। उसका अपना एत सुदीर्घ (लम्बा) इतिहास है यह एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव को पार करती हुई अपने वर्तमान स्वरूप पर पहुँच सकी है। सामन्तवाद के पतन से आधुनिकता का जन्म माना जा सकता है। पूंजीवाद का उदय उसका एक पड़ाव है। पूंजीवाद के विरोध में समाजवाद का आविर्भाव हुआ। 18 अगस्त 1991 में रूस में साम्यवाद को जो धक्का लगा उससे समाजवादी दुनिया को चोट पहुँची। अब तो दुनिया में प्रजातोत्रिक एवं पूंजीवाद संसार ही शेष बचा। **औद्योगिक क्रान्ति से जन्मी और पूंजीवाद से पनपी इस आधुनिकता का भावी पड़ाव उत्तर आधुनिकता का होगा।**

20.5 आधुनिकता का अर्थ एवं लक्षण

आधुनिकता का विचार समय से जुड़ा है। **जो प्राचीनतम एवं पुराना है वह परम्परा है जो नवीनतम है वह आधुनिकता है।** रिटजर आधुनिकता को मूल्यों एवं विचारधारा से जोड़ते हैं। पहले समाज का संबंध पवित्रता से था। फिर इसका संबंध धर्म निरपेक्षता अथवा लौकितता से जुड़ गया। भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता पर जोर हैं। पवित्रता का संबंध **परम्परागत समाज से है।** जबकि लौकिकता आधुनिकता का सूचक है।

* सांस्कृतिक बहुलता आधुनिकता का संकेतक है।
* आधुनिकता सदैव नए विचारों एवं आविष्कारों से जुड़ी होती है।
* आधुनिकता की झलक औद्योगीकरण में मिलती है।

रिटजर ने आधुनिकता की प्रकृति को इसे बेलगाम का घोड़ा कह कर स्पष्ट कर दिया है। बेलगाम घोड़े की तरह आधुनिकता को वश में करना कठिन है।

20.5.1 आधुनिकता पर समाज वैज्ञानिकों के मत-

20.5.1.1 एन्थोनी गिडेन्स के मतानुसार आधुनिकता में गत्यात्मकता एवं परिवर्तन निहित है वे आधुनिकता को उदारवाद और पूंजीवाद से जुड़ा नहीं मानते। वे उसे चार संस्थाओं से जुड़ा हुआ मानते हैं।

1. पूंजीवाद-इसमें उत्पादन, निजीकरण एवं श्रमिक आते हैं।
2. उद्योगवाद - इसमें आवागमन के साधन, संचार व्यवस्था तथा घरेलू जीवन आते हैं।
3. निगरानी रखने की क्षमता - इसमें राज्य नागरिकों पर अंकुश रखता है राज्य के पास

सैनिक शक्ति है हिंसा के साधनों पर भी राज्य का नियंत्रण रहता है।

4. राष्ट्रराज्य – वे राष्ट्र को आधुनिकता का केन्द्र मानते हैं।

उक्त चार संस्थाओं का गठबन्धन आधुनिकता है। इस आधुनिकता की चर्चा उन्होंने अपनी पुस्तक 'द कान्सीक्वेन्से आफ माडर्निटी' में की है।

वे आधुनिक समाज को प्रतिबिम्ब समाज भी कहते हैं। आधुनिक समाज में समय व स्थान की दूरी बहुत कम रह गयी है। अब लोगों को एक छत के नीचे रहना संभव नहीं रहा जैसा कि कभी भारतवर्ष में संयुक्त परिवारों में होता था। अब संयुक्त परिवार की यह विशेषता लुप्त हो चली है। उनके लिए सामान्य पाकशाला का भोजन कर पाना अब कठिन हो गया है। संयुक्त परिवार की चौका प्रणाली अब विलुप्त हो चली है। कारण है वर्तमान परिस्थितियां। अब जब परिवार का एक सदस्य गांव में रहता है। दूसरा देश के किसी बड़े शहर में और तीसरा विदेश में। ऐसे में सामान्य पाकशाला का विचार कहाँ ठहर सकता है।

स्थान की दूरी अब सिमट गई है एक परिवार के लोग अलग अलग जगहों पर रहते हुए भी दूरी का अनुभव नहीं करते। दूर रहते हुए भी टेलीफोन और मोबाइल से पल पल पर अपने परिवार के सदस्यों से सम्पर्क बनाए रख सकते हैं। **यही आधुनिकता है भारत में संयुक्त परिवार अब नाभिकीय परिवार का रूप धारण कर रहे हैं।** । इन परिवारों का नाभिकीकरण भारतीय समाज को आधुनिकता का स्वरूप दे रहा है। दुनिया भर में जो हो रहा है उससे भारत अप्रभावित कैसे रह सकता है। दुनिया में जो घटित हो रहा है उसका प्रतिबिम्ब सर्वत्र पड़ता है। जब मर्द और औरतें दुनिया भर के मर्द और औरतों को कुछ करते देखते हैं तो वे भी अनुभव करते हैं कि जो अन्य समाजों में हो रहा है उसे वे भी कर सकते हैं। दुनिया का प्रतिबिम्ब छोटे से छोटे समाजों पर देखा जा सकता है। जीवन के सभी क्षेत्रों में यह प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है। परम्परागत समाजों के लोग पहले अपने समुदाय से जुड़े रहते थे। आज भी होली-दीवाली आदि त्यौहारों को समुदाय में मनाते हैं। आज लोग समुदाय से हट कर जीवन जीते हैं। इसे असन्निहिता कहते हैं। **यह असन्निहिता आधुनिक समाज का एक प्रबल लक्षण है।**

इस प्रकार गिडेन्स आधुनिक समाज के छः लक्षणों की ओर संकेत करते हैं।

1. पूंजीवाद
2. उद्योगवाद
3. प्रशासनिक शक्ति (निगरानी)
4. राष्ट्र राज्य
5. प्रतिबिम्ब समाज
6. असन्निहितता

यदि इन लक्षणों को भारतीय समाज पर घटाकर देखा जाय तो भारतीय समाज में ये लक्षण

विद्यमान दिखते हैं और इसलिए भारतीय समाज आधुनिकता की चपेट में पूरी तरह है, ऐसा कहा जा सकता है।

20.5.1.2 दुर्खीम का मत - कहने की आवश्यकता नहीं कि दूर्खीम उद्विकासवादी थे। दुर्खीम एकता के आधार पर परम्परा और आधुनिकता की व्याख्या करते हैं। परम्परागत अथवा सरल समाज की विशेषता यांत्रिक सुदृढ़ता है। परम्परागत समाज में स्तरीकरण कम होता है। इनके मतानुसार सावयवी सुदृढ़ता आधुनिक समाज की विशेषता है आज अधिकतम स्तरीकरण को आधुनिकता का लक्षण मानते हैं। दुर्खीम की उक्त बात को मान लेने से तो परम्परागत भारतीय समाज भी आधुनिक सिद्ध होता है क्योंकि भारतीय समाज बहुत पहले से स्तरीकृत था।

20.5.1.3 मार्क्स का मत - मार्क्स पूँजीवाद को आधुनिकताका लक्षण मानते हैं पूँजीपति प्रत्येक वस्तु को उपयोगी वस्तु (पण्य पादर्थ) समझता है पूँजीवाद का उद्देश्य मुनाफा कमाना है। अधिक से अधिक उत्पादन करना ही आधुनिकता है। मार्क्स आधुनिकता को पण्यीकरण के रूप में देखता है। मार्क्स की बात मान लेने पर भारतीय समाज को आधुनिक समाज की कोटि में रखा जा सकता है। अर्थात् भारतीय समाज आधुनिकता को अपना रहा है ऐसा कहा जा सकता है।

20.5.1.4 वेबर का मत - वेबर तर्क संगतिता (रैशनालिटी) को आधुनिकता का सूचक मानते हैं। **आधुनिकता के आगमन के पूर्व का जीवन पिंजड़े में बन्द जीवन जैसा था। यह पिंजड़ा ईश्वर का था**। सारी दुनिया ईश्वर के भरोसे थी, उसी के अधीन थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि युक्तियुक्तता अथवा बुद्धिमता से ही व्यक्ति पूंजीपति बनता है। धन कमाता है। आधुनिकता की कसौटी युक्तियुक्तता है। वेबर युक्ति युक्तता अथवा बुद्धिमताको आधुनिकीकरण के रूप में देखते हैं। यह लक्षण भारतीय समाज में प्रकट रूप से देखा जा सकता है अत: भारतीय समाज आधुनिक बन रहा है।

20.5.1.5 जार्ज सिमल का मत - जार्ज सिमल **शहर और मौद्रिक अर्थ व्यवस्था** को आधुनिकीकरण का लक्षण मानते हैं। गाँव परम्परा केन्द्रित हैं तो शहरों में आधुनिकता देखी जा सकती है उक्त दोनों लक्षण भारतीय समाज में पूर्ण रूपेण आधुनिक समाज है।

20.5.1.6 पारसन्स का मत - पारसंस आधुनिकता को मूल्यों की गठरी बताते हैं। वे संरचनात्मक विभेदीकरण को आधुनिकता का लक्षण बताते हैं अपने विन्यास प्रकारान्तरों के माध्यम से वे परम्परागत और आधुनिक समाज की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार आधुनिक समाज वह है जिसमें भावात्मक तटस्थता, विशिष्टता, सर्वव्यापकता उपलब्धि एवं व्यक्तिवादिता के मूल्य होते हैं।

20.6 आधुनिकता के लक्षण

अभी तक आधुनिकता के विषय में जो चर्चा हुई है उसके आधार पर आधुनिकता के लक्षण कुछ इस प्रकार ठहरते हैं।

1. पुर्नजागरण या ज्ञानोदय

2. आधुनिकता उद्विकास का परिणाम है।

3. आधुनिकता का विकास राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रक्रियाओं के कारण हुआ।

4. आधुनिकता, पूँजीवाद, औद्योगीकरण, लौकिकीकरण और प्रजातांत्रिक व्यवस्था है।

5. आधुनिकता में उपभोक्ता वस्तुओं की प्रचुरता होती है और विभिन्न जीवन शैलियाँ परिलक्षित होती है।

6. तकनीकी तंत्र आधुनिकता का एक बहुत बड़ा लक्षण है।

7. आधुनिकता नवीनता है।

8. प्रतियोगिता आधुनिक समाज का लक्षण है।

9. एकाकीपन आधुनिकता का लक्षण है।

10. सावयवी एकता आधुनिकता का लक्षण है।

11. युक्तियुक्तता अथवा तर्क संगतिता आधुनिक समाज का लक्षण हैं।

12. शहर और मौद्रिक अर्थव्यवस्था आधुनिकता के संकेतक हैं।

13. अधिक से अधिक उत्पादन आधुनिकता का सूचक है।

14. संरचनात्मक विभेदीकरण और अधिकाधिक स्तरीकरण आधुनिक समाज के परिचायक हैं।

15. विकसित विवेक का ही दूसरा नाम आधुनिकता है।

16. सर्वव्यापकता

20.7 भारत में परम्परा की प्रकृति

परम्परा का जुड़ाव समूह विशिष्ट या समाज विशिष्ट से होता है पर आधुनिकता में सर्वव्यापकता का गुण होता है। आधुनिकता का असर दुनिया के कोने-कोने तक पहुँचता है। परम्परा में सीमितता का गुण पाया जाता है

* आधुनिकता-जल्दी-जल्दी बदलती है पर समस्या में परिवर्तन मन्द गति से होता है।

* आधुनिकता की आधार भूमि परम्पराएं हैं। परम्परागत समाज आधुनिकता की ओर बढ़ता है।

* जब परम्पराएं आधुनिकता को अपनाती हैं तब अपना अस्तित्व नहीं खोती क्योंकि **परम्परायें मरती नहीं हैं उनमें अनुकूलन के लक्षण होता है।** इसे हम इस तरह स्पष्ट कर सकते हैं कि जैसे समाज में व्यक्ति आते जाते रहते हैं। और इस समाज का इस प्रकार अस्तित्व सदैव बना रहता है वैसे ही परम्पराएं आती रहती हैं और जो परम्पराएं

समयानुकूल होती हैं वे बनी रहती हैं और जो समयानुकूल और अवस्थानुकूल नहीं होती वे विलुप्त हो जाती है और उसका स्थान दूसरी परम्परा ले लेती है। यह दूसरी परम्परा समयानुकूल एवं अवस्थानुकूल होती हैं इसे नई परम्परा कह सकते हैं **इस प्रकार आधुनिकता भी नवीनतम रूप वाली परम्परा कही जा सकती है।** इस तरह समाज के उद्विकास में आधुनिकता एक अवस्था है यह उद्विकास की एक आवश्यकता है।

* आधुनिकता के स्वरूप का निर्धारण परम्पराओं द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिए जो आधुनिकता का स्वरूप योरोप में है, वह भारत में नहीं हैं भारत में जो आधुनिकता का स्वरूप है वह श्रीलंका और पाकिस्तान में नहीं हैं। जैसे पानी और बानी (भाषा) हर जगह समान नहीं है वैसे ही आधुनिकता भी हर जगह समान नहीं है। उदाहरण के लिए भारत में सड़क पर जा रही महिला से कोई पुरूष उस तरह से हाथ नहीं मिला सकता जैसे विदेशों में मिलाता है जिस प्रकार से सेक्स को दुनिया में तमाशा समझा जा रहा है। वैसे तमाशा के लिए भारतीय परम्परा अनुमति नहीं दे पा रही है। यहाँ लड़के और लड़कियों में दूरी बनाये रखने के लिए अगम्यागमन निषेध (इनसेस्ट टैबू) हैं यदि उन्मुक्त यौनाचार के रूप में आधुनिकता लाना है तो इनमें कौन सी बुद्धिमता अथवा युक्तियुक्तता है यह तो अश्लीलता अथवा पाशविकता का संकेतक है। इसे आधुनिकता का संकेतक नहीं माना जा सकता। स्त्री के अंग प्रत्यंगों का नग्न प्रदर्शन भी आधुनिकता नहीं है। यह तो भोंडेपन एवं विकृत मानसिकता का परिचायक है। **इस प्रकार भारत की आधुनिकता अपनी आधुनिकता है जिसका निर्धारण हमारी परम्पराओं ने किया है।** भारतीय परम्पराएं जो अच्छा है जो नैतिक है जो वैध है। आधुनिकता के उसी स्वरूप को ग्रहण करने के पक्ष में रही हैं यही कारण है कि हमारी आधुनिकता अन्य देशों की आधुनिकता से भिन्न है।

* हमारी परम्पराओं के कुछ तत्व टाइम टेस्टेड हैं। उनमें सर्व समावेशन की अद्भुत शक्ति है। अन्य शब्दों में वे शाश्वत है जो शाश्वत है उसे देश काल की सीमा से नहीं बांधा जा सकता। हमारी वेदान्त की परम्पराएं उपनिषदों की परम्पराएं शाश्वत हैं हमारे ऋषि मुनियों की परम्पराएं अनुभव सिद्ध हैं ये अनुमानों और अटकलबाजियों पर आधारित नहीं हैं। हमने त्याग, तपस्या और उदारता से इन परम्पराओं को सींचा है ये परम्पराएं सदाबहार वनों की तरह सदा हरी भरी रहने वाली हैं। इनके मूल तत्व अथवा केन्द्रीय तत्व न कभी मिटे हैं और न ही कभी मिटेंगे। चाहे जितने भूकम्प आयें, चाहें जितने ज्वालामुखियां फूटें, चाहे जितनी विपत्तियां आयें इनको कोई भी चोट न पहुँचा सकेगा। ये अजर अमर हैं क्या है कोई हमारी आध्यात्मिकता से लोहा लेने वाली दुनिया में कोई शक्ति? सारे विश्व को जब कहीं शरण नहीं मिलेगी तो डूबने से बचने के लिए उस आध्यात्मिकता के गोबर्धन पहाड़ के नीचे आना पड़ेगा जिसे श्री कृष्ण भगवान ने अपनी उँगली से उठा लिया था। गीता की परम्परा, गीता के मूल्य, गीता की नैतिकता, और गीता की भाव प्रवणता का दुनिया में बराबरी करने वाला कोई नहीं है। जो मातृ-पितृ भक्ति का आदर्श (परम्परा) श्रवण कुमार ने स्थापित किया, भायपभक्ति का कीर्तिमान जो भरत ने स्थापित किया, छोटे भाई की भलाई के लिए समोद वनचले जाने का जो आदर्श राम ने स्थापित किया क्या दुनिया में अन्यत्र कोई ऐसे आदर्श स्थापित हुए हैं? नहीं यह

कहने में कोई आश्चर्य नहीं है कि भारत एक तपो भूमि है। यह दुनिया का सर्वश्रेष्ठ देश है।

* हमारा देश आधुनिकता (नवीनता) का विरोधी नहीं है। वह तो नवीनता का पुजारी है । ऐसी नवीनता का जिसे वेबर ने बुद्धि संगत माना है। भारत की परम्परा हर युक्तियुक्त परिवर्तन की पक्षधर है। भारतीय समाज अक्लमन्द समाज है वह अन्धानुकरण का समर्थक न कभी रहा है और न ही कभी रहेगा। प्रत्येक समाज में मन्द बुद्धि वाले लोग भी होते हैं उन्हें उक्त नियम का अपवाद स्वरूप मानना पड़ेगा। भारत जगदगुरू था, है और रहेगा। हमारी आध्यात्मिकता को अपनाने के लिए दुनिया को घुटने टेकने पड़ेंगे क्योंकि भोगवाद, भौतिकतावाद और ऐहिकवाद आदि सीमित हैं और शीघ्र अन्त होने वाले हैं। भारत शाश्वत मूल्यों का समर्थक है।

परम्पराओं की उक्त विशेषताओं के अलावा परम्परागत समाज की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं।

1. सामूहिकता का वर्चस्व अर्थात्, व्यक्तिवाद के लिए कोई स्थान नहीं।
2. उदारता आधुनिक समाज का लक्षण है पर भारत में यह उदारता परम्परागत समाज में पूरी तरह विद्यमान थी।
3. धर्म का प्रभाव और ईश्वर का प्रभाव अधिक
4. समानता एवं स्वतंत्रता की कमी।
5. बुद्धिमता व विवेक का सीमित स्थान
6. प्रकृति का प्रभाव अधिक
7. यांत्रिक एकता, सामूहिक चेतना एवं दमनात्मक कानून

20.8 आर्थिक दृष्टि से सरल समाज

सरल समाजों में उत्पादन और वितरण का तरीका सरल था उपभोग का एक छोटा सा दायरा अथवा समूह होता है। उत्पादन वहाँ केवल उपभोग करने के लिए होता है खाने की वस्तुएं, कपड़े, आवास और अपनी रक्षा के उपकरण उपभोग की प्राथमिक वस्तुएं होती हैं। सरल समाजों में परिवार उत्पादन और उपभोग की इकाई होता है।

20.8.1 सरल समाजों में प्रौद्योगिकी - पशुपालन तथा कृषि का आविष्कार सरल समाज के संकेतक हैं। पहले कुदाली से खेती की जाती थी भारत के आदिवासियों में झूम कृषि का चलन रहा है। ऐसा तभी संभव होता है जब जंगल में पर्याप्त मात्रा में भूमि हो और आबादी कम हो।

पशुपालक समाजों की प्रौद्योगिकी अलग होती है। पशुपालक समाज में पुरूषों का स्थान विशिष्ट होता है हाथी, घोड़ा और ऊँट का प्रयोग सेना में और सामान ढोने के लिए होता है।

खेतिहर समाजों की प्रौद्योगिकी भी विशिष्ट एवं अलग होती है। कृषि के कारण जीवन में स्थिरता आई। कुदाली और पशुपालन के साथ हल बैल का प्रयोग होने लगा। औजारों एवं तकनीकों में सुधार के फलस्वरूप अधिक भूमि पर खेती होने लगी और उपज में वृद्धि हुई जिससे कृषि उत्पादन में 'आधिक्य' की स्थिति का जन्म हुआ। नई-नई सामाजिक संस्थाओं का प्रादुर्भाव संभव हुआ। जमीन पर स्वामित्व और कब्जा बढ़ने लगा जिससे सामाजिक वर्गों जैसे खेतिहरों और जमीदारों का विकास हुआ। प्रभुता प्राप्त परिवारों की प्रभुता समाप्त होने से राज्य का उदय हुआ। व्यापार एवं वाणिज्य में उन्नति के साथ-साथ गांव कस्बों में और कस्बे शहरों में बदल गये। शहर महानगरों में परिवर्तित हो गये।

श्रम का विभाजन प्रारम्भ हुआ। बड़े पैमाने पर कृषि कार्य होने से समाज में श्रम विभाजन होने लगा। भारत में श्रम विभाजन ने वर्ण एवं जाति का रूप ले लिया है जिससे जन्म के आधार पर लोग ऊँच-नीच श्रेणियों में बट गये।

महानगरों के जन्म ने औद्योगिक नगरीय संस्कृति को जन्म दिया। जाहिर सी बात है कि शहरों में अन्न नहीं उपजाया जाता। लोग उसे बाजार से खरीदते हैं । इससे बाजारों का विकास हुआ जिससे वाणिज्य एवं व्यापार फलने-फूलने लगे।

20.9 आर्थिक दृष्टि से आधुनिक समाज

आधुनिक समाज में उत्पादन और वितरण की तकनीक जटिल (आधुनिकतम) होती है। उत्पादन आधिक्य पर जोर रहता है। उपभोग तंत्र जटिल हो जाता है। इस समाज में जिन थोक वस्तुओं की उपज होती है उनका उत्पादन कुटुम्ब के बाहर होता है। फलत: परिवार के सदस्यों को जीवन निर्वाह के लिए उन्हें खरीदना पड़ता है। मुद्रा के माध्यम से वस्तुओं और सेवाओं को क्रय करना पड़ता है। औद्योगिक समाज में उपभोग पर कई तत्वों का प्रभाव पड़ता है जैसे चुनने की सुविधा, आमदनी, पारिवारिक तत्व, वस्तुओं की उपलब्धता, व्यापारिक कार्य और उपभोक्ता कार्य और उपभोक्ता की साक्षरता। औद्योगिक एवं शहरी समाज में परिवार का आकार लघु होता है जिससे उपभोग के स्तर में वृद्धि हो जाने की स्थिति रहती है।

उपभोग का मानदण्ड निजी न होकर सामाजिक होता है। सामाजिक प्रतिष्ठा उपभोग से जुड़ी होती है।

आधुनिक समाज में प्रौद्योगिकी- आधुनिक समाज की अति उन्नत प्रौद्योगिकी ने अनेकानेक मुख सुविधाओं का सृजन किया। गृहस्थी में उपयोग आने वाली वस्तुओं से लेकर कर कारखानों तक अत्यधिक विकसित प्रौद्योगिकी को देखा जा सकता है। आवागमन के साधन और सूचना प्रौद्योगिकी में काफी सुधार हुआ जिसका असर भारत में नहीं दुनिया भर में देखा जा सकता है। कुदाल और हल के स्थान पर ट्रैक्टर थ्रैसर आदि का प्रयोग होने लगा है।

आज हमारे देश में आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण एवं परिस्थितियां है। शोध कार्य को लाभदायक उत्पादक योजनाओं में बदलने की भी आवश्यकता है। आज हाथ के औजारों की जगह मशीनों का प्रयोग हो रहा है। मशीने व्यक्ति

की तुलना में अधिक काम कर सकती है तथा अधिक वस्तुएं निर्मित कर सकती हैं।

विदेशों की तरह भारत में भी सभी कार्यालयों के काम-काज कम्प्यूटर से होने लगे हैं। कम्प्यूटर सबसे अधिक कुशल कारीगर की अपेक्षा अधिक सुचारू रूप से और सही ढंग से काम कर सकता है। कम्प्यूटर अगणित कार्य कर सकता है आज प्रशिक्षित सेक्रेटरी का सारा काम मशीनें और कम प्रशिक्षित लोग कर सकते हैं। इस प्रकार कम्प्यूटर का प्रयोग दक्षता समाप्त करने वाला बनता जा रहा है। आधुनिकी प्रौद्योगिकी दक्षता समाप्त करने की प्रक्रिया की पोषक बनती जा रही है।

आधुनिक प्रौद्योगिकी से मजदूर तो बेकार हो ही रहे हैं। इसके अलावा संघ बनाकर लड़ने की क्षमता भी समाप्त हो रही है। आज मजदूर संघ विफल हो रहे हैं उनकी आवाज को प्रौद्योगिकी ने दबा दिया है।

अन्य देशों की भाँति भारत में निजी व्यापार के बढ़ावा देने की बात की जा रही है टेलीविजन के प्रयोग ने महिलाओं को घर की चहारदीवारी में बंद कर दिया है। इस प्रकार आधुनिक प्रौद्योगिकी ने महिलाओं को रूढ़िवाद बना दिया है गैस के चूल्हे, वाशिंग मशीनों ने महिलाओं को सुस्त और काहिल बना दिया है शारीरिक श्रम न करने के कारण वे रोग ग्रस्त एवं पंगु बनती जा रही हैं धन अधिक होने के कारण वे होटलों और क्लबों का आनन्द ले रही हैं। समसामायिक भारतीय समाज को भले ही हम आधुनिक होने की संज्ञा दे दें पर यह आधुनिकता और आधुनिकीकरण के बजाय रूढ़िवादिता को बढ़ावा देने वाला सिद्ध होगा।

20.10राजनैतिक दृष्टि से सरल एवं आधुनिक समाज

सरल सामानों में राजनीतिक सत्ता- सरल समाजों की राजनीतिक प्रणाली सरल होती है। परम्परागत भारतीय समाज में शासन का भार राजा पर होता था। वह पवित्र गुणों से युक्त माना जाता था। उसे ईश्वर का अवतार माना जाता है। वह अपनी प्रजा का पालक माना जाता था। वह प्रजा के कल्याण कार्यों में दिलचस्पी लेता था। भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। प्रत्येक क्षेत्र का एक राजा होता था। राजा की शक्ति उसके राज्य तक ही सीमित होती है। अपने राज्य के बाहर उसका महत्व नहीं होता है। भारत में बाहर से आये समूहों ने भी राज्य किया। यहाँ मुगलों और अंग्रेजों का भी शासन रहा। अंग्रेजों के आने से बादशाहों अथवा राजाओं की परम्परा नष्ट हो गयी और ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन कायम हुआ। लगभग 200 वर्षों तक अंग्रेजों ने शासन किया। परिवारों में पितृ सत्ताक शासन था। घर का मुखिया परिवार का शासक था। परिवार से सभी लोग उसकी बात मानते हैं मातृ सत्ताक परिवारों में सत्ता माता के हाथ में होती है और उसकी बात परिवार के लोग मानते हैं।

आधुनिक भारतीय समाज – अंग्रेजों के जाने के बाद भारत आजाद हुआ। शासन के लिए संविधान बना। भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है यहां लोकतांत्रिक सरकार है। भारत राजनीतिक प्रजातंत्र का समर्थक है। राजनीतिक प्रजातंत्र में कार्य पालिका, विधान पालिका और न्याय पालिका के पास स्वायत्तता होती है। इसमें राजनैतिक दल और मीडिया स्वतंत्र

एवं प्रतियोगी होते हैं। एक लिखित संविधान द्वारा अधिकार एवं कर्त्तव्यों का विधान कर दिया जाता है। विधान-पालिका नियमों को बनाती है कार्यपालिका नियमों को लागू करती है और न्यायापालिका उनका अधिनिर्णयन करती है हमारे यहां संसदीय और संघीय लोक तंत्र है नौकरशांही का वर्चस्व है।

सरकारी संगठन की चर्चा हो चुकी है। आधुनिक समाजों में सरकारी संस्थाओं के अतिरिक्त गैर सरकारी संस्थाएं भी राज्य को कार्य करने के योग्य बनाती है। गैर सरकारी संगठन में राजनैतिक दल, हितबद्ध समूह और प्रेस आते हैं। रेडियो और टेलीविजन पर सरकार का नियंत्रण रहता है लोक तंत्र की सुरक्षा के लिए प्रेस का स्वतंत्र होना बहुत आवश्यक है। प्रेस ही नागरिकों को जानकारी देता है कि देश में क्या हो रहा है।

20.11 निष्कर्ष

भारतीय समाज सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टियों से एक आधुनिक समाज का उदाहरण है पर जैसा संकेत किया जा चुका है कि भारत की परम्पराओं में समयानुकूलता और अवस्थानुकूलता का गुण पाया जाता है। इन परम्पराओं में ठहराव का गुण नहीं है। भारत की परम्पराओं में शाश्वत होने का गुण है। जो परम्परायें बेकार हो चुकी हैं उनका स्थान दूसरी परम्परायें ले लेती हैं भारत एक विधिक समाज है। विविधता में एकता इसकी विशेषता है।

20.12 सारांश

भारत में आधुनिकीकरण पर विचार करते समय ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित रहा है भारत के अतीत एवं वर्तमान स्वरूप पर विचार करने के लिए तीन दृष्टियों से भारतीय समाज को सरल और आधुनिक स्वरूप में देखने का प्रयास किया गया है। ये तीन दृष्टियां हैं सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक। उक्त तीनों दृष्टियों से भारतीय समाज में परम्परा एवं आधुनिकता पर निगाह टिकी रही है। आधुनिकता पर समाजवैज्ञानिकों के मतों एवं उसके लक्षणों पर चर्चा हुई है। आधुनिकता पर समाजवैज्ञानिकों के मतों एवं उसके लक्षणों पर चर्चा हुई है। भारतीय समाज की परम्पराओं की अपनी विशेषता है उस ओर भी पर्याप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। भारत की परम्पराओं में सर्वसमावेशन की विचित्र शक्ति है जो उन्हें प्राणमय बनाये रखती है।

20.13 प्रश्नोत्तर

लघु उत्तरीय

1. भारतीय समाज की विविधता में एकता पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।
2. आधुनिकता के लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
3. आधुनिकता के विषय में एन्थोनी गिडेन्स के विचारों का परीक्षण कीजिए।

4. आधुनिकता का कौन सा लक्षण आपको अधिक आकर्षक लगता है और क्यों ?

5. भारतीय परम्परा का सबसे आकर्षक एवं प्रभावशाली लक्षण क्या है? समझाइये।

दीर्घ उत्तरीय

1. आधुनिकता पर समाज वैज्ञानिकों के मतों का वर्णन कीजिए। क्या उनके मतों के अनुसार भारतीय समाज एक आधुनिक समाज है?

2. भारतीय परम्पराओं के प्रमुख लक्षणों की विवेचना कीजिए।

3. क्या भारतीय समाज आधुनिक समाज हैं ? तर्क सहित उत्तर दीजिए।

वस्तुनिष्ठ

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1. हमारी परम्पराओं में कुछ तत्व..... हैं।

2. आधुनिकता के बाद विकास का अगला पड़ाव ..... का होगा।

3. सामन्तवाद के बाद ..... से आधुनिकता का जन्म हुआ।

4. रिटजर ने आधुनिकता को ..... का घोड़ा कहा है।

5. धर्म निरपेक्षता का संबंध .....समाज से है।

6. एन्थोनी गिडेन्स आधुनिक समाज को ..... समाज कहते हैं।

7. संयुक्त परिवारों का नाभिकीकरण भारतीय समाज को .....का स्वरूप दे रहा है।

8. जार्ज सिमल .....और मौद्रिक अर्थ व्यवस्था को आधुनिकता का लक्षण मानते हैं।

9. भारत में लड़के और लड़कियों के बीच की दूरी बनाये रखने के लिए .....निषेध है।

10. हमारे ऋषि मुनियों की परम्परायें ..... हैं।

11. आधुनिक समाजों में उपभोग का मानदण्ड निजी न होकर ..... होता है।

20.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चौहान, ब्रजराज 1989, इण्ट्रोड्यूशिंग एशियन सोसायटीज : इण्डिया अ सोशियो इकोनामिक प्रोफाइल, स्टर्लिंग, नई दिल्ली।

2. एमिल, दर्खाइम, 1964 द डिवीजन आव् लेबर इन सोसायटी, फ्री प्रेस ग्लेकों

3. Kornblum William, 1988, Sociology in Changing World : New York : Holt, Rinchant and Winston. Inc. Ch. 16 Poitical Institutions pp. 261-456.

4. Bottomore, T.B., 1972, Sociology : A guide to Problems d Literature. Vintage Books : New York.

5. एस. एल. दोषी, आधुनिकता ज आधुनिकता एवं नवसमाज शास्त्रीय सि 2003 रावत पब्लिकेशन्स जयपुर, दिल्ली।

स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

MASY-07

उच्चतर समाजशास्त्र

प्रथम खण्ड : समाजशास्त्रीय सिद्धान्त : सामाजिक संरचना, संरचनावाद एवं उत्तर संरचनावाद
द्वितीय खण्ड : संरचनात्मक प्रकार्यवाद
तृतीय खण्ड : संघर्ष एवं आलोचनात्मक सिद्धान्त
चतुर्थ खण्ड : सांकेतिक अन्तः क्रियावाद, घटना विज्ञान एवं लोकविधि
पंचम खण्ड : ज्ञान का समाजशास्त्र एवं उत्तर आधुनिकतावाद

विश्वविद्यालय परिसर

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद -211013

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

खण्ड

1

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त : सामाजिक संरचना,संरचनावाद एवं उत्तर संरचनावाद

इकाई- 1 5

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की अवधारणा, तथ्य एवं सिद्धान्त

इकाई- 2 15

सामाजिक संरचना की अवधारणा, मूलभूत प्रत्यय, नाडेल एवम् पार्सन्स के विशेष सन्दर्भ में

इकाई- 3 22

संरचनावाद का सम्प्रत्यय, लेवी स्ट्रास का संरचनावादी विश्लेषण

इकाई- 4 29

उत्तर संरचनावाद की अवधारणा, संरचनावाद एवम् उत्तर संरचनावाद में अन्तर

इकाई- 5 36

संरचनावाद एवं उत्तर संरचनावाद की समकालीन प्रासंगिकता समाजशास्त्रीय मूल्यांकन

खण्ड- 1 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त : सामाजिक संरचना, संरचनावाद एवं उत्तर संरचनावाद

इस खण्ड में निम्नलिखित इकाइयाँ हैं -

इकाई - 1 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की अवधारणा, तथ्य एवं सिद्धान्त।

इकाई - 2 सामाजिक संरचना की अवधारणा, मूलभूत प्रत्यय, नाडेल एवं पार्सन्स के विशेष संदर्भ में।

इकाई - 3 संरचनावाद का सम्प्रत्यय, लेवी स्ट्रास का संरचनावादी विश्लेषण।

इकाई - 4 उत्तर संरचनावाद की अवधारणा, संरचनावाद एवं उत्तर संरचनावाद में अन्तर।

इकाई - 5 संरचनावाद एवं उत्तर संरचनावाद की समकालीन प्रासंगिकता समाजशास्त्रीय मूल्यांकन।

इकाई - 1 : समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की अवधारणा, तथ्य एवं सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा-

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त : अर्थ एवं परिभाषा

1.3 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की विशेषताएँ

1.4 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के निर्माण के आधार

1.5 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त एवं तथ्य

1.6 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के प्रकार

1.7 सारांश

1.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.9 बोध प्रश्न

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 : उद्देश्य

इस इकाई का मौलिक उद्देश्य समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की अवधारणा और उनकी विशेषताओं के बारे में जानकारी प्रदान करना है । समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के निर्माण को लेकर अलग-अलग विचारकों की अलग-अलग प्राथमिकता है। कुछ विद्वान समाज को प्रमुख मानते हैं तथा कुछ विद्वान व्यक्ति को प्रमुख मानते हैं। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का अर्थ एवं विशेषतायें जान पायेंगे ।
- समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की प्रक्रिया का निर्माण समझ सकेंगे।
- समाजशास्त्रीय सिद्धान्त एवं तथ्य के अन्तर्संबंध को समझेंगे।
- समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के विभिन्न प्रकारों को समझेंगे।

1.1 : प्रस्तावना

सामाजिक अथवा समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के सम्बन्ध में काफी मत-भ्रांति फैली हुई है,क्योंकि इसका प्रयोग कई अर्थ एवम् संदर्भ तथा अनेक क्रियाओं के लिए किया गया है। इन क्रियाओं के आपसी सम्बन्ध होने के कारण कुछ समाज वैज्ञानिकों ने पद्धतिशास्त्र, अवधारणा, प्राकल्पना, समाजशास्त्रीय अभिमुखन, समाजशास्त्रीय निर्वचन, सामाजिक विचारधारा जैसी अनेक क्रियाओं एवं् विधाओं को समाजशास्त्रीय सिद्धान्त मानने अथवा समझने की भूल की है। एक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त मानवीय सामाजिक अन्तर्क्रिया की प्रकृति, प्रतिमान तथा गत्यात्मकता के संबंध में व्याख्या व भविश्योक्ति प्रस्तुत करता है। समाज के संबंध में प्रारंभिक समाज वैज्ञानिकों जैसे मेक्स वेबर, दुर्खाइम, मीड, जिमेल,

पेरेटो आदि के विचारों ने आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की आधारशिला तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

1.2 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त : अर्थ एवं परिभाषा

सिद्धान्त के विभिन्न समाजशास्त्रियों ने अलग-अलग अर्थ निकाले हैं। इस कठिनाई का एक प्रमुख कारण यह है कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत सम्बोधों के लिए जिन शब्दों का उपयोग किया गया है कि वे साधारण भाषा की शब्दावली से लिए गये हैं। इन शब्दों के अर्थ सामान्य शब्दकोषों से मिलते हैं। उदाहरणतः व्यक्तित्व, समूह, संस्कृति शब्द शब्दकोष में उपलब्ध हैं जिनके भाषायी अर्थ उनमें प्रस्तुत हैं, पर ये अर्थ समाजशास्त्रीय अर्थ से भिन्न हैं। सिद्धान्त सम्बोध के शब्दकोषीय अर्थ को 'व्यवहार' से विपरीत मानकर 'अव्यावहारिकता' से जोड़ा गया है। प्रायः बोलचाल की भाषा में यह कहा गया है कि जो 'सिद्धान्त में उपयुक्त है वह व्यवहार में नहीं।' यह उदाहरण सिद्धान्त के उस अर्थ से जुड़ा है, जो कि व्यवहार में विपरीत है। अर्थ की इस विविधता के होते हुए भी यह निश्चित रूप से बिना किसी विवाद के, स्वीकार किया जाना चाहिए कि हम अपने अंतिम उद्देश्य में समाज की वास्तविकता को समझना चाहते हैं। यदि हम इस वास्तविकता को समझ पायें तो हम समाज के भविष्य की दिशा के बारे में पर्याप्त ध्यान दे सकते हैं।

यह सत्य है कि सामाजिक यथार्थता का सरोकार व्यक्ति और समाज से होता है और इसका अर्थ यह हुआ कि यदि कोई समाजशास्त्रीय सिद्धान्त बनाना है तो उसे अपना केन्द्रीय बिन्दु व्यक्ति को बनाना होगा या समाज को? दुर्खाइम ने अपने सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु समाज को बनाया तथा वेबर ने भी समाज को ही केन्द्रीय बिन्दु स्वीकार किया। मीड, विलियम जेम्स ने व्यक्ति को केन्द्र बिन्दु मानकर घटना सिद्धान्त (Phenemenology), लोकविधि विज्ञान (Ethnomethodology) का निर्माण किया। जोनाथन टर्नर ने अपनी पुस्तक The Structure of sociological Theory (1991) में सिद्धान्त के विश्लेषण में अमूर्तिकरण पर जोर दिया। उन्होंने विद्वानों को आनुभाविक स्तर पर सिद्ध करने पर जोर दिया। सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया में खण्डन (Refutation) की भूमिका निर्णायक है।

टर्नर सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि सिद्धान्त अत्यंत अमूर्त तथा पर्याप्त रूप से सुस्पष्ट होते हैं तथा इनका आनुभाविक परीक्षण किया जा सकता है। टर्नर की दृष्टि में केवल आनुभाविक सामान्यीकरण (Empirical Generalisation) और इसी तरह आनुभाविकता पर बनाये गये आकस्मिक माडल कतई सिद्धान्त नहीं है। अधिक से अधिक ऐसे बयान केवल क्षेत्रीय तथ्यों का संक्षिप्त रूप मात्र है। वेलेस और पुल्फ अपनी पुस्तक Contemporary Sociological Theory : Continuing the Classical Tradition (1980) के अनुसार समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के बारे में कहते हैं कि कोई भी सिद्धान्त अनिवार्य रूप से निगमनात्मक (Deductive) होता है। सिद्धान्त ही वास्तविक घटनाओं को समझने का एक यथेष्ठ अनकूलन है, पद्धति है। निगमनात्मक कथन सामान्य प्रस्तावों के निरूपण में सहायक होते हैं। इन लेखकों के अनुसार निगमनात्मक कथन सामान्य प्रस्ताव बनाने की पद्धति सरल व इस प्रकार हैः सबसे पहले इन अवधारणाओं की परिभाषा देते हुए, कुछ स्थापित मान्यताओं को स्पष्ट करते हैं, कुछ वैज्ञानिक नियमों के अनुसार अवधारणाओं और स्थापित मान्यताओं को कोटियों में रखते हैं और इनसे निगमन करने अन्ततोगत्वा सामान्य प्रस्ताव बनाते हैं। यह प्रस्ताव ही सिद्धान्त कहलाते हैं। पारसंस ने अपनी पुस्तक The Structure of Social Action (1949) में कहा है कि सिद्धान्त में तथ्य और अवधारणाएं होती हैं । यह तथ्य कुछ न होकर प्रघटनाओं के बारे में कुछ निश्चित प्रभाव या वक्तव्य होते हैं। एक जैसे तथ्य मिलकर अवधारणा को बनाते हैं। सर्वप्रथम तथ्य होते हैं, तथ्यों से अवधारणाएं बनती हैं

और दो या दो से अधिक आनुभाविक अवधारणाओं के बीच में जो तार्किक सम्बन्ध होते हैं उन्हें सिद्धान्त कहते हैं।

मर्टन ने अपनी पुस्तक Social Theory and Social Structure (1957) में समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की सुस्पष्ट व्याख्या की है। उनके अनुसार किसी भी सिद्धान्त का बुनियादी आधार आनुभाविकता है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य सामाजिक एकरूपताओं पर बल देना है, पर इसकी भी एक प्रक्रिया है। वह यह है कि सर्वप्रथम हम जो कुछ देखते हैं उनमें जो समानता हमें मिलती हैं उसके आधार पर पृथक-पृथक आनुभाविक प्रस्ताव रखे गये हैं। इसके बाद इन आनुभाविक एकरूपताओं को जोड़कर इनमें प्रयुक्त चरों के तार्किक सम्बन्धों को देखा जाता है। इस प्रकार आनुभाविक स्तर पर पारस्परिक रूप से तार्किक सम्बन्ध रखने वाली ये एकरूपताएं ही सिद्धान्त को बनाती हैं। पीटर बर्जर (1963) ने समजशास्त्र को मानववादी संदर्श में देखने का प्रयास किया है।

1.3 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की विशेषताएँ

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट होती हैं -

- सिद्धान्त रूप में अमूर्त (Abstract) होते हैं। वेबर, मार्क्स, दुर्खाइम, पेरेटो आदि इस अर्थ में हम किसी भी समाजशास्त्र के संस्थापकों का उल्लेख करें तो ज्ञात होता है कि सभी इस मत के हैं। कि सिद्धान्तों में व्यक्तिगत प्रसंगों का मूर्त रूप होता है। अनुसंधानकर्ता परिवार, जाति, गाँव, शहर, व्यवसाय, आदि अनेक सामाजिक - सांस्कृतिक प्रसंगों को देखता है। इन प्रसंगों के साथ व्यक्तियों, स्थानों, आदि का जो भी उल्लेख होता है उसे हटकर या उससे मुक्त होकर अमूर्तिकरण किया जाता है।
- सिद्धान्त आनुभाविक दृष्टिकोण से खुले होते हैं अर्थात आनुभाविक घटनाओं को आँकड़ों के माध्यम से एकत्रित कर व्याख्या में महत्त्व दिया जाता है। पारसंस और मर्टन बराबर इस तथ्य को दोहराते हैं कि सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु आनुभाविक एकरूपता होती है। सिद्धान्त जहाँ एक ओर सामाजिक अनुसंधान को पोषण देता है, वहीं दूसरी ओर सामाजिक अनुसंधान सिद्धान्त को सुदृढ़ ओर शक्तिशाली बनाता है। सिद्धान्त में एक निश्चित सूक्ष्म दृष्टि या गहरी पहुँच का होना अनिवार्य हैं।
- सिद्धान्त निर्माण के लिए प्राक्कथनों की आवश्यकता होती है। प्राक्कथनों के विन्यास (Set) में परस्पर एक प्राक्कथन दूसरे से तार्किक रूप से सम्बद्ध रहता है। मर्टन के अनुसार किसी भी सिद्धान्त में प्रयुक्त अवधारणाएं एक-दूसरे से तार्किक आधार पर जुड़ी होती है। यदि इन अवधारणाओं में कोई पारस्परिक तार्किकता नहीं है तो ये अवधारणाएँ केवल कथन मात्र रह जाता है। अतः जब तक सिद्धान्त में आने वाली आवश्यकताओं में तार्किक बदलाव नहीं होता, सिद्धान्त नहीं बनता ।
- सिद्धान्तों का परीक्षण एवम् सत्यापन संभव होना चाहिए। कोई भी सिद्धान्त केवल कागजी नहीं होता। व्यावहारिक जीवन में परीक्षण के बाद खरा उतरने पर ही कोई सिद्धान्त, सिद्धान्त का दर्जा पाता है और इसलिए जब सिद्धान्त परीक्षण के अनुरूप नहीं बनता तो उसमें परिवर्तन लाना आवश्यक हो जाता है। सिद्धान्त का एक निश्चित ताल-मेल परीक्षण के साथ होता है।
- सिद्धान्त ऐसे होने चाहिए जो आनुभाविक स्तर पर गलत सिद्ध किये जा सकें। कुछ विद्वानों

की यह धारणा है कि एक बार जो सिद्धान्त बन गया वह हमेशा के लिए स्थापित हो गया। यह भी माना जाता है कि सिद्धान्त कभी गलत नहीं होता। सिद्धान्त के प्रति अपनाया गया इस प्रकार का दृष्टिकोण दोषपूर्ण है। सिद्धान्तवेत्ताओं का एक ऐसा समूचा सम्प्रदाय है जिसकी मान्यता है कि सिद्धान्त की नियति आनुभाविक परीक्षण में उसके गलत होने में है। यह इसलिये कि जब एक बार बनाया गया सिद्धान्त आनुभाविकता की कसौटी पर सही नहीं उतरता, तो सिद्धान्त निर्माण के प्रयास अधिक गहन हो जाते हैं और अध्ययन की यह गहनता ही सिद्धान्त की गति को एक अनोखा बढ़ावा देती है।

- सिद्धान्त में प्राक्कथनों को निगमन (Deductive) योजना के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है । इन प्राक्कथनों के आधार पर कार्य-कारक के सम्बन्ध स्पष्ट किये जाते हैं। सिद्धान्त की प्रकृति और संरचना निगमनात्मक होती है। सिद्धान्त सामाजिक नियम नहीं है। यह तो अवधारणाओं की एक व्यवस्था है जिसका उद्देश्य इन सामाजिक नियमों की व्याख्या करना है । कोई भी सिद्धान्त हो, इनका कार्य एक सामान्य कार्य अवलोकन की नियमितताओं का विश्लेषण करता है। इसी कारण इसकी प्रकृति निगमनात्मक होती है। अनुसंधानकर्ता जो कुछ आनुभाविकता में देखता है उसमें एकरूपता को कोटिबद्ध करता है। यह एकरूपता आगमन (Induction) कही जाती है। जब इस एकरूपता को विभिन्न समूहों और संगठनों पर लागू किया जाता है तो इसे निगमन कहते हैं।

- सिद्धान्त अव्यावहारिक या संक्षिप्त भी होते हैं। कुछ वैज्ञानिकों का यह कहना है कि सामाजिक सिद्धान्त और कुछ न होकर केवल मिथक मात्र होते हैं। जब तक इन पृथक-पृथक सिद्धान्तों का समन्वय नहीं होता, किसी भी समाज को सम्पूर्ण रूप से नहीं समझा जा सकता। वास्तविकता यह है कि कोई भी सत्य पूर्ण (Absolute) नहीं होता। ऐसी अवस्था में किसी भी सिद्धान्त में सार्वभौमिकता नहीं होती।

- सिद्धान्त की स्वतः शोध प्रणाली (Heuristic Device) है। यह सत्य है कि सिद्धान्त आनुभाविक सिद्धान्त में एक विधि के रूप में काम आता है। यह आनुभाविक अध्ययन का मार्गदर्शन है। जब वेबर सामाजिक क्रिया के आदर्श प्रारूप (Ideal type) या दुर्खाइम आत्महत्या (Suicide) के प्रकार बताते हैं तो ये विद्वान सिद्धान्त अध्ययन करने की एक प्रणाली की चर्चा करते हैं।

- सिद्धान्त गुणात्मक (Qualitative) होते हैं। अनुसंधानकर्ता किसी भी प्रसंग या घटना के अध्ययन में सांख्यिकीय अथवा वैयक्तिक अध्ययन जैसी कोई भी प्रविधि अपनाये, जब आनुमानिक क्षेत्र से यह संख्यात्मक तथ्यों को एकत्र करता है तो ये संख्याएं बोलती नहीं हैं वरन तार्किक कथनों को स्पष्ट करती हैं।

- सिद्धान्त कामचलाऊ (Provisional) होते हैं। कोई भी सिद्धान्त स्थायी नहीं होता उसमें बराबर परिवर्तन आता रहता है। सिद्धान्त का आधार तथ्य होते हैं, इनसे आगे अवधारणा होती हैं और जब यह तथ्य और अवधारणाएँ बदल जाती हैं तो सिद्धान्त भी परिवर्तित हो जाते हैं।

- सिद्धान्त भविष्यवाणी करने की क्षमता भी रखते हैं।

1.4 समाजशास्त्रीय निर्माण के आधार

सिद्धान्त निर्माण को लेकर विगत दशकों के कुछ सशक्त बौद्धिक कृतियाँ निर्मित हुई हैं लेकिन वे भी सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया और उससे सम्बन्धित सम्बोधों व चरणों की व्याख्या करते हैं न

कि तार्किक रूप से परिपक्व उन सिद्धान्तों की जो कि आनुभानिक आधार पर निर्मित होते हैं। जोनाथन टर्नर ने सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया में खण्डन की भूमिका निर्णायक के रूप में स्वीकार किया है। कार्ल पोपट कहते हैं कि सिद्धान्त का निर्माण ऐसा होना चाहिए कि आनुभाविक क्षेत्र में जाकर यह खण्ड खण्ड हो जाये। सिद्धान्त के प्रत्येक खण्डन को बहुत बड़ी सफलता माननी चाहिये। यह सफलता दोनों समाजशास्त्रियों की है सिद्धान्त प्रतिपादित करने वाले की और इस सिद्धान्त का खण्डन करने वाले की। यदि हम अर्वाचीन सिद्धान्त वेत्ताओं की सिद्धान्त सम्बन्धी टिप्पणियों को देखें तो यह निर्विवाद है कि सैद्धान्तिक उपागम में विविधता होना सिद्धान्त निर्माण की कमजोरी नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि सैद्धान्तिक विविधता एवं सिद्धान्त का आनुभाविक खण्डन ही सिद्धान्त की शक्ति है। सिद्धान्त निर्माण के लिए एक वैज्ञानिक प्रक्रिया होती है और इस प्रक्रिया से हरेक सिद्धान्त को गुजरना पड़ता है। वास्तव में सिद्धान्त निर्माण एक मानसिक प्रक्रिया है, यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न विचारों को विकसित और पोषित किया जाता है। विचारों के माध्यम से हम तथ्य की व्याख्या करते हैं कि घटनाएं कैसे और क्यों गुजरती हैं? सिद्धान्त की संरचना कई बुनियादी तत्वों से बनती है। यह बुनियादी तत्व ही एक तरह से सिद्धान्त की इमारत के पत्थर हैं। सिद्धान्त की संरचना में चार तत्व अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं। यह तत्व हैं - तथ्य, अवधारणाएँ, चर कथन तथा स्वरूप।

समाजशास्त्र में तथ्यों के विश्लेषण पर बहुत अच्छी सामग्री है। तथ्य की कसौटी परीक्षण के द्वारा जानी जाती है। परीक्षण में सत्य खरा भी उतर सकता है और खोटा भी। खरा हो या खोटा, तथ्य तो तथ्य ही है। इसी कारण पारसंस कहते हैं कि सार रूप में तथ्य प्रघटनाओं के बारे में एक कथन है जिसका आनुभाविकता के क्षेत्र में परीक्षण होना आवश्यक है। पारसंस के अनुसार तथ्य के दो लक्षण हैं - (1) प्रघटना के बारे में कथन और (2) इस कथन का आनुभाविक संदर्भ में परीक्षण। किसी भी सिद्धान्त की आंतरिक तह में मौलिक वस्तु तथ्य है।

चर के निश्चित गुण होते हैं जैसे कि आकार, अंश, गहनता, तादाद, इत्यादि। जब चर का प्रयोग किया जाता है तो वैज्ञानिक दृष्टि से इसके सभी गुणों की व्याख्या की जाती है। घटनाओं को समझने के लिए चर की व्याख्या अनिवार्य है किसी भी सिद्धान्त के मूल में चरों का प्रयोग होता है ये चर बदलते रहते हैं और सिद्धान्त में इन चरों के पारस्परिक तार्किक सम्बन्धों को देखा जाता है। दुर्खाइम का सामाजिक सुदृढ़ता का सिद्धान्त सावयवी और यांत्रिक समाज के प्रकारों पर निर्भर है। सावयवी और यांत्रिक पर चर हैं और सिद्धान्त निर्माण में हम चरों की व्याख्या वैज्ञानिक रूप से होनी चाहिये।

सिद्धान्त में अवधारणाएं एक दूसरे से जुड़ी हुई होनी चाहिए। अवधारणाओं का यह जोड़ या उनका पारस्परिक सम्बन्ध सैद्धान्तिक कथन है । अवधारणाओं के बीच जो तार्किक सम्बन्ध होता है उसका वाक्य रूप में प्रस्तुतिकरण ही सैद्धान्तिक कथन है। टर्नर ने किसी भी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के उपागम में इन कथनों की निर्णायक भूमिका बनायी है। जब हम सैद्धान्तिक कथनों को एक समूह में रख देते हैं तो यह कथन फॉरमैट कहलाते हैं। फॉरमेट सिद्धान्त को किसी निश्चित योजना में रखने की एक विधि है। सिद्धान्त प्रस्तुत करने के फॉरमेट या तरीके कई प्रकार के हैं। इसमें एक फॉरमेट स्वतः सिद्ध (Axiomatic) कथन है। इस तरह के कथन पूरी तरह से अमूर्त होते हैं और अपनी परिभाषा से ही इन्हें सत्य माना जाता है। इस तरह के स्वतः सिद्ध कथनों के परीक्षण की कोई गुंजाइश नहीं होती। मनुष्य मरणशील है। यह एक स्वतः सिद्ध कथन है और इसे सभी मान कर चलते हैं स्वतः सिद्ध सिद्धान्त के फॉरमेट का बहुत बड़ा लाभ यह है कि अत्यधिक अमूर्त होने के कारण इसे विशाल समाज पर लागू किया जा सकता है। दूसरा, इन स्वतः सिद्ध सिद्धान्तों से प्राक्कल्पनाओं का निर्माण सहजता से किया जा सकता है। सैद्धान्तिक कथनों के फॉरमेट का दूसरा प्रकार आनुभाविक है जिसमें हम दो या दो से अधिक चरों में सम्बन्ध देखते हैं। स्वतः सिद्ध की तुलना में फॉरमेट का यह प्रकार

अधिक अमूर्त नहीं होता । टर्नर ने फॉरमेट के उपागम को चार श्रेणियों में रखा है। फॉरमेट का पहला प्रकार अधिक सैद्धान्तिक रूपरेखा (Meta-Theoretical Schemes) का है। इसमें सैद्धान्तिक गतिविधि विशालकाय होती हैं। इस तरह के सिद्धान्तों में उन मुद्दो को सम्मिलित किया जाता है जो बुनियादी मुद्दे हैं और जिनके बारे में सिद्धान्त को ध्यान देना चाहिये। इस तरह के अधि सिद्धान्त किसी भी समाज विज्ञान की रीढ़ है। टर्नर ने फारमेट के दूसरे प्रकार को विश्लेषणात्मक विन्यास (Analytical Schemes) कहा है। इस तरह के विन्यास में तथ्य और अवधारणा का सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया जाता है। प्रत्येक अवधारणा का वर्गीकरण किया जाता है और फिर इस वर्गीकरण के आधार पर समाज की व्याख्या के लिए विश्लेषणात्मक परियोजनाएं बनायी जाती हैं। टर्नर ने फॉरमेट का तीसरा प्रकार प्रस्तावमूलक विन्यास (Propositional Format) कहा है। इस तरह के सिद्धान्तों में अमूर्तिकरण बहुत अधिक होता है। यह फॉरमेट कामचलाऊ होता है। फॉरमेट का चौथा प्रकार प्रतिरूपण रूपरेखा (Modelling Format) है। मॉडल द्वारा सामाजिक घटनाओं को व्यवस्थित रूप से रखा जाता है। इस तरह के मॉडल आनुभाविक घटनाओं को समझने में सहायक होते हैं।

1.5 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त एवम् तथ्य

दुर्खाइम ने जब समाज की व्याख्या की तब उन्होंने सामाजिक तथ्य का उल्लेख विस्तृत रूप से किया। दुर्खाइम का तो यहाँ तक कथन है कि समाजशास्त्र और कुछ न होकर सामाजिक तथ्यों का अध्ययन है। दुर्खाइम ने सामाजिक तथ्य की व्याख्या सामाजिक बाध्यता के संदर्भ में की है। उनके अनुसार सामाजिक तथ्य वह है जिसका व्यक्ति पर दबाव होता है। व्यक्ति चाहे या न चाहे उसे इस दबाव को सहने के लिए बाध्य होना पड़ता है। तथ्य की दूसरी विशेषता इसकी बाध्यता है। दुर्खाइम का कहना है कि तथ्य समाज द्वारा निर्धारित किये जाते हैं, परम्परा से बनाये जाते हैं अतः इनके बारे में सोचने की आवश्यकता व्यक्ति को नहीं होती। इसी कारण दुर्खाइम तथ्यों को व्यक्ति की सोच के बाहर जानते है। दुर्खाइम के अनुसार इस तरह तथ्य वास्तविकताएँ है और व्यक्ति उन्हें स्वीकारने के लिए बाध्य होता है। सलकर पारसंस एक स्थान पर तथ्य की सामान्य अर्थों में व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार तथ्य का वास्तविक होना आवश्यक नहीं है। इसकी कसौटी तो इसका परीक्षण है। खरा हो या खोटा तथ्य तो तथ्य ही है। इसी कारण पारसंस कहते हैं कि सार रूप में तथ्य प्रघटनाओं के बारे में एक कथन है जिसका आनुभाविकता के क्षेत्र में परीक्षण होना आवश्यक है। तथ्य के दो लक्षण है। (1) प्रघटना के बारे में कथन और (2) इस कथन का आनुभाविक संदर्भ में परीक्षण । किसी भी सिद्धान्त की आंतरिक तह में या उसके क्षेत्र में मौलिक वस्तु तथ्य है।सभी समाजशास्त्री यह चाहते हैं कि उनके सिद्धान्त बेहतर हों। सिद्धान्त और तथ्यों के मध्य अन्तःक्रिया निरन्तर होती रहे, यह भी आवश्यक है। ऐसे सिद्धान्त जो कि तथ्यों को समझाने की क्षमता नहीं रखते अथवा जो कोई दिशा प्रदान नहीं करते, उन्हें नकारा जाना चाहिए। अगर हम बारीकी से इनका परीक्षण करें तो यह पता चलता है कि अधिकांश सिद्धान्त समाजशास्त्र में तथ्यों के द्वारा निर्मित नहीं हैं। यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि वे सिद्धान्त जो कि तथ्यों के द्वारा निर्मित सुनिश्चित नहीं हुए हैं, किस तरह लोकप्रिय हो जाते हैं । इसका प्रमुख कारण यह है कि सिद्धान्त की परिभाषा विभिन्न रही है और प्रमुख रूप से समाजशास्त्र में सिद्धान्तों का उपयोग यथार्थ की प्रकृति को समझने से जुड़ा रहता है। इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अभिमुखन और उपागम के रूप में अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय है न कि सिद्धान्त की उस परिभाषा से जिसमें इसे प्राक्कथनों के मध्य ऐसा तार्किक संबंध जिनकी व्याख्या आनुभाविक तथ्यों के आधार पर हो सकती हो, माना गया है। अतः समाजशास्त्र के सिद्धान्त एक ओर तो सिद्धान्त एवम् उसके सत्तामीमांसा व ज्ञानमीमांसा आधार से जुड़े हैं तो दूसरी ओर सिद्धान्त एवम् तथ्य के परस्पर सम्बन्धों से ।

1.6 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के प्रकार

विभिन्न सिद्धान्तवेत्ताओं ने सामाजिक वास्तविकताओं के विश्लेषण के लिए पृथक पृथक सिद्धान्त बनाये हैं। डॉन मार्टिनडेल (Don Martindale) ने अपनी पुस्तक Nature and Types of Sociological Theory, 1961 में पाँच सम्प्रदायों (Schools) की चर्चा की है। प्रत्यक्षवादी सावयववाद (Positivistic Organism) 2. संघर्ष सिद्धान्त (Conflict Theory), 3. स्वरूपात्मक सिद्धान्त (Formal Theory), 4. सामाजिक व्यवहारवाद (Social Behaviourism) और 5. समाजशास्त्रीय प्रकार्यवाद (Sociological Functionalism) प्रत्यक्षवादी सावयववादी सिद्धान्त के मानने वालों का कहना है कि जिस प्रकार हम भौतिक वस्तुओं का किसी प्रयोगशाला में अवलोकन और प्रयोग करके निरीक्षण करते हैं, उसी तरह सामाजिक प्रसंगों का भी परीक्षण किया जा सकता है। प्रारम्भ में इस सिद्धान्त को **अगस्त कोम्त** ने रखा और बाद में **गिडन्स** ने संरचनावाद के सिद्धान्त में प्रत्यक्षवाद का तीव्र विरोध किया। संघर्ष सिद्धान्तवेत्ता विचारधारा और वैज्ञानिक सिद्धान्त के बीच में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करते हैं। यह कहा जाता है कि मार्क्स का समाजवादी सिद्धान्त एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है। संघर्ष सिद्धान्त वेत्ताओं ने जहाँ एक तरफ किसी निश्चित विचारधारा को अपनाया, वहीं उन्होंने सैद्धान्तिक विधि को भी स्वीकार किया। उदाहरण के लिए जब मार्क्स उत्पादन पद्धति, उत्पादन शक्ति और उत्पादन सम्बन्ध की चर्चा करते हैं तो उनके लिये इतिहास एक निश्चित वैज्ञानिक विधि है। संघर्ष सिद्धान्त किसी एक स्वरूप में नहीं है। उनके भी कई प्रकार हैं। कार्ल मार्क्स उत्पादन सम्बन्धों (Production Relations) पर जोर देते हैं, **राल्फ हैडरेन डार्फ**, प्राधिकार सम्बन्धों (Authority Relations) की चर्चा करते हैं और कोजर व्यवस्था के अन्तर्गत ही होने वाले संघर्ष को अपने विवेचन का मुद्दा बनाते है। इस सम्प्रदाय का सामान्य रूप से यह कहना है कि संघर्ष के सभी प्रकार समाज के लिए विघटनकारी नहीं हैं, संघर्ष से समाज में सुधार आता है, एकता आती है।

स्वरूपात्मक सिद्धान्त वास्तव में सत्य सिद्ध सिद्धान्तों (Axiomatic Theories) का एक प्रकार है। इन सिद्धान्तों के पीछे बहुत बड़ा विचार यह है कि हमें कुछ ऐसे अत्यन्त अमूर्त प्रस्तावों (Abstract Propositions) का निर्माण करना चाहिए जिनके माध्यम से हम कतिपय आनुभाविक घटनाओं व प्रसंगों को समझा सकें, उनका विश्लेषण कर सकें। सामान्यतया हम कुछ अमूर्त प्रस्तावों को एक निश्चित श्रेणी में रख देते हैं और उन्हें उच्च स्तर के नियम समझते हैं। इन नियमनों से हम नियमन करते हैं और इस भाँति आनुभाविक यथार्थता का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। स्वरूपात्मक सिद्धान्त में बुनियादी रूप से हमारी विचारधारा यह है कि हम अमूर्त नियमों को बनाते हैं और इसी कारण इन्हें स्वयं सिद्ध सिद्धान्तों के हाशिये पर रखते हैं। स्वरूपात्मक सिद्धान्त अपने सम्पूर्ण अर्थ में आनुभाविक घटनाओं का अमूर्तीकरण है, लेकिन यह अमूर्तीकरण सामान्यतया दो स्तरों का होता है। पहला अमूर्तीकरण निम्न स्तर का होता है। जिसमें हम आनुभाविक सामान्यीकरण (Empirical Generalization) पालि जो कुछ होता है उसे अमूर्तरूप में रखते है। फिर इससे आगे एक समान आनुभाविक सामान्यीकरण को जोड़कर मध्यस्तर के प्रस्ताव (Middle Range Propositions) बनाते हैं। जब छोटे स्तर का अमूर्तीकरण हो जाता है तब हम उच्च स्तर के अमूर्तीकरण की ओर बढ़ते हैं। इस स्तर पर पहुँच कर हम व्याख्यात्मक मॉडल, वृहद सिद्धान्त और स्वरूपात्मक सिद्धान्त तैयार करते हैं। जहाँ मार्क्स ओर वेबर समाज को प्रधानता देते हैं, वहाँ सामाजिक व्यवहारवादी सिद्धान्तवेत्ता अपने उपागम में सूक्ष्म (Micro) केन्द्र बिन्दु व्यक्ति को मानते हैं। इसके अन्तर्गत प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावाद (Symbolic Interactionism) तथा सामाजिक क्रिया (Social Action) सिद्धान्तों को रखा गया है। समाजशास्त्रीय प्रकार्यवाद का उद्‌गम सामाजिक मानवशास्त्र से हुआ है। मानवशास्त्रियों में मेलिनोस्की तथा रेडक्लिफ ब्राउन ने प्रकार्यवाद को सर्वप्रथम विकसित किया।

कोहन ने अपनी पुस्तक Modern Social Theory में सिद्धान्तों के चार प्रकार बताये हैं- विश्लेषणात्मक सिद्धान्त (Analytical Theory), मानदण्डात्मक (Normative Theory), वैज्ञानिक सिद्धान्त (Scientific Theory), तात्त्विक सिद्धान्त (Metaphysical Theory)। पहले दो प्रकार के सिद्धान्तों को कोहन समाजशास्त्रीय सिद्धान्त नहीं मानते। विश्लेषणात्मक सिद्धान्त तर्कशास्त्र एवम् गणितशास्त्र के समरूप होते हैं जो कि वास्तविक विषयों के बारे में कोई कथन प्रस्तुत नहीं करते, अपितु ऐसे प्राक्कथनों के योग से बने होते हैं जो कि स्वयं में सत्य है और जिनके माध्यम से अन्य प्राक्कथनों का निर्माण संभव है। दूसरा मानदण्डात्मक सिद्धान्त एक ऐसी आदर्श स्थिति की परिकल्पना करता है जिसको प्राप्त करने के लिए व्यक्ति/व्यक्तियों को प्रयास करना चाहिए। मानदण्डात्मक सिद्धान्त, 'क्या होना चाहिए, के पक्षधर हैं। ऐसे सिद्धान्त मूल्यों व आदर्शों की प्रस्थापना करना चाहते हैं जिससे कि मानवीय व्यवहार व सामाजिक व्यवस्था सुचारू रूप से चल सकें। वैज्ञानिक सिद्धान्त एक सार्वभौमिक आनुभाविक कथन है जो कि दो अथवा दो से अधिक घटनाओं में कार्यकरण का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसका एक सरलतम उदाहरण यह है कि "जब X घटित होगा तब तब Y भी घटित होगा" - अतः यह दो कथन दो चरों के मध्य निर्भरता का अवश्यंभावी प्रभाव दर्शाता है। एक वैज्ञानिक सिद्धान्त सार्वभौमिक व्यक्ति होता है क्योंकि यह उन स्थितियों के बारे में कोई कथन प्रस्तुत करता है जो कि स्थितियों की समरूपता होने पर वैसी हो होगी। वैज्ञानिक सिद्धान्त आनुभाविक भी होते हैं। आनुभाविक अनुभव किन्हीं विशिष्ट घटनाओं का होता है जबकि सिद्धान्त सार्वभौमिक स्तर पर लागू होते हैं। अतः वे किन्हीं विशिष्ट घटनाओं के बारे में कथन नहीं हो सकते। तात्विक सिद्धान्त (Metaphysical theories) का परीक्षण संभव नहीं है, हालाँकि उसका तार्किक मूल्यांकन संभव है। तार्किक सिद्धान्तों की भूमिका सुझावात्मक है, उनके द्वारा व्याख्या करने की प्रक्रिया व तर्कों की संरचना का सशक्त रूप प्राप्त होता है। तर्क का स्वरूप व पद्धति तात्विक सिद्धान्त से प्राप्त होती है।

कोहन के वर्गीकरण के अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण वर्गीकरण वृहद सिद्धान्त (Grand theory) एवम् मध्य वर्गीय सिद्धान्त (Middle Range Theory) के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मर्टन ने इसकी चर्चा करते हुए वृहद सिद्धान्तों को एक ऐसा प्रयास माना है कि एकीकृत सिद्धान्त का निर्माण कर सामाजिक व्यवहार, सामाजिक संगठन एवम् सामाजिक परिवर्तन की एकरूपता की व्याख्या कर सके। समाजशास्त्र में वृहद सिद्धान्त के प्रमुख प्रवर्तक पारसन्स रहे हैं। उनके मतानुसार इस सिद्धान्त का प्रमुख लाभ इसमें है कि यह प्रघटना को समझने के लिए एक व्यापक अभिमुखन प्रस्तुत करता है। साथ ही इसके माध्यम से बिखरे हुए और व्यापक आनुभाविक विज्ञान को समन्वित किया जा सकता है।

1.7 सारांश

सिद्धान्त की परिभाषा में एकरूपता बहुत कम है फिर भी सम्मति यह है कि सिद्धान्त हर तरह से अमूर्त होता है तथा उसमें कम से कम मूल (Substantive) वैयक्तिक सामग्री होनी चाहिए। क्षेत्र में मिली आनुभाविकता के सार को सिद्धान्त में प्रस्तुत किया जाता है और फिर दूसरे इस सार में जो भी चर या अवधारणाएं होती हैं उन्हें तार्किक रूप से जोड़ा जाता है। इस तरह सिद्धान्त का निर्माण तथ्यों, अवधारणाओं, आनुभाविकता और तार्किक सम्बन्धों पर आधारित होता है । इस तरह के तर्क में निगमन होना आवश्यक है। कोई भी सिद्धान्त हो, उसकी एक निश्चित संरचना होती है। इस संरचना में तथ्य, अवधारणा, चर, कथन और फॉरमेट का कोई न कोई स्वरूप अवश्य होता है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकार कई तरह के हैं। निश्चित रूप से कोई भी वर्गीकरण अपने आप में पूर्ण नहीं है। जहाँ एक ओर प्रकार्यवादी सिद्धान्तवेत्ता समाज को एक व्यवस्था और सर्वसम्मति के

रूप में रखते हैं, वहीं संघर्ष सिद्धान्तवेत्ता समाज को एक व्यवस्था और सर्वसम्मति के रूप में रखते हैं। सिद्धान्तों के इस वर्गीकरण में दो बातें बहुत स्पष्ट हैं। पहली तो यह कि समाज और व्यक्ति की लम्बी बहस में कुछ सिद्धान्तवेत्ता व्यक्ति को अपना केन्द्र बनाते हैं और कुछ समाज को। अतः हम समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का कितना ही विशद वर्गीकरण करें ये दो बुनियादी आधार सभी तरह के वर्गीकरण में आते हैं।

1.8 बोध प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

प्र.1 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का अर्थ बताते हुए उसकी विशेषताओं की चर्चा करें।

प्र.2 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त क्या है? इसके निर्माण के आधारों की विवेचना कीजिए।

प्र.3 समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के प्रकारों की विस्तार से विवेचना कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र.1 जोनाथन टर्नर की पुस्तक का नाम है -

(अ) The Structure of Sociological Theory (ब) The Structure of Social Action (स) Social Structure (द) Social Theory and Social Structure.

प्र.2 दुर्खाइम ने अपने सिद्धान्तों का केन्द्र बिन्दु रखा है ।

(अ) व्यक्ति (ब) समाज (स) व्यक्ति एवम् समाज (द) व्यवहार ।

प्र.3 सिद्धान्त होते हैं -

(अ) मूर्त (ब) व्यावहारिक (स) अमूर्त (द) संकीर्ण ।

प्र.4 पापर सिद्धान्त निर्माण में चर्चा करते हैं -

(अ) खण्डन की (ब) अपरिपक्वता की (स) मनोविज्ञान की

(द) आदर्शात्मकता की ।

प्र.5 कार्ल मार्क्स चर्चा करते हैं -

(अ) प्राधिकार सम्बन्धों की (ब) उत्पादन सम्बन्धों की

(स) सामाजिक व्यवहारवाद की (द) आदर्शात्मक मॉडल की

प्र.6 मर्टन ने अपने सिद्धान्त के प्रकार बताये हैं -

(अ) प्रतीकात्मक सिद्धान्त (ब) वृहद् सिद्धान्त

(स) सांख्यिक सिद्धान्त (द) अनुभववादी सिद्धान्त

प्र.7 डॉन मार्टिंडेल की प्रमुख पुस्तक का नाम है -

(अ) Nature and Types of Sociological Theory.

(ब) Modern Social Theory

(स) Sociological Theory

(द) Social Theory

1.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. (अ) 2. (ब) 3. (स) 4. (अ) 5. (ब)

6. (ब) 7. (अ)

References

Adams, Best N. and : Sociological Theory, Vistar Publications, Sydie, R.A. New Delhi, 2002.

Alexander, Jefree C. : Theoretical Logic in Sociology , University of California Press, Berkley, 1980.

Collins, R. : Theoretical Sociology, Rawat Publica tions, Jaipur, 1997.

Levi-strauss, C. : Structural Anthropology Basic Books, New York, 1963.

Singhi, Narendra Kumar : Samaj shastriya Siddhanta : Vivechan and Vyakhya, Rawat Publications, Jaipur, 2002.

Skidmore, W. : Theoretical Thinking in Sociology, Cambridge University Press, Cam bridge, 1975.

Turner, J.S. : The Structure of Sociological Theory Rawat Publications, Jaipur, 2002.

इकाई - 2 : सामाजिक संरचना की अवधारणा, मूलभूत प्रत्यय, नाडेल एवम् पार्सन्स के विशेष सन्दर्भ में

इकाई की रूपरेखा-

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 सामाजिक संरचना की अवधारणा

2.3 सामाजिक संरचना के संदर्भ में नॉडेल के विचार

2.4 सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में पार्सन्स के विचार

2.5 सारांश

2.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.7 बोध प्रश्न

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 : उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- सामाजिक संरचना की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- सामाजिक संरचना की अवधारणा से संबंधित नॉडेल के विचारों का विश्लेषण कर पायेंगे।
- सामाजिक संरचना की अवधारणा से संबंधित टालकट पार्सन्स के विचारों का विश्लेषण कर पायेंगे।

2.1 : प्रस्तावना

सामाजिक संरचना का प्रयोग विभिन्न संदर्भों में किया गया है। कुछ विचारक इसका प्रयोग नियमिते व्यवस्था के रूप में तथा कुछ विचारकों ने इसका प्रयोग समूहों के बीच में होने वाले सम्बन्धों के रूप में किया है। सामाजिक संरचना की अवधारणा का विकास अमरीका, ब्रिटेन और फ्रांस में हुआ है। सामाजिक संरचना का प्रयोग मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र में भिन्न भिन्न अर्थों में हुआ है । कई बार सामाजिक संरचना की अवधारणा केवल यह बताने के लिए की जाती है कि समूहों में सामाजिक नियमितता होती है और उसके व्यवहार में आवृत्ति होती है। नॉडेल सामाजिक संरचना का प्रयोग मानव विज्ञान में इस रूप में करते हैं कि सामाजिक संरचना संबंधों के पीछे काम करने वाले सम्बन्धों का समूह है। सामाजिक संरचना सामाजिक संबंधों की वास्तविक अन्तःवस्तु नहीं है। इस भाँति सामाजिक सम्बन्धों का अमूर्त स्वरूप सामाजिक संरचना है। पारसन्स के विवेचन में सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा सामाजिक संरचना से अधिक विस्तृत है। सामाजिक व्यवस्था में सभी प्रकार की प्रक्रियायें की जाती हैं। व्यवस्था के कार्य, व्यवस्था की प्रक्रियायें हैं। सभी प्रकार्यात्मक समाजशास्त्री यह मानकर चलते हैं कि किसी भी समाज में संरचनात्मक एकीकरण विद्यमान रहता है और इस सम्बन्ध में उनमें कोई मतभेद नहीं हैं।

2.2 सामाजिक संरचना की अवधारणा

'संरचना' शब्द का प्रयोग सामान्यतः किसी रचना की इकाइयों, अंगों तथा अवयवों के ऐसे प्रतिमान सम्बन्धों के लिए किया जाता है जो अपेक्षाकृत स्थिर एवम् स्थाई होते हैं। अतः किसी वृहत रचना के विभिन्न भागों अथवा निर्माणक तत्वों के आपसी संबंधों में जो एक व्यवस्था अथवा संगठन होता है, उसे

संरचना कहते हैं। संरचना अंगों की एक व्यवस्थित क्रमबद्धता को प्रकट करती है जिसे अपरिवर्तनीय माना जाता है। यह अपेक्षाकृत स्वयं स्थाई होती है, किन्तु इसके अंग परिवर्तनशील होते हैं। इस धारणा के अनुसार, एक वनस्पतिशास्त्री किसी पत्ते की संरचना का वर्णन करते समय उसकी बनावट अर्थात उसके विभिन्न अंगों के आपसी सम्बन्धों की व्यवस्था में, एक रसायनशास्त्री किसी यौगिक की संरचना, उस यौगिक के निर्णायक तत्वों के सम्बन्धों की व्यवस्था में तथा एक जीवशास्त्री मानवीय शरीर की संरचना को उसके अंगों, शिराओं, कोषों, तथा धमनियों की व्यवस्था के रूप में करता है। एक समाज वैज्ञानिक मानव समाज की संरचना को उसके अंगों अर्थात सामाजिक संस्थाओं, समूहों तथा व्यक्तियों की सामाजिक क्रियाओं, भूमिकाओं, परिस्थितियों, तथा आदर्शात्मक व्यवस्था (मानदण्ड और मूल्य) के अपेक्षाकृत स्थाई सम्बन्धों में खोजता है।

सामाजिक संरचना शब्द का प्रयोग स्पेन्सर (Spencer) तथा दुर्खाइम (Durkheim) की कृतियों से लेकर आधुनिक समाजशास्त्रीय साहित्य की प्रचुर मात्रा में हुआ है। सामान्यतः इसका प्रयोग समाजों को निर्मित करने वाली एक या अधिक विशेषताओं के संदर्भ में किया जाता है। फलतः यह शब्द कहीं-कहीं व्यवस्था, संगठन, संकुल, प्रतिमान, स्वरूप और यहाँ तक कि सम्पूर्ण समाज का पर्याय बन गया है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री टालकट पार्सन्स (Talcott Parsons) ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है कि "यह एक ऐसा पद है जिसका प्रयोग परस्पर सम्बन्धित संस्थाओं, संगठनों तथा सामाजिक प्रतिमानों की एक विशिष्ट व्यवस्था के साथ-साथ किसी समूह में प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण की गई परिस्थितियों तथा भूमिकाओं की विशिष्ट क्रमबद्धता के लिए किया जाता है।"

जब किसी सामाजिक समूह की संरचना की बात की जाती है तब हमारा तात्पर्य उस समूह के आंतरिक संगठन के स्थाई प्रतिमान अर्थात समूह के सदस्यों में सामाजिक क्रिया, भूमिकाएं, परिस्थितियों, संचार व्यवस्था, श्रम विभाजन तथा आदर्शात्मक व्यवस्था को सम्मिलित किया जाता है। सामाजिक सम्बन्धों का यह ताना-बाना समाज को उसका आधारभूत रूप प्रदान करता है तथा सामाजिक व्यवहार को सीमाबद्ध करता है।

सामाजिक मानवशास्त्र में सामाजिक संरचना तथा सामाजिक प्रकार्य की अवधारणाओं में भेद किया गया है। सामाजिक संरचना को 'स्वरूप' के अर्थ में तथा सामाजिक प्रकार्य को 'सामाजिक सम्बन्धों के प्रभाव' के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। 'संरचना किसी व्यवस्था के स्थिर पक्ष को तथा 'प्रकार्य' उसके गत्यात्मक पक्ष को प्रतिबिम्बित करती है।

सामाजिक संरचना का दूसरा अर्थ शरीर संरचना के संदर्श से मुक्त था और यह अर्थ मार्क्सवादी साहित्य में मिलता है। मार्क्स ने उत्पादन सम्बन्धों का उल्लेख करते हुए कहा है कि ये सम्बन्ध आर्थिक संरचना बनाते हैं जिसके ऊपर विधि तथा राजनैतिक परासंरचना बनती है। यहाँ मार्क्स ने निश्चित रूप से संरचना का अर्थ बनावट या निर्माण से लिया है न कि शरीर रचना के सन्दर्भ में।

अमरीका में सामाजिक संरचना की अवधारणा का प्रयोग मुरडोक (Murdock) ने किया है। उनकी एक पुस्तक का शीर्षक ही सामाजिक संरचना है। उन्होंने विभिन्न जन-जातियों का वर्गीकरण उनके गुणों को मुख्य अवयव मानकर किया है। गुणों को एकत्र करने के बाद वे उनके सह-सम्बन्ध को स्थापित करते हैं। मुरडोक ने अपने विश्लेषण में सांस्कृतिक लक्षणों पर अधिक जोर दिया है। उनका ऐसा मानना है कि मानव शक्तियों को सामाजिक संरचना की अवधारणा को छोड़कर संस्कृति की इन समस्याओं को देखना चाहिए। मुरडॉक का यह आरोप है कि सामाजिक संरचना की अवधारणा जड़ है, इसमें गतिशीलता नहीं है। इस अवधारणा की अपेक्षा सामाजिक प्रक्रिया की अवधारणा का प्रयोग करना चाहिए। ब्रिटेन में सामाजिक संरचना की अवधारणा का प्रादुर्भाव रेडक्लिफ ब्राउन की कृतियों से है। ब्राउन का कहना है कि संस्कृति के लक्षण और मापक को आधार मानकर सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं।उदाहरण के लिए हम अपने अतिथि का अभिवादन करते हैं, गले मिलते हैं और सब तरह से आदर करते हैं। अभिवादन, गले मिलना, आदर देना, आदि संस्कृति के मूल्य या मापक हैं। इनके माध्यम से हम अतिथि के साथ सामाजिक सम्बन्ध भी स्थापित करते हैं। ये मापक और मूल्य हमारे सामाजिक सम्बन्धों की अर्न्तवस्तु है और ये ही सामाजिक संरचना है।

रेडक्लिफ ब्राउन को यह स्वीकार नहीं है कि वे किसी भी समाज की संस्कृति को उसकी सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक संरचना से पृथक करें। संस्कृति का अर्थ स्पष्ट करते हुये वे कहते हैं कि संस्कृति समाज के व्यवहार का मानकीकृत तरीका है जिसमें सोचना और विचारना भी आ जाता है जबकि इसकी सामाजिक संरचना इसके सभी सदस्यों के सामाजिक सम्बन्धों का पूरा योग है। ब्राउन की सामाजिक संरचना की यह अवधारणा सामाजिक व्यवस्था के अप्रक्रियात्मक पहलू को स्पष्ट करती है। वह इस बात पर जोर देते हैं कि संस्कृति का अध्ययन सामाजिक संरचना के माध्यम से ही किया जा सकता है।

फ्रांसीसी सामाजिक मानवशास्त्री सामाजिक संरचना को एक मॉडल की तरह मानते हैं। सामाजिक संचरना का आनुभाविक यथार्थता से कोई सम्बन्ध नहीं है। सामाजिक संरचना की यह अवधारणा सामाजिक संरचना और सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर को स्पष्ट कर देती है। सामाजिक सम्बन्ध समाज की यथार्थता से बनते हैं और इस यथार्थता के आधार पर सामाजिक संरचना का मॉडल बनाया जाता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक संरचना के मॉडल को सामाजिक यथार्थता पर हू-ब-हू नहीं घटाया जा सकता ।सामाजिक संरचना तो किसी भी सामाजिक अध्ययन में विधि का काम करती है।

2.3 सामाजिक संरचना के संदर्भ में नाडेल के विचार

एस. एफ. नॉडेल वियना विश्वविद्यालय से मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र में दीक्षित एवम् शोध-उपाधि प्राप्त ब्रिटिश मानवशास्त्री थे। इन्होंने लंदन स्कूल आफ इकोनामिक्स में सैलिगमेन और मेलिनोस्की के सानिध्य में शिक्षा ग्रहण की। उन्होंने पश्चिमी अफ्रीका, विशेषतः नाइजीरिया की नूप जनजाति पर शोध कार्य किया है । वे मुख्य रूप से अपने शोध कार्य के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने समाजशास्त्र, सामाजिक मानवशास्त्र और मनोविज्ञान को विश्लेषण के एक साझे ढांचे के द्वारा जोड़ने का यत्न किया है। इस प्रकार के विचार उन्होंने अपनी पुस्तक दी फाउन्डेशन ऑफ सोशल एन्थ्रोपोलॉजी (The Foundation of Social Athropology) में प्रकट किये हैं।

नॉडेल के अनुसार 'संरचना' शब्द से विभिन्न अंगों के एक व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध योग का बोध होता है। इससे इसके अंगों के गुण, प्रकृति अथवा महत्व या उसमें अन्तर्हित अन्तर्वस्तु का बोध नहीं होता। जब हम 'संरचना' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उन सब छात्रों को इससे निकाल लेते हैं जिनका सम्बन्ध क्रमबद्धता अथवा व्यवस्था से नहीं होता। उदाहरण के लिए यदि हम किसी बक्से की संरचना का उल्लेख करें तो हम बिना इस बात पर विचार किए हुए कि बाक्स लकड़ी का है, टिन का है या लोहे का है, बाक्स में कागजात हैं या वस्त्रादि, अथवा वह खाली है, अथवा भरा हुआ है। बक्से की संरचना का वर्णन कर सकते हैं। इसका अर्थ यह निकला कि संरचना को अभिव्यक्त करने वाली मूर्त सामग्री पर ध्यान दिये बिना ही हम संरचना को अभिव्यक्त तथा उसमें परिवर्तन कर सकते हैं । दूसरे शब्दों में, हम यह भी कह सकते हैं कि हम संरचना में परिवर्तन न करके उसके मूर्त अंगों की मूल प्रकृति में परिवर्तन ला सकते हैं। नॉडेल के अपने शब्दों में, "संरचना शब्द अंगों की एक अव्यवस्थित क्रमबद्धता को व्यक्त करता है, जिसको स्थानान्तरणीय माना जा सकता है और जिसमें अपेक्षाकृत अपरिवर्तनशीलता पाई जाती है, यद्यपि स्वयं उसके अंग परिवर्तनशील होते हैं।" जब संरचना शब्द का प्रयोग हम समाज के सन्दर्भ में देखते हैं तब हम 'सामाजिक संरचना' मुहावरे का प्रयोग करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सामाजिक संरचना को समझने के लिए हमें यह स्पष्ट करना होगा कि हम समाज से क्या समझें। नाडेल के अनुसार समाज को हम मनुष्यों का ऐसा समूह समझ सकते है। जिसमें उसके व्यक्ति किन्हीं ऐसे संस्थागत अथवा सामान्य नियमों के आधार पर एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, जो उनकी क्रियाओं को निर्देशित, नियमित व नियन्त्रित करते हैं, अर्थात समाज की अवधारणा में चार परस्पर सम्बन्धित तत्व होते हैं।

1. व्यक्ति
2. एक दूसरे के प्रति व्यवहार के निश्चित तरीके।
3. इनके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले 'सामाजिक सम्बन्धों' के विभिन्न स्वरूप तथा इनकी अभिव्यक्तियाँ।
4. इन सम्बन्धों में कुछ सीमा तक नियमितता तथा स्थायित्व का पाया जाना।

नॉडेल की समाज की अवधारणा के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि मनुष्यों के बीच न तो अत्यधिक अनियमितता पाई जाती है और न ही क्रियां करने वाले व्यक्तियों में आकस्मिक अपरिवर्तनशीलता। इसका प्रमुख कारण यह है कि क्रिया करने के लिए कुछ संस्थागत नियम होते हैं जो स्वतः ही व्यक्तियों में नियमितता उत्पन्न करते हैं । इस प्रकार समाज की व्याख्या करने के पश्चात् नॉडेल ने सामाजिक संरचना को परिभाषित किया। 'मूर्त जनसंख्या' और उसके व्यवहार से निकल कर दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्धित रहते हुये क्रिया करने की परिस्थिति में क्रिया करने वाले के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों के प्रतिमान व्यवस्था तथा क्रमबद्धता और नियमितता को हम किसी समाज की संरचना कहेंगे।

प्रकार्यवाद के क्षेत्र में जहाँ एक ओर ब्राउन और मेलिनोवास्की के विचारों को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है वहीं आधुनिक काल में नॉडेल के विचारों को काफी महत्वपूर्ण माना जाता है।

नॉडेल ने प्रकार्यवाद की व्याख्या संरचना के रूप में की है। वह समाज को संस्कृति के रूप में अथवा व्यवस्था के रूप में नहीं देखते, बल्कि एक व्यवस्था क्रमबद्धता के रूप में देखते हैं । नाडल के अनुसार किसी समाज को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसकी संरचना को समझें। समाज के विभिन्न अंगों में परिवर्तन आ सकता है, लेकिन समाज की संरचना में निरन्तरता, नियमितता तथा अपरिवर्तनशीलता बनी रहती है। इसलिए जब हम सामाजिक संरचना के अन्तर्गत प्रकार्य की बात करें तो हमें न केवल समाज अथवा संस्कृति के विभिन्न अंगों की अन्तः निर्भरता की बात करनी चाहिए बल्कि हमें इस बात पर भी विचार करना चाहिये कि समाज की संरचना की नियमितता तथा निरन्तरता भी बनी रहती है अथवा नहीं। संरचना का वर्णन करते हुए हम सम्पूर्ण रूप से उन बातों को निकाल देते हैं, जिनका सम्बन्ध व्यवस्था अथवा नियमितता अथवा निरन्तरता नहीं होता। नॉडेल ने एक दूसरा उदाहरण हारमोनियम बाजे से किया है। नाडेल का कहना है कि हम हारमोनियम से बिना स्वर निकाले ही उसकी संरचना को समझ सकते हैं। इसका कारण यह है कि संरचना की विवेचना से अन्तर्वस्तु अथवा प्रकार्य को सम्मिलित नहीं किया जाता। स्पष्ट है कि संरचना को अभिव्यक्त करने वाली मूर्त सामग्री के बिना ही संरचना को बनाने वाले अंगों की मूर्त प्रकृति में अत्यधिक परिवर्तन हो सकता है। दूसरे शब्दों में, 'संरचना अंगों की एक व्यवस्थित क्रमबद्धता को प्रकट करती है, जिसको स्थानान्तरीय माना जा सकता है और जो अपेक्षाकृत अपरिवर्तनशील होती है, जबकि स्वयं उसके अंग परिवर्तनशील होते हैं।'

नॉडेल के अनुसार सामाजिक संरचना और इसके अन्दर निहित प्रकार्य को हम सम्बन्धों की निरन्तरता के रूप में समझ सकते हैं। यह तो हो सकता है कि समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों में परिवर्तन आ जाए। यह भी हो सकता है कि इन सम्बन्धों की अभिव्यक्तियों में परिवर्तन आ जाए, लेकिन सम्बन्धों की नियमितता तथा क्रमबद्धता में आसानी से परिवर्तन नहीं आता, क्योंकि व्यक्ति किन्हीं निश्चित सामाजिक एवं संस्थागत नियमों के आधार पर क्रिया करते हैं। अतएव सम्बन्धों की यही नियमितता एवं निरन्तरता सामाजिक संरचना की नियमितता और निरन्तरता को बनाए रखने का प्रकार्य करती है।

2.4 सामाजिक संरचना के संदर्भ में पारसन्स के विचार

पारसन्स ने सामाजिक व्यवस्थाओं के लिए संरचनात्मक प्रकार्यवादी सिद्धान्त विकसित करने की बात सर्वप्रथम 1914 में कही थी। उसके बाद पुनः 1947 में American Sociological Association की वार्षिक बैठक में भाषण देते हुए भी पारसन्स ने संरचनात्मक प्रकार्यवादी सिद्धान्त विकसित किए जाने पर विशेष बल दिया। ऐसे सिद्धान्त के विकास से उनका अभिप्राय यह था कि सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत किसी भी सामाजिक क्रिया पर तीन तत्वों के आधार पर विचार किया जाना चाहिए -

(1) ज्ञानात्मक (Cognitive)

(2) लक्ष्य आधारित (Goal oriented)

(3) क्रियात्मक (Affective)

इसके अतिरिक्त उनकी यह भी मान्यता थी कि संरचनात्मक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण से सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत घटित होने वाली सामाजिक क्रियाओं में हमें उन प्रकार्यात्मक तत्वों पर भी विचार करना चाहिए

जो उस व्यवस्था को अधिकांश व्यक्तियों की कम से कम न्यूनतम जैवकीय तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

पारसन्स ने 1937 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक द स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन (The Structure of Social Action) लिखी और उस पुस्तक के माध्यम से वह बौद्धिक जगत में 'क्रियावादी सिद्धान्तकार' के रूप में प्रस्थापित हो गये।

पारसन्स के अनुसार सामाजिक स्तर पर केवल दो प्रकार्यवादी तत्व देखे जा सकते है-

(1) व्यवस्था की समस्या तथा (Problem of order)

(2) अभिप्रेरणा के औचित्य (Adequacy of Motivation)

कोई भी व्यवस्था तभी प्रकार्य कर सकती है जब काफी मात्रा में उसके संरचनात्मक तत्व प्रभावोत्पादक ढंग से अपनी सामाजिक भूमिकाओं को निभायें। पारसन्स ने बतलाया कि इस प्रकार हमें सामाजिक व्यवस्थाओं के न केवल प्रकार्यात्मक पहलू का ही अध्ययन करना चाहिए बल्कि इनकी संरचनाओं का भी साथ-साथ अध्ययन करना चाहिए। पारसन्स ने बतलाया कि कोई भी महत्वपूर्ण व्यवस्था सम्बन्धी सिद्धान्त उपरोक्त व्याख्या के अनुरूप होना चाहिए, जो जीव विज्ञानों में प्रयोग किए जाने वाली व्यवस्था के अनुरूप होगा। जीव विज्ञान की व्याख्या तथा सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या में केवल इतना ही अन्तर है कि सावयव पर्यावरण पारस्परिक सम्बन्धों की अपेक्षा हम कर्ता परिस्थिति के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते हैं। इसके पीछे तर्क यह है कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था को उचित गतिशील व्याख्या (Dynamic Analysis) जिसमें अनेक अन्तः सम्बन्धित घटकों का जटिल सम्मिलन होता है, इस बात की मांग करती है कि प्रत्येक समस्या का निरन्तर तथा व्यवस्थित अध्ययन सम्पूर्ण व्यवस्था की दशा के सन्दर्भ में करना चाहिए। इस प्रकार के अध्ययन को हम दो सैद्धान्तिक प्रारूपों के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। इनमें से सबसे अधिक प्रारूप तो घटकों की गतिशील पारस्परिक अन्तःसम्बन्धित विश्लेषिक व्यवस्था है। लेकिन समाजशास्त्री इस प्रारूप को अपनाने में संकोच करते है। दूसरा वैकल्पिक प्रारूप है, एक सामान्यीकृत संरचनात्मक प्रकार्यात्मक व्यवस्था (Generalised Structural Functional System)। इस प्रकार की व्यवस्था घटकों के समूहों को समाप्त करके अन्तः सम्बन्धित घटकों के जटिल समस्या को हल करने में सबसे अधिक सरल एवं सहायक है, क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था में घटकों की सामान्यीकृत श्रेणियों पर विचार किया जाता है तथा उन्हें किसी भी व्यवस्था के अन्तर्गत स्थिर मान लिया जाता है। इस प्रकार परिवर्तनशील समस्याओं पर बिना गणितीय प्रकार का विश्लेषण करने से विचार करना सम्भव हो जाता है।

यदि और अधिक स्पष्ट रूप से विचार किया जाए तो हम पायेंगे कि इस प्रकार के संरचनात्मक प्रकार्यवादी विश्लेषण के लिए संरचनात्मक श्रेणियों की पूरी व्यवस्था पर हमें विचार करना होता है। आंशिक व्यवस्था पर नहीं, जिसके आधार पर हम प्रयोग सिद्ध सामाजिक व्यवस्था की एक निश्चित व्याख्या प्रस्तुत कर सकें। लेकिन इन अपेक्षाकृत अधिक स्थिर संरचनात्मक श्रेणियों को व्यवस्था के गतिशील घटकों से सम्बन्धित करना अति आवश्यक है। इस प्रकार सम्बन्धित करने के लिए हमें "प्रकार्य" की अवधारणा को प्रयोग में लाना चाहिए। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था की संरचनात्मक प्रकार्यवादी व्याख्या को एक अतिरिक्त आवश्यकता है उन गतिशील प्रकार्यवादी श्रेणियों को ज्ञात करना जो हमें उन महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं के विषय में बतलाए जिनके द्वारा विशेष संरचनाएँ बनी रहती हैं। अथवा अस्त-व्यस्त हो जाती है तथा सम्पूर्ण व्यवस्था से किस भाँति सम्बन्धित है। पारसन्स ने अपनी संरचनात्मक प्रकार्यवादी सिद्धान्त को किसी विशेष सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में विकसित नहीं किया, बल्कि सभी सामाजिक व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में विकसित करने का प्रयास किया है।

पारसन्स ने अपने इस संरचनात्मक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण को व्यवस्था विवेचन के आधार पर भी विकसित किया है। इनके अनुसार किसी भी एक प्रतिमान को केवल एक किसी बड़े सर्वांग के साथ सम्बन्धित करके उचित रूप में समझना असम्भव होगा, अर्थात किसी भी प्रतिमान को उस समय तक भली प्रकार नहीं समझा जा सकता जब तक कि हम उसे सम्पूर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में समझने का प्रयास नहीं

करते हैं। यही कारण है कि पारसन्स ने सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्थाओं की सम्पूर्ण संरचनाओं की विवेचना करने का प्रयत्न किया है, ताकि वह उसके अलग-अलग तत्वों तथा उसके बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों को स्पष्ट कर सकें।

2.5 सारांश

समाज कोई अखण्ड व्यवस्था नहीं है। इसके अनेक अंग होते हैं अर्थात् अनेक इकाइयों के योगदान से समाज का निर्माण होता है, लेकिन इन इकाइयों (व्यक्ति, समूह, संस्था) आदि के सम्मिलित रूप को ही समाज नहीं कहते। प्रत्येक समाज में यह समितियाँ, संस्थाएं आदि एक निश्चित प्रकार से व्यवस्थित रहती है। जिसके फलस्वरूप समाज का एक बाहरी रूप या प्रतिमान प्रकट होता है। इसी को सामाजिक संरचना कहते हैं। अमरीका में मरडोक ने सामाजिक संरचना का प्रयोग संस्कृति -प्रक्रिया और संस्कृति- इतिहास के रूप में किया है। ब्रिटेन में सामाजिक संरचना का प्रयोग ब्राउन ने सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु के पीछे पाये जाने वाले स्वरूपों के लिए किया है। फ्रांसीसी समाजशास्त्री सामाजिक संरचना को एक मॉडल की तरह मानते हैं। लेवी स्ट्राउस के अनुसार सामाजिक संरचना यथार्थता नहीं है, यह तो यथार्थता के आधार पर बनाया गया मॉडल है जिसे ज्यों का त्यों आनुभाविक यथार्थता पर लागू नहीं किया जा सकता । यह मॉडल अध्ययन की विधि मात्र है।

नॉडेल के विचार में संरचना से विभिन्न अंगों के व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध योग का बोध होता है। यह क्रमबद्धता स्थानान्तरणीय भी हो सकती है तथा इसमें अपेक्षाकृत अपरिवर्तनशीलता पाई जाती है, यद्यपि स्वयं उसके अंग परिवर्तनशील होते हैं। अतएव नॉडेल के अनुसार केवल विद्यमान अथवा प्रचलित सामाजिक सम्बन्धों के संयोग अथवा योगमात्र से ही सामाजिक संरचना का निर्माण नहीं होता। यह उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि उनमें एक प्रकार की व्यवस्थित क्रमबद्धता एवं निरन्तरता न पाई जाए। पारसन्स के अनुसार कोई भी व्यवस्था तभी प्रकार्य कर सकती है जब काफी मात्रा में उसके संरचनात्मक तत्व प्रभावोत्पादक ढंग से अपनी सामाजिक भूमिकाओं को निभाए। सामाजिक व्यवस्थाओं के न केवल प्रकार्यात्मक पहलू का ही अध्ययन करना चाहिए बल्कि इनकी संरचनाओं का भी साथ-साथ अध्ययन करना चाहिए।

2.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

Adams, Best N. and R.A.	:	Sociological Theory, Vistar Publica Sydie, tions, New Delhi, 2002.
Alexander, Jefrey C.	:	Theoretical Logic in Sociology , Uni versity of California Press, Berkley, 1980.
Collins, R.	:	Theoretical Sociology, Rawat Publica tions, Jaipur, 1997.
Levi-strauss, C.	:	Structural Anthropology, Basic Books, New York, 1963.
Singhi, Narendra Kumar	:	Samaj shastriya siddhanta : Vivechan and Vyakhya, Rawat Publications, Jaipur, 2002.
Skidmore, W.	:	Theoretical Thinking in Sociology, Cambridge University Press, Cam bridge, 1975.
Turner, J.S.	:	The Structure of Sociological Theory, Rawat Publications, Jaipur, 2002.

2.7 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 सामाजिक संरचना की अवधारणा की व्याख्या कीजिए तथा नॉडेल के सामाजिक संरचना के विचारों की विवेचना कीजिए।

प्र.2 सामाजिक संरचना को परिभाषित कीजिए। सामाजिक संरचना से संबंधित पारसन्स के विचारों की व्याख्या कीजिए।

प्र.3 सामाजिक संरचना की व्याख्या नॉडेल एवम् पारसन्स के विशेष सन्दर्भ में कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र.1 रेडक्लिफ ब्राउन एक प्रसिद्ध समाजशास्त्री थे -

(अ) ब्रिटेन के (ब) अमरीका के (स) फ्रांस के (द) जर्मनी के

प्र.2 मार्क्स ने संरचना का प्रयोग निम्नलिखित में से किसके लिए किया है?

(अ) सामाजिक संरचना (ब) राजनीतिक संरचना (स) विधि संरचना (द) आर्थिक संरचना

प्र.3 मरडोक की पुस्तक का नाम है -

(अ) आर्थिक संरचना (ब) संरचना एवम् समूह (स) सामाजिक संरचना (द) समाज एवम् संरचना ।

प्र.4 मरडोक ने सामाजिक संरचना के विश्लेषण में किस पक्ष पर विशेष जोर दिया है?

(अ) आर्थिक पक्ष (ब) सांस्कृतिक पक्ष (स) राजनीतिक पक्ष (द) व्यवहारिक पक्ष ।

प्र.5 प्रकार्य किस पक्ष को निर्देशित करता है?

(अ) गत्यात्मक (ब) स्थिर (स) जड़ (द) विचलित

प्र.6 फ्रांसीसी विचारक संरचना का प्रयोग करते हैं -

(अ) यथार्थता के रूप में (ब) मॉडल के रूप में

(स) सांस्कृतिक रूप में (द) आनुभाविकता के रूप में

प्र.7 नॉडल की पुस्तक का नाम है -

(अ) दी फाउन्डेशन आफ सोशल एन्थ्रोपोलोजी

(ब) दी सोशल स्ट्रक्चर (स) दी सोशल सिस्टम

(द) दी स्ट्रक्चर

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र.1 (अ) प्र.2 (द) प्र.3 (स) प्र.4 (ब) प्र.5 (अ)

प्र. 6 (ब) प्र.7 (अ)

इकाई - 3 संरचनावाद का सम्प्रत्यय, लेवी स्ट्रास का संरचनावादी विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा-

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 संरचनावाद की उत्पत्ति

3.3 संरचनावाद की अवधारणा

3.4 संरचनावाद एक विधि के रूप में

3.5 संरचनावाद के रूप

(1) मानवशास्त्रीय संरचनावाद

(2) संरचनात्मक मार्क्सवाद

(3) उत्तर संरचनावाद

3.6 लेवी स्ट्रास का संरचनावादी विश्लेषण

3.7 सारांश

3.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

3.9 बोध प्रश्न

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 : उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- संरचनावाद की अवधारणा को समझ पायेंगे।
- संरचनावाद में समाजशास्त्रियों का योगदान विश्लेषित कर पायेंगे।
- संरचनावाद की व्याख्या में लेवी स्ट्रास के विचारों को जान पायेंगे।

3.1 : प्रस्तावना

"संरचनावाद" घटनाओं के विश्लेषण का एक तरीका, एक विधि अथवा एक परिप्रेक्ष्य है। इस परिप्रेक्ष्य को सामाजिक विज्ञानों तथा मानवीय विज्ञानों के क्षेत्र में विश्लेषण के लिए अपनाया जाता है। संरचनावाद की उत्पत्ति को अस्तित्ववाद के विरोध के रूप में देखा जाता है। समाजशास्त्रीय विचारकों का यह मानना है कि संरचना का कोई भी प्रकार हो उसका उद्देश्य यथार्थ का पता लगाना है। देखा जाये तो समाज के सम्बन्ध में सार्वभौमिक नियमों का पता लगाना बड़ा कठिन है। यह इसलिए कि सामाजिक और सांस्कृतिक नियम-उपनियम का उद्गम विशिष्ट स्थानीयता और उसके इतिहास पर निर्भर होता है। काम बहुत कठिन है फिर भी संरचना पर सिद्धान्त बनाने वाले विचारक अपने प्रयास में जुटे हुए है। संरचनावाद पर भाषाविदों, मानवशास्त्रियों और मार्क्सवादियों ने बहुत काम किया है। सामान्यतया इसे मूल सिद्धान्त के रूप में और एक विधि के रूप में लिया जाता है। इस विधि द्वारा यथार्थता का पता लग जाता है।

3.2 संरचनावाद की उत्पत्ति

समाजशास्त्र में संरचनावादी सिद्धान्त का उदगम जीन पाल सार्त्र (Jean Paul Sartre) के

अस्तित्ववादी (existentialism) के विरोधस्वरूप देखा जाता है। वास्तव में सार्त्र का अस्तित्ववादी सिद्धान्त फ्रांस में प्रचलित था। यह सिद्धान्त सम्पूर्ण यूरोप में एक लोकप्रिय सिद्धान्त समझा जाता था। इसका विरोध संरचनावादी सिद्धान्त ने किया। सार्त्र का अस्तित्ववादी सिद्धान्त व्यक्ति पर केन्द्रित था। वे मानव की स्वतंत्रता के घोर समर्थक थे। उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा कि आदमी जो कुछ करता है उसका निर्णय वह स्वयं करता है। समाज और सामाजिक संरचना का इसमें कोई हाथ नहीं होता। अपने बाद के जीवन में सार्त्र पर मार्क्स का प्रभाव पड़ा और उन्होंने कहा कि यद्यपि मनुष्य अपने आप में स्वतंत्र है फिर भी उस पर दमनकारी संरचना का बहुत बड़ा दबाव पड़ता है। यह दमन उसका अलगाव कर देता है और उसकी गतिविधियाँ बंधी हुई और सीमित हो जाती हैं।

.गिला हैईम (Gila Hayim) (1980) ने सार्त्र की पुस्तक का एक विशद् विश्लेषण रखा है वे कहती है कि सार्त्र के दर्शन का बहुत बड़ा सिद्धान्त यह है कि वे संरचनावाद का डटकर विरोध करते हैं। अपनी आलोचना में गिला हैईम कहती है, कि सार्त्र का आदमी स्वयं अपने भविष्य का निर्माता है। जो कुछ आदमी को दिया गया है, उसमें वह आगे बढ़ सकता है। यद्यपि सार्त्र मार्क्स से प्रभावित थे, फिर भी वे रूढ़िवादी मार्क्सवादियों की आलोचना करते हैं और आग्रहपूर्वक कहते हैं कि संरचना या समाज की भूमिका को अतिरंजित रूप में नहीं रखना चाहिए। संरचनावादी यह मानते हैं कि व्यक्ति कुछ नहीं है। उसे कोई स्वतंत्रता नहीं है। वह तो केवल संरचना की कठपुतली है। यह संरचना ही है जो व्यक्ति के क्रिया-कलापों का निर्धारण करती है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति बनाम संरचना की बहस में संरचनावादी समाज की निर्णायक शक्ति पर जोर देते हैं।

3.3 संरचनावाद की अवधारणा

संरचनावाद घटनाओं के विश्लेषण का एक तरीका, एक विधि, एक परिप्रेक्ष्य है। संरचनावादियों का मानना है कि सामाजिक घटनाएँ भी उसी प्रकार संरचित होती है। जिस प्रकार भाषा संरचित होती है। संरचनावादी सामाजिक घटनाओं की व्यवस्थागत तथा संबंधात्मक प्रकृति पर बल देते है। उनके मतानुसार अध्ययन की जाने वाली घटना की व्याख्या उसकी आन्तरिक विशेषता की अपेक्षा उसी व्यवस्था की अन्य घटनाओं के साथ उसके संबंध तथा उसके अन्तर के आधार पर की जानी चाहिए। जब किसी घटना में रूपान्तर होता है तब इसकी व्याख्या कारणात्मक रूप में (अर्थात् एक घटना का दूसरी घटना पर प्रभाव) अथवा प्रयोजनात्मक रूप में (अर्थात एक व्यवस्था के लक्ष्यों अथवा उद्देश्यों के संदर्भ में) नहीं की जानी चाहिए। इनके स्थान पर परिवर्तन की व्याख्या संरचनात्मक रूपान्तरण के संदर्भ में की जानी चाहिए जिसके द्वारा एक व्यवस्था के संबंध दूसरी व्यवस्था में बदल जाते हैं। सामाजिक घटनाओं का सामाजिक प्रणाली के रूप में विवेचन करते समय संरचनावादी शायद ही कभी सतही घटनाओं पर विचार करते हों, किन्तु वे यह अवश्य मानते हैं कि इन घटनाओं की उत्पत्ति अन्तर्निहित 'गहन' तथा 'प्रच्छन्न' संरचनाओं के प्रचलन द्वारा होती है।

संरचना के अन्तर्निहित तत्व स्थिर होते हैं। वास्तव में उनके भिन्न प्रकार के सम्बन्ध भिन्न प्रकार की भाषाओं, वैचारिक प्रणालियों और समाज के प्रकारों को जन्म देते हैं। अतः हमारा दृष्टिकोण विशिष्ट रचनाओं से हटकर उनके तत्वों के बीच के संबंधों पर केन्द्रित हो जाता है। संरचनावाद व्यक्तियों के बारे में हमारी मान्यताओं को बदल देता है। संरचनावाद में व्यक्तियों को सामाजिक यथार्थ के निर्माता के स्थान पर संबंधों की मात्र एक उपज या निष्पत्ति समझा जाता है।

3.4 संरचनावाद एक विधि के रूप में

सामान्यतया संरचनावाद को एक सिद्धान्त के रूप में और एक विधि के रूप में उपयोग किया जाता है। जब हम इसे अध्ययन विधि को तरह उपयोग करते हैं तो हमें ऐसे तथ्यों का पता लगता है। जिसे

हम जानते नहीं हैं । इस विधि द्वारा हमें यथार्थता का पता लग जाता है। कई बार ऐसा भी होता है कि यथार्थता के बारे में जो हमारी धारणायें होती हैं, वे झूठी सिद्ध हो जाती है। विधि से हमारा तात्पर्य यह है कि इसके माध्यम से शब्दों के अर्थ का विश्लेषण किया जा सकता है। इसके लिए हम भाषा विज्ञान (Linguistic) के माडल का सहारा लेते है। यही मॉडल संरचनात्मक विधि का महत्वपूर्ण आधार है। आधुनिक भाषाविज्ञान के जनक के रूप में फार्डिनेंड सोसेर (Ferdinand de Saussure) ने कहा कि जिस प्रकार हम समाज के विभिन्न भागों के सम्बन्धों का अध्ययन कर हम सम्पूर्ण समाज को समझ सकते हैं, ठीक वैसे ही भाषा के विभिन्न भागों के सम्बन्धों को समझकर हम सम्पूर्ण भाषा को समझ सकते है। इसके विभिन्न भागों की चर्चा निम्न रूप से किया जा सकता है।

(1) **वाणी और भाषा** - भाषा, चाहे कोई भी हो, का बहुत बड़ा उद्देश्य अपनी बात को दूसरे तक पहुँचाना है। भाषा के तत्व एक दूसरे से जुड़े होते हैं और इनके द्वारा दूसरों के साथ संचार किया जाता है। कोई एक शब्द पूरी बात को नहीं कह पाता । हमें सम्पूर्ण भाषा को समझना पड़ता है। इसी से हमें वाणी और भाषा का अन्तर करना चाहिए। जब हम अपने मुँह से बोलते हैं तो यह वाणी है। दूसरी ओर भाषा उन सबके पास होती है, जो इसे बोलते हैं । भाषा तो एक तरह का कच्चा माल है, इसे हम वाक्यों का स्वरूप देते हैं। प्रत्येक भाषा का एक व्याकरण होता है, इसमें नियम होते हैं, ध्वनि होती है । अतः भाषा, इस भाँति वाणी में निहित एक नया तर्क या संरचना है।

(2) **संकेत** - भाषा की इस संरचना के कुछ तत्व भी होते हैं, वह संकेत कहलाते हैं। हम अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में इन तत्वों को काम में लेते हैं। उदाहरण के लिए चौराहे पर लाल बत्ती संकेत देती है कि हमें रूकना चाहिए। पैरसे (Peirce) के अनुसार संरचनावाद में तीन प्रकार के संकेत काम में लाये जाते हैं। पहले संकेत (Icon) प्रतिमा होते हैं। यह संकेत समानता को बताते हैं । दूसरे प्रकार के संकेत अभिसूचक (Index) कहलाते हैं। इसमें दो या दो से अधिक वस्तुओं में आकस्मिक सम्बन्ध दिखाये जाते हैं। बादल और पानी का संकेत आकस्मिक सम्बन्धों का संकेत है। यह सम्बन्ध मनमाने ढंग (Arbitrary) का सम्बन्ध है। जब कोई व्यक्ति अपने आप ही तय कर लेता है कि लाल रंग के संकेत का मतलब चौराहे से निकल जाना है और हरे रंग का संकेत रूक जाना है, तो परिणाम अच्छे नहीं होते और हम समाज के सदस्य नहीं रहेंगे। कुल मिलाकर भाषा की बुनियादी इकाई संकेत है। यह संकेत मनमाने होते हैं। संकेत के दो पहलू होते हैं : (अ) संकेतक (Signfier) और (ब) सांकेतिक (Signified)। इन दोनों में गहरा संबंध है। संकेतक एक भौतिक वस्तु है, संकेतिक एक अवधारणा है। संकेतिक का अर्थ समाज निकालता है। मगर संकेतक और संकेतिक को संरचनात्मक ढंग से देखें तो कहेंगे कि संकेतक का मतलब ध्वनि बिंब से है, जबकि संकेतिक का मतलब विचारों के किसी विभेदीकरण वस्तु या मानसिक प्रतिनिधित्व से। वस्तुतः किसी भी संकेत का निर्माण संकेतक और संकेतिक से जुड़कर बनता है। इन दोनों के बीच का सम्बन्ध मनमाना होता है। भाषाई स्वरूपों और उनके, प्रकल्पित अर्थों के बीच कोई आवश्यक प्राकृतिक या आन्तरिक सम्बन्ध नहीं होता।

(3) **वाक्य-विन्यास और संदर्श** - सोसेरे ने जो महत्वपूर्ण बात कही है वह यह है कि भाषा के किसी भी शब्द या संकेत का अर्थ इस बात पर निर्भर करता है कि इस शब्द या संकेत का दूसरे शब्दों या संकेतों के साथ क्या संबंध है? संकेत का संबंध वस्तु (Object) से नहीं होता बल्कि दूसरे शब्दों या संकेत के साथ होता है और इसी से अर्थ निकलता है। भाषा का यह विवेचन बताता है कि संरचनावाद भाषा की बुनियादी संरचना, उसके तत्वों, नियमों, उपनियमों, और पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान कराता है। व्याकरण मनमानी नहीं होते बल्कि वाक्य विन्यास व्याकरण द्वारा नियंत्रित होता है। सोसेरे और संरचनावादियों ने भाषा के आधार पर संरचनावाद का एक संदर्श बनाया है। इसके मुख्य तत्व इस प्रकार हैं -

(1) भाषा में पूर्व मान्यताएँ (Assumptions) निहित होती हैं और इसलिए यह उचित लगता है कि हमें वाणी की अपेक्षा भाषा को देखना चाहिए।

(2) यह भी नहीं समझना चाहिए कि वाणी का निर्धारण भाषा करती है । हमें वाणी को कभी भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। कई अनपढ़ लोग वाणी का ही प्रयोग करते है। जबकि उन्हें भाषा और

व्याकरण नहीं आता।

(3) किसी भी शब्द या संकेत का अर्थ, अन्य शब्दों या संकेतों के साथ उसका क्या संबंध है, इस पर निर्भर करता है । शब्द का अर्थ, उसका वस्तु के साथ क्या संबंध है, इस पर कभी निर्भर नहीं होता।

(4) अनिवार्य रूप से संरचना, भाषा में जो बुनियादी तत्व है, उसकी पड़ताल करती है।

3.5 संरचनावाद के रूप

संरचनावाद यथार्थता की खोज है। जो कुछ हमें यथार्थता के नाम पर दिखाई देता है, वह सही नहीं है बल्कि दिखावटी है। इसके पीछे जो गहराई में छिपा है, वही संरचना है। संरचनावाद पर भाषाविदों,मानवशास्त्रियों और मार्क्सवादियों ने बहुत काम किया है। बार्थस समाजशास्त्री थे और उन्होंने लक्षणों को भाषा से उठाकर सामाजिक घटनाओं पर लागू किया। वे कहते हैं कि ये लक्षण सभी क्षेत्रों में दिखाई देते हैं। संरचनावाद के मुख्य रूप से तीन रूप दिखाई देते हैं - (1) मानवशास्त्रीय संरचनावाद, (2) संरचनात्मक मार्क्सवाद और (3) उत्तर संरचनावाद।

(1) मानवशास्त्रीय संरचनावाद

लेवी स्ट्रास फ्रांसीसी संरचनावाद के प्रणेता थे। वे पेशे से मानवशास्त्री थे। यद्यपि उन्होंने जिस संरचनावाद को विकसित किया है उस पर बहुत बड़ा प्रभाव सोसेर और बार्थस का था। मानवशास्त्री संरचनावाद के विकास में दुर्खाईम और मॉस का बड़ा योगदान है। दुर्खाईम ने समाज अर्थात संरचना की व्यक्ति पर जो प्रभुता है उसे अपनी कृतियों में रखा है। मॉस ने फील्ड वर्क के जरिये अपनी पुस्तक **दि गिफ्ट (The Gift)** में उपहार सम्बन्धों का गूढ़ विश्लेषण किया है। उन्होंने कहा कि उपहारों का विनिमय एक अनिवार्य और पारस्परिक क्रिया है। इस प्रक्रिया को आर्थिक कसौटी पर नहीं तौला जा सकता है। इस प्रकार मानवशास्त्र में जिस संरचनावाद का विकास हुआ है, उसका आधार फील्ड वर्क है। स्ट्रास के संरचनावाद की चर्चा हम आगे करेंगे।

(2) संरचनात्मक मार्क्सवाद

संरचनावाद का एक और प्रकार मार्क्सवादी है। काम्टे इसे संरचनात्मक मार्क्सवाद कहते हैं। इस धारा में योगदान करने वाले लुई आल्थ्युजर,(Louis Althusser), निकोस पुलोंजास (Nicos Poulontzas) तथा मोरिस गोडलियर (Maurice Godelier) है।। मार्क्सवाद कहता है कि जो कुछ हमें बाहर दिखाई देता है वह संरचना नहीं है, जो कुछ हमसे छिपा है, वह संरचना है। गोडलियर अपनी पुस्तक (Perspectives in Marxist Anthropology, 1978) परस्पेक्टिव्ज इन मार्क्ससिस्ट एन्थ्रोपोलोजी में इस तथ्य को स्थापित करते हैं कि मानव समाज का अध्ययन उत्पादन विधि द्वारा ही सम्भव है। नातेदारी, राजनीति और धर्म का अध्ययन इसी उत्पादन विधि द्वारा किया जा सकता है। आल्थ्युजर संरचनावाद के संबंध में कहते हैं कि जिस दुनिया को हम देखते हैं, एक सीमा तक यह दुनिया हमारे सिद्धान्त की संरचना द्वारा निर्मित है। इस तरह से कोई भी विज्ञान अपने सैद्धान्तिक तत्वों को स्वयं पैदा करता है। यह सिद्धान्त द्वारा निर्मित दुनिया हमारी दिन -प्रतिदिन की वास्तविक दुनिया से भिन्न होती है। आलथ्यूजर अपने सिद्धान्त द्वारा वास्तविक संसार के अन्दर जो अदर्शनीय संरचना है उसका विश्लेषण करना चाहते हैं।

(3) उत्तर-संरचनावाद

मानवशास्त्रीय संरचनावाद तथा संरचनात्मक मार्क्सवाद से एक नये संरचनात्मक विश्लेषण का अविर्भाव हुआ है, जिसे उत्तर-संरचनावाद (Post Structuralism) कहते हैं। इसका विस्तार से वर्णन हम अगली इकाई में करेंगे।

3.6 लेवी स्ट्रास का संरचनावादी विश्लेषण

समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र की अंग्रेजी भाषा की शब्दावली में सामान्यतः 'संरचनावाद'

शब्द का प्रयोग फ्रांसीसी सामाजिक मानवशास्त्री क्लॉड लेवी स्ट्रास द्वारा विकसित सिद्धान्तों तथा पद्धतियों के उस समूह के लिए किया गया था जिसकी रचना उन्होंने सन् 1947-1978 के बीच अपनी विभिन्न कृतियों स्ट्रक्चरल एंथ्रोपोलॉजी (1963) (Structural Anthropology), द एलिमेन्ट्री स्ट्रक्चर्स ऑफ किनशिप (1969) (The Elementary Structures of Kinship) तथा द सेवेज माइन्ड (1969) (The Savage Mind) में की है। लेवी स्ट्रास के अनुसार सभी संस्कृतियों के तत्व मूलतः एक ही मानसिक प्रक्रिया की उपज हैं जो सम्पूर्ण मानव में समान रूप से पाई जाती है। यह संभव है कि सांस्कृतिक दृष्टि से ब्राह्य रूप में भिन्नता हो, किन्तु आंतरिक संरचना में समानता होती है जो मानव चिन्तन की समान संरचना को प्रकट करती है। लेवी स्ट्रास ने कहा है कि हम मानव मस्तिष्क की कार्य प्रणाली के संबंध में मूलभूत तथ्यों की जानकारी उसकी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के अवलोकन द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। घटनाओं को "द्वि विरोधी धड़ों में बॉटने की प्रवृत्ति मानव मस्तिष्क की एक सार्वभौमिक विशेषता है।" संरचनावादी विचारणा के आधार पर मिथकों की व्याख्या करते हुए लेवी स्ट्रास ने लिखा है कि मिथक उन विरोधाभासों को प्रकट करते हैं जो मानव मस्तिष्क को घेरे रहते हैं। साथ ही ये मिथक इन विरोधाभासों को दूर करने के तार्किक तरीकों को भी बताते हैं।

स्ट्रास ने भाषाई संरचना के साथ नातेदारी संरचना की तुलना की है। वे भाषा की ध्वनि (Phonemes) के नाम पर नातेदारी का वर्णन करते हैं और इसे अपना आधार बनाकर संरचनात्मक मानवशास्त्र को विकसित करते हैं। वे कहते हैं कि न तो नातेदारी पदों का और न भाषा की ध्वनि का अपने आप में कोई अर्थ है। इसका अर्थ तो तब निकलता है जब ये वृहद व्यवस्था के अंग बनते है। लेवी स्ट्रास ने नातेदारी के विश्लेषण में दोहरे पदों का प्रयोग भी किया।

अपनी पुस्तक Elementary Structures of Kinship में लेवी स्ट्रास लिखते हैं कि सभी समाजों में नातेदारी की कोई न कोई व्यवस्था अवश्य होती है। स्ट्रास का कहना है कि नातेदारी के बारे में जो कुछ जानकारी मिलती है, इसके आधार पर यह स्पष्ट है कि यह विशुद्ध रूप से एक सांस्कृतिक प्रघटना है। सभी नातेदारी व्यवस्थाओं में एक नियम हमें अनिवार्य रूप से मिलता है और वह है निकरानिगमन निषेध (Incest Taboo) इस निषेध के पीछे विनिमय का राज है। बहुत स्पष्ट है कि अब कोई व्यक्ति अपने भाई-बहिनों से विवाह नहीं कर सकता और उसे जीवन साथी का चुनाव दूसरे परिवार के साथ करना पड़ेगा। लेवी स्ट्रास इस निष्कर्ष पर तब आये जब उन्होने यह मान लिया कि नातेदारी व्यवस्था वस्तुतः संकेतों को समझने की व्यवस्था है। जब इन संकेतों को दूसरे संकेतों को विरोध में देखते हैं तब ये संकेत अर्थ देना प्रारम्भ करते है। भाषा विज्ञान का यह सामान्य नियम है कि शब्द या संकेत का अर्थ वस्तु से नहीं निकलता । शब्द का दूसरे शब्द या संकेत से जो सम्बन्ध है, उसी से अर्थ स्पष्ट होता है।

लेवी स्ट्रास का कहना है कि नातेदारी व्यवस्था का प्रत्येक अंग उसी प्रकार पृथक अर्थ रखता है जैसे भाषा का प्रत्येक पद अपना अलग अर्थ रखता है। उदाहरण के लिए नातेदारी में माँ पद का अर्थ दूसरे पदों जैसे कि पिता, पुत्र, चाचा आदि से पृथक किया जा सकता है। भाषा में भी ऐसा ही होता है। उदाहरण के लिए 'गुलाब' एक शब्द है। यह एक फूल है। बस इसके आगे अर्थ निकालना कठिन कार्य है। इस शब्द को वाक्य विन्यास में रखते हैं : नेहरूजी के कोट में गुलाब लगा रहता था। अब गुलाब का सम्बन्ध नेहरू जी से हो गया, उनके कोट से हो गया। नेहरू जी हमारे नेता थे। और उन्हें ढेर सारे फूलों में से गुलाब पसंद थे। यहाँ गुलाब का सम्बन्ध कई वस्तुओं से हो गया और इससे इसका अर्थ स्पष्ट हो गया। शब्द का अर्थ दूसरे शब्दों के साथ सम्बन्धों से होता है। इस संरचना को स्ट्रास ने नातेदारी पर लागू किया। नातेदारी व्यवस्था संरचनात्मक विश्लेषण का एक बहुत अच्छा विषय है। इसमें नातेदारी के सभी लक्षण हैं - स्त्री - पुरूष भेदभाव पूर्ण व्यवहार, मातृत्व संबंध, बहु-पत्नी संबंध, आदि। नातेदारी के इस सार्वभौमिक प्रतिमान में स्थानीय स्तर पर थोड़ा बहुत अंतर अवश्य मिलता है। यह अंतर भाषा द्वारा समझा जा सकता है। लेवी स्ट्रास ने संरचनात्मक उपागम द्वारा पाया कि सभी समाजों में चाहे वे मातृसत्तात्मक हों या पितृसत्तात्मक, विनिमय की परम्परा अवश्य पाई जाती है। विनिमय सामाजिक सिद्धान्तों का आधारभूत सिद्धान्त है । लेवी स्ट्रास ने अपने अध्ययन में तीन प्रकार के विनिमय बताये हैं - (1) दिन प्रतिदिन की वस्तुओं का विनिमय (2) संदेशों का विनिमय यानि संचार और (3) समूहों के बीच

में स्त्रियों का विनिमय। विनिमय के इस स्वरूप ने स्ट्रास को निकटानिगमन निषेध को नये सिरे से समझने का अवसर दिया। उनका तर्क है कि इस निषेध को हम जैवकीय दृष्टि से ठीक तरह से नहीं समझ सकते। थोड़ी देर के लिए यदि यह निषेध का नियम हटा दिया जाय तब समूहों के बीच में विनिमय समाप्त हो जायेगा।

स्ट्रास का यह भाषावादी संरचनावाद, उनके बाद के कई संरचनावादियों को स्वीकार नहीं है कि वास्तव में स्ट्रास भाषा से आगे बढ़कर संरचना की व्याख्या मस्तिष्क से करने लगे थे। यह बाद के मानवशास्त्रियों को स्वीकार नहीं था।

3.7 सारांश

संरचनावाद की उत्पत्ति व्यक्तिवाद और मानववाद के विरोध के फलस्वरूप पर हुई। संरचनावाद के अनुसार व्यक्ति कुछ नहीं है इसका मुख्य केन्द्र संरचना या समाज है। यह संरचना ही है जो व्यक्ति के क्रियाकलापों का निर्धारण करती है। संरचनावाद का सरोकार सार्वभौमिक नियमों का पता लगाना है और उससे हम यथार्थता को समझ सकेंगे। संरचनावाद को एक विधि के रूप में उपयोग किया जाता है। संरचनावाद हमेशा इस बात पर जोर देता है कि शब्दों का जो हम सामान्य अर्थ निकालते हैं उनके पीछे कोई न कोई तार्किक व्यवस्था है और यह तार्किक प्रतिमान यर्थाथता का पता लगाते हैं। सोसेर ने कहा कि भाषा के विभिन्न भागों - भाषा, संकेत तथा वाक्य विन्यास और संदर्श (पैराडिम) के सम्बन्धों को समझकर हम सम्पूर्ण समाज को समझ सकते है। स्ट्रास ने भाषाई संरचना के साथ नातेदारी संरचना की तुलना की है। वे भाषा की ध्वनि के आधार पर नातेदारी का वर्णन करते हैं और अपने संरचनात्मक मानवशास्त्र को विकसित करते हैं। उनका मानना है कि नातेदारी संगठन में यदि कोई परिवर्तन आता है तब वह अनिवार्य रूप से संरचनात्मक होता है। यह इसलिए कि नातेदारी का एक भाग भाषा की संरचना की तरह दूसरे भागों से जुड़ा होता है। भाषा और ध्वनि दोनों ही मस्तिष्क की उपज है। यह उपज अचेतन है, लेकिन तार्किक है।

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Adams, Best N. and Sydie, R.A. : Sociological Theory, Vistar Publications, New Delhi, 2002.

Alexander, Jefree C. : Theoretical Logic in Sociology , University of California Press, Berkley, 1980.

Collins, R. : Theoretical Sociology, Rawat Publications, Jaipur, 1997.

Levi-strauss, C. : Structural Anthropology, Basic Books, New York, 1963.

Singhi, Narendra Kumar : Samaj shastriya Siddhanta : Vivechan and Vyakhya, Rawat Publications, Jaipur, 2002.

Skidmore, W. : Theoretical Thinking in Sociology, Cambridge University Press, Cambridge, 1975.

Turner, J.S. : The Structure of Sociological Theory, Rawat Publications, Jaipur, 2002.

3.9 बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 संरचनावाद क्या है? संरचनावाद की व्याख्या एक विधि के रूप में समझाइये।

प्र.2 संरचनावाद से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न रूपों की विवेचना कीजिए।

प्र.3 संरचनावाद की अवधारणा बताते हुए लेवी स्ट्रास के संरचनावाद की व्याखा कीजिए।

प्र.4 संरचनावाद से आपका क्या तात्पर्य है? इसकी विस्तार से व्याख्या कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र.1 सार्त्र जनक थे।

(अ) संरचनावाद के (ब) अस्तित्वाद के

(स) आधुनिकतावाद (द) प्रघटनावाद के

प्र.2 संरचनावाद को विधि के रूप में प्रयोग करने के लिए हम निम्नलिखित में से किसका सहारा लेते हैं?

(अ) भाषा विज्ञान (ब) तथ्य

(स) प्रघटना (द) दार्शनिकता ।

प्र.3 सोसेर ने भाषा के विभिन्न भागों के रूप में निम्न में से किसकी चर्चा की है?

(अ) तकनीक (ब) संकेत

(स) द्वन्द्व (द) प्रयोग

प्र.4 पैरसे प्रतिमा, अभिसूचक तथा ----- संकेत की बात करते है।

(अ) मनमाने (ब) नियोजित

(स) व्यवस्थित (द) निखरे

प्र.5 संकेत के दो पहलू में से एक संकेतर है तथा दूसरा -

(अ) प्रतिमा (ब) अभिसूचक

(स) संकेतिक (द) दृष्टिगत

प्र.6 मानवशास्त्रीय संरचनावाद के प्रमुख प्रणेता है -

(अ) आल्थ्यूजर (ब) पुलोंजास

(स) गोडलियर (द) लेवी स्ट्रास

प्र.7 गोडलियर की प्रमुख पुस्तक का नाम है -

(अ) दि गिफ्ट (ब) पोस्ट स्ट्रक्चरलोजी

(स) परस्पेक्टिव्ज इन माकर्सिस्ट एन्थ्रोपोलोजी

(द) दी सेवेज माइन्ड ।

प्र.8 लेवी स्ट्रास ने नातेदारी के विश्लेषण में निम्नलिखित में से किसकी चर्चा की है?

(अ) निकटाभिगमन निषेध (ब) मातृत्व

(स) उत्तराधिकारी (द) आस्था

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र.1	(ब)	प्र.2	(अ)	प्र.3	(ब)	प्र.4	(अ)
प्र. 5	(स)	प्र.6	(द)	प्र.7	(स)	प्र.8	(अ)

इकाई - 4 उत्तर संरचनावाद की अवधारणा, संरचनावाद एवम् उत्तर संरचनावाद में अन्तर

इकाई की रूपरेखा-

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 संरचनावाद की अवधारणा

4.3 उत्तर संरचनावाद का विकास

4.4 उत्तर संरचनावाद क्यों?

4.5 उत्तर संरचनावाद की अवधारणा

4.6 उत्तर संरचनावाद : दरिदा एवं फूको का योगदान

4.7 संरचनावाद एवं उत्तर संरचनावाद में अन्तर

4.8 सारांश

4.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.10 बोध प्रश्न

4.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 : उद्देश्य

संरचनावाद के जिस नवीन स्वरूप का पिछले कुछ वर्णों में जन्म हुआ और जिसे 'उत्तर संरचनावाद' या 'नव संरचनावाद' के नाम से जाना जाता है, वह वास्तव में मानवशास्त्रीय संरचनात्मक सिद्धान्त की पृष्ठभूमि पर ही विकसित हुआ है। नव संरचनात्मक के प्रस्थापकों ने लेवी स्ट्रास के सार्वभौमिक मानसिक संरचनाओं के विचार को पूर्णतः नकार दिया है। उन्होंनें समाज की वास्तविकता को पहचानने के लिए व्यक्तियों की विभिन्नता पर जोर दिया है । इस इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- संरचनावाद की धारणा को समझ सकेंगे।
- उत्तर संरचनावाद के स्वरूप का वर्णन कर सकेंगे।
- उत्तर संरचनावाद में दरिदा तथा फूको के योगदान की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- संरचनावाद एवम् उत्तर संरचनावाद में अन्तर स्पष्ट कर सकेंगे।

4.1 : प्रस्तावना

''संरचनावाद'' का मुख्य केन्द्र संरचना या समाज है। यह संरचना ही है जो व्यक्ति के क्रियाकलापों का निर्धारण करती है। व्यक्ति बनाम संरचना की बहस में संरचनावादी समाज की निर्णायक शक्ति पर जोर देते हैं। उत्तर-संरचनावादी विचारधारा वास्तविकता को समझने के लिए उसकी भाषा पर विशेष जोर देते है। उत्तर-संरचनावादी भाषा और ग्रंथों का सहारा लेते हैं ताकि यथार्थ को समझा जा सके। उत्तर संरचनावाद के लेखकों में दरिदा तथा फूको के नाम अग्रणी हैं।

4.2 संरचनावाद की अवधारणा

मानवीय अर्थों के स्वरूप अथवा आकार तो हो सकते हैं मगर सारे स्वरूप या आकार संरचना नहीं होते। अन्धेरे में रस्सी को साँप समझना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना, या भीड़ -भाड़ वाली सड़क

पर बाँये चलना, मानवीय व्यवहारों के विविध स्वरूप हैं। रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार "नियमित सम्बन्ध" या सम्बन्धों का जुड़ा होना, सामाजिक संरचना है। लेवी स्ट्रास के "संरचना" की अवधारणा से समाजविज्ञान के सोचने-समझने के तरीके में परिवर्तन आया है। लेवी स्ट्रास बीजगणित की तर्क पद्धति से प्रभावित थे। बीजगणित में 'ग्रुप', 'सेट' और चिन्ह होते हैं। चिन्हों के कारण (+, - , ÷, × आदि) प्रश्नों को हल करना सम्भव होता है। चिन्हों के अर्थ के अनुसार जोड़ने - घटाने, गुणा- भाग करने की प्रक्रिया एक चरण से दूसरे चरण, और दूसरे चरण से तीसरे चरण या अन्य चरणों तक होती रहती है। बीजगणित के नियम सेट, क्रमविनिमेयता और सहचारिता के गुणों से युक्त होते हैं। समुच्चय अपने प्रतीकों के अर्थ बोध को संचरित करते हुए स्वरूपान्तरित व सरलीकृत हो जाते हैं।

प्रश्न उठता है कि सेट में गति या सेट का रूपान्तरण कैसे हुआ ? उत्तर यह है कि सेट के रूपान्तरण की प्रक्रिया सेट में निहित है। चिन्हों के परिचालन के द्वारा सेट आत्म-नियमित होता है और अपने आपको रूपांतरित करता रहता है। इस प्रकार सामाजिक संरचना के दो गुण होते हैं। आत्म -नियमित होना तथा रूपान्तरित होना। जब तक ये दोनों गुण नहीं होंगे, कोई आकार संरचना नहीं कहा जा सकता। संरचना सम्पूर्ण रूपान्तरण की व्यवस्था है। इकाइयों या तत्वों का जोड़ सामुच्य नहीं है। सामुच्य इकाइयों से भिन्न होता हैं । यह विचार गेसटाल्ट मनोविज्ञान से लिया गया है। सैकड़ों लोगों की तितर-बितर भीड़ और उन्हीं लोगों की सजी -सजाई कतारों में भिन्नता होगी। यह भिन्नता इकाई और सेट की भिन्नता है। संरचना का तीसरा गुण उसका सेट है।

दुनिया जैसी है, वैसी है। मगर इसे देखने व समझने के तरीके बदलते रहते हैं । कभी यह दुनिया देवी-देवताओं की खुशी -नाखुशी का नाटक समझी जाती थी। कभी इसे मनुष्य के मूल स्वभाव (प्रेम या संघर्ष) का फल माना गया था। श्रम, तकनीकी, पूंजी, नफा-नुकसान की दृष्टि से भी संसार को समझा गया है। अचेतन मन और अतृप्त वासनाओं का परिणाम मानव समाज को माना गया है। अतः दुनिया को समझने के लिए विभिन्न प्रारूप हैं । संरचनावाद भी एक प्रारूप है। लेवी स्ट्रास के अनुसार मनुष्य के मस्तिष्क की प्रवृत्ति है। स्वयं अनुभव से परे है मगर अनुभव की व्याख्या का मानसिक साँचा है। साँचे बदलते नहीं हैं। मानसिक संरचनायें अपरिवर्तनीय हैं। साँचे में भरी जाने वाली सामग्री बदलती है, साँचा नहीं । मानवविज्ञान की एक प्रवृत्ति ऐसी भी है जो मानव समाज के अपवितर्नीय अटल यथार्थ की खोज में लगी है। बदलते रहने वाले तथ्यों पर विज्ञान की रचना सम्भव नहीं है। संरचनावाद इसी प्रवृत्ति का पोषक है। संरचनावादियों की मान्यता है कि सामाजिक घटनाएं भी उसी प्रकार संरचित होती है। जिस प्रकार भाषा संरचित होती है। सरंचनावादी सामाजिक घटनाओं की व्यवस्थागत तथा संबंधात्मक प्रकृति पर बल देते हैं। उनके मतानुसार अध्ययन की जाने वाली घटना की व्याख्या उसकी आन्तरिक विशेषता की अपेक्षा उसी व्यवस्था की अन्य घटनाओं के साथ उसके संबंध तथा उसके अन्तर के आधार पर की जानी चाहिए। जब किसी घटना में रूपान्तर होता है, तब इसकी व्याख्या कारणात्मक रूप में (अर्थात एक घटना का दूसरी घटना पर प्रभाव) अथवा प्रयोजनात्मक रूप में अर्थात एक व्यवस्था के लक्ष्यों अथवा उद्देश्य के संदर्भ में नहीं की जानी चाहिए। इनके स्थान पर परिवर्तन की व्याख्या संरचनात्म्क रूपान्तरण के संदर्भ में की जानी चाहिये जिसके द्वारा एक व्यवस्था के संबंध दूसरी व्यवस्था में बदल जाते हैं। सामाजिक घटनाओं का सामाजिक प्रणाली के रूप में विवेचन करते समय संरचनावादी शायद ही कभी सतही घटनाओं पर विचार करते हों, किन्तु वे यह अवश्य मानते हैं कि इन घटनाओं की उत्पत्ति अन्तर्निहित गहन तथा 'प्रच्छन्न' संरचनाओं के प्रचलन द्वारा होती है।

4.3 उत्तर संरचनावाद का विकास

संरचनावाद के विकास का सम्पूर्ण इतिहास फ्रांस से जुड़ा हुआ है। संरचनावाद के जिस नवीन स्वरूप का जन्म हुआ तथा जो लेवी स्ट्रास के मानव शास्त्रीय संरचनात्मक सिद्धान्त की पृष्ठभूमि पर आधारित है। उसी को हम उत्तर संरचनावाद के नाम से जानते है। उत्तर-संरचनावादी विचारकों में लेमर्ट, दरिदा, गिडिन्स आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मार्क्सवाद संरचनावाद तथा मानवशास्त्रीय संरचनावाद से एक नई संरचना का आविर्भाव हुआ है, जिसे हम उत्तर संरचनावाद कहते है। उत्तर संरचनावाद के प्रारम्भ का कोई निश्चित समय देना कठिन है फिर भी जार्ज रिट्जर कहते है कि 1966 में दरिदा ने अपने एक

व्याख्यान में कहा था कि अब संरचनावाद का युग आ गया है।

4.4 उत्तर संरचनावाद क्यों?

आधुनिक समाज उत्तर आधुनिक समाज के रूप में बदलने लगा। इस समाज को समझने में परम्परागत संरचनावाद अक्षम था। जब आधुनिक समाज उत्तर आधुनिक बन गया तब संरचनावाद को भी उत्तर संरचनावाद बनना था। संरचनावाद जो परम्परागत था, भाषा की संरचना पर निर्भर था। इसके प्रणेता सोसोरे का तर्क था कि किसी भी शब्द का अर्थ उस शब्द के दूसरे शब्दों के सम्बन्धों पर निर्भर है। गुलाब के फूल का अपने आप में कोई अर्थ नहीं है। दूसरे शब्दों के साथ इसका जो सम्बन्ध है उसी से अर्थ स्पष्ट होता है। शब्दों का अर्थ दूसरे शब्दों के सम्बन्धों पर निर्भर है। शब्द का अर्थ वस्तु के साथ सम्बन्धों पर निर्भर नहीं करता। यानि कि शब्दों का मतलब शब्दों से बाहर होता है, शब्द में नहीं। परम्परागत संरचनावाद व्याकरण की तरह यह मानकर चलता है कि शब्दों का वाक्य विन्यास में जो अर्थ होता है, वह पक्का और व्यवस्थित होता है। उत्तर-संरचनावाद इस परम्परागत अर्थ को स्वीकार नहीं करते । वे व्याकरण को मानते हैं पर उसकी व्याख्या अपने प्रकार से करते हैं। उत्तर संरचनावाद में भाषा की अपेक्षा लेखन महत्वपूर्ण है। लेखन पढ़ने वालों पर अपना दबाव नहीं डालता।

4.5 उत्तर संरचनावाद की अवधारणा

उत्तर संरचनावादी विचारकों में लेमर्ट, दरिदा, गिडिन्स, फूको आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उत्तर संरचनावाद का सम्बन्ध उत्तर आधुनिक अर्थात नई दुनिया से है। इसमें संरचनावाद के व्यक्तिनिष्ठता की बजाय वस्तुनिष्ठता पर जोर दिया गया है। उत्तर-संरचनावादियों का कहना है कि आधुनिकता ने दलित वर्गों की उपेक्षा की है। अतः उत्तर आधुनिकता या उत्तर संरचनावाद पिछड़े और दलित जन समुदाय का युग होगा। उत्तर संरचनावादी लेखकों ने उपेक्षित वर्ग को अपने लेखन का आधार बनाया है। ये लेखक एकता की खोज की अपेक्षा विभिन्नता को पहचानने पर बल देते हैं, क्योंकि ये लोग यह मानते हैं कि दुनियाँ की केन्द्रियता विभिन्नता में है। उत्तर संरचनावादी जब लेखन पर जोर देते हैं तब उनका तात्पर्य विमर्श (Discourse) से होता है। किसी भी कथन या विमर्श का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता। एक विमर्श का अर्थ दूसरे विमर्श या विमर्शों के सम्बन्धों से निकलता है। जैसे परम्परागत संरचनावाद में शब्द का अर्थ शब्द में नहीं होता, दूसरे शब्दों के साथ सम्बन्धों से होता है, वैसे ही एक विमर्श का अर्थ दूसरे विमर्शों के साथ सम्बन्धों से होता है। इस विधि का यह नतीजा होता है कि जब हम एक विमर्श का अर्थ खोजते हैं तो सम्बन्धों के कारण हम दूसरे विमर्श पर पहुँचते हैं और दूसरे से आगे तीसरे पर और यह सिलसिला चलता रहता है। इस प्रक्रिया के चलते एक विमर्श के कई अर्थ और निर्वचन हमारे सामने आते हैं। परिणामस्वरूप, साहित्य, कला, आलोचना आदि में ढेर सारे निर्वचनों का अम्बार लग जाता है। इसी प्रक्रिया में हमें कई बार सही अर्थ भी मिल जाते हैं। विमर्श का मतलब हमारे सोच विचार के दायरे से है।

उत्तर संरचनावाद शब्द के स्थान पर लेखन को प्रमुखता देता है। किन्तु लेखन के कई अर्थ निकलते हैं । जब विमर्श के कई अर्थ निकलते हैं तो स्वाभाविक है कि सम्पूर्ण विमर्श अराजकता के घेरे में आ जाता है, सब कुछ अस्पष्ट हो जाता है तथा एक भ्रमपूर्ण स्थिति पैदा हो जाती है। यही उत्तर संरचनावाद की विशेषता है। लेमर्ट अपनी पुस्तक मॉडर्न सोशल थ्योरी में लिखते हैं कि उत्तर संरचनावाद की विचारधारा की दिशा या स्पष्ट रूप से उसका दबाव कई व्यवस्थाओं पर होता है। इसके अर्थ भ्रामक होते हैं।

4.6 उत्तर संरचनावाद : दरिदा एवं फूको का योगदान

दरिदा को उत्तर संरचनावाद का जनक कहा जा सकता है। उन्होंने इसके अविर्भाव को ई. 1966

में बताया है। दरिदा वस्तुतः भाषाई उत्तर संरचनावाद के प्रणेता थे। उन्होंने सोसोरे के व्यावकरणवाद में परिवर्तन किया। वे पहले विचारक हैं जिन्होंने भाषा की संरचना (Structure) से अपने आपको हटाकर लेखन (Writing) पर केन्द्रित किया। जब भाषा से हटकर वे लेखन पर आये तो एक और समस्या पैदा हो गई । लेखन का अर्थ दूसरे लेखन के सन्दर्भ में भी समझा जाने लगा। लेखन हमेशा समस्यापूर्ण होता है। एक ही लेखन के कई अर्थ सामने आते हैं। ऐसी अवस्था में दरिदा ने विखण्डन (Deconstruction) की अवधारणा को रखा। दरिदा ने प्लेटो से लेकर आज तक के दार्शनिक लेखन का विश्लेषण किया है। वे कहते हैं कि यह सम्पूर्ण लेखन इस सार्वभौमिक नियम की खोज में है कि संसार को सत्य, शिव और सुन्दर का लक्ष्य प्राप्त हो जाए। इस सम्पूर्ण खोज ने मनुष्य की वास्तविक विचारधारा को दबाये रखा। इस तरह के लेखन को दरिदा लोगोसेंट्रिज्म (Logocentrism) कहते हैं। इसमें कोई लाभ नहीं है। यह मृगतृष्णा मात्र है। इस लेखन का विखण्डन होना चाहिए। वे कई मूल पाठों (Texts) का उल्लेख करते हैं और जब विमर्श की तुलना विमर्शों से करते हैं तब उन्हें निराशा ही हाथ लगती है। ऐसे पाठों (Texts) से मनुष्य को कुछ भी नहीं मिला है। इसी कारण हमें भी पश्चिमी धारा के इस विमर्श का खण्डन करना चाहिए। इस खण्डन की प्रक्रिया ने ही उत्तर संरचनावाद में अराजकता ला दी है। अतः दरिदा विखण्डन पर जोर देते हैं और उनकी अवधारणा मूल में भाषाई संरचनवाद में निहित है। अब यह भी जानना आवश्यक है कि दरिदा विखण्डन किस तरह करते हैं। उनके तर्क का मूल यह है कि आज कुछ लेखन हमारे सामने हैं वे विमर्श (Discourse) की पेटी में है। इस पेटी को तहस-नहस करना चाहिए। इस प्रक्रिया को हमने एक दृष्टान्त के द्वारा समझाने का प्रयास किया है। नाटक का एक थियेटर है। मान लीजिए लखनऊ के बेगम बाजार का सलीम नाटक थियेटर है। इसमें कई छोटे-बड़े कलाकार है। कई किरदार हैं, कोई पुरूष है तो कोई स्त्री। नाटक उमराव जान पर है। किरदार इसमें वे ही डायलॉग बोलते हैं जो नाटककार ने लिखे हैं। अभिनय भी उसी तरह से होता है, जैसा निर्देशक चाहते हैं । कुल मिलाकर अभिनेता के हाथ में कुछ भी नहीं है। सब कुछ लेखक, निर्देशक और परम्परा के हाथ में है। उमराव जान चाहे कि वह मुजरा की जगह पॉप डाँस प्रस्तुत करे तो ऐसा नहीं कर सकती। उमराव जान को मुजरा ही करना होगा। यहाँ पर सब कुछ पूर्व निश्चित है। इस थियेटर को दरिदा निर्मम थियेटर (Theatre Cruelty) कहते हैं। यह निर्मम इसलिए है कि इसमें किरदार के हाथ में कुछ नहीं है, वह तो एक कठपुतली मात्र है। इसी थियेटर को दरिदा धार्मिक थियेटर (Theological Theatre) कहते है। व्याख्या के स्तर पर यह थियेटर लेखन है। यह सब मूर्धन्य लेखक ने लिख दिया है और यह लेखन भाग्य विधाता बन गया। ऐसे थियेटर को समाप्त कर दिया जाना चाहिए और इसी संबंध में वह वैकल्पिक थियेटर (Alternative Theatre) की बात कहते है। इस वैकल्पिक थियेटर में अभिनेता एकदम मुक्त होगा। यह थियेटर विकेन्द्रित (Decentering) होगा। इसमें न तो लेखक पर कोई जोर होगा और न परम्परा पर। अपनी अभिव्यक्ति में किरदार स्वतंत्र होगा।

माइकल फूको दारिदा से भिन्न उत्तर संरचनावादी है। उनके संरचनावाद में भाषा के अतिरिक्त कई अन्य सिद्धान्तों से भी विचारों को लिया गया है और इस कारण उनका उत्तर संरचनावाद अधिक जटिल हो जाता है। उदाहरण के लिए वेबर की बुद्धिसंगतता (Rationality) का फूको पर प्रभाव है और यह प्रभाव हमें कई स्थानों पर देखने को मिलता है।इतना होने पर भी एक स्थान पर वेबर की इस विचारधारा को अस्वीकार करते हुए फूको कहते हैं कि बुद्धिसंगतता कोई लोहे का पिंजड़ा (Iron Cage) नहीं है कि हम इससे बाहर नहीं निकल सकते। इसी तरह फूको पर मार्क्स का भी प्रभाव है। किन्तु वे मार्क्स को केवल आर्थिक रूप से नहीं देखते, वे शक्ति की सूक्ष्म राजनीति ((Micro-Politics of Power) का भी विस्तृत विवेचन करते हैं। फूको पर प्रघटनावाद (Phenomenology) का प्रभाव भी है, लेकिन वे यह स्वीकार नहीं करते कि कोई भी वस्तु स्वायत्त (Autonomous) है और उसका अर्थ उसी में निहित है। ये प्रभाव कहीं गहरे और तीव्र हैं ,कहीं हल्के और कहीं गाढ़े। परन्तु फूको पर एक प्रभाव पक्का है और वह प्रभाव नीत्शे (Nietzsche) का है। नीत्शे ने शक्ति और ज्ञान के सम्बन्धों की चर्चा की है।

इसी चर्चा को फूको ने ज्ञान और शक्ति के सम्बन्धों को सैद्धान्तिक रूप से प्रस्तुत किया है। फूको की पुस्तक आरक्योलाजी ऑफ नॉलेज (Archaeology of knowledge) (1966) एक उल्लेखनीय ग्रन्थ है। जिसमें कई जगह हमें उत्तर-संरचनावाद देखने को मिलता है। वे इस पुस्तक में ज्ञान और उसके तत्वों -विचारों, विमर्श की विधियों आदि का विवेचन करते हैं । वे अपने ज्ञान के पुरातत्व को इतिहास की कसौटी पर रखते हैं। यहाँ हमें संरचना देखने को मिलती है। वे कहते हैं कि जब हम लेखन और वाणी के कथनों की तुलना करते हैं, तब हमें इनमें बड़ा अन्तर दिखाई देता है। वे कहते हैं कि कुछ विमर्श ऐसे हैं जिन्हें व्यवहार में लाया जाता है और यह विमर्श ही वैज्ञानिक विमर्श की श्रेणी में आते हैं। अपने इस अध्ययन में फूको कहीं भी ज्ञान और शक्ति के सम्बन्धों को नहीं पाते। ऐसी अवस्था में उनका प्रारम्भिक रूझान भाषाई संरचना के साथ ही था।

फूको बाद में अपनी कृति जिनियोलॉजी ऑफ पॉवर (Geneology of power) (1969) में उत्तर संरचनावादी उपागम को अपनाते हैं। यहाँ पर उनके ऊपर नीत्शे का प्रभाव अधिक देखने को मिलता है। फूको कहते हैं कि ज्ञान के माध्यम से विमर्शों (Discourses) को तैयार किया जाता है और यह विमर्श अर्थात विचारधारा लोगों के दृष्टिकोण को बनाती है, निश्चित करती है। उदाहरण के लिए मध्य युग में पागलों को समाज में हानि रहित समझा जाता था। कुछ तो यहाँ तक मानते थे कि पागलों में परमात्मा ने कुछ विशेष शक्ति दी है, लेकिन आधुनिक युग में आकर समझा जाने लगा कि पागलपन एक तरह का मनोरोग है और अन्य रोगों की तरह इसका भी निदान हो सकता है। पागलपन एक विमर्श है और इसके बारे में हमने जिस ज्ञान का उत्पादन किया है वह पागलपन के बारे में हमारे दृष्टिकोण को निश्चित करता है। यह ज्ञान की शक्ति ही है जो हमारे विमर्श (Discourse) का निर्माण करती है और जिसके पास ज्ञान है वह दूसरों के विमर्श को निश्चित करता है । फूको ज्ञान के स्तरीकरण में विश्वास नहीं करते। वे ज्ञान और शक्ति के संबंधों को संरचनात्मक संबंध मानते हैं।

4.7 संरचनावाद एवम् उत्तर संरचनावाद में अन्तर

समाजशास्त्र में संरचनावादी सिद्धान्त का उद्‌गम सार्त्र के अस्तित्ववादी (Existentialism) के विरोध स्वरूप देखा जाता है। जबकि उत्तर संरचनावाद मानवशास्त्रीय संरचनावाद तथा मार्क्सवादी संरचनावाद की दोनों धाराओं के मंथन के पश्चात् हुआ। संरचनावादी सिद्धान्तकार यह मानते हैं कि व्यक्ति कुछ नहीं है उसे कोई स्वतंत्रता नहीं है वह तो केवल संरचना की कठपुतली मात्र है। संरचनावाद का मुख्य केन्द्र संरचना या समाज है। यह संरचना ही है जो व्यक्ति के क्रियाकलापों का निर्धारण करती है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति बनाम संरचना की बहस में संरचनावादी समाज की निर्णायक शक्ति पर जोर देते हैं। उत्तर संरचनावादी विचारक भी समाज की संरचना पर ही बल देते हैं। संरचनावादी विचारक आनुभाविकता को पूर्ण रूप से अस्वीकार करते हैं और इस बात पर जोर देते हैं कि संरचना के मूल को समझना चाहिए जो दिखाई नहीं देता। संरचनावाद भाषा की संरचना पर निर्भर है और किसी भी शब्द का अर्थ उस शब्द के दूसरे शब्दों के सम्बन्धों पर निर्भर है। शब्द का अर्थ वस्तु के साथ सम्बन्धों पर निर्भर नहीं करता। इसका अर्थ यह है कि शब्दों का मतलब शब्दों से बाहर होना है। शब्द में कतई नहीं। संरचनावाद व्याकरण की तरह यह मानकर चलता है कि शब्दों का विन्यास में जो अर्थ होता है, वह पक्का और व्यवस्थित होता है। उत्तर संरचनावाद संरचनावाद के इस अर्थ को स्वीकार नहीं करता। वह व्याकरण को मानता है पर उसकी व्याख्या को स्वीकार नहीं करता। प्रसिद्ध उत्तर संरचनावादी दरिदा का कहना है कि भाषा की अपेक्षा लेखन अधिक महत्वपूर्ण है। लेखन पढ़ने वालों पर अपना दबाव नहीं डालता, उन्हें स्वतंत्रता है कि वह स्वयं उसका अर्थ निकाले। सामाजिक संस्थाएँ भी लेखन की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। संरचनावाद में शब्द महत्वपूर्ण है किन्तु उत्तर संरचनावाद में लेखन महत्वपूर्ण होता है। उत्तर संरचनावादी जब लेखन की बात करते हैं तो उनका तात्पर्य विमर्श से है। उनके अनुसार किसी भी कथन या विमर्श का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता। एक विमर्श का अर्थ दूसरे विमर्श या विमर्शों के सम्बन्धों से निकलता है। संरचनावाद में शब्द का अर्थ शब्द में नहीं होता, दूसरे शब्दों के साथ सम्बन्धों में होता है। उसी प्रकार उत्तर संरचनावाद में एक विमर्श का अर्थ दूसरे विमर्शों के साथ सम्बन्धों में होता है।

4.8 सारांश

अस्तित्ववाद के विरोध में संरचनावाद आया। इस सिद्धान्त ने स्थापित किया कि व्यक्ति कुछ नहीं है, वह बेमतलब है।समाज ही व्यक्ति को बनाता है। यानि संरचना व्यक्ति पर प्रभुत्व रखती है। इस संरचना की अवधारणा ने मानवशास्त्रीय संरचनावाद को विकसित किया। मानवशास्त्र में जिस संरचनावाद का विकास हुआ है उसका आधार फील्ड वर्क है। मार्स और लेवी स्ट्राउस उसके समर्थक हैं। संरचनात्मक मार्क्सवाद का आधार सामाजिक, आर्थिक और ऐतिहासिक होता है और किसी भी अर्थ में इसका आधार भाषा वैज्ञानिक नहीं होता है। मानवशास्त्रीय संरचनावाद तथा मार्क्सवादी संरचनावाद ने ही उत्तर संरचनावाद को जन्म दिया। संरचनावाद में 'जहां' शब्द महत्वपूर्ण था वहीं उत्तर संरचनावाद में लेखन महत्वपूर्ण हो गया। इस लेखन में विमर्श की भूमिका अहम होती है। दरिदा ने उत्तर संरचनावाद को भाषाई रूप में समझने का प्रयास किया तथा अपने लेखन में विखण्डन की अवधारणा को रखा। दरिदा महान वृत्तान्तों का विखण्डन करते हैं । विमर्शों के सही अर्थ को समझना चाहते हैं। दूसरी ओर फूको का आग्रह है कि यह ज्ञान की शक्ति है जो हमारे विमर्शों का निर्माण करती है और जिसके पास ज्ञान है वह दूसरों के विमर्श को निश्चित करता है। फूको ज्ञान और शक्ति के सम्बन्धों को संरचनात्मक सम्बन्ध मानते हैं । संरचनावाद के पश्चात् ही उत्तर संरचनावाद का निर्माण हुआ और इसके माध्यम से यथार्थ को समझने का प्रयास किया जा रहा है।

4.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

Adams, Best N. and R.A.	:	Sociological Theory, Vistar Publica Sydie, tions, New Delhi, 2002.
Alexander, Jefree C.	:	Theoretical Logic in Sociology , Uni versity of California Press, Berkley, 1980.
Collins, R.	:	Theoretical Sociology, Rawat Publi cations, Jaipur, 1997.
Levi-strauss, C.	:	Structural Anthropology, Basic Books, New York, 1963.
Singhi, Narendra Kumar	:	Samaj shastriya Siddhanta : Vivechan and Vyakhya, Rawat Pub lications, Jaipur, 2002.
Skidmore, W.	:	Theoretical Thinking in Sociology, Cambridge University Press, Cam bridge, 1975.
Turner, J.S.	:	The Structure of Sociological Theory, Rawat Publications, Jaipur, 2002.

4.10 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 उत्तर संरचनावाद के विकास को बताते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि उत्तर संरचनावाद क्या है?

प्र.2 उत्तर संरचनावाद को परिभाषित कीजिए। यह किस तरह से संरचनावाद से भिन्न है?

प्र.3 उत्तर संरचनावाद की अवधारणा का विश्लेषण करते हुए उसमें फूको एवम् दरिदा के योगदान को स्पष्ट कीजिए।

प्र.4 संरचनावाद तथा उत्तर संरचनावाद में अन्तर उदाहरण देते हुए समझाइये ।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र.1 लेवी स्ट्रास के विचार ------ पद्धति से प्रभावित थे।

(अ) मनोवैज्ञानिक (ब) बीजगणित (स) अंकगणित (द) राजनीतिक

प्र.2 संरचनावाद का विकास प्रमुखतः ----- से जुड़ा हुआ है।

(अ) इंग्लैण्ड (ब) जर्मनी (स) फ्रांस (द) अमरीका

प्र.3 भाषा की संरचना के प्रणेता थे।

(अ) सोसोरे (ब) फूको (स) लेवी स्ट्रास (द) दरिदा

प्र.4 उत्तर संरचनावादी ------- पर जोर देते है।

(अ) व्यक्तिनिष्ठता (ब) वस्तुनिष्ठता (स) प्रघटना (द) सांकेतिक

प्र.5 उत्तर संरचनावादी यथार्थता को समझने के लिये ------- को मुख्य आधार मानते हैं।

(अ) लिखित प्रलेखों (ब) आँकड़ों (स) विमर्श (द) शब्द

प्र.6 संरचनावादी लेखन के स्थान पर ---- पर जोर देते हैं।

(अ) शब्द (ब) वाक्य (स) विमर्श (द) मुहावरे

प्र.7 लेमर्ट की पुस्तक का शीर्षक है।

(अ) माडर्न सोशल थ्योरी (ब) सोशल थ्योरी (स) पोस्ट स्ट्रक्चरल थ्योरी

(द) सोशियोलॉजिकल परस्पेटिक्व

प्र.8 दरिदा ने उत्तर संरचनावाद के सन्दर्भ में ----- की अवधारणा का उल्लेख किया है।

(अ) विखण्डन (ब) खण्डन (स) प्राक्कल्पना (द) विज्ञान

4.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (ब) 2. (स) 3. (अ) 4. (ब) 5. (स) 6. (अ)
7. (अ) 8. (अ)

इकाई 5- संरचनावाद एवं उत्तरसंरचनावाद की समकालीन प्रासंगिकता समाजशास्त्रीय मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 संरचनावाद

5.2.1 क्लाड लेवी-स्ट्रास

5.2.2 लुई आल्थूसर

5.3 उत्तर संरचनावाद

5.3.1 मिशेल फूको

5.3.2 जैक दरिदा

5.4 सारांश

5.5 संदर्भ ग्रन्थ

5.6 बोध प्रश्न

5.0 उद्देश्य

फ्रांसीसी समाजशास्त्रियों को अनेक कालजयी चिन्तन धाराओं के प्रतिपादन का श्रेय प्राप्त है। ऐसी ही एक चिन्तन धारा इनके द्वारा बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में प्रतिपादित हुई थी जिसे 'संरचनावाद' के नाम से जाना जाता है। जिन दिनों समाजशास्त्र के क्षेत्र में संरचनावाद पुष्पित हो रहा था उन्हीं दिनों फ्रांस में ही नाना क्षेत्रों में संरचनावाद की उल्टी धारा भी 'उत्तरसंरचनावाद' के नाम से अंकुरित हो रही थी। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य फ्रांसीसी समाजशास्त्री की इन्हीं दोनों चिन्तन धाराओं की जानकारी प्रदान करना है।

5.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्रीय सैद्धान्तीकरण की एक महत्वपूर्ण परम्परा है कि किसी एक तथ्य को सर्वसामान्य मान लिया जाता है और फिर उसी सर्वसामान्य तथ्य के सन्दर्भ में सामाजिक घटना का अध्ययन करके तदनुरूप सिद्धान्त का निरूपण किया जाता है । इतिहासज्ञों ने 'परिवर्तन' को चरम तथ्य मानकर उसी के संदर्भ में इतिहास का सैद्धान्तीकरण किया था। उद्विकासवादियों ने 'उद्विकास' की प्रक्रिया को सर्वसामान्य तथ्य मानते हुए उसके सन्दर्भ में पूरे समाज का अध्ययन किया था। संरचनावाद और उत्तर संरचनावाद समाजशास्त्रीय सैद्धान्तीकरण की इसी महत्वपूर्ण परम्परा की अत्याधुनिक कड़ियाँ हैं जिनमें क्रमशः एकीकृत आन्तरिक संरचना एवं विखण्डित संरचना के संदर्भ में सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण का प्रयास किया गया है।

5.2 संरचनावाद (Structuralism)

'संरचनावाद' सही अर्थ में फ्रांसीसी मूल की विचारधारा है। इसके अधिकांश विचारक भी फ्रांसीसी मूल के ही रहे हैं, इसलिये इसे फ्रांसीसी संरचनावाद के नाम से भी जाना जाता है। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में फ्रांस के बौद्धिक जगत में मानवतावाद की - खासकर जीन पॉल सात्र के अस्तित्ववाद की धूम मची हुयी थी। सात्र व्यक्ति और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के हिमायती थे। उनका मानना था कि लोग स्वयं अपने निर्णय के अनुसार क्रिया करते हैं न कि सामाजिक नियमों और सामाजिक संरचना की अपेक्षा के

अनुसार (रित्जर 593) सात्र के इसी व्यक्तित्ववादी अस्तित्ववाद के विरोध में फ्रांसीसी संरचनावाद प्रकाश में आया। अतः संरचनावाद स्वभावतया व्यक्तिगत स्वतंत्रता की हिमायत करने के बदले सामाजिक संरचना की स्वतंत्रता स्वीकार करता है और मानता है कि लोग अपने निर्णय के अनुसार नहीं अपितु सामाजिक संरचना की अपेक्षा के अनुसार क्रिया करते हैं। अस्तु, प्रथम दृष्टया संरचनावाद को सामाजिक संरचना की व्याख्या के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

सामाजिक संरचना का अध्ययन समाजशास्त्रियों के लिये कोई नयी बात नहीं है। समाजशास्त्र के जन्मदाता स्वयं आगस्त काँत ने 'सामाजिक स्थितिकी' (Social Statics) के अन्दर समय विशेष की सामाजिक संरचना के विश्लेषण में रूचि ली थी। कार्ल मार्क्स ने इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या के अन्तर्गत सामाजिक संरचना को समाज की ऊपरी संरचना का निर्धारण करने वाली 'आर्थिक संरचना' के रूप में प्रस्तुत किया था। हरबर्ट स्पेंसर ने सामाजिक संरचना को उद्विकास की प्रक्रिया में विभेदीकृत होते हुये बताया था। संरचनात्मक प्रकार्यवादी टैल्कॉट पार्सन्स ने सामाजिक संरचना को संक्रिया व्यवस्था की प्रकार्यात्मक अनिवार्यताओं की पूर्ति के एक साधन के रूप में स्वीकार किया था। इसी तरह अन्य नाना समाजशास्त्रियों ने भी अपनी सैद्धान्तिक रचनाओं में सामाजिक संरचना की अवधारणा को किसी न किसी हद तक और किसी न किसी रूप में अपनाया है। परन्तु इन सारे पूर्ववर्ती अध्ययनों में सामाजिक संरचना को मुख्य अध्ययन विषय के उपांग (Sub-part) के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है, और इनमें से किसी में भी इसे स्वतंत्र विषय (Independent Subject) का दर्जा नहीं दिया गया है। यही कारण रहा कि फ्रांसीसी संरचनावाद के अभ्युदय के पहले सामाजिक संरचना के किसी भी अध्ययन को 'संरचनावाद' का नाम नहीं प्राप्त हो सका। स्मरणीय है कि किसी अध्ययन का जो मुख्य या केन्द्रीय विषय होता है, सामान्यतया उसी का नाम उस अध्ययन को प्राप्त होता है। संरचनावाद पहला सिद्धान्त है जिसने 'संरचना' को अपना केन्द्रीय अध्ययन विषय बनाया और इस कारण अपने वर्तमान नाम का हकदार बना।

एक बात और कि पूर्ववर्ती समाजशास्त्रीय सैद्धन्तिकों ने 'संरचना' का नहीं, अपितु 'सामाजिक संरचना' का अध्ययन किया है, जबकि फ्रांसीसी संरचनावाद 'सामाजिक संरचना' का नहीं, अपितु संरचना का अध्ययन करता है (रित्जर 594,96 । वैसे फ्रांसीसी संरचनावाद जिस 'संरचना' का अध्ययन करता है वह समाज या सामाजिक घटनाओं की ही संरचना होती है और इस आधार पर उसे भी सामाजिक 'संरचना' कहना गलत नहीं होगा। परन्तु परम्परागत समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में वर्णित 'सामाजिक संरचना' तथा संरचनावादियों द्वारा अध्ययन की जाने वाली सामाजिक 'संरचना' में मौलिक अन्तर है। परम्परागत समाजशास्त्र समाज या सामाजिक, घटना की 'बाहरी आकृति' (Surface Configuration) को 'सामाजिक संरचना' मानता है जबकि संरचनावाद सामाजिक संरचना को समाज या सामाजिक घटना की बाहरी आकृति के मूल में निहित 'यथार्थ' के रूप में देखता है और मानता है कि 'बाहरी आकृति' इसी अन्तर्निहित यथार्थ का प्रतिबिम्ब या आभास होती है (एण्डर्सन आदि 101ए)। **इस दृष्टि से समाजशास्त्रीय संरचनावाद को उस संरचना की व्याख्या करने वाला सिद्धान्त कहा जा सकता है जो सामाजिक घटनाओं की बाहरी संरचना अर्थात सामाजिक संरचना के मूल में यथार्थ के रूप में विद्यमान होती तथा उसी के रूप में प्रतिबिम्बित होती है।**

सामाजिक घटनाओं की बाहरी संरचना के मूल में निहित जिस यथार्थ को संरचनावादियों नें 'संरचना' नाम देकर अपना अध्ययन विषय बनाया है उसे उन्होंने सामान्यतया 'भाषायी संरचना' के रूप में परिभाषित किया है। (रित्जर 594)। शायद इसी कारण रोलैण्ड बार्थीज किसी भी विषय के अध्ययन में भाषावैज्ञानिक संरचनावाद की शब्दावलियों के प्रयोग को ही सच्चे संरचनावादी की पहचान मानते हैं। जॉन स्टरॉक के शब्दों में, रोलैण्ड बार्थीज का कहना है कि संरचनात्मक भाषाशास्त्र से लिये गये नाना शब्दों के प्रयोग द्वारा ही सच्चे संरचनावादी की पहचान होती है।' (स्टराक 5)। वैसे क्लाड लेवी-स्ट्रास बाहरी संरचना के मूल में निहित 'वास्तविक' संरचना को भाषायी संरचना के रूप में नहीं अपितु अचेतन मन की तार्किक संरचना के रूप में पहचानते हैं । लेवी स्ट्रास का दावा है कि नातेदारी आदि मानवशास्त्रीय घटनाओं की संरचना तथा स्वयं भाषा की संरचना भी अचेतन मन की तार्किक संरचना का उत्पाद होती है (रित्जर 595-96)। लुई आल्थूसर मार्क्सवाद की संरचनावादी व्याख्या के दौरान समाज की वास्तविक आन्तरिक संरचना को 'भाषायी संरचना' के रूप में नहीं अपितु आर्थिक संरचना' के रूप में पहचानते हैं। जो भी हो,

सामाजिक घटनाओं के संरचनावादी अध्ययन में सामाजिक संरचना के बदले 'अन्तर्निहित भाषायी संरचना' पर जो ध्यान केन्द्रित किया गया है उसे 'भाषायी मोड' के नाम से जाना जाता है (रित्जर 594)।

संरचनावादियों द्वारा सामाजिक घटनाओं की संरचनावादी व्याख्यायें प्रायः कार्ल मार्क्स और सिग्मण्ड फ्रायड के विचारों के परिप्रेक्ष्य में की गयी हैं । अतः ये व्याख्यायें इन शास्त्रीय विचारकों के विचारों की संरचनावादी पुनर्व्याख्याओं के रूप में जानी जाती है। लुई आल्थूसर ने मार्क्सवाद के वैज्ञानिक चरित्र को उभारने के लिये उसकी संरचनावादी पुनर्व्याख्या की है तो लेवी स्ट्रास और जैक लकाँ ने फ्रायड को संरचनावादी दृष्टिकोणों से पुनर्परिभाषित करने का प्रयास किया है। विभिन्न संरचनावादियों के बीच प्राप्य इस संदर्भ भेद के बावजूद संरचनावादी दृष्टिकोण की मुख्य परिचायक विशेषतायें इन सब में सामान्य रूप से विद्यमान नजर आती हैं ये विशेषतायें संक्षेप में नीचे प्रस्तुत की जा रही हैं।

संरचनावाद का आधारभूत लक्ष्य सामाजिक घटनाओं की आन्तरिक संरचना का अध्ययन है। संरचनावादियों के अनुसार सामाजिक घटनाओं की आन्तरिक संरचना ही उनकी वास्तविक संरचना होती है। बाहरी संरचना तो आन्तरिक संरचना का ही प्रतिबिम्ब या आभास होती है।

रोलैण्ड बार्थीज किसी भी विषय की संरचनावादी व्याख्या में संरचनात्मक भाषाविज्ञान की शब्दावलियों का प्रयोग अनिवार्य मानते हैं। उनका मानना है कि "संरचनात्मक भाषाविज्ञान से लिये गये नाना शब्दों के प्रयोग द्वारा ही सच्चे संरचनावादी की पहचान होती हैं।"

संरचनावाद संरचना का व्यष्ठिमूलक अध्ययन नहीं अपितु समग्रमूलक अध्ययन है। आर.जे. एण्डर्सन और उनके सहयोगियों का कहना है कि संरचनावादी विश्लेषण समष्टि के स्तर पर होते हैं तथा इनमें तत्वों, अंशों, आन्तरिक सम्बन्धों आदि सभी को समष्टि के सन्दर्भ में ही तथा परस्पर अनुकूलित देखा जाता हैं, पृथक्कृत एवं आत्म निर्भर इकाइयों के रूप में नहीं (स्टरॉक 10)।

संरचनावाद संरचना के एककालिक या वर्णनात्मक अध्ययन का हिमायती है न कि सार्वकालिक या ऐतिहासिक अध्ययन का। बताने की आवश्यकता नहीं कि एक ही काल खण्ड तक सीमित रहने वाले अध्ययन को 'एककालिक' तथा काल विशेष तक सीमित न रहने वाले अध्ययन को 'ऐतिहासिक' कहते हैं। संरचनावाद की इस विशिष्टता को रेखांकित करते हुये जॉन स्टरॉक लिखते हैं , "संरचनावाद अनिवार्यतः पूर्णरूपेण एककालिक है, यह कृत्रिम एवं अनैतिहासिक दशाओं में विशिष्ट व्यवस्थाओं या संरचनाओं के अध्ययन से सम्बन्धित है तथा इन व्यवस्थाओं या संरचनाओं की वर्तमान प्रकार्यात्मकता की व्याख्या के लिये उन व्यवस्थाओं या संरचनाओं से परहेज रखता है जिनसे ये पैदा हुयी होती है।" (वही 9)।

संरचनावाद विविध क्षेत्रों में विविध विकासों का संयुक्त परिणाम है (रित्जर 594)। परन्तु स्विस भाषा वैज्ञानिक फर्डिनण्ड डी सस्योर के संरचनात्मक भषाविज्ञान को आधुनिक संरचनावाद का मूल स्रोत एवं प्रबलतम आधार माना जाता है (वही, स्टरॉक 6)। वहीं से संरचनावाद ने जैक लकाँ क्लाड लेवी - स्ट्रास, रोलैण्ड बार्थीज, लुई आल्थूसर आदि की कोशिशों से सामाजिक एवं मानवाशास्त्रीय घटनाओं की व्याख्या के क्षेत्र में प्रवेश किया।

5.2.1 क्लाड लेवी-स्ट्रास का मानवशास्त्रीय संरचनावाद

फ्रांसीसी संरचनावादियों में क्लाड लेवी-स्ट्रास का अपना एक खास स्थान है। कुर्जवील जैसे लेखक तो इन्हें ही संरचनावाद का जनक भी मानते हैं (रित्जर 595) वास्तविकता जो भी हो इस बात से इन्कार करना सम्भव नहीं है कि लेवी-स्ट्रास की सारी कृतियाँ संरचनावादी पद्धति के बचाव और स्पष्टीकरण में ही निरत है। 'ट्रिस्टिस ट्रापिकस' (1955) में, 'स्ट्रक्चरल ऐन्थ्रोपालाजी के अनेक लेखों में तथा अपनी अन्य कृतियों में भी वे संरचनावादी पद्धति की हिमायत करते, नाना उदाहरणों द्वारा उसका स्पष्टीकरण करते, गवेषणा के अन्य क्षेत्रों में इसके सम्भावित योगदानों की समीक्षा करते तथा इसके दार्शनिक आशयों का प्रकाशन करते साफ नजर आते हैं (स्पर्बर 20)। इनके संरचनावाद में फर्डिनण्ड, डा. सस्योर, रोमैन जैकोब्सन जैसे अनेक संरचनात्मक भाषावैज्ञानिकों के विचारों एवं उनकी पद्धतियों के प्रभाव संमाहित हैं जिनका प्रयोग इन्होंने सामाजिक व्यवस्था एवं आनुष्ठानिक तथा मिथकीय तथ्यों के विश्लेषण में खुल कर किया है (बून 168)। इसी पृष्ठभूमि में लेवी-स्ट्रास के संरचनावाद की प्रमुख विशिष्टितायें एवं मान्यतायें

यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत हैं।

(1) फर्डिनण्ड डी सस्योर के संरचनात्मक भाषाविज्ञान का ऋण - लेवी-स्ट्रास का संरचनावाद स्विस भाषावैज्ञानिक फर्डिनण्ड डी सस्योर के संरचनात्मक भाषाविज्ञान का यथेष्ठ मात्रा में ऋणी है। डैन स्पर्बर के अनुसार सस्योर के संरचनात्मक भाषाविज्ञान की इन प्रमुख मान्यताओं ने लेवी-स्ट्रास के संरचनावाद के विकास में खास योगदान किया है (पूर्वोक्त 46)।

1. ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय या मनोवैज्ञानिक व्यवस्थाओं के साथ भाषा के सम्बन्ध का अध्ययन करने के पहले स्वयं भाषा का अध्ययन आवश्यक हैं।

2. भाषा के अध्ययन हेतु उसको न्यूनतम तत्वों में विखण्डित करना आवश्यक है।

3. भाषा के तत्व अपने पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर ही परिभाषित हो सकते हैं। ये सम्बन्ध दो तरह के होते हैं - निदर्शनात्मक तथा संश्लेषणात्मक । विकल्पात्मक तत्वों को जोड़ने वाले सम्बन्ध निदर्शनात्मक सम्बन्ध कहलाते हैं जैसे गर्म और सर्द का सम्बन्ध। जो सम्बन्ध एक साथ समूहित हो सकने वाले तत्वों को जोड़ते हैं उन्हें संश्लेषणात्मक सम्बन्ध कहते हैं। जैसे चट्टान, कंकड़, पत्थर के बीच का सम्बन्ध।

सस्योर के संरचनात्मक भाषाविज्ञान की इन मान्यताओं के आलोक में ही लेवी-स्ट्रास स्वयं भी 'संरचना' की कोई चार विशेषतायें बताते हैं। ये विशेषतायें हैं (वाटर्स : 98):-

1. संरचना में व्यवस्थात्मक विशेषताएँ विद्यमान होती है। तात्पर्य यह कि संरचना अनेक ऐसे तत्वों की बनी होती है, जिनमें से कोई भी तत्व अन्य तत्वों को प्रभावित किये बिना नहीं बदला जा सकता।

2. संरचना के संघटक तत्वों के सम्बन्ध रूपान्तरण (Transformation) के योग्य होते हैं। परिणामतः वे नातेदारी, मिथक, अर्थव्यवस्था, राज्यव्यवस्था आदि विभिन्न क्षेत्रों में दुहराये जाते हुये देखे जा सकते हैं।

3. संरचना के संघटक तत्वों के सम्बन्ध निश्चित हुआ करते हैं अतः यह भविष्यवाणी करना सम्भव है कि किसी तत्व के बदलने पर संरचना क्या प्रतिक्रिया कर सकती है।

4. संरचना की विद्यमानता (Existence) का आशय है कि सामाजिक जीवन के सभी तत्व सिद्धान्ततः बोधगम्य होते हैं।

(2) मानवशास्त्रीय घटनाओं की आन्तरिक संरचना -

एक सच्चे संरचनावादी की भाँति लेवी-स्ट्रास मानवशास्त्रीय घटनाओं की सामान्य 'आन्तरिक संरचना' को उनकी वास्तविक संरचना मानते हैं और दावा करते हैं कि यही आन्तरिक संरचना अलग अलग स्थितियों के अनुसार अलग-अलग स्वरूपों में सामने आती हैं। आन्तरिक संरचना के ये अलग अलग स्वरूप ही सम्बद्ध घटना की बाहरी संरचना (External structure) कहलाते हैं।

लेवी-स्ट्रास द्वारा उल्लिखित संरचना की पूर्वोक्त चारों विशेषतायें मानवशास्त्रीय घटनाओं की आंतरिक संरचना की केवल स्वरूपात्मक (formal) विशेषतायें हैं ।इस 'आंतरिक संरचना' के यथार्थ को लेवी-स्ट्रास उन नियमों और सिद्धान्तों की व्यवस्था के रूप में पहचानते हैं जो मानव के मन में उसकी अचेतन तार्किक संरचना के रूप में विद्यमान होते हैं। घटनाओं की बाहरी संरचनायें अचेतन मन में निहित इन्हीं नियमों और सिद्धान्तों की अभिव्यक्तियां होती हैं (एण्डर्सन 107) । उदाहरणार्थ नातेदारी व्यवस्था की आन्तरिक संरचना में निहित एक महत्वपूर्ण नियम बहिर्विवाह से सम्बन्धित है (वाटर्स 98)। लेवी-स्ट्रास के अनुसार बहिर्विवाह के नियम के अभाव में जीवन साथियों का विनिमय नहीं हो सकता और जीवन साथियों के विनिमय के बिना समाज का अस्तित्व सम्भव नहीं। नातेदारी व्यवस्था के औसत सहभागियों को इस आन्तरिक संरचना की जानकारी नहीं होती। परन्तु यह नातेदारी व्यवस्थाओं में अज्ञात रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है (वही)।

नियमों और सिद्धान्तों की व्यवस्था ही अचेतन मन में उसकी तार्किक संरचना के रूप में विद्यमान होती है और यही नियम तथा सिद्धान्त घटनाओं की आन्तरिक संरचना के भी संघटक होते हैं । इसलिये लेवी-स्ट्रास मानवशास्त्रीय घटनाओं की तथा स्वयं भाषा की भी संरचना को मन की अचेतन तार्किक संरचना

का उत्पाद मानते हैं (रित्जर 595)। वस्तुतः फ्रायड की प्रणाली पर लेवी स्ट्रास मानते हैं कि सभ्य और असभ्य सभी मानवों के मन अपने अचेतन रूप में एक से होते हैं और घटनाओं की आन्तरिक संरचना इसी अचेतन एकरूपात्मक मन का उत्पाद होती है। अतः विभिन्न घटनाओं की आन्तरिक संरचना का एकरूपात्मक या सर्वसामान्य होना स्वाभाविक है। लेवी स्ट्रास के अनुसार आन्तरिक संरचना चाहे यह भाषा की हो या सामाजिक घटनाओं की हो या फिर चाहे अचेतन मन की हो, कुछ सामान्य नियमों के आधार पर क्रियाशील होती है। लेवी-स्ट्रास के ही अनुसार इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण नियम "द्विपद विरोध" का नियम है (वाटर्स 99, एण्डर्सन 107)। 'गर्म' और 'सर्द' के बीच विरोध तथा 'कच्चा' और 'पक्का' के बीच विरोध द्विपद विरोध" के उदाहरण हैं।

1. संरचना में व्यवस्थात्मक विशेषताएँ विद्यमान होती है। तात्पर्य यह कि संरचना अनेक ऐसे तत्वों की बनी होती है, जिनमें से कोई भी तत्व अन्य तत्वों को प्रभावित किये बिना नहीं बदला जा सकता।

2. संरचना के संघटक तत्वों के सम्बन्ध रूपान्तरण (Transformation) के योग्य होते हैं। परिणामतः वे नातेदारी, मिथक, अर्थव्यवस्था, राज्यव्यवस्था आदि विभिन्न क्षेत्रों में दुहराये जाते हुये देखे जा सकते हैं।

3. संरचना के संघटक तत्वों के सम्बन्ध निश्चित हुआ करते हैं अतः यह भविष्यवाणी करना सम्भव है कि किसी तत्व के बदलने पर संरचना क्या प्रतिक्रिया कर सकती है।

4. संरचना की विद्यमानता (Existence) का आशय है कि सामाजिक जीवन के सभी तत्व सिद्धान्ततः बोधगम्य होते हैं।

(2) मानवशास्त्रीय घटनाओं की आन्तरिक संरचना -

एक सच्चे संरचनावादी की भाँति लेवी-स्ट्रास मानवशास्त्रीय घटनाओं की सामान्य 'आन्तरिक संरचना' को उनकी वास्तविक संरचना मानते हैं और दावा करते हैं कि यही आन्तरिक संरचना अलग अलग स्थितियों के अनुसार अलग-अलग स्वरूपों में सामने आती हैं। आन्तरिक संरचना के ये अलग अलग स्वरूप ही सम्बद्ध घटना की बाहरी संरचना (External structure) कहलाते हैं।

लेवी-स्ट्रास द्वारा उल्लिखित संरचना की पूर्वोक्त चारों विशेषतायें मानवशास्त्रीय घटनाओं की आंतरिक संरचना की केवल स्वरूपात्मक (formal) विशेषतायें हैं ।इस 'आंतरिक संरचना' के यथार्थ को लेवी-स्ट्रास उन नियमों और सिद्धान्तों की व्यवस्था के रूप में पहचानते हैं जो मानव के मन में उसकी अचेतन तार्किक संरचना के रूप में विद्यमान होते हैं। घटनाओं की बाहरी संरचनायें अचेतन मन में निहित इन्हीं नियमों और सिद्धान्तों की अभिव्यक्तियां होती हैं (एण्डर्सन 107) । उदाहरणार्थ नातेदारी व्यवस्था की आन्तरिक संरचना में निहित एक महत्वपूर्ण नियम बहिर्विवाह से सम्बन्धित है (वाटर्स 98)। लेवी-स्ट्रास के अनुसार त्रहिविर्वाह के नियम के अभाव में जीवन साथियों का विनिमय नहीं हो सकता और जीवन साथियों के विनिमय के बिना समाज का अस्तित्व सम्भव नहीं। नातेदारी व्यवस्था के औसत सहभागियों को इस आन्तरिक संरचना की जानकारी नहीं होती। परन्तु यह नातेदारी व्यवस्थाओं में अज्ञात रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है (वही)।

नियमों और सिद्धान्तों की व्यवस्था ही अचेतन मन में उसकी तार्किक संरचना के रूप में विद्यमान होती है और यही नियम तथा सिद्धान्त घटनाओं की आन्तरिक संरचना के भी संघटक होते हैं । इसलिये लेवी-स्ट्रास मानवशास्त्रीय घटनाओं की तथा स्वयं भाषा की भी संरचना को मन की अचेतन तार्किक संरचना का उत्पाद मानते हैं (रित्जर 595)। वस्तुतः फ्रायड की प्रणाली पर लेवी स्ट्रास मानते हैं कि सभ्य और असभ्य सभी मानवों के मन अपने अचेतन रूप में एक से होते हैं और घटनाओं की आन्तरिक संरचना इसी अचेतन एकरूपात्मक मन का उत्पाद होती है। अतः विभिन्न घटनाओं की आन्तरिक संरचना का एकरूपात्मक या सर्वसामान्य होना स्वाभाविक है। लेवी स्ट्रास के अनुसार आन्तरिक संरचना चाहे यह भाषा की हो या सामाजिक घटनाओं की हो या फिर चाहे अचेतन मन की हो, कुछ सामान्य नियमों के आधार पर क्रियाशील होती है। लेवी-स्ट्रास के ही अनुसार इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण नियम "द्विपद विरोध" का नियम है (वाटर्स 99, एण्डर्सन 107)। 'गर्म' और 'सर्द' के बीच विरोध तथा 'कच्चा' और 'पक्का' के बीच विरोध द्विपद विरोध" के उदाहरण हैं।

(3) मानवशास्त्रीय तथ्यों के अध्ययन में संरचनात्मक पद्धति का प्रयोग - लेवी स्ट्रास ने संचार के सभी स्वरूपों पर संरचनात्मक पद्धति का व्यापक प्रयोग किया है (रित्जर 595)। परन्तु एक संरचनावादी के रूप में उनका विशेष महत्व इसलिये है कि उन्होंने संरचनावादी पद्धति का प्रयोग मानवशास्त्रीय तथ्यों के अध्ययन के लिये किया है। जार्ज रित्जर के अनुसार लेवी-स्ट्रास ने नातेदारी, टोटमवाद, मिथक आदि सामाजिक घटनाओं की लम्बी श्रंखला को संचार व्यवस्थाओं के रूप में पुनर्परिभाषित करके उन्हें संरचनावादी विश्लेषण के योग्य बनाया है (वही)। सस्योर द्वारा प्रतिपादित भाषाशास्त्रीय संरचनावाद की प्रणाली पर लेवी-स्ट्रास सर्वप्रथम इन व्यवस्थाओं को विश्लेषण की न्यूनतम इकाइयों में विखण्डित करते हैं और तत्पश्चात इन इकाइयों को यथोचित आधारों पर श्रेणीकृत करते हैं। अन्ततः वे इकाइयों की इन श्रेणियों के बीच तार्किक सम्बन्ध स्थापित करके सम्बद्ध व्यवस्था की संरचना का पता लगाते हैं (स्पर्बर 41,वाटर्स 99)। एण्डर्सन और उनके सहयोगियों के अनुसार लेवी स्ट्रास की संरचनात्मक पद्धति का स्पष्टतम रूप उनके द्वारा मिथक की संरचना के विश्लेषण में दिखायी पड़ता है (पूर्वोक्त 107)। अध्ययन की सुविधा के लिये इस विश्लेषण को चरणबद्ध करके यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. मिथक की व्यवस्था - लेवी स्ट्रास के पूर्ववर्ती मानवशास्त्री मिथक को ढीला-ढाला तथा प्रायः आलंकारिक उपाख्यानों का वर्णन मात्र मानते रहे हैं। मिथक के प्रति इस परम्परागत मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण को लेवी-स्ट्रास नकार देते हैं । उनका अपना मत है कि मिथक के विभिन्न तत्व असंगठित नहीं अपितु पूरी तरह एकीकृत एवं परस्पर अनुकूलित होते हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह भाषा के तत्व पूरी तरह एकीकृत एवं परस्पर अनुकूलित होते हैं। स्पर्बर (35, बून 169) इतना ही नहीं लेवी-स्ट्रास मानते हैं कि किसी मिथक की अनेक विशेषतायें उस समय समझ में आती हैं जब उसे अन्य कई मिथकों के साथ उसके सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है (स्पर्बर 40)। इसी लिये वे सुझाव देते हैं कि मिथकों का विश्लेषण एक-एक करके नहीं अपितु सम्बन्धित मिथकों के समूह के अंशों के रूप में ही किया जाना चाहिये (वही 37)। वस्तुतः लेवी-स्ट्रास का दावा है कि उत्पत्तिमूलक रूपान्तरण तथा बौद्धिक रूपान्तरण की प्रक्रियाओं में विभिन्न मिथकों के कुछ अंश अनजाने में इधर-उधर हो जाया करते हैं । अतः किसी मिथक की संरचना की सही जानकारी के लिये उससे सम्बन्धित मिथकों का संदर्भ लेना आवश्यक है। जब कोई व्यक्ति किसी सुने हुये आख्यान को दूसरे व्यक्ति के सामने दुहराता है तो उसमें जाने-अनजाने उसकी ओर से कुछ और जुड़ जाता है। यह जननिक रूपान्तरण कहलाता है। मिथक अन्य मिथकों से स्वभावतया कई रूपों में जुड़े होते हैं जिससे मिथकों में अनजाने ही इधर का उधर हो जाया करता है। इसे बौद्धिक रूपान्तरण कहते हैं (स्पर्बर 42)।

2. आधारभूत इकाइयों में मिथक का विखण्डन - मिथक को व्यवस्था के रूप में परिभाषित करने के बाद लेवी स्ट्रास उसे उसी प्रकार आधारभूत इकाइयों में विखण्डित करते हैं जिस प्रकार भाषाशास्त्रीय संरचनावाद में भाषा को न्यूनतम इकाइयों में विखण्डित किया जाता है। भाषा की न्यूनतम इकाई को 'हबनिग्राम' कहते हैं जबकि लेवी-स्ट्रास मिथक की न्यूनतम इकाई को 'मिथीम' नाम देते हैं (स्पर्बर 41, वाटर्स 99)। सम्बन्ध व्यक्त करने वाले वाक्य मिथीम कहलाते हैं। ईडिपस से सम्बन्धित मिथक के मिथीम्स हैं -'ईडिपस अपने पिता को मार डालता है।'' ईडिपस ड्रैगन को मार डालता है। ईडिपस अपनी माता से विवाह कर लेता है।' आदि।

3. मिथक की आधारभूत इकाइयों का श्रेणीकरण - मिथक को उसकी न्यूनतम आधारभूत इकाइयों 'मिथीम्स' में विखण्डित करने के बाद लेवी-स्ट्रास मिथीम्स को विभिन्न उपयुक्त आधारों पर अलग-अलग श्रेणियों में वर्गीकृत करते हैं। ईडिपस से सम्बन्धित पूर्वोक्त मिथक की मिथीम्स को वे कोई चार श्रेणियों में वर्गीकृत करते हैं। यथा रक्त-सम्बन्ध के बोधक मिथीम्स को एक श्रेणी में तथा रक्त-सम्बन्ध की अस्वीकृति के बोधक वाक्यों (मिथीम्स) को दूसरी श्रेणी में रखते हैं।

4. मिथक की संरचना का प्रकाशन - मिथक के सम्बन्ध-सूचक वाक्यों को अलग- अलग श्रेणियों में वर्गीकृत करने के बाद उन श्रेणियों को इस प्रकार पुनर्व्यवस्थित किया जाता है जिससे कि उनके बीच एक तार्किक संरचना उभर सके। यह तार्किक संरचना ही सम्बद्ध मिथक की वास्तविक संरचना होती

है। ईडिपस से सम्बन्धित मिथक की संघटक वाक्य-श्रेणियों की तार्किक संरचना लेवी स्ट्रास को प्रमुख रूप से द्विपद विरोधों की व्यवस्था के रूप में परिलक्षित होती है। जैसे पुरूष और स्त्री तथा मनुष्य और राक्षस के बीच विरोध। अतः द्विपद विरोध को वे मिथक की आन्तरिक संरचना की केन्द्रीय विशेषता मानते हैं (वाटर्स 99)। किसी मिथक को कहने-सुनने वाले लोगों को उसमें निहित द्विपद विरोधों का पता नहीं होता, परन्तु ये विरोध उनके अचेतन मन में निहित अवश्य होते हैं तथा वहीं रहते हुये बाहरी संरचनाओं के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इसीलिए लेवी-स्ट्रास मानवशास्त्रीय घटनाओं की वास्तविक (अर्थात आन्तरिक) संरचना को मन की अचेतन तार्किक संरचना के रूप में परिभाषित करते हैं।

समीक्षा

क्लाड लेवी-स्ट्रास का मानवशास्त्रीय संरचनावाद मानवशास्त्रीय तथ्यों की व्याख्या के इतिहास में प्रकार्यवादी व्याख्या के बाद और बहुत कुछ उसी की विरोधी व्याख्या के रूप में उभर कर सामने आया है। जेम्स बून के अनुसार मानक प्रकार्यवादी सिद्धान्त किसी भी व्यवस्था के अन्दर विद्यमान विरोधों को उसकी यथोचित प्रकार्यात्मकता में बाधक मान कर उनके सुधार, परिष्कार या उपचार की आवश्यकता पर बल देते रहे हैं। इसके विपरीत लेवी-स्ट्रास का संरचनावाद विरोधों को द्विपद विरोधों के रूप में सामाजिक घटनाओं की आन्तरिक संरचना के अस्तित्व के लिये अपरिहार्य मानता है (बून 169)। इस मान्यता के कारण लेवी-स्ट्रास उन द्वन्द्ववादियों की पंक्ति में शामिल हो जाते हैं जो द्वन्द्व या विरोध को गुणात्मक प्रगति का मूल मानते हैं। लेवी-स्ट्रास विभिन्न मानवशालीय घटनाओं की आन्तरिक संरचना को सर्वसामान्य मान कर उन मानवशास्त्रीय सैद्धान्तिकों को भी निरन्तर कर देते हैं जो इन घटनाओं को यात्रियों की सूचनाओं के आधार पर ढीला-ढाला तथा असंगठित मानते रहे हैं (एण्डरसन आदि 105)। डैन स्पर्बर कम से कम तीन अर्थों में लेवी स्ट्रास के प्रयास को मौलिक मानते हैं।

1. सांस्कृतिक प्रतीकवाद के अध्ययन के माध्यम से लेवी स्ट्रास देश और काल की सीमाओं से अलग सम्पूर्ण मानवों की एक चिन्तन रीति को समझने का प्रयास करते हैं।

2. वे किसी भी प्रतीक की किसी एक व्याख्या की हिमायत नहीं करते, अपितु उसे अनेक विभिन्न एवं सम्पूरक व्याख्याओं के लिये मुक्त मानते हैं।

3. वे प्रतीकों के बीच व्यवस्थात्मक सम्बन्धों की वकालत करते हैं तथा व्याख्या के अमूर्त स्तर को इन सम्बन्धों की स्थापना का एक माध्यम मानते हैं।

जो भी हो, लेवी-स्ट्रास का संरचनात्मक मानवशास्त्र आलोचनाओं से बच नहीं पाया है। कुछ आलोचनायें इस प्रकार हैं-

1. डैन स्पर्बर का आरोप है कि आन्तरिक संरचना के विश्लेषण के लिये न्यूनतम इकाइयों की खोज लेवी-स्ट्रास की वास्तविक गवेषणा में मामूली सी भूमिका ही निभाती है। लेवी-स्ट्रास ने मिथक के विश्लेषण के लिये न्यूनतम इकाई के रूप में 'मिथीम' की संकल्पना तो की, परन्तु वे इस का प्रयोग करने में असफल हो गये (स्पर्बर 47)।

2 डैन स्पर्बर के ही अनुसार लेवी-स्ट्रास का संरचनावाद सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रामाणिक सिद्धान्तों तथा अप्रामाणिक प्रत्याशाओं का बेतुका मिश्रण है जो अब तक स्वयं लेवी-स्ट्रास को सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टियों के पूर्ण विकास के मार्ग में व्यवधान बना पड़ा है (वही 43)।

5.2.2 लुई आल्थूसर का संरचनात्मक मार्क्सवाद

फ्रांसीसी साम्यवादी विचारक लुई आल्थूसर का संरचनावाद मार्क्सवाद की संरचनावादी पुनर्व्याख्या है। वैसे, आल्थूसर संरचनावादी वैचारिकी के साथ अपने किसी भी सम्बन्ध को स्वयं अस्वीकार करते हैं (वाटर्स 116) परन्तु यदि मारिस गालियर का यह कहना सही माना जाय कि अन्तर्निहित अप्रकट संरचना पर ध्यान केन्द्रित करना ही संरचनावाद की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहचान हैं (रित्जर 536), तो आल्थूसर को संरचनावादी मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि मार्क्सवाद की पुनर्व्याख्या में वे जिस आर्थिक संरचना पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, उसे वे समाज की आन्तरिक संरचना के रूप में ही देखते हैं।

आल्थूसर के अनुसार मार्क्सवाद की मौलिक पहचान उसका वैज्ञानिक चरित्र है। 20वीं सदी के

पूर्वार्द्ध तक मार्क्सवाद की व्याख्याओं में मार्क्स के ऊपर हीगल और फायरबाक के आदर्शवादी दर्शन के प्रभावों को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जाता रहा है और जाने-अनजाने उनके मौलिक विचारों की अनदेखी की जाती रही है।मार्क्सवाद के वैज्ञानिक चरित्र का हिमायती होने के कारण आल्थूसर को उसकी अनदेखी बरदास्त न थी। अतः उन्होंने मार्क्सवाद की पुनर्व्याख्या करके उसके वैज्ञानिक चरित्र को उभारना अपना नैतिक दायित्व समझा। परन्तु इस दायित्व का निर्वहन कर सकने के लिये किसी तटस्थ उपागम का सहयोग लेना अनिवार्य था। सौभाग्य से उसी समय 1960 के दशक में पेरिस में संरचनावादी चिन्तन का फैशन सा चल निकला जो मानवी विषयों को भी सटीक नियम बना कर वैज्ञानिक परिस्थिति प्राप्त करने में समर्थ बना सकता था (कोलाकोवस्की 483) ।आल्थूसर को मनचाही मुराद मिल गयी और उन्होंने मार्क्सवाद की संरचनावादी पुनर्व्याख्या का संकल्प ले लिया। आल्थूसर की स्वतंत्र कृति "फॉर मार्क्स" तथा आल्थूसर एवं ई. बालीबर की संयुक्त कृति "रीडिंग कैपिटल" वे प्रमुख कृतियाँ हैं जिनमें यह पुनर्व्याख्या प्रतिपादित हुयी हैं। आल्थूसर द्वारा मार्क्सवाद की संरचनावादी पुनर्व्याख्या के प्रमुख बिन्दु यहाँ सार रूप में प्रस्तुत हैं:-

1. वैज्ञानिक मार्क्सवाद की खोज - मार्क्स की कृतियों एवं मार्क्स तथा एंगिल की संयुक्त कृतियों का गहन अध्ययन करने के बाद आल्थूसर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 1845 में जब एंगिल्स के साथ मिलकर मार्क्स ने द जर्मन आइडियालॉजी (The German Ideology) की रचना की उस समय मार्क्स के बौद्धिक विकास में नया मोड़ आ गया था। यह मोड़ कार्ल मार्क्स की चिन्तन धारा में 'ज्ञानशालीय अवरोध' का द्योतक है (जेम्स 144)। इसके साथ ही 1845 के पहले का दार्शनिक मार्क्स वैज्ञानिक सिद्धान्त का निर्माण करने वाला मार्क्स बन गया था। आल्थूसर के अनुसार मार्क्सवाद का यही वैज्ञानिक स्वरूप वास्तविक मार्क्सवाद है जो ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम से लोकप्रिय हुआ है। बाद में आल्थूसर को विश्वास होने लगा था कि मार्क्स की 1845 के बाद की कृतियों में भी दार्शनिक छाप किसी न किसी हद तक विद्यमान रह गयी थी। तथापि वे अपने इस दावे पर कायम रहे कि मार्क्स की 1845 के बाद की कृतियों में 'ज्ञानशालीय अवरोध' परिलक्षित है (जेम्स 145)। इस ज्ञानशालीय मोड़ के साथ उत्पन्न हुआ वैज्ञानिक मार्क्सवाद स्थापित तो हुआ मार्क्स एवं एंगिल्स की संयुक्त कृति 'द जर्मन आइडियालॉजी' में, परन्तु इसका पूर्ण विकसित रूप द्रष्टव्य है। मार्क्स की 'पूँजी' में (कोलाकोवस्की पूर्वोक्त)। कोलाकोवस्की के अनुसार वैज्ञानिक मार्क्सवाद का पद्धतिशास्त्र "ग्रुंड्रिस" की भूमिका में प्रकाशित हुआ है। आल्थूसर के अनुसार ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप में प्रचलित वैज्ञानिक मार्क्सवाद की मूलभूत मान्यता यह नहीं है कि ऐतिहासिक यथार्थ के कुछ पहलू (अर्थात ऊपरी संरचना) उसके दूसरे पहलू (अर्थात आर्थिक संरचना) पर निर्भर करते हैं, अपितु उसकी मूलभूत मान्यता यह है कि ऐतिहासिक यथार्थ का हर पहलू समष्टि पर निर्भर करता है (कोलोकोवस्की 484)। कार्ल मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकतावाद को आल्थूसर प्राचीन यूनान में थेलीज द्वारा गणित की गवेषणा तथा सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में न्यूटन द्वारा भौतिकी की पुनर्रचना के समकक्ष मानते हैं (एण्डर्सन आदि, 52)।

आल्थूसर मार्क्सवाद के अन्दर 'ज्ञानशालीय अवरोध' का निर्धारण करने के लिये मार्क्स की कृतियों का 'लाक्षणिक पठन' करते हैं (एण्डरसन आदि 52)। लाक्षणिक पठन की अवधारणा को उन्होंने फ्रायड के मनोविश्लेषण से लिया है। 'लक्षणिक वहन' मनोविश्लेषण के अन्दर मरीज के परीक्षण की एक प्रणाली है।इस प्रणाली में मरीज की प्रकियाओं और कथनों को उसकी आन्तरिक व्याधिकीय दशा व्यक्त करने वाले प्रतीकों के रूप में देखा जाता है मार्क्स की कृतियों के लाक्षणिक पठन द्वारा आल्थूसर सर्वप्रथम 1845 के बाद की कृतियों का अध्ययन करके ऐतिहासिक भौतिकतावाद के लक्षण संग्रहीत करते हैं। तत्पश्चात वे इन्हीं लक्षणों के परिप्रेक्ष्य में मार्क्स की 1845 के पहले की कृतियों का अध्ययन करते हुये पता लगाने का प्रयास करते हैं कि इन लक्षणों में से कौन से लक्षण पूर्ववर्ती कृतियों में नहीं मिलते। इस तरह वे मार्क्सवाद की प्रारम्भिक एवं बाद की कृतियों के बीच आधारभूत अन्तराल का पता लगाते हैं और इस अन्तराल को ही 'ज्ञानशालीय अवरोध' की संज्ञा देते हैं (वही)। यह अन्तराल जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, हीगल से प्रभावित मार्क्सवाद और वैज्ञानिक मार्क्सवाद के बीच का अन्तराल है। एण्डर्सन और उनके सहयोगियों ने इस ज्ञानशालीय अवरोध के तीन तत्वों का उल्लेख किया है (वही 54)। ये तत्व हैं :-

(क) ''कार्य'', ''उत्पादन'', ''विनिमय'' तथा ''मूल्य'' जैसी अवधारणाओं का रूपान्तरण हो गया। परिणामतः चेतना, परकीकरण, मानव ज़ाति तथा स्पीसीज बीझां जैसी आदर्शवादी अवधारणायें हटा कर उनके बदले 'आधार', 'अधिसंरचना', 'वर्ग', और 'उत्पादन रीति' जैसी वैज्ञानिक अवधारणाओं का प्रयोग होने लगा।

(ख) ज्ञान शास्त्र का समाजशास्त्रीकरण हो गया। परिणामतः दर्शनशास्त्र को अब वैज्ञानिक रूप से पहचान बन गये वर्गसंघर्ष की अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाने लगा। यह श्रमिक वर्ग की वैचारिकी की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गया।

(ग) वर्ग संघर्ष एक चिन्तनात्मक तत्वदार्शनिक धारणा न रहकर एक वास्तविक और ठोस वैज्ञानिक तथ्य बन गया। इसी के साथ मार्क्सवाद मानव एवं प्रकृति का दर्शन न रह कर इतिहास में वर्ग संघर्ष का विज्ञान बन गया।

(2) वैज्ञानिक मार्क्सवाद की केन्द्रीय अवधारणा : उत्पादन रीति - आल्थूसर के अनुसार ऐतिहासिक भौतिकवाद का विज्ञान प्रथमतः आर्थिक घटनाओं की मूलभूत अवधारणाओं का खुलासा है (वाटर्स 116)। इन अवधारणाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान उत्पादन रीति का है। उत्पादन रीति के मूलभूत तत्व तीन हैं - 1. श्रमिक (Labour) जो उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम करता है, 2. उत्पादन के साधन (Means of Production) जिसमें भूमि, यन्त्र, प्लाण्ट, तथा अन्य प्राविधिक सुविधायें शामिल हैं और 3. अश्रमिक (Non-labourer) जो अतिरिक्त उत्पाद को हड़पता है। श्रमिक और उत्पादन के साधन दोनों संयुक्त रूप से 'उत्पादक शक्ति- कहलाते (Forces of Production) हैं। उत्पादन रीति के दो स्वरूप या संरचनायें हैं - वैश्विक संरचना तथा क्षेत्रीय संरचना।

(क) वैश्विक संरचना - उत्पादन रीति की वैश्विक संरचना उसकी सामान्य जटिलता की बोधक होती है तथा उत्पादन रीति के उपर्युक्त तीनों तत्वों के एकीकरण से तैयार होती है। इन तीनों तत्वों के बीच दो तरह के संयोजक सम्बन्ध पाये जाते हैं- (1) उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम का नियंत्रण जो उत्पादक शक्तियों के हाथ में होता है (2) पूँजीगत सम्पत्ति (Capital property) का स्वामित्व / अस्वामित्व जिसे उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध कहते हैं।

(ख) क्षेत्रीय संरचना - उत्पादन रीति को उसके ऐतिहासिक गुणों के संदर्भ में परिभाषित करने पर उसकी क्षेत्रीय संरचना उजागर होती है। क्षेत्रीय संरचना का निर्धारण वैश्विक संरचना ही करती है। क्षेत्रीय संरचना उत्पादन रीति के उन्हीं तीनों तत्वों के विशिष्ट व्यवस्थापनों के परिणामस्वरूप पैदा होती है जिनके सामान्य एकीकरण से वैश्विक संरचना तैयार होती है। अब तक के इतिहास में चार प्रकार की क्षेत्रीय संरचनायें प्रकाश में आ चुकी हैं -

1. **सामन्ती उत्पादन रीति** इसमें अश्रमिक भूस्वामी जमीन का मालिक होता है, परन्तु यह निर्णय कृषि श्रमिक के हाथ में होता है कि जमीन का उपयोग कैसे किया जाय।

2. **संक्रमणशील घरेलू उत्पादन रीति** - इसमें मशीनरी का मालिक तो श्रमिक होता है। परन्तु मशीनरी से क्या पैदा किया जाय इसका निर्णय अश्रमिक पूँजीपति दलाल (Capitalist Middle-man) करता है।

3. **पूँजीवादी उत्पादन रीति** - यह उत्पादन रीति श्रमिक की अधीनस्थता की द्योतक होती है।

4. **समाजवादी उत्पादन रीति** - यह श्रमिकों की मुक्ति की बोधक उत्पादन रीति है।

(3) समाज की संरचनात्मक मार्क्सवादी व्याख्या - आल्थूसर के अनुसार कार्ल मार्क्स समाज को अन्तःसम्बधित व्यक्तियों की समष्टि नहीं, अपितु अन्तःसम्बन्धित व्यवहारों की जटिल समष्टि मानते हैं (जेम्स 146)। व्यवहार वह प्रक्रिया है जिसमें श्रमिक उत्पादन के साधनों का प्रयोग करते हुये कंच्चे माल को उत्पाद का रूप देता है। (वाटर्स 117-18)। किसी भी उत्पादन रीति में चार प्रकार के व्यवहार निहित होते हैं - उत्पादनात्मक, राजनीतिक, वैचारिक और सैद्धान्तिक या वैज्ञानिक उत्पादन के व्यवस्थित साधनों का सिलसिलेवार प्रयोग करते हुए प्राकृतिक पदार्थों को उपयोगी उत्पादों में रूपान्तरित करने की प्रक्रिया उत्पादनात्मक व्यवस्था कहलाती है। एक तरह के सामाजिक सम्बन्धों को नये तरह के सामाजिक सम्बन्धों में रूपान्तरित करने की प्रक्रिया को 'राजनीतिक व्यवहार' कहते हैं। कानून और राज्य से सम्बन्धित व्यवहार

राजनीतिक व्यवहार की श्रेणी में आते हैं। 'वैचारिक व्यवहार' चेतना के धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक, विधिक एवं कलात्मक रूपान्तरण की प्रक्रिया है। 'सैद्धान्तिक या व्यवहारिक व्यवहार' वे होते हैं जो प्रतिनिधियों, अवधारणाओं एवं तथ्यों को सिद्धान्तों का रूप देते हैं। ये सभी व्यवहार स्वयं भी अनेक तत्वों से निर्मित होने के कारण समष्टिमूलक होते हैं। इसी कारण आल्थूसर मानते हैं कि वैज्ञानिक मार्क्सवाद के अन्तर्गत समाज समष्टिमूलक व्यवहारों की जटिल समष्टि के रूप में परिभाषित है (जेम्स 146)। ऐसी जटिल समष्टि जिसके उपर्युक्त चारों संघटक व्यवहार एक-दूसरे पर निर्भर करते तथा एक-दूसरे द्वारा परिभाषित होते हैं (वही)।

किसी भी समाज की सामाजिक रचना के दो संरचनात्मक संघटक होते हैं - आधार और अधिसंरचना। आल्थूसर की व्याख्यानुसार उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों के संयोग से 'आधार' तैयार होता है और इस कारण इसकी प्रकृति भौतिक या आर्थिक होती है (वाटर्स 118)। अधिसंरचना के दो स्तर होते हैं - राजनीतिक विधिक संरचना तथा वैचारिक संरचना । राजनीतिक विधिक संरचना में कानून और राज्य शामिल होते हैं। वैचारिक संरचना का निर्माण धार्मिक, नैतिक, विधिक एवं राजनीतिक विचारों या सिद्धान्तों से होता है। समाज के आर्थिक आधार पर ही उसकी द्विस्तरीय अधिसंरचना टिकी होती है ठीक उसी प्रकार जैसे किसी तिमंजिली इमारत की प्रथम मंजिल पर उसकी ऊपरी दोनों मंजिलें टिकी होती हैं (वही 118-19)।

आल्थूसर के अनुसार वैज्ञानिक मार्क्सवाद 'आर्थिक आधार' एवं 'राजनीतिक-विधिक- वैचारिकी अधिसंरचना' के बीच कोई ऐसा साधारण आर्थिक निर्धारणवादी सम्बन्ध नहीं मानता जिसमें आर्थिक व्यवहार को स्वतंत्र मानते हुये उसी के सन्दर्भ में समाज के शेष पहलुओं की व्याख्या की जा सके। इसके विपरीत मार्क्सवाद किसी भी समाज में निहित सभी व्यवहारों को परस्पर निर्भर मानता है (जेम्स 146)। इतना अवश्य है कि इसकी निगाह में समाज के विभिन्न पहलुओं (व्यवहारों) में से कोई एक पहलू सबसे अधिक प्रभावशाली होता है। यही सर्वाधिक प्रभावशाली पहलू शेष पहलुओं को वैधता प्रदान करता एवं उनका पथ-प्रदर्शन करता है। यह सर्वाधिक प्रभावशाली पहलू कोई भी हो सकता है। धार्मिक,आर्थिक या कोई भी। उदाहरणार्थ सामन्ती समाज-व्यवस्था में सर्वाधिक प्रभावशाली पहलू धार्मिक था। जबकि पूंजीवादी समाज व्यवस्था में सर्वाधिक प्रभावशाली पहलू आर्थिक है (जेम्स 149)। समाज के इस सर्वाधिक प्रभावशाली पहलू को अल्थूसर 'प्रभावशाली दृष्टान्त' की संज्ञा देते हैं (वही)। समाज का कौन सा अन्य पहलू प्रभावशाली दृष्टान्त है इसका निर्धारण अन्ततः आर्थिक व्यवहार ही करता है (वही) परन्तु आर्थिक व्यवहार प्रभावशाली दृष्टान्त का निर्धारण कर सके इसके लिये स्वयं उसका वैध एवं नियंत्रित होना आवश्यक है, और आर्थिक व्यवहार को वैधता प्रदान करने एवं नियंत्रित करने का दायित्व समाज का प्रभावशाली दृष्टान्त करता है। सुसान जेम्स के शब्दों में "किसी समाज का प्रभावशाली दृष्टान्त उस का वह पहलू होता है जो उसकी आमदनी और संसाधनों के नियंत्रण एवं औचित्य स्थापन द्वारा उसकी अर्थव्यवस्था को कायम रखता है" (वही 149)। स्पष्टतया आर्थिक व्यवहार प्रभावशाली दृष्टान्त के निर्धारण की प्रक्रिया में ही स्वयं भी नियंत्रित एवं वैध होता है, आर्थिक व्यवहार के नियंत्रण एवं वैधकरण की प्रक्रिया तथा प्रभावशाली दृष्टांत के निर्धारण की प्रक्रिया दोनों साथ-साथ सम्पन्न होती हैं। जैसे-जैसे कोई व्यवहार आर्थिक व्यवहार को नियंत्रित एवं वैधकृत (Justify) करता जाता है वैसे-वैसे वह व्यवहार स्वयं भी प्रभावशाली बनता जाता है। आधार और अधिसंरचना के इस उभयपार्श्व सम्बन्ध को एक रेखाचित्र की सहायता से इस प्रकार दर्शाया जा सकता है।

आधार और अधिसंरचना की पारस्परिक निर्भरता

(4) **सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त** - आल्थूसर के अनुसार सामाजिक परिवर्तन के प्रति मार्क्स एक जटिल दृष्टिकोण अपनाते हैं और इसे मात्र उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के कन्ट्राडिक्शन का परिणाम नहीं मानते (जेम्स 148)। स्मरणीय है कि कुल आलोचकों के अनुसार कार्ल मार्क्स उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के सहज अन्तर्विरोध को सामाजिक परिवर्तन का एकमात्र कारण मानते हैं। परन्तु आल्थूसर इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। स्वयं उनका मत है कि मार्क्स उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के अन्तर्विरोध को क्रान्तिकारी परिवर्तन को एक अनिवार्य शर्त अवश्य मानते हैं परन्तु वे इसे ही पर्याप्त नही मानते । उनकी निगाह में क्रान्तिकारी परिवर्तन की स्थिति तब आती है जब अन्तर्विरोध के तत्व आर्थिक उत्पादन के स्तर से निकल कर अधिक संरचना के विभिन्न संघटकों को अपने प्रभाव में ले लेते हैं (वाटर्स 121)। इतना ही नहीं महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन आ सके, इसके लिये सभी संरचनात्मक स्तरों (आर्थिक, राजनीतिक, विधिक तथा वैचारिक स्तरों) के अन्तर्विरोधों का एकाकार होना भी अनिवार्य है। विभिन्न परिस्थितियों एवं सामाजिक धाराओं का संचित होकर एक ऐसी 'संहारक एकता' का रूप लेना अनिवार्य है। जिसमें विरोधी शक्तियाँ एक ही स्थान और एक ही क्षेत्र में संघनित हो उठती हैं। विभिन्न अन्तर्विरोधों के विस्थापन एवं संघनन की इस स्थिति को फ्रायड के शब्द का प्रयोग करते हुए आल्थूसर 'अतिनिर्धारण' का नाम देते हैं (वही, जेम्स 148) । 'अतिनिर्धारण' के परिणामस्वरूप उत्पन्न संहारक स्थिति वह स्थिति होती है जिसमें अपार जन समूह एकजुट होकर शासन पर हमला बोल देता है और शासक वर्ग अपने शासन की रक्षा करने में नाकामयाब हो उठता है। इस 'संहारक एकता' का चित्रण करते हुए आल्थूसर लिखते हैं,

"अगर इस अन्तर्विरोध को सर्वाधिक दमदार अर्थ में सक्रिय होना है तथा एक संहारक सिद्धान्त बनना है तो परिस्थितियों और धाराओं का संचयन अनिवार्य है ताकि अपनी अलग-अलग उत्पत्तियों एवं अलग-अलग आशयों के बावजूद वे परिस्थितियाँ और धारायें एक संहारक एकता के रूप में संश्लिष्ट हो सकें तथा अपार जनसम्मत समूहित होकर शासन पर ऐसा हमला बोले कि शासक वर्ग उसे बचाने में असमर्थ हो जाय (जेम्स 148)।

समीक्षा

आल्थूसर के संरचनात्मक मार्क्सवाद को मैल्कम वाटर्स समाजशास्त्र के क्षेत्र में सर्वाधिक विकसित संरचनावादी सिद्धान्त मानते हैं (पूर्वोक्त 131) । उनके अनुसार मार्क्सवाद की संरचनावादी व्याख्या में आर्थिक संरचना के साथ-साथ राजनीतिक एवं वैचारिक संरचनाओं के परस्पराश्रित स्वरूप को उभार कर आल्थूसर ने वृहद सैद्धान्तिक परम्परा को आगे बढ़ाया है। इस व्याख्या में समाज को व्यक्तियों के बदले सामाजिक व्यवहारों की जटिल समष्टि मान कर इतिहास की उस व्याख्या का एक नया विकल्प भी प्रस्तुत किया गया है जिसमें इतिहास को व्यक्तिगत व्यक्तित्वों की इच्छाओं, विश्वासों और निर्णयों का परिणाम माना जाता रहा है। इस व्याख्या द्वारा आल्थूसर ने मार्क्सवाद को क्षुद्र आर्थिक निर्धारणवाद के आरोप से मुक्ति भी दिलायी है और इस प्रयास में उन्होंने पूंजीवाद के पोषण एवं पतन दोनों के लिए ऐसी व्याख्यात्मक सम्भावनायें प्रकाशित की हैं जिनका पहले किसी को पता ही न था (वाटर्स वही)। जो भी हो, आल्थूसर के सिद्धान्त ने 1970 के दशक में मार्क्सवादी विचारधारा और समाजशास्त्र दोनों ही के अन्तर्गत प्रचुर विवाद को जन्म दे दिया है। इस विवाद से उपजे कुछ आरोप यहाँ प्रस्तुत हैं,

1. मैल्कम वाटर्स (वही 127) के अनुसार, आल्थूसर 1970 के दशक का एक रहस्य- मय सैद्धान्तिक चक्करदार मार्ग साबित हो कर रह गया है। जिसकी एकपक्षीयता के कारण संरचनात्मक मार्क्सवाद पोषित होने के बदले मृत्यु को प्राप्त हो गया।

2. आल्थूसर ने मार्क्सवाद की संरचनावादी व्याख्या में समाज को व्यक्तियों के बदले सामाजिक व्यवहारों की समष्टि मान कर व्यक्तिगत कर्ता को मारने का प्रयास किया है। परन्तु अनेक आलोचकों का आरोप है कि आल्थूसर कर्ता को मारने में सफल नहीं हो सके हैं, उन्होंने कर्ता की मृत्यु का मात्र अल्प सैद्धान्तीकरण किया है (वाटर्स 127)।

3. हिन्डेस और हर्स्ट जैसे ब्रिटिश समाजशास्त्रियों ने आल्थूसरवाद सहित संरचनात्मक निर्धारणवाद के सभी सिद्धान्तों पर असफल होने का आरोप लगाया है। इनके अनुसार ये सिद्धान्त केवल साझा स्थितियों की व्याख्या कर सकते हैं, परन्तु व्यक्तियों के बीच विद्यमान विशिष्ट भेदों की व्याख्या नहीं

कर सकते (वाटर्स 127)

4. ई. वी. थाम्सन ने आल्थूसर की उस अवधारणा की कटु आलोचना की है जिसमें उन्होंने इतिहास को 'कर्तावहीन प्रक्रिया' के रूप में परिभाषित किया है (जेम्स 157)। थाम्सन मार्क्सवाद के उस मानवतावादी पक्ष पर बल देते हैं जिसका आल्थूसर ने विरोध किया है।

5.3 उत्तरसंरचनावाद

मानव चिन्तन के इतिहास की यह एक विलक्षणता है कि जब भी कोई चिन्तन धारा प्रवाहित होती है तब शीघ्र ही उसकी कोई विरोधी चिन्तन धारा भी अंकुरित होने लगती है। फिर एक समय ऐसा आता है जब कि यह विरोधी चिन्तन धारा मूल धारा को निष्प्रभावी बना कर उसका स्थान स्वयं ग्रहण कर लेती है या उसी के समानान्तर प्रवाहित होने लगती है। संरचनावाद के साथ उत्तरसंरचनावाद का सम्बन्ध कुछ इसी तरह का है। जिस समय समाजशास्त्र के अन्तर्गत समाजशास्त्र का आविर्भाव हुआ उसी के आस-पास समाजशास्त्र के बाहर संरचनावाद के प्रारम्भिक आधार-वाक्यों से परे 'उत्तरसंरचनावाद' के नाम से एक आन्दोलन विकसित होने लगा था (रित्जर 222)। चार्ल्स लेमर्ट उत्तर संरचनावाद की शुरूआत 1966 में जैक दरिदा के व्याख्यान से मानते हैं। जिसमें दरिदा ने एक नये उत्तरसंरचनावादी युग के आगमन की घोषणा की थी (वही 596)। वैसे उत्तरसंरचनावाद से जुड़ा लोकप्रिय नाम मिशेल फुको का है, जैक दरिदा का तो मुख्यतया साहित्यिक सिद्धान्त है। उत्तरसंरचनावाद की प्रमुख परिचायक विशेषतायें संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत हैं।

उत्तर संरचनावाद का आविर्भाव संरचनावाद की विरोधी चिन्तन धारा के रूप में हुआ है। यह विरोधी तेवर मिशेल फुको के अन्दर उस समय प्रबलतम रूप में मुखरित होता है जिस समय वे स्वयं को संरचनावादी कहलाने पर ऐतराज करते हैं (स्ट्राक 4), अपनी प्रारम्भिक कृतियों पर संरचनावाद के प्रभाव को जानबूझ कर अपनाया गया प्रभाव मानने से इनकार करते हैं तथा अंग्रेजी भाषा पाठकों से निवेदन करते हैं कि वे "संरचनावाद के साथ उनके सम्बन्ध से उन्हें मुक्त कर दें" (बुथनो आदि 140)।

विविध सैद्धान्तिक निवेश उत्तरसंरचनावाद की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है। इस सम्बन्ध में जार्ज रित्जर का यह कथन उल्लेखनीय है, सामान्यतया उत्तरसंरचनावादी संरचना का महत्व स्वीकार करते हैं, परन्तु अन्य मुद्दों के एक विस्तृत क्षेत्र को अपने दायरे में लाने के लिये उसके आगे भी जाते हैं" (रित्जर 222)। जहाँ पर संरचनावादियों का ध्यान एकमात्र संरचना के अध्ययन पर केन्द्रित रहा है वहीं उत्तर संरचनावादियों ने संरचना के महत्व को स्वीकार करने के साथ ही अनेक अन्य मुद्दों को भी अपने अध्ययन में शामिल किया है (वही 598)। यही कारण है कि फूको पर स्वयं संरचनावादियों के तथा मार्क्स, नीत्से, मैक्स बेवर, भाष्यविज्ञान आदि के प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं तो दरिदा पर रूसो, सस्योर, फ्रायड, प्लेटो, हीगल, मेलार्मे, हसर्ल, काण्ट आदि के प्रभाव नजर आते हैं (क्यूलर 154)।

संरचनावाद सामाजिक घटनाओं के सातत्य में विश्वास करता रहा है। अपने इसी विश्वास के कारण वह सामाजिक घटनाओं के मूल मे निहित सर्वसामान्य आन्तरिक संरचना पर ध्यान केन्द्रित करता है और उसे ही उजागर करने की कोशिश करता है। परन्तु उत्तर संरचनावाद इतिहास के अन्दर कुछ भी ऐसा नहीं देखता जो सतत् और स्थायी हो। इसी कारण उत्तरसंरचनावादी विचारक समाजशास्त्र की मुख्य धारा को विशेषीकृत करने वाले बृहद सिद्धान्तों, महान व्यवस्थाओं तथा बृहद पाठों का विखण्डन करते हैं।

उत्तर संरचनावाद की एक महत्वपूर्ण विशिष्टता ज्ञानशालीय एवं सामाजिक-ऐतिहासिक प्रगति में उसकी अनास्था है। (ह्वॉय 49)। ज्ञानोदयकालीन विचारक खास कर इमैनुअल काण्ट ज्ञान एवं इतिहास को संचयी तथा प्रगतिशील मानते रहे हैं। काण्ट के अनुसार, इतिहास मानव को पूर्णता की ओर तथा स्वतंत्रतम नागरिक समाज' की दिशा में ले जा रहा है। हीगल तथा उनके बीसवीं सदी के व्याख्याकारों की निगाह में यह प्रगति द्वन्द्वात्मक रीति से हो रही है (वही 49)। डेविड ह्वाय (वही) के अनुसार फूको और दरिदा दोनों ही इतिहास की द्वन्द्वात्मकता को अस्वीकार करते हैं तथा पूर्णता के बदले एक दूसरे अर्थ में अन्त को प्राप्त होता हुआ देखते हैं।फुको और दरिदा इतिहास को 'मृत्यु' के अर्थ में, न कि चरमोत्कर्ष के रूप में अन्त को प्राप्त होता हुआ देखते हैं।

उत्तर संरचनावाद की इन सारी विशेषताओं को देखते हुये यही कहा जा सकता है कि उत्तर संरचनावाद दरिदा और फूको के प्रयास से प्रकाशित तथा नाना सैद्धान्तिक निवेशों से ओत-प्रोत वह अत्याधुनिक चिन्तन धारा है जो महान परम्पराओं और व्यवस्थाओं के अस्तित्व में नहीं अपितु उनके विखण्डन में, इतिहास के सातत्य में नहीं अपितु उसकी सात्तरता में तथा ज्ञानशालीय एवं सामाजिक-ऐतिहासिक प्रगति या परिपूर्णता में नहीं अपितु उनके अन्त में आस्था रखती है।

5.3.1 मिशेल फुको

समाजशास्त्रीय दृष्टि से माइकल फुको सर्वाधिक चर्चित उत्तरसंरचनावादी विचारक हैं। प्रारम्भिक वर्षों में वे संरचनावाद से काफी मात्रा में प्रभावित रहे हैं, परन्तु बाद में संरचनावाद के प्रबल विरोधी बन गये (एण्डर्सन आदि 115)। संरचनावाद के प्रभाव काल में फुको अन्य संरचनावादियों की ही भाँति प्रघटनाशास्त्र और भाष्यविज्ञान के व्यक्तिनिष्ठतावाद से तथा सामाजिक-सांस्कृतिक विज्ञानों की वैज्ञानिक पद्धतियों के 'अनुभववाद' से असंतोष व्यक्त करते हैं (वही 114)। उस दौरान वे संरचनावादियों की ही भाँति मानव क्रिया को नियंत्रित करने वाले संरचनात्मक सिद्धान्तों को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं तथा संरचनात्मक भाषाविज्ञान की अवधारणाओं का जम कर प्रयोग करते हैं। जिस प्रकार संरचनावादियों ने विभिन्न संरचनाओं को एक से सिद्धान्तों पर आधारित माना है उसी प्रकार फुको ज्ञान के संकेतन की विभिन्न रीतियों को एक से सिद्धान्तों पर आधारित मानते हैं। जिस तरह संरचनावादी सैद्धान्तिक संरचना का विश्लेषण समय विशेष के संदर्भ में ही करते हैं उसी तरह फुको 'वार्ता' का अध्ययन समय विशेष के संदर्भ में ही करते हैं (वही 115)।

प्रारम्भ में माइकल फुको संरचनावादियों से चाहे जितना भी प्रभावित रहे हों, परन्तु बाद में संरचनावाद से किनारा कसने लगे थे। फुको के इस परिवर्तित दृष्टिकोण को लक्ष्य करते हुये जान स्टरॉक लिखते हैं, "फुको ने स्वयं को संरचनावादी माने जाने पर सार्वजनिक रूप से विरोध व्यक्त किया है (स्टरॉक 4)। अलेन शेरिडन भी कुछ इसी तरह की टिप्पणी करते हैं। उनके अनुसार फुको अंग्रेजी भाषा पाठकों से निवेदन करते हैं कि वे "संरचनावाद के साथ उनके सम्बन्ध से उन्हें मुक्त कर दें" (वुथनो आदि 140)। इतना ही नहीं फुको की प्रारम्भिक कृतियों में संरचनावाद का जो प्रभाव नजर आता है उसे भी वे जानबूझ कर अपनाया गया प्रभाव नहीं मानते (वहीं)। इसी कारण वे 'द बर्थ ऑफ द क्लीनिक' के द्वितीय संस्करण में स्वयं द्वारा पहले प्रयोग में लायी गयी कुछ भाषाशास्त्रीय शब्दावलियों को बदल देते हैं जैसे, 'भाषा' के बदले 'वार्ता' का प्रयोग करने लगते हैं तथा 'बोधक/बोधिक' जैसी कुछ शब्दावलियों का प्रयोग त्याग ही देते हैं (वुथनो आदि 139-40)। माइकल फुको की चिन्तन धारा में संरचनावाद के प्रति बाद में उभरे इस विरोध को जार्ज रित्जर उत्तरसंरचनावाद के प्रति उनके बढ़ते लगाव के रूप में देखते हैं (रित्जर 599)। उत्तरसंरचनावाद के लिये मिशेल फुको के प्रमुख अंशदान संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

(1) विविध सैद्धान्तिक निवेश - उत्तरसंरचनावाद की प्रवृत्ति के अनुरूप ही मिशेल फुको की विचारधारा में अनेक सैद्धान्तिक प्रभाव सन्निहित हैं। कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर, फ्रीड्रिक मीत्शे, वान गॉग, होल्डर्लिन, गोया, सदे आदि वे प्रमुख हस्तियाँ हैं जिनकी छाप फुको की विचारधारा में किसी न किसी रूप में और किसी न किसी मात्रा में स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है। परन्तु यह भी सत्य है कि फुको ने इन सैद्धान्तिकों के विचारों को अपने तरीके से रूपान्तरित करने के पश्चात ही अपने सिद्धान्त में शामिल किया है (रित्ज़र 598)। उदाहरणार्थ फूको मार्क्सवादियों की तरह शक्ति की बात तो करते हैं, परन्तु शक्ति की वृहद राजनीति में रूचि लेने वाले परम्परागत मार्क्सवादियों से भिन्न शक्ति की सूक्ष्म राजनीति में रूचि रखते हैं (वही)। इसी तरह फुको शक्ति और ज्ञान के सम्बन्ध की बात नीत्शे से लेते हैं, परन्तु इस सम्बन्ध की व्याख्या वे अपेक्षाकृत अधिक समाजशास्त्रीय तरीके से करते हैं (वही)। फुको, मैक्स बेवर के विवेकीकरण के सिद्धान्त से प्रभावित हैं, परन्तु यह प्रभाव एक तो कुछ खास स्थानों पर ही दृष्टिगोचर होता है और दूसरे फुको के अन्दर विवेकीकरण उतना अभेद्य और सख्त भी नहीं है जितना अभेय और सख्त मैक्स वेबर के अन्दर है। फुको प्रघटनाशास्त्र से भी प्रभावित हैं, परन्तु प्रघटनाशास्त्र के स्वायत्त एवं अर्थप्रदायी कर्ता का विचार उन्हें स्वीकार नहीं है (वही 599)। इसी तरह फुको ने जितने भी अन्य सैद्धान्तिकों के प्रभाव ग्रहण किये हैं उन्हें भी उन्होंने अपने उद्देश्य के अनुरूप रूपान्तरित करने के पश्चात ही ग्रहण किये हैं।

(2) **महान परम्पराओं पर प्रहार** - फुको आधुनिक संस्कृति में सामान्य व्यवहार के मानदण्डों को परिभाषित करने वाले सामान्य या महान सिद्धान्तों वृहद परम्पराओं एवं महान व्यवस्थाओं पर तीखा प्रहार करते हैं। फुको की टिप्पणी है कि जहाँ पर हमारे सामान्य व्यवहार को परिभाषित करने के लिए महान सिद्धान्त, वृहद परम्परायें एवं महान व्यवस्थायें प्रकाश में आयी हैं वहीं पर बहुतों द्वारा सामान्य व्यवहार के मानदण्डों की अवहेलना के फलस्वरूप संघर्ष, अनिश्चितता, सान्तरता अपराध और विग्रह जैसी विशेषीकृत समस्यायें भी बहुतायत से पैदा हो गयी हैं (फिल्प 67)। ऐसी स्थिति में फुको पहले के महान सिद्धान्तों और बृहद पाठों के आधार पर आधुनिक समाज की व्याख्या के प्रयास को गलत एवं अनुचित मानते हुये (वही 68) मतभेद, विग्रह, अनिश्चितता और सान्तरता जैसी विशिष्ट समस्याओं पर आधारित एकल ऐतिहासिक अध्ययनों का सम्पादन करते हैं। बताने की आवश्यकता नहीं कि फुको के सारे अध्ययन उन विशिष्ट समस्याग्रस्तों पर केन्द्रित हैं जिन्हें पूर्व न्यायिक दृष्टि से हमेशा ही असामान्य माना जाता है तथा शेष समाज को इनसे बचाने के लिये इन्हें जेलों, अस्पतालों, अनाथालयों या ऐसी ही अन्य संस्थाओं में बन्दी बनाकर रखा जाता हैं फुको के ऐसे अध्ययनों के कुछ उदाहरण हैं - मैडनेस एण्ड सिविलाइजेशन (1961), 'द बर्थ ऑफ द क्लीनिक' (1963), 'द आर्डर ऑफ थिंग्स' (1966), 'डिसिप्लिन एण्ड पनिश' (1975) तथा 'द हिस्ट्री आफ सेक्सुएलिटी' (1976)।

(3) **विश्लेषण की प्राथमिक इकाई के रूप में वार्ता का प्रयोग** - आधुनिक समाज की विशिष्ट एवं खण्डात्मक समस्याओं के अध्ययन में फुको विश्लेषण की प्राथमिक इकाई के रूप में 'शैली', 'सिद्धान्त', पाठ या 'रूप तालिका' जैसी परम्परागत इकाइयों के बदले 'वार्ता' का प्रयोग करते हैं (फिल्प 68-69) ।'वार्ता' किसी भी ज्ञान से सम्बन्धित परिभाषाओं अवधारणाओं, व्यवहारों और प्रणालियों के उस व्यवस्थित संकुल को कहते हैं जो विशिष्ट स्वरूप ग्रहण कर संस्थागत हो चुका होता है तथा समय विशेष के अन्दर स्थित होता है (एण्डर्सन आदि 114)। फुको ने इसी अर्थ में मनोचिकित्सा, रूग्णता, लैंगिकता, आपराधिकता तथा स्वयं ज्ञान और शक्ति के लिये भी वार्ता शब्द का प्रयोग किया है।

किसी ज्ञान से सम्बन्धित 'कथन' या 'प्रस्थापनायें' ही उस ज्ञान की वार्ता के संघटक होते हैं। किसी वार्ता के साथ 'कथन' या 'प्रस्थापना' का वही सम्बन्ध होता है जो सम्बन्ध किसी पाठ के साथ वाक्य का होता है (एण्डर्सन आदि वही)। फुको के अनुसार वार्ता में शामिल होने के लिये किसी कथन का सार्वभौमिक रूप से सत्य या गलत होना आवश्यक नहीं, परन्तु सम्बद्ध ज्ञान के तर्कमूलक नियमों की कसौटी पर खरा उतरना आवश्यक है। (फिल्प 69)। वस्तुतः फुको का मानना है कि कोई वार्ता जिस ज्ञान से सम्बन्धित होती है उस ज्ञान के अपने तर्कमूलक नियम होते हैं और इन्हीं तर्कमूलक नियमों की कसौटी पर खरे उतरने वाले कथन ही उस वार्ता में शामिल होने योग्य होते हैं, 'अन्य कथन नहीं (वही 69)। इसीलिये फुको कथन के सत्य को हमेशा वार्ता का सापेक्ष मानते हैं और मत व्यक्त करते हैं कि ऐसा कोई कथन नहीं हो सकता जो सभी वार्ताओं में तथा सभी वार्ताओं के लिए सही हो (वही 70-71)।

(4) **आधुनिक संस्कृति का इतिहास-लेखन** - मिशेल फुको आधुनिक संस्कृति के व्याख्याकार हैं (बुथनों आदि 133, गिडेंस 213)। उनकी रूचि वर्तमान का इतिहास लिखने में है (रित्जर 600)। परन्तु इनका इतिहास लेखन परम्परागत इतिहास लेखन से मूलतः भिन्न है। परम्परागत इतिहासकार मानव को इतिहास का निर्माता मानता है परन्तु फुको स्वयं इतिहास को मानव का निर्माता मानते हैं (गिडेन्स 213) । परम्परागत इतिहास में घटनायें कालक्रमानुसार प्रस्तुत होती हैं जबकि फुको का इतिहास एककालिक है जिसके लेखन में वे कालक्रम का अनुपालन नहीं करते। फुको के इतिहास की विशेषता निरन्तरता नहीं अपितु सान्तरता है। मार्क फिल्प के शब्दों में इतिहास, ज्ञान और मानवी विषय मूलतः अनिश्चय, सान्तरता एवं अन्यायपूर्ण उत्पत्तियों में जमे हुये हैं'' (पूर्वोक्त 78)। अनिश्चय, सान्तरता एवं अन्यायपूर्ण उत्पत्तियों वाली आधुनिक संस्कृति का इतिहास जानने के लिये या उसकी व्याख्या के लिए फुको दो पद्धतियाँ अपनाते हैं। ज्ञान की पुरातत्वशास्त्रीय पद्धति तथा शक्ति की वंशावली पद्धति (एण्डर्सन आदि 119)।

(अ) **ज्ञान का पुरातत्वशास्त्र** - ज्ञान का पुरातत्वशास्त्र फुको की उन प्रारम्भिक कृतियों (1961, 1963 तथा 1966 की कृतियाँ) में प्रयुक्त हुआ है। जिन पर संरचनावाद की प्रचुर छाप विद्यमान है (एण्डर्सन आदि 115, रित्जर 599)। यहाँ ज्ञान का पुरातत्वशास्त्र उन तर्कमूलक नियमों की गवेषणा का

लक्ष्य रखता है जो समय विशेष के अन्दर 'वार्ता' के कथनों को सम्भव बनाने वाली दशाओं का निर्धारण करते हैं (रित्जर वही)। इस लक्ष्य को प्राणी के लिए फुको सम्बद्ध युग में लिखे गये महत्वपूर्ण पाठों या पाठांशों का अध्ययन आवश्यक मानते हैं। फूको 'महत्वपूर्ण पाठ' उसे कहते हैं जो पूर्ववर्ती युग में व्याप्त तर्कमूलक रीति में से भिन्न रीति की उपस्थिति का प्रमाण प्रस्तुत करें (ह्वाइट 99) तथा गवेषणा के लिए नये क्षेत्र को आलोकित कर सके (वही)। फुको के तर्कमूलक नियम अनुभवातीत और स्थायी न होकर स्थानीय और परिवर्तनशील होते हैं। यही कारण है कि ये नियम विचार और अभिव्यक्ति के इतिहास में युग परिवर्तन के साथ बदलते रहते हैं। उदाहरणार्थ पूर्वोक्त तीनों में अविश्वास व्यक्त करते हैं तथा शक्ति से इसको अभिन्न बताकर इसी शक्ति ज्ञान के संयुक्त संदर्भ में आधुनिक समाज की व्याख्या करते हैं। शक्ति और ज्ञान के एकीकरण को आधुनिक समाज की विशिष्टिता के रूप में देखते हुए फुको स्वयं लिखते हैं - 'हम शक्ति के माध्यम से सत्य का उत्पादन करने में लगे हुये हैं और हम सत्य के उत्पादन के अलावा अन्य किसी तरीके से शक्ति को कार्यान्वित नहीं कर सकते हैं (अन्तर्गत फिल्प 75)। तात्पर्य यह कि आधुनिक समाज शक्ति और ज्ञान की पारस्परिकता से चल रहा है; शक्ति के कार्यान्वयन (अर्थात सम्बन्ध स्थापन) से ज्ञान की प्राप्ति हो रही है और अर्जित ज्ञान के रूप में शक्ति की प्राप्ति हो रही है क्योंकि ज्ञान शक्ति का ही एक रूप है।

उदारवादी दृष्टिकोण शक्ति को ज्ञान के विकास में बाधक मानता है (वही 75)।परन्तु फुको शक्ति को वर्तमान समाज में ज्ञान प्राप्ति का अनिवार्य साधन मानते हैं। मार्क फिल्प के शब्दों में (वही 74), फुको दावा करते हैं कि शक्ति ज्ञान के उत्पादन की प्रक्रिया का एक अनिवार्य संघटक है।' स्वयं फुको के शब्दों में, "सत्य शक्ति से बाहर या शक्ति से रहित नहीं है।" (वही 74)। फुको सत्य (अर्थात ज्ञान) को इसी दुनिया की वस्तु मानते हैं और दावा करते हैं कि यह अनेक प्रतिबन्धों के कारण ही पैदा हो पाता है (वही)। उदाहरणार्थ आधुनिक शक्ति सम्बन्धों में जिनके पास दूसरों से कार्य कराने की शक्ति होती है वे कार्य के संचालन, निगरानी, आदि में अपने ज्ञान का प्रयोग करते हैं और इस प्रयोग के दौरान प्राप्त अनुभव से उनके ज्ञान में और अधिक वृद्धि होती है (फिल्प 74-75)। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि शक्ति के बिना कोई अपने ज्ञान का वैध तरीके से प्रयोग करने की स्थिति में नहीं होता। इतना ही नहीं ज्ञान आज स्वयं शक्ति का एक रूप है। उदाहरणार्थ , चिकित्सा, कानून या किसी भी क्षेत्र में विशेषज्ञ को ही सम्बद्ध क्षेत्र में अपने ज्ञान के प्रयोग का अधिकारी माना जाता है।

शक्ति ही ज्ञान की प्राप्ति और उसके प्रयोग में सहायक नहीं है। स्वयं ज्ञान भी शक्ति के क्रियान्वयन एवं सम्वर्धन में अनिवार्य योगदान करता है। एक तो ज्ञान ने शक्ति का एक रूप लेकर (जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है) उसका दायरा बढ़ाया है। दूसरे ज्ञान शक्ति के नये-नये श्रोतों , उपयोगों तथा उनके प्रयोग की नयी-नयी विधियों एवं प्रविधियों को उजागर कर रहा है। फुको की खास रूचि खास कर वैज्ञानिक ज्ञान से उत्पन्न प्रविधियों एवं प्रौद्योगिकियों में तथा इसमें है कि विभिन्न संस्थायें इन प्रविधियों और प्रौद्योगिकियों की सहायता से लोगों के ऊपर शक्ति का प्रयोग किस प्रकार कर रही है (रित्जर 599)। उदाहरणार्थ "डिसिप्लिन एण्ड पनिश"मे वे खासकर यह स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान ने ऐसी-ऐसी प्रविधियों को जन्म दिया है जो कैदियों पर नियंत्रण रखकर उन्हें सामान्य नागरिक बनने में योगदान करती है। इसी तरह "द हिस्ट्री आफ सेक्सुएलिटी" में फुको स्पष्ट करते हैं कि लैंगिंकता के ज्ञान द्वारा समाज स्वयं जीवन पर अधिक से अधिक शक्ति का प्रयोग कर रहा है(रित्जर 607)। इतना ही नहीं मानवी विज्ञानों ने अपने ज्ञान और विशेषज्ञता के बल पर अस्थायी शक्ति सम्बन्धों को प्रभुत्व के सामान्य प्रतिमानों का रूप दे दिया है (फिल्प75)।जो दरिद्रालयों, चिकित्सालयों आदि के रूपों में संस्थानीकृत हो चुके हैं, और दमन के बदले वैध तरीके से आबादी का स्थायी रूप से नियमन कर रहे हैं।

समीक्षा

समाजशास्त्रीय सैद्धान्तीकरण के इतिहास में मिशेल, फुको को उत्तर संरचनावादी उपागम की विस्तृत स्थापना का श्रेय प्राप्त है। इन्होंने आधुनिक समाज में पागलपन, लैंगिकता और आपराधिकता जैसे मुद्दों की विवेचना करने वाले ऐतिहासिक एकल अध्ययन प्रस्तुत किये हैं जिनका उद्देश्य यह दर्शाना है कि इन घटनाओं की जानकारी के दावे अधिकाधिक मात्रा में सामाजिक नियंत्रण की प्रविधियों से जुड़े

हुये हैं (स्किनर 9)। जार्ज रित्जर (पूर्वोक्त 620) का मानना है कि महत्वपूर्ण पुस्तकों की शृंखला में अनेक सैद्धान्तिक विचारों का प्रतिपादन किया है जिनके दशकों तक प्रभावशाली बने रहने की सम्भावना है। सेक्स को हर व्यवहार की व्याख्या बता कर फुको ने एक ओर तो यौनिक मूल प्रवृति के आधार पर सामाजिक घटनाओं की व्याख्या करने वाले फ्रायड आदि की परम्परा को आगे बढ़ाया है और दूसरी ओर शक्ति की शब्दावलियों में सेक्स की व्याख्या करके उस पुरानी व्याख्या को एक नया मोड़ दिया है। शक्ति को सभी तरह के सम्बन्धों में व्याप्त और अन्तर्निहित बता कर फुको ने स्वयं शक्ति की व्याख्या को भी एक नया मोड़ दिया है। परन्तु फुको के अंशदान कई अर्थों में आलोचना के पात्र भी बने हैं। यथा -

(1) हेडन ह्वाइट (पूर्वोक्त 114) का आरोप है कि यद्यपि फुको के विचार मूलतः भाषा के एक सिद्धान्त पर आधारित है परन्तु फुको ने उस सिद्धान्त को विस्तार नहीं दिया है। ह्वाइट का दावा है कि फुको जब तक उस सिद्धान्त को विस्तार नहीं देते तब तक वे उसी 'शक्ति' के बन्दी बने रहेंगे जिसे विखण्डित करने का उन्होंने लक्ष्य रखा है।

(2) मार्क फिल्प (पूर्वोक्त 70-71) कर आरोप है कि फुको का यह दावा स्वीकार करना आसान नहीं है जिसमें वे किसी ज्ञान या कथन को 'वार्ता' के सन्दर्भ में ही सत्य मानते हैं। मार्क फिल्प किसी ज्ञान या कथन के सत्यासत्य-निर्धारण को एक गूढ़ और जटिल समस्या मानते हैं जिससे बचने की कोशिश स्वयं फुको की बाद की कृति में पहचानी जा सकती है।

5.3.2 जैक दरिदा

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के इतिहास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण उत्तरसंरचनावादी के रूप में मिशेल फुको भले ही प्रसिद्ध हों, परन्तु एक आन्दोलन के रूप में उत्तर संरचनावाद के प्रणेता जैक दरिदा ही माने जाते हैं। चार्ल्स लेमर्ट इस आन्दोलन की शुरूआत ही 1966 में जैक दरिदा के एक भाषण से मानते हैं जिसमें दरिदा ने एक नये उत्तर संरचनावादी युग के आगमन की बात की थी (रित्जर 596)। वैसे दरिदा का उत्तरसंरचनावाद भाषाशास्त्रीय अधिक और समाजशास्त्रीय कम ही है। डेविड ह्वाय के अनुसार दरिदा सामान्यतया सस्योर के संरचनात्मक भाषाविज्ञान तथा लेवी स्ट्रास के संरचनात्मक मानवशास्त्र की आलोचना करने के कारण ही उत्तरसंरचनावादी माने जाते हैं (ह्वाय 45)। आफ ग्रैमैटालजी (1967), 'राइटिंग एण्ड डिफरेंस' (1967), 'स्पीच एण्ड फेनामेना'(1967), तथा पोजीशन्स (1972) आदि वे प्रमुख कृतियाँ हैं जिनमें दरिदा का संरचनावाद प्रतिपादित हुआ है।

मिशेल फुको की भाँति दरिदा भी पश्चिमी चिन्तन रीति के समीक्षक हैं। परन्तु जहाँ पर फुको शक्ति की संरचना के विखण्डन में रूचि लेते हैं, वहाँ दरिदा की खास रूचि भाषा की संरचना के विखण्डन में जाहिर होती है। उत्तरसंरचनावादी दृष्टिकोण के सर्वथा अनुरूप ही दरिदा किसी ऐसे व्यापक या एकीकृत सिद्धान्त का निरूपण नहीं करते जिसमें भाषा साहित्य या दर्शन की सर्वसामान्य व्याख्या निहित हो। जोनाथन (क्यूलर 155) के मतानुसार दरिदा हमेशा ही विशिष्ट पाठों के विषय में लिखते हैं और स्वयं से तथा अन्य लोगों से भी अपेक्षा करते हैं कि वे सुसंगत एवं पूर्ण सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं की रचना की असम्भाव्यता की ही तलाश करें। साथ ही दरिदा मानते हैं कि जिस महान पाठ का पठन किया जाय उसी में बिखरे सूत्रों के आधार पर उस पाठ के महान संदेश का विखण्डन करते हुये विशिष्ठ पाठों या सिद्धान्तों की रचना की जाय। दरिदा स्वयं भी पश्चिमी रीति चिन्तन की समीक्षा करते समय इन दोनों नियमों का अनुपालन करते हैं कि पश्चिम के महान पाठों -रूसो, सस्योर, फ्रायड, प्लेटो, होमल, जीनट, मेलार्मे, हसर्ल जे.एन.आस्टिन, कान्ट का पठन करके सर्वप्रथम उनमें व्याप्त महान सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हैं और तत्पश्चात उन्हीं पाठों में निहित सूत्रों के सहारे उनका विखण्डन करते हुये विशिष्ट पाठों का सृजन करते हैं । इसी पृष्ठभूमि में दरिदा के उत्तरसंरचनावादी उपागम की प्रमुख कड़ियाँ यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत की की जा रही हैं।

पशिचम के महान पाठों का पठन करने के उपरान्त जैक दरिदा उनकी स्थायी विशेषता के रूप में 'शब्दकेन्द्रिता' का निर्धारण करते हैं (क्यूलर 154, एण्डर्सन 154,एण्डर्सन आदि 120)। दरिदा के अनुसार शब्दकेन्द्रिता पश्चिमी विचारधारा के मूल में निहित उपस्थिति का तत्वदर्शन है (एण्डर्सन आदि 120)। इस तत्वदर्शन की मान्यता है कि यथार्थ विद्यमान स्थितियों की शृंखला है (वही)। तात्पर्य यह कि विद्यमान स्थितियाँ ही प्राकृतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जगत के वे आधारभूत एवं प्राथमिक संघटक

हैं जो निश्चित होते हैं और जिन पर ब्रह्माण्ड की हमारी सारी व्याख्यायें निर्भर करती है (वही, क्यूलर 162)।

दरिदा के अनुसार स्वयं उपस्थिति के तत्वदर्शन का मूल स्रोत वह दार्शनिक परम्परा है जिसमें भाषा के मौखिक स्वरूप को केन्द्रीय महत्व तथा लिखित स्वरूप को सीमान्त या द्वैतीयक महत्व दिया गया है। (एण्डर्सन आदि 122 क्यूलर 166) । लेखन की अपेक्षा वाणी को केन्द्रीय महत्व दिये जाने का कारण यह है कि वाणी की क्रिया में शब्द और अर्थ दोनों एक साथ विद्यमान होते हैं जबकि लेखन में शब्द और अर्थ दोनों एक साथ विद्यमान नहीं होते। वाणी की क्रिया में वक्ता और स्रोता दोनों आमने-सामने होते हैं, इसलिये दोनों एक-दूसरे के कहे शब्दों के अर्थ आसानी से समझ लेते हैं। परन्तु लेखन की क्रिया में लेखक और पाठक के बीच स्थान और समय की दूरी विद्यमान होती है। इसलिये लेखक अपने शब्द पाठक को सीधे तुरन्त सम्प्रेषित नहीं कर पाता। परिणामतः पाठक को लेखक के शब्दों का अपनी सोच के अनुसार अर्थ लगाना पड़ता है जो लेखक द्वारा अभिप्रेत अर्थ से भिन्न हो सकता है। इसीलिये प्लेटो ने अपनी कृति फीड्रस में लेखन को संचार का दोगला रूप कहा था (क्यूलर 167)।

पश्चिमी विचारधारा की समीक्षा के प्रथम चरण पर शब्दकेन्द्रिता एवं 'उपस्थिति के तत्वदर्शन' की विवेचना करने के बाद दरिदा समीक्षा के द्वितीय चरण पर 'सम्पूरकता के तर्कशास्त्र' के आधार पर 'लेखन विज्ञान' की स्थापना करते हैं जिसमें वाणी के बदले लेखन को वरीयता प्राप्त हैं (क्यूलर 158)।

'पश्चिमी विचारधारा की 'शब्दकेन्द्रिता' के मूल में निहित 'उपस्थिति के तत्वदर्शन' की उस मान्यता से दरिदा सहमत नही हैं जिसमें यथार्थ को विद्यमान स्थितियों की श्रृंखला के रूप में परिभाषित किया जाता है। दरिदा का अपना मानना है कि ''तत्वों में या व्यवस्था के अन्दर कुछ भी कहीं भी हमेशा केवल उपस्थित या अनुपस्थित ही नहीं रहता'' (अन्तर्गत, क्यूलर 164)। अतः दरिदा मानते हैं कि किसी यथार्थ को केवल उपस्थित स्थितियों के संदर्भ में देख कर पहचान पाना सम्भव नहीं है, उसकी पहचान के लिये उसे उपस्थित और अनुपस्थित दोनों स्थितियों के संदर्भ में देखना आवश्यक है।

उपस्थिति के तत्वदर्शन के मूल स्रोत 'शब्दकेन्द्रिता' का खण्डन करने के लिये दरिदा 'सम्पूरकता के तर्कशास्त्र' का सहारा लेते हैं। सम्पूरकता का तर्कशास्त्र दरिदा को अनेक पश्चिमी पाठों में और खास कर रूसो की प्रसिद्ध कृति 'एमिली' में वहाँ मिलता है जहाँ रूसो प्रकृति को केन्द्रवर्ती तथा शिक्षा को सीमावर्ती या द्वैतीयक महत्व वाला मानते हैं और स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति की वास्तविक प्रकृति की अभिव्यक्ति के लिये सीमावर्ती शिक्षा का सहयोग आवश्यक होता है (क्यूलर 168, ऐण्डर्सन आदि 122)। अतः सम्पूरकता के तर्कशास्त्र की मान्यता यही है कि किसी यथार्थ

का सीमावर्ती तत्व उसका सम्पूरक या परिपूरक होता है (एण्डर्सन आदि 122)।

(3) विखण्डात्मक उपागम - पश्चिमी विचारधारा की 'शब्दकेन्द्रिता' एवं 'उपस्थिति के तत्वदर्शन' की समीक्षा में जैक दरिदा उत्तर संरचनावादी प्रकृति के अनुरूप 'विखण्डनात्मक पद्धति' का प्रयोग करते हैं। डेविड ह्वाय के शब्दों में दरिदा का विखण्डनात्मक ''उपागम पाठों का एक आलोचनात्मक पठन है जिसका उद्देश्य पाठों के उन छिपे विरोधाभासों या छदम तनावों का स्पष्टीकरण है जो पाठों की सुसंगति एवं विश्वसनीयता को क्षति पहुँचाते हैं'' (ह्वाय 54)। स्पष्टतया, विखण्डनात्मक पद्धति के द्वारा दरिदा जो पाठों में छिपे अन्तर्विरोधों को स्पष्ट करते हैं उसका उद्देश्य यह दर्शाना नहीं है कि कोई पाठ अपना मूलभूत संदेश स्थापित करने में कितना सफल हुआ है अपितु उसका उद्देश्य यह दर्शाना है कि कोई पाठ अपना मूलभूत संदेश स्थापित करने में कितना असफल हुआ है (वही 44) । इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये दरिदा विखण्डनात्मक पठन की प्रविधि का प्रयोग करते हैं। इस प्रविधि के अनुसार, पाठों के केन्द्रीय विचारों या दलीलों पर ध्यान केन्द्रित करने के बदले उन साहित्यिक एवं अलंकारिक युक्तियों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है जिन्हें उन पाठों के मूल संदेशों को बल प्रदान करने के लिये प्रयोग में लाया गया होता है, परन्तु जिनमें मूल संदेशों के विरोधी आशय भी निहित होते हैं।

दरिदा 'विखण्डनात्मक पठन' की सहायता से पश्चिमी विचारधारा के विभिन्न पाठों का विखण्डन करते हैं। उदाहरण के तौर पर हम दरिदा द्वारा सस्योर के संरचनात्मक भाषाविज्ञान की समीक्षा को ले सकते हैं। सस्योर भाषायी संरचना की व्याख्या में वाणी को केन्द्रीय महत्व देते हैं और लेखन को सीमावर्ती मान कर महत्वहीन घोषित कर देते हैं। परन्तु दरिदा सम्पूरकता के तर्कशास्त्र के आधार पर 'सीमावर्तिता' को

'सम्पूरकता' का पर्यायवाची साबित करके लेखन को 'वाणी' का सम्पूरक बना देते हैं और इस तरह भाषायी संरचना की व्याख्या के लिये लेखन की अनिवार्यता सिद्ध कर देते हैं।

समीक्षा

वर्तमान साहित्यिक एवं दार्शनिक बहस-मुबाहसे में जैक दरिदा का कृतित्व एक प्रधान मुद्दे के रूप में उभर कर सामने आया है। जोनाथन क्यूलर (पूर्वोक्त 154-55) दरिदा के कृतित्व को कम से कम तीन दृष्टियों से महत्वपूर्ण मानते हैं - (1) दार्शनिक पाठों के अध्ययनकर्ता के रूप में दरिदा ने पश्चिम की दार्शनिक परम्परा में 'शब्दकेन्द्रिता' या उपस्थिति के तत्वदर्शन का खुलासा किया है, (2) एक व्याख्याकार के रूप में उन्होंने विभिन्न पाठों के जो 'विखण्डनात्मक पठन' प्रस्तुत किये हैं वे नयी तरह की व्याख्या के लिये मॉडल बन चुके हैं, तथा (3) दरिदा अकेले ऐसे लेखक हैं जिन्होंने दूसरों के कृतित्वों के विषय में लिखा है तथा उन्हें संरचनावादी एवं उत्तरसंरचनावादी सिद्धान्तों की केन्द्रीय समस्याओं से जोड़ा है। परन्तु दरिदा की ये सैद्धान्तिक उपलब्धियाँ त्रुटिहीन नहीं कही जा सकती। दरिदा के उत्तरसंरचनावाद में मिशेल फुको को प्रमुख रूप से निम्नांकित त्रुटियां नजर आती हैं (ह्वाय 58-60) -

(1) दरिदा के अधिदर्शन में व्यावहारिकता का अभाव है। ह्वाय के अनुसार फुको भी दर्शन के अन्त का प्रयास करने वाले अधिदार्शनिक हैं, परन्तु वे दर्शन के इतिहास का अधिदार्शनिक विखण्डन करके सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक ज्ञान के संकलन का व्यावहारिक प्रयास करते हैं (वही 59)।

(2) दरिदा मूल पाठ से सम्बन्धित सत्य विषयक प्रश्नों की अनदेखी कर देते हैं। यही कारण है कि वे भूल जाते हैं कि प्लेटो ने लेखन की जो आलोचना की है वह लेखन और वाणी के भेद से सम्बन्धित नहीं, अपितु 'सत्य' से सम्बन्धित है।

5.4 सारांश

'संरचनावाद' और उसकी विरोधी चिन्तन धारा 'उत्तरसंरचनावाद' समाजशास्त्रीय सैद्धान्तिकरण की नवीनतम प्रवृत्तियों में शुमार हैं। संरचनावाद स्विस भाषावैज्ञानिक फर्डिनण्ड डी सस्योर के भाषाशास्त्रीय संरचनावाद में अंकुरित हुआ था। वहीं से इसने क्लाड लेवी-स्ट्रास, जैक लकाँ, लुई आल्थूसर आदि की कोशिशों से समाजशास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश किया। यहाँ संरचनावाद सामाजिक घटनाओं की आन्तरिक संरचना का अध्ययन करता है। संरचनावादियों की निगाह में सामाजिक घटनाओं की 'आन्तरिक संरचना' ही उनकी 'वास्तविक संरचना' होती है और उनकी बाहरी संरचना इस आन्तरिक संरचना का आभास मात्र होती है। जार्ज रित्जर के अनुसार, संरचनावादियों ने सामाजिक घटनाओं की आन्तरिक संरचना की पहचान भाषायी संरचना के रूप में की है। संरचनावादी विचारक रोलैण्ड वार्थीज भी मानते हैं कि भाषाशास्त्रीय संरचनावाद की शब्दावलियों का प्रयोग ही सच्चे संरचनावादी की पहचान है। जो भी हो सामाजिक घटनाओं की आन्तरिक संरचना की पहचान क्लाड लेवी-स्ट्रास 'अचेतन मन की तार्किक संरचना' के रूप में तथा लुई आल्थूसर 'आर्थिक संरचना'' के रूप में करते हैं। सामाजिक घटनाओं के संरचनावादी अध्ययनों में 'बाहरी संरचना' (अर्थात सामाजिक संरचना) के बदले 'अन्तर्निहित भाषायी संरचना पर ध्यान केन्द्रित किये जाने की प्रवृत्ति को 'भाषायी मोड़' के नाम से जाना जाता है।

चार्ल्स लेमर्ट उत्तरसंरचनावाद की शुरूआत 1966 में जैक दरिदा के एक व्याख्यान से मानते हैं वैसे समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के इतिहास में उत्तरसंरचनावाद से जुड़ा लोकप्रिय नाम माइकल फुको का है। जैक दरिदा का तो साहित्यिक सिद्धान्त प्रतीत होता है। उत्तरसंरचनावाद संरचनावाद विरोधी तेवर वाली तथा नाना सैद्धान्तिक निवेशों से ओत-प्रोत वह अत्याधुनिक चिन्तनधारा है जो महान परम्पराओं एवं व्यवस्थाओं के अस्तित्व में नहीं अपितु उनके विखण्डन में, इतिहास के सातत्य में नहीं अपितु उसकी सान्तरता में तथा ज्ञानशालीय एवं सामाजिक - ऐतिहासिक प्रगति में नहीं अपितु उनके अन्त में आस्था रखती है। मिशेल फुको का उत्तरसंरचनावाद आधुनिक संस्कृति की उनकी समीक्षा में प्रमुखता से प्रकाशित हुआ है।वर्तमान समाज की समीक्षा में वे महान व्यवस्थाओं, महान सिद्धान्तों एवं महान सत्यताओं पर तीखा प्रहार करते हैं तथा तमभेद, स्थानीय एव विशिष्ट ज्ञान, फूट, अनिश्चितता एवं सान्तरता को महत्व देने वाले 'एकल ऐतिहासिक अध्ययनों' को सम्पादित करते हैं। अध्ययन में वे 'वार्ता' को विश्लेषण की प्राथमिक

इकाई बनाते हैं । फुको की 'वार्ता' के उदाहरण हैं : मनश्चिकित्सा, रूग्णता, लैंगिकता, ज्ञान, शक्ति आदि। फुको की निगाह में आधुनिक सामाजिक व्यवस्था शक्ति और ज्ञान के साँचे में ढली हुयी है। इस साँचे के विश्लेषण में वे पुरातत्वशास्त्रीय एवं वंशावली पद्धतियों का प्रयोग करते हैं। पुरातत्वशास्त्रीय पद्धति ज्ञान के सन्दर्भ में तथा वंशावली पद्धति शक्ति के संदर्भ में आधुनिक समाज की विवेचना प्रस्तुत करती हैं। फुको शक्ति और ज्ञान को अन्तःसम्बन्धित मानते हैं और दावा करते हैं कि शक्ति से ज्ञान की उत्पत्ति होती है और ज्ञान से शक्ति की। फुको के उत्तरसंरचनावाद की तरह जैक दरिदा का उत्तर संरचनावाद भी पश्चिमी चिन्तनरीति की समीक्षा है। पश्चिमी विचारधारा में शब्दकेन्द्रिता का प्राबल्य दर्शाना और उसका विखण्डन करना तथा शब्दकेन्द्रिता के बदले लेखन विज्ञान का प्रतिपादन करना दरिदा के उत्तरसंरचनावाद की विशिष्टतायें हैं।

5.5 संदर्भ-ग्रन्थ

1. Anderson, R.J.; Hughe, John A. and Sharrock, W.W. (edrs.) 1986. Philosophy and Human Sciences. London et alibi : Croom Helm.
2. Giddens, Anthony and Turner, Jonathan H. (edrs.) 1987, Social Theory Today: Polity Press.
3. Kolakowski, Leszek (1982). Main Currents of Marxism : Its origin, Growth and Dissolution. Oxford : Oxford University Press.
4. Boon, James, "Claude Levi -Strauss," in Skinner, Quentin (ed.). 1997. The Return of Grand Theory in the Human Sciences. Cambridge University Press, ps. 159-176.
5. Hoy, David, "Jacques Derrida," in Skinner, Quentin, ibid., ps. 41-64.
6. James, Susan, "Louis Althusser," in Skinner, Quentin, ibid., ps. 141-158.
7. Philp, Merk, "Michel Foucault", in skinner, Quantin, ibid., ps. 65-82.
8. Bowie, Malcolm, "Jacques Lacan," in Sturrock, John (ed.) 1986. Structuralism and Since : From Levi strauss to Derrida, Oxford : Oxford University Press, ps. 116-153.
9. Culler, Jonathan, "Jacques Derrida," in Sturrack, John, ibid., ps. 154-180.
10. Sperber, Dan, "Claude Levi Strauss," In Sturrock, John, ibid., Ps. 19-51.
11. White, Hayden, "Michel Foueault", in Sturrock , John, ibid., ps. 81-115.
12. Ritzer, George (4th edition). Sociological Theory, New York et alibi.,The McGraw Hill Companies, Inc.
13. Waters, Malcolm (1994). Modern Socological Theory, London et alibi : Sage Publications.
14. Wuthnow, Robert; Hunder, James Davison : Bergesen, Albert and Kurzweil, Edith (1986). Cultural Analysis : The Work of Peter L. Berger, Mary Douglas, Michel Foucault and Jurgen Habermas. London et alibi : Routtedge and Kegan Paul.

5.6 बोध प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. संरचनावाद क्या है? संरचनावाद और उत्तरसंरचनावाद के बीच क्या अन्तर है?

2. 'उत्तरसंरचनावाद का वेबर संरचनावाद विरोधी है।'इस कथन के आलोक में उत्तरसंरचनावाद पर एक परिचयात्मक निबंध लिखिये।
3. संरचनावाद के लिये क्लाड लेवी-स्ट्रास के अंशदानों की समीक्षात्मक विवेचना कीजिए।
4. जैक लकाँ द्वारा सिग्मण्ड फ्रायड की संरचनावादी पुनर्व्याख्या के प्रमुख बिन्दुओं की समीक्षात्मक व्याख्या कीजिये।
5. लुई आल्थूसर मार्क्सवाद की संरचनावादी व्याख्या किस उद्देश्य से करते हैं? इस व्याख्या का संक्षिप्त परिचय देते हुये इसकी समीक्षा कीजिये।
6. मिशेल फुको के उत्तरसंरचनावादी उपागम की विशिष्टतायें बताइये तथा उनकी समीक्षा कीजिये।
7. जैक दरिदा के उत्तरसंरचनावाद पर एक समीक्षात्मक निबंध लिखिये।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. भाषायी मोड़ क्या है?
2. संरचनावादियों की निगाह में संरचना का क्या तात्पर्य है?
3. पश्चिमी विचारधारा को विशेषीकृत करने वाली 'शब्दकेन्द्रिता' क्या है? जैक दरिदा शब्द केन्द्रिता की क्या आलोचना करते हैं?
4. फुको का शक्ति/ ज्ञान साँचा क्या है?
5. जैक दरिदा का विखण्डनात्मक उपागम क्या है?
6. लाक्षणिक पठन क्या है?
7. उत्पादन रीति का परिचय दीजिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सामाजिक घटनाओं की वास्तविक संरचना को अचेतन मन की तार्किक संरचना के रूप में पहचानने वाले विचारक हैं -

   (अ) लुई आल्थूसर (ब) क्लाड लेवी-स्ट्रास

   (स) जैक लकॉ (द) मिशेल फुको
2. 'वार्ता' को विश्लेषण की मूलभूत इकाई मानने वाले हैं -

   (अ) जैक दरिदा (ब) आल्थूसर

   (स) फर्डिनण्ड डी सस्योर (द) मिशेल फुको
3. लुई आल्थूसर के अनुसार मार्क्सवाद के अन्दर ज्ञानशालीय अवरोध की शुरूआत किस कृति से हुयी -

   (अ) आर्थिक एवं दार्शनिक पाण्डुलिपियाँ, 1844

   (ब) साम्यवादी घोषणापत्र

   (स) द जर्मन आइडियॉलजी

   (द) पूँजी
4. मिशेल फुको ज्ञान और शक्ति के बीच क्या सम्बन्ध मानते हैं -

   (अ) दोनों अन्तःसम्बन्धित हैं। (ब) दोनो एक दूसरे से सर्वथा पृथक हैं।

   (स) दोनों एक-दूसरे के विरोधी है। (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
5. निम्नांकित में से कौन युग्म सुमेलित नहीं है।

   (अ) लेखन विज्ञान ---------- जैक दरिदा

(ब) मिथीम ---------- फर्डिनण्ड डी सस्योर

(स) वार्ता ---------- मिशेल फुको

(द) लाक्षणिक पठन ---------- लुई आल्थूसर

6. यह किसका कथन है कि 'शब्द-जगत ही वस्तु जगत का सृजन करता है'-

(अ) फर्डिनण्ड डी सस्योर (ब) क्लाड लेवी-स्ट्रास

(स) जैक दरिदा (द) जैक लकाँ

7. 'अचेतन मन किसी भाषा की तरह संरचित होता है। यह किसका कथन है -

(अ) सिग्मण्ड फ्रायड (ब) जैक लकाँ

(स) जैक दरिदा (द) क्लाड लेवी-स्ट्रास

उत्तर - 1. (ब) 2. (द) 3. (स) 4. (अ)

5. (ब) 6. (द) 7. (ब)

खण्ड

2

संरचनात्मक प्रकार्यवाद

इकाई- 1 5

प्रकार्यवाद की अवधारणा, प्रकार्य के तत्व

इकाई- 2 13

प्रकार्यवाद ऐतिहासिक संदर्भ में-मैलिनोवस्की एवं रेडक्लिफ ब्राउन का सिद्धान्त

इकाई- 3 22

प्रकार्यवाद मर्टन के सन्दर्भ में: प्रकार्य, अकार्य, प्रच्छन्न एवं प्रकट प्रकार्य, मर्टन का प्रकार्यात्मक प्रारूप (पैराडाइम)

इकाई- 4 32

प्रकार्यवाद पार्सन्स के सन्दर्भ में-पार्सन्स का प्रतिमान चर, AGIL प्रारूप

इकाई- 5 43

मर्टन एंव पार्सन्स के प्रकार्यात्मक प्रत्ययों का तुलनात्मक मूल्यांकन तथा नव प्रकार्यवाद : जे0 एलेक्जेन्डर के विचार एवं समालोचना

खण्ड- 2 संरचनात्मक प्रकार्यवाद

इस खण्ड में निम्नलिखित इकाइयाँ हैं -

इकाई - 1 प्रकार्यवाद की अवधारणा, प्रकार्य के तत्व ।

इकाई - 2 प्रकार्यवाद ऐतिहासिक सन्दर्भ में - मालिनोवस्की एवं रेडक्लिफ ब्राउन का सिद्धान्त ।

इकाई - 3 प्रकार्यवाद मर्टन के सन्दर्भ में : प्रकार्य, अकार्य, प्रच्छन्न एवं प्रकट प्रकार्य, मर्टन का प्रकार्यात्मक प्रारूप (पैराडाइम) ।

इकाई - 4 प्रकार्यवाद पार्सन्स के सन्दर्भ में - पार्सन्स का प्रतिमान चर, AGIL प्रारूप

इकाई - 5 मर्टन एवं पार्सन्स के प्रकार्यात्मक प्रत्ययों का तुलनात्मक मूल्यांकन नव प्रकार्यवाद : जे0 एलेक्जेन्डर के विचार एवं समालोचना ।

इकाई - 1 : प्रकार्यवाद की अवधारणा, प्रकार्य के तत्व

इकाई की रूपरेखा-

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 प्रकार्य की अवधारणा

1.3 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम

1.4 प्रकार्यवाद का अर्थ एवं परिभाषा

1.5 सामाजिक मानवशास्त्र में प्रकार्यवाद की अवधारणा

1.6 प्रकार्यात्मक अवधारणा के मुख्य तत्व

1.7 प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएँ

1.8 सारांश

1.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.10 सम्बन्धित प्रश्न उत्तर

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का मुख्य उद्देश्य प्रकार्य की अवधारणा का स्पष्टीकरण करना तथा प्रकार्यवाद के अर्थ की विवेचना करते हुए इसकी परिभाषा पर प्रकाश डालना है। व्याख्या के अंतर्गत यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि अगस्त कॉम्ट, हरबर्ट स्पेंसर, दुर्खीम, मर्टन तथा पारसंस जैसे विद्वानों के अनुसार प्रकार्यवाद का अर्थ क्या है? सामाजिक मानवशास्त्र में प्रकार्यवाद की अवधारणा से संबंधित विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है। प्रकार्यात्मक अवधारणा के मुख्य तत्वों का विवरण देते हुए प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं की व्याख्या करने का प्रयत्न भी किया गया है ।

1.1 प्रस्तावना

प्रकार्यवाद का प्रारम्भ जैविकीय प्रकार्यवाद से हुआ था। प्राकृतिक विज्ञानों में जब जैविकीय विज्ञान का विकास हुआ तो कुछ समाज वैज्ञानिकों ने जैविकीय सावयववाद (organism) को समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों पर भी लागू किया । पिछले सात-आठ दशकों में प्रकार्यवादी सिद्धान्त का विकास बहुत अधिक हुआ है। सावयव की अपनी एक विशिष्ट प्रकृति व कार्य पद्धति होती है। आंख, कान, नाक, हाथ, पैर, हृदय, फेफड़ा इत्यादि सभी अंग (इकाई) मिलकर ही किसी सावयव के अस्तित्व का निर्माण करते हैं। इन प्रत्येक अंगों का अपना-अपना कार्य (function) होता है, जो वे स्वतंत्र रूप से करते हैं। इसके बावजूद सभी अंग आपस में एक दूसरे के साथ पूर्णतः जुड़े भी होते हैं। यह अंग अंतर्संबन्धी होने के कारण एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। इसी परस्पर जुड़ने की प्रक्रिया को समाजशास्त्रीय जगत में प्रकार्यवाद के रूप में जाना जाता है।

प्रायः प्रकार्यवाद को समाजशास्त्र की विकास यात्रा के साथ जोड़कर देखा जाता है । अगस्त काम्ट, इमाइल दुर्खीम, हरबर्ट स्पेंसर, टालकाट, पारसंस, मर्टन जैसे समाजशास्त्री तथा रेडक्लिफ

ब्राउन, मैलिनोस्की जैसे मानवशास्त्रियों द्वारा प्रकार्यवादी सिद्धान्त की गहन व्याख्या की गई तथा इसे प्रतिष्ठा प्राप्त हुई ।

1.2 प्रकार्य की अवधारणा

प्रकार्य की अवधारणा के अनेक अर्थ हैं किन्तु समाजशास्त्र में इसका तात्पर्य अधिकतर सामाजिक प्रक्रियाओं से है। 'प्रकार्य' का प्रयोग गणित, जीव विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञानों में किसी व्यवस्था के विभिन्न भागों के बीच पाई जाने वाली अंतर्निभरता को समझने के लिए किया जाता है। प्रकार्य का प्रयोग जहां एक ओर सामाजिक उत्सव या त्योहार के अति सामान्य अर्थ में किया जाता है, वहीं इसका प्रयोग गणित में दो तत्वों की अन्तर्निभरता को दर्शाने के लिए (जैसे अ का प्रकार्य (function) ब है) किया जाता है। इस शब्द का प्रयोग कर्तव्य, व्यवसाय, क्रिया-कलाप और गतिविधि के रूप में भी किया जाता है। मर्टन ने प्रकार्य के पांच अर्थों की चर्चा की है: 1. उत्सव या सभा के रूप में प्रकार्य, 2. परिस्थिति से सम्बन्धित क्रियाओं के रूप में प्रकार्य, 3. व्यवसाय के रूप में प्रकार्य 4. गणितीय प्रकार्य तथा 5. सामाजिक या प्राणिशास्त्रीय प्रक्रियाओं के रूप में प्रकार्य । संक्षेप में किसी भी व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु जो भी गतिविधियाँ की जाती हैं, उन्हें प्रकार्य कहा जाता है।

मानवशास्त्र में प्रकार्य शब्द का अर्थ उन क्रियाओं से भी समझा जाता है। जो अमूर्त वस्तुएं जैसे नियम, प्रथाएं, कानून, सामाजिक प्रक्रियाएं, सांस्कृतिक तत्व, सांस्कृतिक प्रतिमान, विश्वास, विचार इत्यादि द्वारा की जाती हैं। मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र में कार्य शब्द का अर्थ इन सब के कार्यों पर लागू होता है। किसी भी सामाजिक रीति-रिवाज का कार्य (function) वह योग है जो वह अपनी क्रिया के द्वारा संपूर्ण सामाजिक जीवन को देता है । धर्म समाज का एक अंग है। धर्म की कुछ क्रियाएं हैं और इनके द्वारा धर्म समाज को बनाए रखने में योग देता है। यही योग धर्म का प्रकार्य (function) है।

1.3 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण के अनुसार सामाजिक व्यवस्था की वास्तविकता को समझने के लिए उस व्यवस्था को निर्मित करने वाली इकाइयों के प्रकार्यों को समझना आवश्यक है। संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम का आधारभूत विचार यह है कि समाज अनेक भागों की अंतः निर्भरता एवं अन्तर्सम्बन्धों के आधार पर बना है। इस उपागम के अनुसार व्यवस्था के किसी एक भाग में परिवर्तन होने से अन्य भागों में भी परिवर्तन होता है पर संतुलन एवं स्थायित्व भी बना रहता है। यह उपागम संतुलन एवं स्थिरता को सामाजिक व्यवस्था के नियमन के लिए आवश्यक मानता है। साथ ही इस बात पर भी बल दिया जाता है कि कोई भी सामाजिक अथवा सांस्कृतिक तत्व व्यवस्था के अंतर्गत ऐसे कार्य करता है जो कि व्यवस्था के बने रहने के लिए आवश्यक है।

सामाजिक नियंत्रण, सामाजीकरण, अनुरूपता, मानदंड इत्यादि वे तत्व हैं जो कि सामाजिक संतुलन एवं नियमन को बनाए रखने में महत्वपूर्ण माने गये हैं। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था द्वारा अपने सदस्यों के अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना अपरिहार्य है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत सामाजीकरण के कुछ साधन अथवा संस्कारों का होना आवश्यक है। जिसके माध्यम से एक जैविकीय प्राणी को सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित किया जा सके तथा सामाजिक प्राणी के रूप में से मूल्यों, मान्यताओं तथा आदर्शों को विकसित किया जा सके जिससे वे सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल हो सकें। संरचनात्मक प्रकार्यवाद प्रमुख रूप से समाज के भिन्न-भिन्न भागों को एक दूसरे से जोड़कर पूरे की कल्पना करता है। जिसमें हर भाग साकल्य

(Whole) से जुड़ा है।

1.4 प्रकार्यवाद का अर्थ एवं परिभाषा

समाजशास्त्रियों ने 'प्रकार्यवाद' के विश्लेषण के द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि प्रत्येक समाज के अनेक भागीदार किस तरह सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए एक सूत्र में बंधे रहते हैं । समाज का प्रत्येक वर्ग समाज की कार्यशीलता एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए अपना योगदान करता है। समाजशास्त्र में 'प्रकार्य' की अवधारणा का प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी में अगस्त काम्ट तथा हरबर्ट स्पेन्सर द्वारा किया गया, जिन्होंने मानव समाज तथा जैविकीय सावयव की कार्यप्रणाली में बहुत अधिक सादृश्यता देखी। इसके बाद इमाइल दुर्खीम द्वारा व्यवस्थित एवं एक वैज्ञानिक अवधारणा के रूप में प्रकार्य को प्रस्तुत किया गया। प्रकार्यवादी सिद्धान्त का संशोधित रूप हमें टालकाट,.पारसंस एवं राबर्ट मर्टन की कृतियों में देखने को मिलता है।

प्रकार्यवाद की अवधारणा के अंतर्गत समाज को एक व्यवस्था माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि समाज के विभिन्न भाग परस्पर रूप से जुड़े हुए हैं और उनका जोड़ ही संपूर्ण समाज को बनाता है। जब हम समाज का विश्लेषण करते हैं तो उसमें किसी भी इकाई को लेकर उसके संबंध अन्य इकाइयों और संपूर्ण समाज के साथ देखते हैं। इस तरह यदि हम धर्म अथवा परिवार का अध्ययन करते हैं तो उन्हें पृथक इकाई मानकर नहीं चलते। धर्म और परिवार का संबंध हम संपूर्ण समाज के साथ जोड़ते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह देखते हैं कि धर्म और परिवार किस तरह संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को अपना योगदान देते हैं। प्रारम्भिक सिद्धान्तवेत्ता प्रकार्यवादी विश्लेषण में समाज (Society) और सावयव (Organism) दोनों की समानता के स्तर पर तुलना करते थे। वास्तव में प्रकार्यवाद का प्रारम्भ ही जैविकीय प्रकार्यवाद से है।

समाजशास्त्र विश्वकोष के अनुसार प्रकार्यवाद समाज को अंतर्सम्बन्धित भागों की एक ऐसी स्वचालित व्यवस्था के रूप में देखने का सरल दृष्टिकोण है जिस निर्णायक भागों के सामाजिक संबंधों में संरचना तथा एक वस्तुनिष्ठ नियमितता होती है। प्रकार्यवाद एक समाजशास्त्रीय अभिगम (Approach) है जो किसी सामाजिक तत्व या सांस्कृतिक प्रतिमान की व्याख्या दूसरे सामाजिक सांस्कृतिक तत्वों तथा सम्पूर्ण व्यवस्था के लिए उसके परिणामों के संदर्भ में खोजता है। इस अभिगम के अनुसार किसी भी सामाजिक घटना को अलग न मानकर उसे व्यवस्था के एक अंग के रूप में समझने की चेष्टा करनी चाहिए। व्यवस्था का निर्माण करने वाले भाग व्यवस्था को बनाए रखने में जो अपना योगदान करते हैं, उनके अध्ययन पर भी बल दिया गया है।

आजकल प्रकार्यवादी उपागम 'संरचनात्मक प्रकार्यवाद' के नाम से जाना जाता है। समाजशास्त्र में संरचनात्मक उपागम व्यक्ति को गौण व व्यवस्था को प्राथमिकता देता है। व्यक्तियों की अंतः क्रियाओं के माध्यम से संबंधों की पुर्नावृत्ति होती है जो कि प्रतिमानों का स्वरूप ले लेते है। व्यक्ति की स्वतंत्रता का पक्ष इस उपागम में गौण हो जाता है।

अगस्त कॉम्ट का प्रकार्यवाद 'सावयवी प्रकार्यवाद' के नाम से जाना जाता है। उनके अनुसार प्रकार्यवाद एक खास प्रकार का सावयव वाद (Organism) है। अगस्त काम्ट पहले समाजशास्त्री थे जिन्होंने सावयव और समाज को समान स्तर पर रखा। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग परस्पर प्रकार्यों द्वारा जुड़े हुए होते हैं, उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंग भी प्रकार्यों द्वारा परस्पर जुड़े हुए हैं। अतः प्रकार्यवाद समाज की प्रत्येक संस्था के कार्य को सम्पूर्ण समाज के संदर्भ में देखता है।

हर्बर्ट स्पेन्सर, जो प्रकार्यवाद के जनक माने जाते हैं, वे डार्विन के प्राणिशास्त्रीय उद्विकासीय सिद्धान्त (Theory of biological evolution) से अत्यधिक प्रभावित थे। उनका

प्रकार्यवाद उद्विकासवादी था। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि समाज उद्विकास का वही मार्ग अपनाता है जो कि प्राणियों में दृष्टिगोचर होता है। यह प्रक्रिया सरलता से जटिलता की ओर अग्रसर होने वाली स्थिति है। स्पेंसर की व्याख्या प्राणिशास्त्रीय सादृश्यता के आधार पर निर्मित हुई है। स्पेंसर के अनुसार उद्विकासीय प्रक्रिया के माध्यम से समाज गर्भस्थ शिशु की भांति एक अस्पष्ट अंगों वाले आकार से निश्चित एवं स्पष्ट अंगों सहित विकसित होता है। उद्विकास की प्रक्रिया ज्यों ज्यों आगे बढ़ती है उसी अनुपात में प्रकार्यों का सामंजस्य (Consensus of function) और अधिक घनिष्ट होता जाता है। अतः स्पेंसर ने सावयवी प्रकार्य के आधार पर सामाजिक प्रकार्य की व्याख्या की है।

इमाइल दुर्खीम के प्रकार्यवाद के अनुसार प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे विचार, भावनाएं तथा धारणाएं होती हैं जिन्हें समाज के अधिकांश लोग स्वीकार करते हैं। इनका निर्माण सामूहिक चेतना द्वारा होता है। यह धारणा अधिकांश लोगों द्वारा मान्य होने के कारण सामूहिक रूप से समस्त समूह का प्रतिनिधित्व करती है। यहाँ पर यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि यह सामूहिक प्रतिनिधित्व, सामूहिक चेतना या जनमत नहीं किन्तु उसके 'प्रतीक' होते है। इमाइल दुर्खीम मानते हैं कि समाज की कुछ प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं (Functional Pre-requisites) होती हैं इन आवश्यकताओं में सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता 'व्यवस्था' (Social Order) का बना रहना है। उन्होंने इस पर विशेष जोर दिया है कि व्यक्तियों को सर्वसम्मति (Consensus) के द्वारा एकीकृत करके समाज व्यवस्था में रखा जा सकता है। दुर्खीम की 'द डिवीजन आफ लेबर इन सोसाइटी' (The Division of Labour in Society, 1893) नामक पुस्तक के प्रथम भाग में सामाजिक एकता का विश्लेषण है। जब तक समाज के सभी सदस्य बुनियादी नैतिक मुद्दों पर सर्व सम्मति नहीं रखते, तब तक सामाजिक सुदृढ़ता नहीं आ सकती। इन्हीं तर्कों के आधार पर दुर्खीम ने धर्म का प्रकार्यात्मक विश्लेषण किया है। धर्म के अंतर्गत वस्तुएं पवित्र इसलिए हैं क्योंकि समाज इन्हें पवित्र मानता है। इस प्रकार दुर्खीम का प्रकार्यवाद सामाजिक तथ्यों (Social facts) से जुड़ा हुआ है अर्थात सामाजिक तथ्य ही सामूहिक चेतना है जो समाज के विभिन्न व्यक्तियों को एक सूत्र में बांधता है और यही प्रकार्यवाद है।

मर्टन के अनुसार प्रकार्यवादियों की यह धारणा पूर्णतः भ्रान्तिपूर्ण है कि सभी सामाजिक इकाइयाँ प्रकार्य ही करती हैं तथा वे सामाजिक संरचना एवं व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक सिद्ध होती हैं। मर्टन के अनुसार कुछ सामाजिक इकाइयों के कार्य प्रकार्यात्मक (functional) होते हैं, कुछ इकाइयों के कार्य अंशतः अकार्यात्मक (Partly dysfuctional) कुछ के कार्य नकार्यात्मक (non-functional) तथा कुछ के कार्य अकार्यात्मक (dysfunctional) होते हैं। प्रकार्य (function) वे गतिविधियाँ हैं जो व्यवस्था को बनाए रखने के लिए व्यवस्था से अनुकूलन करती हैं। इसके विपरीत अकार्यात्मक कार्य वे गतिविधियाँ हैं जिनके होने या न होने से व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि किसी छात्रावास में कोई छात्र रात भर जागता है और इस दौरान वह कई बार चाय व पानी पीता है तो उसकी इस गतिविधि से छात्रावास की कोई व्यवस्था में बिगाड़ नहीं आता, अतः इसे 'अप्रकार्य' कहेंगे। मर्टन के द्वारा प्रकार्यात्मक विश्लेषण में गोचर अथवा प्रकट प्रकार्य (manifest function) तथा अगोचर अथवा अन्तर्निहित प्रकार्य (latent function) को भी महत्व दिया गया है। गोचर प्रकार्य उन्हें कहते हैं जो व्यवस्था से सामंजस्य या अनुकूलन बनाने में सहयोग देते हैं। अगोचर प्रकार्य वे हैं जो न तो चाहे जाते हैं और न ही पहचाने जाते हैं। उदाहरण स्वरूप शहर में विश्वविद्यालय की स्थापना का गोचर प्रकार्य उच्च शिक्षा को बढ़ावा देना है किन्तु व्यवसायिक समुदाय के लिए इसका अगोचर या अन्तर्निहित प्रकार्य व्यवसाय एवं आय को बढ़ाना हो सकता है। मर्टन के प्रकार्यवाद पर आगे विस्तार से प्रकाश डाला गया है। यहाँ पर संक्षेप में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मर्टन के अनुसार प्रकार्य वे गोचर परिणाम हैं जो किसी व्यवस्था में तादात्मीयकरण या अनुकूलन

(adaptation) एवं समायोजन (adjustment) को बढ़ावा देते हैं।

टालकट पारसंस ने प्रकार्यवाद का विश्लेषण सामाजिक व्यवस्था तथा संरचना के संदर्भ में किया है। पारसंस ने प्रश्न किया कि सामाजिक व्यवस्था को एक सूत्र में बांध कर किस प्रकार रखा जा सकता है? इसके लिए वे मूल्यों के प्रति सर्वसम्मति आवश्यक समझते हैं। मूल्यों की यह सर्वसम्मति ही समाज को एकीकृत करने का बुनियादी नियम है। पारसंस के अनुसार किसी भी सामाजिक व्यवस्था की चार मौलिक प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं होती हैं : (1) अनुकूलन (adaptation), (2) लक्ष्य प्राप्ति (goal attainment), (3) एकीकरण (integration) तथा (4) प्रतिमान-पोषण (pattern maintenance)। यदि ये पूर्व आवश्यकताएं पूरी नहीं की जाती तो व्यवस्था का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। व्यवस्था के सदस्यों की वे गतिविधियाँ जो इन पूर्व आवश्यकताओं को पूरा करती हैं, प्रकार्य हैं। कोई भी गतिविधि प्रकार्य नहीं है। यदि हम बिना किसी नियम का अनुकरण किए काम चला रहे हैं तो यह गतिविधि प्रकार्य नहीं कहलाएगी। किन्तु जब हम यातायात को एक व्यवस्था मानते हैं तब सड़क की बाई ओर चलना तथा लाल बत्ती पर वाहन रोकना ऐसी गतिविधियाँ हैं जो यातायात व्यवस्था के नियमों के साथ अनुकूलन करती हैं, तो इन्हें हम प्रकार्य कहते हैं। गतिविधियाँ प्रकार्य तब बन जाती हैं जब वे व्यवस्था के मूल्यों के साथ अपना तालमेल बैठाती है। पारसंस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था की प्रत्येक इकाई का समग्र से तथा समग्र का सभी इकाई से गहरा संबंध होता है। पारसंस के अनुसार प्रकार्य के मुख्यतः चार अर्थ होते हैं : (1) गणितीय अर्थ- गणित में प्रकार्य एक चर होता है जिसके मूल्य का निर्धारण एक या एक से अधिक अन्य चरों द्वारा होता है। (2) उपयोगी क्रियाओं के रूप में, (3) उपयुक्त क्रिया के रूप में - कोई क्रिया उपयुक्त न होते हुए भी आवश्यकता अथवा उद्देश्य की प्राप्ति में अत्यंत उपयोगी होती है। जैसे टैक्स वसूलने का या शेयर का कार्य एवं (4) व्यवस्था निर्धारण एवं व्यवस्था परिपालन के रूप में ।

संक्षेप में पारसंस के अनुसार प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था मुख्यतः समाज के विभिन्न वैयक्तिक कर्ताओं के प्रकार्यात्मक अंतःसम्बन्धों और अंतःक्रियाओं पर आधारित है और ये अंतःक्रियाएं तथा अंतःसंबन्ध आधारभूत मूल्यों, मान्यताओं तथा प्रतीकों के द्वारा सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखती हैं।

1.5 सामाजिक मानवशास्त्र में प्रकार्यवाद की अवधारणा

दुर्खीम के बाद मैलिनोवस्की तथा रेडक्लिफ ब्राउन ऐसे प्रसिद्ध मानवशास्त्री थे जिन्होंने प्रकार्यवाद के सिद्धान्त की परंपरा को आगे बढ़ाया। मानवशास्त्र में 'प्रकार्य' शब्द का अर्थ वह योगदान है जो एक तत्व या ढांचा अपने संपूर्ण को बनाए रखने में देता है अथवा उसकी आवश्यकता की पूर्ति करता है। मैलिनोवस्की की प्रकार्यवाद की अवधारणा का संक्षेप में सार यह है कि संस्कृति और संस्कृति का प्रत्येक तत्व किसी न किसी मानव आवश्यकता की पूर्ति करता है और यही उसका कार्य है। संस्कृति एक पूर्णता (Whole or integral) है, जिसमें प्रत्येक तत्व एक दूसरे पर आधारित हैं। मैलिनोवस्की के प्रकार्यवाद की अवधारणा का समर्थन बहुत हद तक रेडक्लिफ ब्राउन ने भी किया। रेडक्लिफ ब्राउन संस्कृति को एक पूर्णता मानता है । उसके विभिन्न अंगों को उसी समय समझा जा सकता है जबकि उस सम्पूर्ण संस्कृति को समझ लिया गया हो। उसके अनुसार 'संस्कृति का एकीकरण' ही एक ऐसा रास्ता है जिससे समाज के अस्तित्व की सुरक्षा की जा सकती है। रेडक्लिफ ब्राउन ने स्पष्टतः प्रकार्यवाद और जीववाद (organism) के मध्य सम्बन्ध स्वीकार किया है। उनका कथन है कि प्रकार्य का प्रत्यय सामाजिक जीवन और प्राणिशास्त्रीय जीवन के बीच समानता पर आधारित है। रेडक्लिफ ब्राउन ने स्पष्टतः मैलिनोवस्की के व्यक्तिवादी प्रकार्यवाद को अस्वीकृत कर दिया। उसने लिखा है कि प्रकार्य वह योग है जो एक अंश या भाग की क्रिया को संपूर्ण क्रिया, जिसका वह भाग है, करती है। मैलिनोवस्की तथा रेडक्लिफ ब्राउन के प्रकार्यवाद पर अगली इकाई में विस्तार से व्याख्या की गई है।

1.6 प्रकार्यात्मक अवधारणा के मुख्य तत्व

(1) प्रकार्यात्मक विश्लेषण में किसी व्यवस्था के पहले से ही विद्यमान होने की अवधारणा तथा घटकों पर व्यवस्था की प्राथमिकता निहित होती है।

(2) व्यवस्था के तत्व प्रकार्यात्मक दृष्टि से अंतर्सम्बद्ध होते हैं। प्रत्येक घटक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक कार्य करता है।

(3) व्यवस्था के प्रत्येक तत्व का कुछ न कुछ प्रकार्य होता है जिसका सकारात्मक योगदान व्यवस्था को निरंतर बनाए रखने में होता है या नकारात्मक योगदान व्यवस्था के बिखराव तथा परिवर्तन के लिए होता है।

(4) प्रत्येक व्यवस्था तत्वों का एक सुसंगठित समुच्चय है जो मिलकर एक सावयवीं पूर्णता का निर्माण करता है।

(5) प्रत्येक समाज सापेक्षिक दृष्टि से तत्वों की एक स्थायी संरचना होती है, जिसमें आत्म नियमन के लिए अंतर्निमित यांत्रिकी होती है।

(6) किसी व्यवस्था का प्रकार्य इस बात पर निर्भर करता है कि उसके सदस्यों में समाज के लिए आवश्यक लक्ष्यों तथा मूल्यों पर कितनी सहमति है। सामाजिक व्यवस्था के स्थायित्व का मुख्य कारण समाज के आदर्शों का व्यक्तियों के द्वारा आभ्यन्तीकरण है।

(7) व्यवस्था को जीवित रहने के लिए तथा समाज के संचालन के लिए कुछ प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं का होना अत्यंत महत्वपूर्ण है। जैसे मनुष्यों की मृत्यु से समाज का लोप नहीं होता है क्योंकि प्रजनन के द्वारा नये सदस्य पैदा होते रहते है। अतः 'प्रजनन' समाज को जीवित रखने के लिए एक पूर्वापेक्षा अथवा पूर्व आवश्यकता है । सभी पूर्व आवश्यकताओं पर निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकाश डाला गया है।

1.7 प्रकार्यात्मक पूर्व-आवश्यकताएं

प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं वे तत्व हैं जो इस बात पर बल देते हैं कि समाज को चलाने के लिए उनका होना आवश्यक है। ये पूर्व आवश्यकताएं निम्नलिखित हैं -

(1) प्रजनन के आधार पर नवीन सदस्यों का जन्म - मनुष्य की अवश्यम्भावी मृत्यु, समाज की सदस्यता को समाप्त कर देती है किन्तु प्रजनन की प्रक्रिया के द्वारा नवीन सदस्यों का जन्म होता है और समाज की निरंतरता बनी रहती है। प्रजनन के लिए विवाह का संस्थात्मक स्वरूप निर्मित किया गया जिससे समाज में यौन संबंधों के नियमों का पालन होता है।

(2) भूमिका विभेदीकरण एवं भूमिका समनुदेश - समाज में अनेकों कार्य सम्पन्न होते हैं जिन्हें भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी विशिष्ट भूमिका के अनुसार करता है। समाज में व्यक्तियों की विभिन्न भूमिकाएं होती हैं। समाज के कार्यों की विविधता इन्हीं भूमिका विभेदीकरण के आधार पर नियमित होती है। माता, पिता, पुत्र, मित्र इत्यादि की भूमिकाओं में विभिन्न अपेक्षाएं रहती हैं । वकील अध्यापक, डाक्टर, इत्यादि की भूमिकाएं विशिष्ट कार्यों को सम्पन्न करती हैं।

(3) संचार - समाज में व्यक्तियों के बीच परस्पर विचारों का आदान-प्रदान भाषा के माध्यम से होता है।

(4) संज्ञानात्मक साझेदारी अभिमुखन - किसी भी समाज में जब तक विचारों की साम्यता न हो तो उसका चलन संभव नहीं होता और न ही सदस्य किसी प्रकार का पूर्वानुमान लगा सकते हैं।

(5) साझेदारी के लक्ष्य - साझेदारी के लक्ष्य से समूहों का निर्माण होता है। व्यक्ति समूहों में रहता है और लक्ष्यों की साझेदारी हर समूह का विशिष्ट लक्षण व उद्देश्य रहता है।

(6) लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मानदण्डात्मक व्यवस्था - समाज में प्रत्येक क्रिया सामाजिक मानदण्डों के आधार पर सम्पन्न होती है। मानदण्डों को सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। जिनका निर्माण व्यक्तियों के द्वारा ही किया जाता है। विभिन्न क्रियाओं व संगठनों के मध्य सामंजस्य स्थापित करना ही मानदण्डों की व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य होता है।

(7) समाजीकरण - जीवन के सभी पक्षों से संबंधित मूल्य, व्यवहार, मानदंड, तथा तौर-तरीके इत्यादि बालक समाज में ही रह कर सीखता है। जिससे वह समाज का एक कार्यशील सदस्य बनता है।

(8) सामाजिक नियंत्रण - सामाजिक जीवन को सुचारू रूप से चलने के लिए समाज में परस्पर संबंधों तथा संस्थाओं में समन्वय व व्यवस्था नियमन आवश्यक है। इसके लिए कानून, प्रथाएं तथा धर्म इत्यादि व्यक्तियों तथा समूहों पर औचित्यपूर्ण नियंत्रण बनाए रखते हैं।

(9) विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना - समाज में विभिन्न संस्थाएं विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनती हैं जिनमें मानदण्डों, भूमिकाओं एवं कार्य पुंजों का एक व्यवस्थित स्वरूप उभरता है। जिनके माध्यम से पीढ़ी दर पीढ़ी समाज में रहने वाले लोगों की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती हैं। जैसे विश्वविद्यालय की स्थापना उच्च शिक्षा प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है तथा चिकित्सालयों की स्थापना स्वास्थ्य एवं चिकित्सा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

उपर्युक्त प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं वे शर्तें हैं जिनके आधार पर समाज का नियमन व संचालन संभव होता है।

1.8 सारांश

प्रकार्य की अवधारणा के अनेक अर्थ हैं किन्तु समाजशास्त्र में इसका तात्पर्य अधिकतर सामाजिक प्रक्रियाओं से है। किसी भी व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु जो भी प्रक्रियाएं या गतिविधियां की जाती हैं उन्हें प्रकार्य कहा जाता है। मानवशास्त्र में प्रकार्य शब्द का अर्थ उन क्रियाओं से भी समझा जाता है जो अमूर्त वस्तुओं जैसे नियम, प्रथाएं तथा सांस्कृतिक प्रतिमान इत्यादि द्वारा निर्धारित की जाती है। संरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण के अनुसार सामाजिक व्यवस्था की वास्तविकता को समझने के लिए उस व्यवस्था को निर्मित करने वाली इकाइयों के प्रकार्यों को समझना आवश्यक है। संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम का आधारभूत विचार यह है कि समाज अनेक भागों की अंतःनिर्भरता एवं अंतर्सम्बन्धों के आधार पर बना है। संक्षेप में समाजशास्त्रियों ने प्रकार्यवाद को परिभाषित करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि प्रत्येक समाज के अनेक भागीदार किस तरह सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए एक सूत्र में बंधे रहते है। व्यवस्था के तत्व प्रकार्यात्मक दृष्टि से अंतर्सम्बन्धित होते हैं। व्यवस्था को जीवित रहने के लिए तथा समाज के संचालन के लिए कुछ प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं का होना अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं वे तत्व हैं जो कि इस बात पर बल देती हैं कि समाज को चलाने के लिए उनका होना आवश्यक है।

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- टर्नर जोनाथन एच0, द स्ट्रक्चर ऑफ सोसियोलॉजिकल थ्योरी, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2002
- हरलमबॉस एम0 एण्ड हेआल्ड आर0 एम0, सोसियोलॉजी थीम्स एण्ड पर्सपेक्टिव्स,

आक्सफोर्ड यूमिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 2000
- अब्राहम एम0 फ्रान्सिस, माडर्न सोसियोलॉजिकल थ्योरी, एन इन्ट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1988
- दोषी एस0 एल0 तथा त्रिवेदी एम0 एस0, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2004
- रावत हरिकृष्ण, समाजशास्त्र विश्वकोष, रावत पब्लिकेशन, जयपुर एवं नई दिल्ली, 1998
- सिंह सुरेन्द्र, मौलिक समाजशास्त्रीय अवधारणायें, वाराणसी, 2001
- सिंधी नरेन्द्र कुमार, समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विवेचन एवं व्याख्या, रावत पब्लिकेशन, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2001

1.10 सम्बन्धित प्रश्न उत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1. समाजशास्त्र में 'प्रकार्य' शब्द से क्या तात्पर्य है?

प्र.2 प्रकार्यवाद में 'सावयववाद' तथा 'उद्विकासवाद' की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

प्र.3 मर्टन ने 'प्रकार्य' के कितने प्रकार बताये हैं?

प्र.4 पारसंस ने कौन सी चार मौलिक प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं की विवेचना की है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 संरचनात्मक प्रकार्यवाद की अवधारणा को स्पष्ट करते हुये रेडक्लिफ ब्राउन तथा मैलिनोवस्की के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिये।

प्र.2 मर्टन के प्रकार्यवाद की विवेचना कीजिये।

प्र.3 प्रकार्यवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत ऑगस्त काम्ट तथा हरबर्ट स्पेन्सर के विचारों का उल्लेख कीजिए।

प्र.4 'टालकट पारसंस ने प्रकार्यवाद का विश्लेषण सामाजिक व्यवस्था तथा संरचना के संदर्भ में किया है'। इस कथन का विश्लेषण कीजिये।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्र.1 समाजशास्त्र में 'प्रकार्य' की अवधारणा का प्रयोग कब हुआ?

(अ) उन्नीसवीं शताब्दी (ब) अठारहवीं शताब्दी

(स) बीसवीं शताब्दी (द) सतरहवीं शताब्दी

प्र.2 प्रकार्यवाद की उद्विकासवादी अवधारणा किसने दी ?

(अ) दुर्खीम (ब) स्पेन्सर

(स) कॉम्टे (द) मर्टन

प्र.3 किस समाजशास्त्री का प्रकार्यवाद 'सामाजिक तथ्यों' से जुड़ा हैं?

(अ) दुर्खीम (ब) मैक्स वेबर

(स) पारसन्स (द) स्पेन्सर

प्र.4 व्यक्तिवादी प्रकार्यवाद की अवधारणा किसने दी ?

(अ) रेडक्लिफ ब्राउन (ब) पारसन्स

(स) मैलिनोवस्की (द) स्पेन्सर

उत्तर- 1. (अ) 2. (ब) 3. (अ) 4. (स)

इकाई - 2 प्रकार्यवाद ऐतिहासिक संदर्भ में - मैलिनोवस्की एवं रेडक्लिफ ब्राउन का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा-

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 अगस्त काम्ट का सावयवी प्रकार्यवाद

2.3 हरबर्ट स्पेंसर द्वारा प्रस्तुत प्रकार्यवाद

2.4 इमाइल दुर्खीम का प्रकार्यात्मक विश्लेषण

2.5 मैलिनोवेस्की का प्रकार्यवाद

2.6 रेडक्लिफ ब्राउन द्वारा प्रकार्यवाद का विश्लेषण

2.7 मानवशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत प्रकार्यवाद की आलोचना

2.8 सारांश

2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.10 सम्बन्धित प्रश्न उत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य प्रकार्यात्मक विश्लेषण के प्रारम्भ तथा उसके विकास पर प्रकाश डालना है। सर्वप्रथम अगस्त काम्ट के सावयवी प्रकार्यवाद की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। तत्पश्चात हरबर्ट स्पेंसर व इमाइल दुर्खीम के प्रकार्यवाद से संबंधित विचार प्रस्तुत किए गये है। प्रकार्यवाद सम्बन्धी इमाइल दुर्खीम के विचारों को मैलिनोवस्की तथा रेडक्लिफ ब्राउन ने किस प्रकार आगे बढ़ाया यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है। संस्कृति के प्रकार्यात्मक विश्लेषण में मैलिनोवस्की के अनुभवों के आधार पर उनके प्रकार्यवाद के सिद्धान्त का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया। साथ ही साथ रेडक्लिफ ब्राउन द्वारा प्रकार्यवाद एवं जीववाद के मध्य स्थापित संबंध की व्याख्या भी की गई है।

2.1 प्रस्तावना

यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो समाजशास्त्र में प्रकार्यवाद का विश्लेषण उन्नीसवीं शताब्दी में अगस्त काम्ट तथा हरबर्ट स्पेंसर द्वारा किया गया, जिन्होंने मानव समाज तथा जैविकीय सावयव की कार्यप्रणाली में बहुत अधिक सादृश्यता देखी। इसके बाद दुर्खीम द्वारा व्यवस्थित एवं एक वैज्ञानिक अवधारणा के रूप में 'प्रकार्य' को प्रस्तुत किया गया। तत्पश्चात मैलिनोवस्की (1884-1942) ने प्रकार्यवाद पर विशेष बल दिया तथा इस सिद्धान्त से संबंधित बिखरे सूत्रों को एकत्रित किया। रेडक्लिफ ब्राउन, जिन्होंने इंग्लैण्ड में सामाजिक मानवशास्त्री के रूप में कार्य किया तथा अण्डमान द्वीपों में भी कार्य किया, एक ऐसे विचारक थे जिनके अनुसार सामाजिक जीवन की तुलना प्राणिशास्त्रीय जीवन से की जा सकती है। रेडक्लिफ ब्राउन ने मैलिनोवस्की के व्यक्तिवादी प्रकार्यवाद को अस्वीकार कर दिया। उसने दुर्खीम की परम्परा का अनुसरण करते हुए संरचनात्मक सामाजिक संबंधों पर जोर दिया। रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार समाज तभी तक जीवित रह सकता है जब तक समाज में एकीकरण की प्रक्रिया चल रही है।एकीकरण की प्रक्रिया के रूकते ही समाज का पतन हो

जाएगा। अतः उसके अनुसार 'संस्कृति का एकीकरण' ही एक ऐसा रास्ता है जिससे समाज के अस्तित्व की सुरक्षा की जा सकती है।

2.2 अगस्त कॉम्ट का सावयवी प्रकार्यवाद

यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो प्रकार्यवाद का प्रारंभ जैविकीय प्रकार्यवाद से है। सर्वप्रथम हमें प्रकार्यात्मक विश्लेषण से संबंधित विचार अगस्त कांम्ट (1798-1857) की कृतियों में देखने को मिलता है। उनके समय में फ्रांस की राज्य क्रान्ति के परिणाम स्वरूप संपूर्ण यूरोपीय समाज में अव्यवस्था तथा अशान्ति फैल गई थी। ऐसे विकट समय में काम्ट ने यह सोचना प्रारम्भ किया कि किस तरह समाज के लोगों में एकता एवं व्यवस्था बनाई जा सकती है।इसके लिए उन्होंने सामूहिक दर्शन की एक बहुत बड़ी आवश्यकता पर बल दिया। इस तरह के विचारों को विकसित करते हुए उन्होंने प्रकार्यवाद की अवधारणा को प्रस्तुत किया। वे पहले समाजशास्त्री थे जिन्होंने सावयव एवं समाज को समान स्तर पर रखा। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग परस्पर प्रकार्यों द्वारा जुड़े हुए होते हैं उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंग भी प्रकार्यों द्वारा परस्पर जुड़े हुए हैं। उनके मतानुसार सामाजिक सावयव में वैयक्तिक सावयव की भांति श्रम विभाजन तथा विशेषीकरण होता है। इस संदर्भ में यह स्पष्ट [illegible] (Organism) है । उनके अनुसार समाज एक व्यवस्था है, जिसके अंतर्गत अनेकों उप-व्यवस्थाएं होती हैं यह सभी एक-दूसरे पर आश्रित तथा आपस में एक-दूसरे से सम्बन्धित होती है। इसी आधार पर काम्ट ने सामाजिक सावयव (Social organism) की अवधारणा प्रस्तुत की। काम्ट सामाजिक सावयव और वैयक्तिक सावयव के मध्य अंतर के प्रति सदैव आगाह करते रहते थे।

2.3 हरबर्ट स्पेंसर द्वारा प्रस्तुत प्रकार्यवाद

हरबर्ट स्पेंसर (1820-1903) ने सावयवी प्रकार्य के आधार पर सामाजिक प्रकार्य की व्याख्या की है। जैसा कि पिछली इकाई में उल्लिखित हैं - स्पेंसर ने संरचना तथा प्रकार्य में परिवर्तन की उद्विकासीय प्रक्रिया को समझाने का एक स्थायी अभिगम विकसित किया। अपनी पुस्तक "सोशल स्टेटिक्स" में उन्होंने बलपूर्वक कहा है कि समस्त प्रकृति समान नियमबद्ध शक्तियों के आधीन है जिसके परिणामस्वरूप प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक घटनाओं की व्याख्या भी उसी प्रकार वैज्ञानिक विधियों से की जा सकती है। जिस प्रकार प्रकृति के अन्य पक्षों की। उनके अनुसार सावयव (Organism) तथा समाज में अनेक बुनियादी समानताएं होने के कारण एक के आधार पर दूसरे को समझा जा सकता है। काम्ट ने समाज तथा प्राणिशास्त्रीय सावयव में सादृश्य स्थापित किए बिना ही दोनों की सावयवी समस्या पर प्रकाश डाला है जब कि स्पेंसर ने दोनों के बीच अनेकों सादृश्यों की व्याख्या की है। उदाहरणार्थ स्पेंसर ने प्राणीशास्त्रीय तथा सामाजिक जैविकी में निम्नलिखित समानताओं का उल्लेख किया है:

1. आकारीय वृद्धि
2. आकार के साथ-साथ संरचनात्मक जटिलता में वृद्धि
3. संरचना में उत्तरोत्तर विभेदीकरण के साथ-साथ प्रकार्य में उत्तरोत्तर विभेदीकरण
4. दोनों के ही संरचना एवं प्रकार्य का उद्विकास द्वारा स्थापित होना तथा संभव बनाया जाना।
5. सामाजिक व्यवस्था या संगठन की निरंतरता हेतु दायित्व निर्वाह अपरिहार्य है।

स्पेंसर के अनुसार जब तक प्रत्येक अंग (इकाई) अपने- अपने दायित्वों का निर्वाह करते रहेंगे। तब तक व्यवस्था या संगठन चलता रहेगा। यदि ऐसा नहीं होगा तो व्यवस्था के स्थान पर दुर्व्यवस्था और संगठन के स्थान पर विघटन प्रारम्भ हो जाएगा।

2.4 इमाइल दुर्खीम का प्रकार्यात्मक विश्लेषण

प्रकार्यात्मक विश्लेषण के इतिहास में इमाइल दुर्खीम (1858-1917) का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि उनकी व्याख्या में दोनों पद्धतियों - प्रकार्यात्मक एवं कार्य- कारण सम्बन्धात्मक को अलग करने पर बल दिया गया है। दुर्खीम के मतानुसार किसी घटना की व्याख्या कार्य-कारण सम्बन्ध के रूप में अलग- अलग की जानी चाहिए। अर्थात जब हम किसी सामाजिक घटना की व्याख्या करें तो हमें उन कारणों का, जो उसे उत्पन्न करते हैं, तथा कार्य जो वह पूर्ण करता है, पृथक-पृथक विश्लेषण करना चाहिए।

स्पेंसर की भांति दुर्खीम ने भी समाज की सावयवी व्याख्या प्रस्तुत की है। लेकिन वह स्पेंसर की व्याख्या से मूलतः भिन्न है। यद्यपि दोनों की व्याख्या जैवीय समानता के आधार पर की गई हैं तथापि दोनों में अंतर भी है। स्पेसर ने प्राणी (जीव) और समाज के मध्य जैवीय समानता स्थापित की है। इसके विपरीत दुर्खीम ने समाज को इस संदर्भ में सावयव माना है कि इसका निर्माण विभिन्न संरचनाओं से मिलकर हुआ है जो मनो-सामाजिक स्तर पर एक संपूर्ण का निर्माण करते हैं। दुर्खीम का मानना है कि हमारा सामाजिक जीवन सावयवी जीवन के समान है। दोनों में तुलना हो सकती है - एक तरह से दोनों पर्याय हैं।

दुर्खीम के प्रकार्यवादी विचारों से निष्कर्ष निकला है कि वे समाज को एक वास्तविकता मानते है। इनकी 'डिवीजन आफ लेबर' पुस्तक का मुख्य उद्देश्य सामाजिक तथ्यों का प्रकार्यात्मक विश्लेषण करना है। उनका मानना है कि सामाजिक व्यवस्था का बने रहना एक महत्वपूर्ण प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकता है।

सामाजिक उपयोगिता के नजरिए से दुर्खीम सामूहिक प्रतिनिधित्व को उपादेय मानता है। इसके अभाव में व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहारों का संगठन और नियंत्रण दुर्खीम संभव नहीं मानता। उनका मानना है कि इसी के कारण मनुष्य को व्यवहार की एक पद्धति प्राप्त हो जाती है, जिसके माध्यम से वह अपने आपको सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लेता है। दुर्खीम धर्म का सामाजिक सिद्धान्त स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सामूहिक जीवन की समस्त वस्तुओं या घटनाओं को पवित्र और अपवित्र इन दो भागों में बांटा जा सकता है। ये पवित्र वस्तुएं समाज की प्रतीक या सामूहिक चेतना की प्रतिनिधि होती है। अर्थात ये पवित्र इसलिए होती हैं कि समाज ही इन्हें पवित्र मानता है और व्यक्ति इनमें श्रद्धा करता है। दुर्खीम के अनुसार धार्मिक अनुभव एक प्रकार की सामूहिक उत्तेजना के कारण है। उनका प्रकार्यवाद सामाजिक तथ्य से संबंधित है जो सामूहिक चेतना के रूप में अभिव्यक्त होता है जिसके माध्यम से समाज के विभिन्न व्यक्ति एक-दूसरे के साथ एकता के सूत्र में बंधे रहते है। इसी से सामाजिक व्यवस्था बने रहने की पूर्व आवश्यकता की पूर्ति होती है।

2.5 मैलिनोवस्की का प्रकार्यवाद

प्रकार्यवाद सम्बन्धी दुर्खीम के विचारों को बोनिस्लो मैलिनोवस्की (1884-1942) तथा ए0 आर0रेडक्लिफ ब्राउन (1881-1955) नामक मानवशास्त्रियों ने आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। मैलिनोवस्की ने विशेष रूप से न्यूगिनी (New Guinea) एवं उत्तरी पश्चिमी मलेनिशिया (North-West Melanesia) में ट्रोब्रियन्ड द्वीपों (Trobriand Islands) में कार्य किया। मैलिनोवस्की के प्रकार्यवाद को प्रायः व्यक्तिवादी प्रकार्यवाद कहा जाता है। इसका कारण यह है कि वह सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं को व्यक्ति के मौलिक जैविकीय आवश्यकताओं के सामूहिक उत्तर के रूप में स्वीकार करता है।

अपने अध्ययन के आधार पर मैलिनोवस्की ने बताया कि सभी मनुष्यों की कुछ निश्चित

आवश्यकताएं होती हैं जैसे - भोजन, आवास, यौनपूर्ति, एवं सुरक्षा इत्यादि। इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह ऐसे तरीके अपनाता है जो खाद्यान्न उपजाने व वितरित करने में सहायक होता है। आवास निर्माण, विषम-लिंगी संबंध स्थापित करके एवं एक साथ रह कर वह अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति की प्रक्रिया द्वैतीयक आवश्यकताओं को जन्म देती है। संचार की आवश्यकता भाषा को जन्म देती है। संघर्ष को नियंत्रित करने और शान्ति सहयोग को बढ़ावा देने की आवश्यकता आदर्श नियमों तथा कानून को जन्म देती है। इन सब द्वैतीयक आवश्यकताओं की पूर्ति अधिक विस्तृत समन्वयकारी संस्थाओं को जन्म देती है।

मैलिनोवस्की के कथनानुसार प्रत्येक समाज को तीन स्तरों पर देखा जा सकता है - (1) जैविकीय (2) संरचनात्मक तथा (3) प्रतीकात्मक। इनमें से प्रत्येक स्तर पर समाज की अलग-अलग बुनियादी आवश्यकताएं होती है। जैविकीय स्तर पर समाज अपने सदस्यों के स्वास्थ्य, पोषण, बीमारी से बचाव इत्यादि आवश्यकताओं को पूरा करना चाहता है। संरचनात्मक स्तर पर समाज अपनी अखण्डता को बनाए रख सकता है। मैलिनोवस्की समाज के इन स्तरों को विभिन्न सोपानों से भी देखते हैं। उनके अनुसार यह तीनों स्तर हर देश के समाजों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं। अतः तीनों स्तरों की आवश्यकताओं की पूर्ति में सार्वभौमिकता है।

मैलिनोवस्की के अनुसार संस्कृति एक साधन है जो उसके अस्तित्व को बनाए रखने के लिए कार्य करती है। संस्कृति एक पक्षीय न होकर बहुपक्षीय है। संस्कृति के विभिन्न पक्ष, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, एवं मानसिक इत्यादि मनुष्य की सभी मूलभूत तथा अन्य आवश्यकताओं में निहित हैं। इन सभी की उत्पत्ति का एक सामान्य स्रोत है, वह है मानव की आवश्यकताएं। मैलिनोवस्की के शब्दों में "संस्कृति एक जटिल यंत्र के समान हैं जिसके विभिन्न पक्ष आपस में आबद्ध है, जिनको एक साथ मिलाकर कार्य करना पड़ता है। ऐसा नहीं करने पर पूर्ण ही निरूपयोगी हो जाता है ऐसा कोई भी अंग अपने आप में भी महत्वपूर्ण नहीं होता। वह पूर्ण यंत्र के परिचालन में सहायक होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता।" संस्कृति का प्रत्येक तत्व किसी न किसी कार्य को ही करने के लिए विकसित होता है। मैलिनोवस्की उद्विकासियों के इस कथन को अस्वीकार करता है कि प्राचीन 'अवशेष' उन्नत संस्कृतियों में अब रह गये हैं। क्योंकि 'अवशेष' का तात्पर्य कार्यहीनता से है, परन्तु संस्कृति में कोई तत्व कार्यहीन हो ही नहीं सकता।

मैलिनोवस्की ने संस्कृति के विभिन्न तत्वों के अन्तःसम्बन्धों के अध्ययन पर अत्यधिक बल दिया है। संस्कृति का कोई भी तत्व स्वतंत्र नहीं है। प्रत्येक तत्व अन्य तत्वों पर आश्रित है और सभी तत्व मिलकर एक साथ कार्य करते हैं। किसी भी एक तत्व का अन्य संस्कृति के तत्वों से पृथक कोई महत्व है ही नहीं । जब एक तत्व संपूर्ण संस्कृति के तत्वों के साथ मिलकर कार्य करता है, उसी समय इस संपूर्ण संस्कृति के प्रसंग में उसे सार्थक कहा जा सकता है। उनके अनुसार हर सांस्कृतिक तत्व के स्वरूप का निश्चय करने के लिए हमें उनके 'प्रकार्यों' (functions) का अध्ययन करना आवश्यक है।

मैलिनोवस्की के अनुसार संस्कृति का विकास संस्थाओं के विकास के माध्यम से होता है। किसी संस्था का कौन सा पक्ष आवश्यक अथवा अनावश्यक है - इसे समझने के लिए संस्था के 'प्रकार्य' को समझना होगा। सांस्कृतिक प्रक्रिया के दौरान मानव संयुक्त रहता है, अर्थात एक-दूसरे के साथ किसी न किसी प्रकार के संबंध के द्वारा जुड़ा रहता है। इस संबंध में मैलिनोवस्की ने कहा है कि प्रकार और आकार सम्बद्ध होते हैं । समाजशास्त्रीय यथार्थ (reality) का आकार (form) कोई कल्पना नहीं है।

संस्कृति के प्रकार्यात्मक विश्लेषण में मैलिनोवस्की को जो कुछ अनुभव हुए उनके आधार पर उन्होंने प्रकार्यवाद के निम्नलिखित सामान्य सिद्धान्त को प्रस्तुत किया।

(1) संस्कृति एक सहायक यंत्र है, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी आवश्यकंताओं की पूर्ति के क्रम में अपने वातावरण में विद्यमान विशिष्ट समस्याओं का सरलतापूर्वक सामना करता है।

(2) यह (संस्कृति) वस्तुओं, क्रियाओं तथा अभिवृत्तियों का एक तंत्र अथवा व्यवस्था है, जिसमें प्रत्येक भाग का अस्तित्व एक उद्देश्य के लिए साधन के रूप में है।

(3) संस्कृति एक पूर्णता है, जिसमें प्रत्येक तत्व परस्पर आश्रित हैं।

(4) ये क्रियाएं वस्तुएं और अभिवृत्तियां संस्थाओं के (जैसे परिवार, स्थानीय समुदाय, आदिवासी, आर्थिक, वैधानिक, राजनीतिक तथा शिक्षण संस्थाएं इत्यादि) महत्वपूर्ण तथा आवश्यक कार्यों के आस-पास संगठित हैं।

(5) गतिशील दृष्टिकोण से, अर्थात क्रियाओं के प्रकार के रूप में संस्कृति को विभिन्न अंगों में विश्लेषित किया जा सकता है। जैसे शिक्षा, सामाजिक नियंत्रण, आर्थिक तंत्र, ज्ञान तंत्र, विश्वास, नैतिकता एवं रचनात्मक व कलात्मक कार्य।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मैलिनोवस्की के अनुसार संस्कृति तथा संस्कृति का प्रत्येक तत्व किसी न किसी मानव आवश्यकता की पूर्ति करता है। आवश्यकता की पूर्ति करना उसका कार्य है। इसलिए संस्कृति एक अनिवार्य रूप से साधन मात्र है, जबकि साध्य है मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति। संस्कृति एक पूर्णता (Whole or integral) है, जिसमें प्रत्येक तत्व एक-दूसरे पर आश्रित है। कोई भी तत्व पृथक नहीं है और न असंबंधित है। प्रत्येक सांस्कृतिक तत्व (Cultural trait) का स्वरूप (form) सदैव उसके कार्य द्वारा निश्चित होता है। अतः कार्य एवं स्वरूप संबंधित हैं। संस्कृति के अध्ययन के लिए कार्यों का अध्ययन अनिवार्य है। प्रकार्यों की अपरिहार्यता के विश्लेषण में मेलिनोवस्की का तर्क यह है कि यदि कोई सामाजिक, धार्मिक या सांस्कृतिक रीति- रिवाज किसी समाज में विद्यमान है तो इसका तात्पर्य यह है कि इस प्रथा या प्रकार्य के बिना समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। जब तक कोई प्रथा समाज में प्रचलित है तो निश्चित रूप से यह समाज की आवश्यकताओं को पूरा करती है। यदि कोई प्रकार्य समाज की आवश्यकआओं को पूरा नहीं करता तो उसका अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जाएगा।

2.6 रेडक्लिफ ब्राउन द्वारा प्रकार्यवाद का विश्लेषण

रेडक्लिफ ब्राउन ने मैलिनोवस्की के व्यक्तिवादी प्रकार्यवाद को अस्वीकार्य कर दिया। उसने दुर्खीम परम्परा का अनुसरण करते हुए संरचनात्मक सामाजिक संबंधों पर जोर दिया । परन्तु उद्देश्यपरक (teleological interpretation) व्याख्या से बचने के लिए उसने दुर्खीम के ''आवश्यक'' शब्द के स्थान पर ''आवश्यक दशाओं के अस्तित्व'' शब्द का प्रयोग किया। मैलिनोवस्की द्वारा प्रस्तुत की गई व्याख्या में 'व्यक्ति' को नकारते हुए ब्राउन ने संरचना को विश्लेषण की इकाई के रूप में चुना तथा सामाजिक प्रतिमान प्रणाली का सहारा लेकर विश्लेषण किया। रेडक्लिफ ब्राउन, मैलिनोवस्की के इस कथन से असहमत हैं कि संस्थाओं का कार्य व्यक्ति की प्राणीशास्त्रीय मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। ब्राउन के अनुसार विभिन्न संस्थाओं का कार्य यही है कि वे संपूर्ण समूह की एकता को बनाए रखती है। उसके अनुसार समाज तभी तक जीवित रह सकता है जब तक समाज में एकीकरण की प्रक्रिया चल रही हो। एकीकरण की प्रक्रिया के रूकते ही समाज का पतन हो जायेगा। अतः ''संस्कृति का एकीकरण'' ही एक ऐसा रास्ता है जिससे समाज के अस्तित्व की सुरक्षा हो सकती है।

रेडक्लिफ ब्राउन ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि कार्य (function) शब्द को प्राणीशास्त्र से लिया गया है। स्वाभाविक है कि इसको स्वीकार करते समय सामाजिक जीवन की तुलना

प्राणीशास्त्रीय जीवन से की गई। पर उसने यह स्पष्ट रूप से कहा कि यह तुलना सदैव सजग होकर mechevelejvevÛeesiS~ Jen Fme-lageeveleeDeeOeej hej mejÛeeve (structure), कार्य (function), संगठन (organisation), प्रक्रिया (Process) इत्यादि शब्दों की सुन्दर परिभाषा प्रस्तुत करता है। एक प्राणी, कोषों (Cells) तथा उसके अंदर तरल पदार्थ (fluids) का झुण्ड है, जो एक-दूसरे से एक जीवित पूर्णता (living whole) के रूप में समन्वित है।

संबंधों के जिस तंत्र (system) के द्वारा ये इकाइयां संबंधित हैं, वह प्राणीशास्त्रीय संरचना (Organic structure) कहलाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्राणी स्वयं संरचना नहीं है, किन्तु वह कोषों या अणुओं का एक जोड़ है जो एक निश्चित संरचना से जुड़े हुए हैं। यही संरचना प्राणी की संरचना है। संरचना इकाइयों के बीच संबंधों का प्रकार है। प्राणी एक पूर्णता है। प्राणी में जो भी भाग है वे पूर्णता के अंग हैं ओर इन अंगों के आपस में निश्चित संबंध हैं जब तक कोई प्राणी जीवित रहता है। यह संरचना बनी रहती है। इकाइयाँ परिवर्तित होती रहती हैं किन्तु संबंध स्थाई रहते हैं । जिस प्रक्रिया के द्वारा यह संरचना निरंतर बनी रहती है, उसे जीवन कहते हैं।

प्राणी के समान ही समाज भी होता है। प्रत्येक समाज की अपनी सामाजिक संरचना होती है।प्रत्येक समाज में मानव होते हैं। वे इकाइयाँ हैं और उनके संबंधों पर सामाजिक संरचना आधारित रहती है । इकाइयाँ बदल सकती हैं पर सामाजिक संरचना बनी रहती है और समाज जीवित रहते हैं। सामाजिक संरचना व्यक्तियों के कार्यों से संबंध रखती है। उदाहरणार्थ एक स्कूल है जिसमें उसका एक प्रधानाध्यापक होता है, अध्यापक होते हैं, विद्यार्थी होते हैं। इन सबके बीच निश्चित संबंध होते हैं तथा इनके अपने अलग-अलग कार्य होते हैं। प्रधानाध्यापक तथा अध्यापक बदल सकते हैं आज प्रधानाध्यापक नवीन चन्द्र हैं तो कल उनके स्थान पर राम प्रकाश हो सकते हैं। इसी प्रकार अन्य अध्यापक व विद्यार्थी भी बदलते रहते हैं। किन्तु सदैव ही कोई न कोई प्रधानाध्यापक, कोई न कोई अध्यापकगण व विद्यार्थी रहते हैं। इन सभी के बीच निश्चित संबंध होते हैं। इस प्रकार स्कूल का कार्य निरंतर चलता रहता है। इकाइयाँ परिवर्तित हो गई पर सामाजिक संरचना स्थापित है, जिसके कारण स्कूल जीवित है। समाज और समुदाय में भी यही होता है। कार्य (role) पर सब कुछ आधारित रहता है।

रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार प्राणी और समाज में दो बिन्दुओं पर तुलना नहीं हो सकती। पहला यह है कि प्राणी में प्राणीशास्त्रीय संरचना (organic structure) को कार्य से पृथक कुछ अंशों में देखा जा सकता है। इसीलिए दैहिकी (Physiology) से स्वतंत्र संरचना शास्त्र (Morphology) संभव है। परन्तु मानव समाज में सामाजिक संरचना को केवल उसके कार्यों में ही देखा जा सकता है। जैसे पिता-पुत्र का, व्यापारी-ग्राहक का या शासक जनता का संबंध केवल कार्यों के द्वारा ही देखा जा सकता है। अतः सामाजिक दैहिकी (Social Morphology) से स्वतंत्र होकर सामाजिक संरचनाशास्त्र (Soical Morphology) नहीं स्थापित की जा सकती। प्राणी और समाज में तुलना न हो सकने का दूसरा पहलू यह है कि प्राणी अपने जीवनकाल में ही अपनी संरचना के प्रकार को नहीं परिवर्तित कर सकता। एक हाथी, घोड़ा नहीं बन सकता। समाज में इस तरीके के परिवर्तन होते रहते हैं।

रेडक्लिफ ब्राउन ने मैलिनोवस्की के प्रकार्यवाद का समर्थन करते हुए संस्कृति को एक पूर्ण वस्तु माना है। उसके विभिन्न अंगों को तभी समझा जा सकता है जब पूर्ण संस्कृति को समझ लिया गया हो। उसके मतानुसार संस्कृति एक जीवित प्राणीशास्त्रीय रचना के समान होती है। उसने इस बात पर विशेष बल दिया कि समाज तभी तक जीवित रह सकता है जब तक समाज में एकीकरण की प्रक्रिया चलती रहती है।

रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार समाज में वे प्रकार्य प्रचलित पाए जाते हैं जो समाज के जीवित

रहने के लिए अपरिहार्य हैं। इस संबंध में उसकी मान्यताएं संक्षिप्त रूप से निम्न प्रकार से व्यक्त की जा सकती हैं -

1. समाज को अपना अस्तित्व बनाए रखने की या जीवित रहने की एक आवश्यक दशा यह है कि समाज के विभिन्न भागों में एकीकरण होना चाहिए।

2. प्रकार्य का तात्पर्य उन प्रक्रियाओं से है जो समाज के इस अनिवार्य एकीकरण या सुदृढ़ता को बनाए रखे।

3. प्रत्येक समाज में ऐसे संरचनात्मक तत्वों की शिनाख्त हो सकती है जो आवश्यक सुदृढ़ता को बनाए रखती है।

रेडक्लिफ ब्राउन समाज को एक वास्तविकता मानते हैं । समाज अपने आप में सब कुछ है। इस मान्यता के कारण उन्होंने समाज के सांस्कृतिक तत्वों का गहनता से अध्ययन किया। उन्होंने नातेदारी, धार्मिक संस्कार, तथा विवाह का अध्ययन इस संदर्भ में किया कि यह सांस्कृतिक तत्व किस सीमा तक समाज में एकीकरण व सुदृढ़ता को बनाए रखते हैं । ऐसा करने में उनकी पहली शर्त यह है कि प्रत्येक समाज में किसी न किसी तरह की न्यूनतम सुदृढ़ता अवश्य होनी चाहिए।इसके बाद सामाजिक संस्थाओं व संस्कारों की भूमिका को सुदृढ़ता के संदर्भ में देखा जा सकता है। रेडक्लिफ ब्राउन का प्रकार्यवाद संस्कृति के एकीकरण या संगठन को समझने में अत्यंत महत्वपूर्ण है।

2.7 मानवशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत प्रकार्यवाद की आलोचना

मैलिनोवस्की तथा रेडक्लिफ ब्राउन जैसे मानवशास्त्रियों ने प्रकार्यवाद का जिस रूप में विश्लेषण किया है उससे मर्टन तथा पारसंस जैसे आधुनिक समाजशास्त्री पूर्ण रूप से सहमत नहीं हैं। इनके द्वारा की गई आलोचना के प्रमुख तर्क निम्नलिखित हैं-

(1) राबर्ट के0 मर्टन ने प्रकार्यवादियों की इस मान्यता का खंडन किया कि सामाजिक संरचना की समस्त इकाइयाँ कोई न कोई उपयोगी या सकारात्मक प्रकार्य (Positive function) ही करती हैं। यह भी संभव है कि कुछ इकाइयाँ प्रकार्य (function) न करके अकार्य (Disfunction) करती हों। इस तरह अकार्य के द्वारा वे सामाजिक संरचना या सामाजिक व्यवस्था को संगठित करने की बजाए विगठित करने में क्रियाशील हो सकती है।

(2) मैलिनोवस्की के अनुसार सामाजिक-सांस्कृतिक आदर्श संसार भर के सभी समाजों में किसी न किसी रूप में अवश्य पाए जाते हैं। मर्टन के अनुसार किसी इकाई के प्रकार्य को समस्त समाजों में लागू करना एक भूल है। अतः सार्वभौमिक प्रकार्यवाद को परिमार्जित करना आवश्यक है।

(3) मैलिनोवस्की का यह तर्क है कि प्रकार्य तब तक समाज में अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं जब तक वे समाज की आवश्यताओं को पूरा करते हैं जो प्रकार्यों की अपरिहार्यता का द्योतक है। मर्टन ने अपरिहार्यता के इस विचार को स्वीकार नहीं किया । उनके अनुसार किसी भी सामाजिक व्यवस्था में कोई भी सामाजिक या सांस्कृतिक आदर्श अपरिहार्य नहीं है तथा यह संभव है कि व्यवस्था को सभी प्रकार्यों के अनेक विकल्प उपलब्ध हों।

(4) आधुनिक अध्ययनों के द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि संरचनात्मक संदर्भ के बिना इकाइयों प्रकार्यों की वास्तविकताओं को नहीं समझा जा सकता। जबकि प्रकार्यवादियों द्वारा इकाइयों के प्रकार्य का अध्ययन उनके संरचनात्मक संदर्भ से अलग करके किया जाता है, जो दोषपूर्ण है।

(5) रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार प्रत्येक समाज में एक प्रकार्यात्मक एकता होती है। यह स्पष्ट है कि प्रकार्यात्मक एकता की इस परिकल्पना का आनुभविक परीक्षण किया जा सकता है। मर्टन की आलोचना यह है कि प्रथा, रीति-रिवाज आदि जिस प्रकार का एकीकरण लाते हैं, उस एकीकरण का

माप कठिन है। उसके अनुसार आनुभाविक जीवन में मानव समाज में पूर्ण प्रकार्यात्मक एकता प्राप्त करना कठिन है। एक ही समाज में रहने वाले कुछ समूहों के लिए कुछ रीति-रिवाज प्रकार्यात्मक हो सकते है लेकिन कुछ के लिए दुष्कार्य सिद्ध हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, धार्मिक उत्सव के आयोजन करने वालों के लिए ध्वनि विस्तारक यंत्र प्रकार्यात्मक हो सकते हैं, लेकिन अन्य लोगों के लिए यह यंत्र ध्वनि प्रदूषण को फैलाने वाले हो सकते हैं।

2.8 सारांश

इस इकाई में प्रकार्यवाद का विश्लेषण ऐतिहासिक संदर्भ में किया गया है। प्रकार्यात्मक विश्लेषण का इतिहास अगस्त काम्ट के सावयववाद, सामूहिक दर्शन तथा सार्वभौम एकात्मकता से प्रारम्भ होता है। ऐतिहासिक संदर्भ में स्पेंसर के सावयवी सादृश्य तथा दुर्खीम के कार्य-कारण विश्लेषण से संबंधित प्रकार्यवाद अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रकार्यवाद से संबंधित दुर्खीम के विचारों को मैलिनोवस्की तथा रेडक्लिफ ब्राउन ने आगे बढाने का प्रयत्न किया। मैलिनोवस्की के प्रकार्यवाद को प्रायः व्यक्तिवादी प्रकार्यवाद कहा जाता है। इसका कारण यह है कि उन्होंने सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं को व्यक्ति के मौलिक जैविकीय आवश्यकताओं के सामूहिक उत्तर के रूप में स्वीकार किया। रेडक्लिफ ब्राउन ने मैलिनोवस्की के व्यक्तिवादी प्रकार्यवाद को अस्वीकृत कर दिया। रेडक्लिफ ब्राउन, मैलिनोवस्की के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि संस्थाओं का कार्य व्यक्ति की प्राणी शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। ब्राउन के अनुसार विभिन्न संस्थाओं का कार्य यह है कि वे संपूर्ण समूह की एकता को बनाए रखती है। उसने समाज के अस्तित्व की सुरक्षा के लिए संस्कृति के एकीकरण पर विशेष बल दिया। इन प्रकार्यवादियों की राबर्ट के मर्टन जैसे आधुनिक विद्वानों ने आलोचना करते हुए मुख्यतः इस बात का खंडन किया कि सामाजिक संरचना की समस्त इकाइयाँ कोई न कोई उपयोगी या सकारात्मक प्रकार्य ही करती है। यह भी संभव है कि कुछ इकाइयाँ प्रकार्य न करके अकार्य करती हों।

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

- रिट्जर जॉर्ज, मॉडर्न सोसियोलॉजिकल थ्योरी, यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका, 2000
- मैलिनोवस्की ब्रोनिस्लॉ, ए साइन्टिफिक थ्योरी ऑफ कल्चर एण्ड अदर एसेज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,लन्दन, 1964
- तोमर रामबिहारी सिंह एवं फिलिप्स, विलकिन्सन सुमनेश कुमार, सामाजिक मानवशास्त्र, आगरा, 1962
- मार्शल गोरडौन ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ऑफ सोसियोलॉजी, इण्डियन एडिशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू डेलही, 2007
- अब्राहम, एम0 फ्रान्सिस, माडर्न सोसियोलॉजिकल थ्योरी, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1988
- गिड्डेन्स एन्थोनी, कैपिटलिज्म एण्ड माडर्न सोसल थ्योरी : ऐन एनालिसिस ऑफ द राइटिंग्स आर्फ मार्क्स, दुर्खीम एण्ड मैक्स वेबर, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 1971
- द्विवेदी आर0 एन0, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, विजय प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, 1996
- सिंघी नरेन्द्र कुमार, समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विवेचन एवं व्याख्या, रावत पब्लिकेशन,

2.10 संबंधित प्रश्न उत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 'सामाजिक सावयव' की अवधारणा सर्वप्रथम किसने दी?

प्र..2 दुर्खीम का प्रकार्यवाद किस प्रकार काम्टे तथा स्पेन्सर से भिन्न था?

प्र.3 रेडक्लिफ ब्राउन के 'सांस्कृतिक एकीकरण' की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

प्र.4 मर्टन ने मैलिनोवस्की तथा रेडक्लिफ ब्राउन के प्रकार्यवाद की आलोचना किस आधार पर की?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 अगस्त काम्ट के 'सावयवी प्रकार्यवाद' की विवेचना करिये।

प्र.2 इमाइल दुर्खीम के प्रकार्यवाद का विश्लेषण कीजिये।

प्र.3 रेडक्लिफ ब्राउन द्वारा प्रतिपादित प्रकार्यवाद का विस्तारपूर्वक विश्लेषण कीजिए।

प्र.4 मानवशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रकार्यवाद पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्र.1 प्रसिद्ध पुस्तक 'सोशल स्टैटिक्स' के लेखक कौन हैं.0.
?

(अ) अगस्त काम्ट. (ब) इमाइल दुर्खीम
(स) हरबर्ट स्पेन्सर (द) पारसन्स

प्र.2 'डिवीजन आफ लेबर' नामक पुस्तक के रचयिता कौन हैं?

(अ) इमाइल दुर्खीम (ब) मैक्स बेवर
(स) सीमेल (द) मर्टन

प्र.3 किसने कहा कि संस्कृति एक जटिल यन्त्र के समान है?

(अ) मैलिनोवस्की (ब) रेडक्लिफ ब्राउन
(स) स्पेन्सर (द) पारसन्स

प्र.4 व्यक्तिवादी प्रकार्यवाद की अवधारणा किसने दी ?

(अ) दुर्खीम (ब) मर्टन
(स) रेडक्लिफ ब्राउन (द) मैलिनोवस्की

उत्तर- 1. (स) 2. (अ) 3. (अ) 4. (द)

इकाई - 3 प्रकार्यवाद मर्टन के सन्दर्भ में: प्रकार्य, अकार्य, प्रच्छन्न एवं प्रकट प्रकार्य, मर्टन का प्रकार्यात्मक प्रारूप (पैराडाइम)

इकाई की रूपरेखा-

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 मर्टन का आनुभविक प्रकार्यवाद

3.3 धारणाओं एवं मान्यताओं पर प्रश्न चिन्ह

3.4 प्रकार्य एवं अप्रकार्य

3.5 प्रकट तथा अप्रकट प्रकार्य

3.6 मर्टन का प्रकार्यात्मक प्रारूप (पैराडाइम)

3.7 मर्टन के प्रकार्यात्मक प्रारूप (पैराडाइम) की उपयोगिता

3.8 मर्टन के प्रकार्यवाद की आलोचना

3.9 सारांश

3.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

3.11 सम्बन्धित प्रश्न-उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य राबर्ट के. मर्टन द्वारा प्रस्तुत किए गये संरचनात्मक प्रकार्यवाद की व्याख्या करना है। इस संदर्भ में मर्टन के आनुभविक प्रकार्यवाद पर प्रकाश डालने के बाद उन धारणाओं एवं मान्यताओं का विश्लेषण किया गया है, जिन पर उसने प्रश्न चिन्ह लगाया है। तत्पश्चात मर्टन के द्वारा बताए गये प्रकार्य, अप्रकार्य तथा प्रकट (गोचर) प्रकार्य (Manifest functions) व अप्रकट (प्रच्छन्न या अगोचर) प्रकार्य (Latent functions) की विवेचना करने का प्रयत्न किया गया है। प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए मर्टन ने एक पैराडाइम अर्थात एक मॉडल तैयार किया जिसके विभिन्न मदों की सहायता से समाज की प्रकार्यात्मक स्थिति का अध्ययन किया जा सकता है। इस इकाई में उसके पैराडाइम के इन मदों की व्याख्या की गई है। तत्पश्चात मर्टन के प्रकार्यवाद का आलोचनात्मक विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है।

3.1 प्रस्तावना

'प्रकार्यात्मक विश्लेषण की पद्धति का औपचारिक निरूपण राबर्ट मर्टन ने 1949 मे किया था। मर्टन ने मैलिनोवस्की तथा रेडक्लिफ ब्राउन के प्रकार्यवाद की आलोचनात्मक व्याख्या के आधार पर अपने प्रकार्यवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। मर्टन के अनुसार सामाजिक प्रकार्य अवलोकनकारी वस्तुपरक (Observable objective) प्रभाव हैं न कि विषय-परक स्ववृत्तियाँ (Dispositions) । समाजशास्त्र में प्रकार्य शब्द का अर्थ संरचनात्मक क्रियाओं के उन प्रभावों से जुड़ा हुआ है जो कि सामंजस्य व समन्वयता को संपूर्ण सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में प्राप्त करती हैं। प्रकार्य

के अंर्तगत किसी भी क्रिया के प्रभावों का अवलोकन किया जाता है। यह प्रभाव सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए उत्तरदायी होते हैं। मर्टन ने कहा कि किसी इकाई के प्रभाव अप्रकार्यात्मक भी हो सकते हैं और यह आवश्यक नहीं कि हर इकाई के कार्य प्रकार्यात्मक ही हों।

मर्टन के अनुसार प्रकार्य वे गोचर परिणाम हैं जो किसी व्यवस्था में अनुकूलन तथा समायोजन को बढ़ाते हैं। अकार्य वे निरीक्षित परिणाम हैं जो किसी व्यवस्था में अनुकूलन और समायोजन को कम करते हैं। मर्टन का प्रकार्य व अकार्य का यह भेद प्रकार्यवाद के सिद्धान्त में एक महत्वपूर्ण योगदान है। मर्टन ने प्रकर्यात्मक विश्लेषण के लिए एक पैराडाइम अर्थात मॉडल प्रस्तुत किया है। इस मॉडल के अंतर्गत उसने संबंधों एवं समस्याओं के संदर्भों में अपने उपागम को प्रस्तुत किया है। इसके माध्यम से मर्टन ने प्रकार्यवादी उपागम के विभिन्न पक्षों एवं आयामों को संभावित प्रश्नों से जोड़ने का प्रयत्न किया है। इस उपागम के आधार पर समाज की किसी प्रघटना, संस्था, मूल्य अथवा अन्य किसी आयाम का अध्ययन किया जा सकता है। मर्टन के प्रकार्यवाद की आलोचना कई बिन्दुओं पर हुई है किन्तु इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मर्टन ने अपने सिद्धान्त के द्वारा एक महत्वपूर्ण योगदान किया है, जैसा कि आगे की व्याख्या से स्पष्ट हैं।

3.2 मर्टन का आनुभविक प्रकार्यवाद

मर्टन के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या करने से पहले यह समझना आवश्यक है कि वे अपने विश्लेषण में आनुभाविक अथवा अवलोकनात्मक विधि (empirical method) को अपनाना उचित समझते हैं। जब वे सिद्धान्त की परिभाषा देते हैं तो इस बात पर अत्यधिक बल देते हैं कि सिद्धान्त तार्किक रूप से जुड़ी हुई अवधारणाएं हैं, जिनका उद्‌गम आनुभविक अथवा अवलोकनात्मक समरूपता से होता है। अतः सिद्धान्त की सही कसौटी आनुभविकता है। इसी कारण मर्टन कहते हैं कि हमें आनुभविक तथ्यों को अधिक से अधिक एकत्र करना चाहिए। हमें आनुभविक तथ्यों के आधार पर सर्वप्रथम मध्य स्तरीय सिद्धान्त (Middle Range Theories) बनाने चाहिए क्योंकि मध्य स्तरीय सिद्धान्त अधिक गहनता लिए होता है।

समाजशास्त्र में मध्यस्तरीय सिद्धान्त का निर्माण मुख्यतयः आनुभविक अनुसंधान के मार्ग दर्शन के लिए किया जाता है। मध्य स्तरीय सिद्धान्त वह है जो सामान्य आनुभविक प्रकल्पनाओं और वृहद व भव्य सिद्धान्त के बीच में होता है। इसमें निश्चित रूप से अमूर्तिकरण होता है, किन्तु यह अमूर्तिकरण आनुभाविक तथ्य सामग्री से प्रत्यक्ष और सीधा जुड़ा होता है। हमारे देश में जातियों का स्तरीकरण, जातियों में गतिशीलता, शहरों में गन्दी बस्तियाँ इत्यादि मध्य स्तरीय सिद्धान्त के दृष्टान्त हैं। मध्य स्तरीय सिद्धान्त के निर्माण में मर्टन ने प्रकार्यात्मक सिद्धान्त को विकसित किया। यही कारण है कि हम मर्टन के प्रकार्यवाद को आनुभविक प्रकार्यवाद के नाम से संबोधित करते हैं।

3.3 धारणाओं एवं मान्यताओं पर प्रश्न चिन्ह

प्रकार्यात्मक विश्लेषण में विद्यमान तथ्यों तथा मान्यताओं की चर्चा करते हुए मर्टन ने उनकी उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगाया है। यह निम्नलिखित है -

(1) प्रकार्यात्मक एकता का स्वीकृत तथ्य -

इस मान्यता के अनुसार सामाजिक व्यवस्था का कोई भी भाग पूरी व्यवस्था के लिए प्रकार्यात्मक है। मर्टन का विचार है कि विशेष तौर पर जटिल और विभेदीकृत समाजों में 'यह प्रकार्यात्मक एकता' संदेहास्पद है। उसने इस बात के संदर्भ में धार्मिक अनेकेश्वरवाद का उदाहरण

दिया है। ऐसे समाज में जहाँ विभिन्न प्रकार के विश्वास विद्यमान हैं, धर्म एकता की जगह विभाजन ला सकता है। प्रकार्यात्मक एकता मात्रा का विषय है।इसका विस्तार अन्वेषण पर आधारित होना चाहिए न कि केवल इस मान्यता पर कि यह विद्यमान है। प्रकार्यात्मक एकता के विचार से व्यवस्था के किसी एक भाग में परिवर्तन स्वतः दूसरे भाग में परिवर्तन लाता है। मर्टन की दृष्टि में यह भी अन्वेषण का विषय है। वह संकेत करता है कि अत्यधिक विभेदीकृत समाजों में संस्थाओं के पास उच्च मात्रा में प्रकार्यात्मक स्वायत्तता हो सकती है। इस प्रकार किसी विशेष संस्था में परिवर्तन का दूसरी संस्था पर बहुत कम या बिल्कुल ही नहीं प्रभाव पड़ सकता है। मानवशास्त्रीय प्रकार्यात्मक अभिधारणाओं के संदर्भ में पिछली इकाई में प्रकाश डाला गया है। मर्टन का ऐसा मानना है कि किसी भी प्रथा, रिवाज ओर लोकाचार को अनिवार्य रूप से समाज की प्रकार्यात्मक एकता के लिए उत्तरदायी समझना रेडक्लिफ ब्राउन का भ्रम था। यह संभव है कि आदिम समाजों में जो आकार में छोटे, पिछड़े तथा अनपढ़ होते हैं सांस्कृतिक प्रतीकों के द्वारा समाज की प्रकार्यात्मक एकता बनी रह सकती है।

(2) सार्वभौम प्रकार्यवाद का स्वीकृत तथ्य -

इस मान्यता की धारणा है कि सभी प्रमाणीकृत सामाजिक व सांस्कृतिक पक्षों का सकारात्मक प्रकार्य होता है। मर्टन के विचार में यह धारणा कि ''सामाजिक व्यवस्था के सभी पक्ष सकारात्मक प्रकार्य संपादित करते हैं'' न केवल असामयिक या अपरिपक्व है बल्कि यह असत्य भी है। मर्टन के अनुसार समाज के किसी भाग या इकाई के प्रभाव प्रकार्यात्मक (functional), अप्रकार्यात्मक (dysfunctional) या अकार्यात्मक (non-functional) हो सकते हैं। मर्टन ने यह भी कहा कि सांस्कृतिक इकाइयाँ अथवा विधियाँ किसी समूह के लिए प्रकार्यात्मक हो सकती हैं तथा किसी समूह के लिए अप्रकार्यात्मक । इस दृष्टिकोण से सार्वभौमिक प्रकार्यात्मक धारणा में परिवर्तन आवश्यक है।

(3) प्रकार्य की अपरिहार्यता का स्वीकृत तथ्य -

इस धारणा के अनुसार कुछ निश्चित संस्थाएं या सामाजिक प्रबंध समाज के लिए अपरिहार्य हैं । इस अभिधारणा के पीछे मैलिनोवस्की का तर्क यह है कि यदि कोई सामाजिक, धार्मिक या सांस्कृतिक रीति-रिवाज अथवा कोई अन्य तत्व या इकाई किसी समाज में विद्यमान है तो इसका यह अर्थ निकला कि उस प्रथा यानि प्रकार्य के बिना समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। जब तक कोई एक प्रथा समाज में प्रचलित है तो निश्चित रूप से यह समाज की आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। यदि कोई प्रकार्य समाज की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता तो अपने आप समाज इस प्रकार्य का त्याग कर देगा और उसका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। अतः समाज में कोई भी प्रचलित प्रथा समाज के लिए अपरिहार्य है। मर्टन इस धारणा को भी प्रश्नसूचक दृष्टि से देखता है क्योंकि उसके अनुसार वही प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं दूसरी कई संस्थाओं के द्वारा पूरी की जा सकती हैं अतः यह मान्यता कि परिवार तथा धर्म जैसी संस्थाएं मानव समाज के लिए आवश्यक हैं, न्याय संगत नहीं है। इस अपरिहार्यता के विचार को हटाने के लिए मर्टन ने प्रकार्यात्मक विकल्प की अवधारणा दी है। उदाहरण के लिए साम्यवाद जैसी राजनैतिक विचारधारा धर्म के लिए प्रकार्यात्मक विकल्प हो सकती है। यह वही प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है जो धर्म करता है।

3.4 प्रकार्य एवं अप्रकार्य

मर्टन के अनुसार प्रारम्भ से ही समाजशास्त्र में प्रकार्यवादी विश्लेषण शब्दावलियों के भ्रमात्मक जाल में फंसा रहा है। एक ही शब्द विभिन्न अवधारणाओं के लिए प्रयोग किया गया। मर्टन ने प्रकार्य की पांच अवधारणाओं अथवा अर्थों की चर्चा की है : (1) उत्सव अथवा सभा के रूप में प्रकार्य (2) परिस्थिति से संबंधित क्रियाओं के रूप में प्रकार्य (3) व्यवसाय के रूप में प्रकार्य (4) गणितीय प्रकार्य जिसमें दो चरों (Variables) में अंतर्सम्बन्ध होता है तथा (5) प्राणीशास्त्रीय या सामाजिक प्रक्रियाओं के रूप में प्रकार्य । किन्तु मर्टन प्रकार्य के इतने पर्यायों के विरूद्ध हैं । इन पांचों अर्थों में से मर्टन ने पांचवें अर्थ को अपने सिद्धान्त के आधार के रूप में स्वीकार किया है। मर्टन पुनः कहता है कि 'प्रकार्य' के लिए प्रायः इन पांचों के अतिरिक्त अन्य शब्दों का भी समाजशास्त्र में प्रयोग किया जाता है- जैसे प्रेरणा, प्ररूपण, उद्देश्य, लक्ष्य आदि। इसे उसने गलत बताया। मर्टन ने कहा कि प्रकार्य एक अवधारणा है जिसके लिए कई शब्द प्रयोग में लाये जाते हैं। (Single Concept diverse terms) जैसे उपयोगिता, उद्देश्य, प्रेरणा, लक्ष्य तथा परिणाम इत्यादि । इससे विश्लेषण में कठिनाइयां आती हैं। अतः मर्टन ने प्रकार्यवाद के क्षेत्र में कुछ सिद्धान्त से संबंधित अवधारणाओं को विकसित किया - जैसे प्रकार्य एवं अप्रकार्य (function and disfunction) तथा गोचर अथवा प्रकट प्रकार्य (Manifest function) एवं अगोचर या प्रच्छन्न प्रकार्य (Latent functions)।

मर्टन के अनुसार प्रकार्य वे गोचर परिणाम हैं जो किसी व्यवस्था में तदात्मीयकरण या अनुकूलन और समायोजन को बढ़ाते हैं। अकार्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए मर्टन ने कहा है कि अकार्य ऐसे निरीक्षित परिणाम हैं जो किसी व्यवस्था के अनुकूलन अथवा सामंजस्य को घटाने का कार्य करते हैं। मर्टन की यह भी मान्यता है कि कुछ संरचनाओं के प्रकार्यात्मक एवं अप्रकार्यात्मक दोनों ही प्रकार के प्रभाव हो सकते हैं।

3.5 प्रकट तथा अप्रकट प्रकार्य

मर्टन के अनुसार प्रकट अथवा गोचर प्रकार्य वे निरीक्षित परिणाम हैं जो किसी व्यवस्था के अनुकूलन या सामंजस्य में अपना योगदान देते हैं। साथ ही यह उस व्यवस्था के सहभागियों द्वारा मान्य तथा इच्छित होते हैं।

अप्रकट (अगोचर) अथवा प्रच्छन्न प्रकार्य न तो मान्य ही होते हैं और न ही इच्छित। ये वह प्रकार्य हैं जो न तो चाहे जाते हैं और न ही पहचाने जाते हैं। मर्टन का मत है कि अगोचर अथवा अप्रकट संबोधन से समाजशास्त्री को एक नवीन दृष्टि मिलती है और वह शोध में अधिक प्रवीण हो जाता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए किसी व्यक्ति ने केला खाकर छिलका सड़क पर फेंक दिया। एक व्यक्ति उधर से जाता है और फिसल कर गिर पड़ता है। तेजी से आ रही ट्रक उसको कुचल देती है और उसकी मृत्यु हो जाती है। उस व्यक्ति के छिलका फेंकने का मन्तव्य यह कदापि नहीं था कि उससे किसी की मृत्यु हो जाएगी। उसने तो केवल क्षुदा पूर्ति के लिए केला खाया था। अतः भूख मिटाने हेतु केला खाना गोचर परिणाम हैं और छिलके पर फिसलकर गिर जाने से मृत्यु हो जाना अगोचर परिणाम है, जिसकी कभी आशा ही नहीं थी। हम दूसरे उदाहरण से भी इसे समझ सकते हैं - मान लीजिए कि राम की शोभा यात्रा निकाली जाती है। इस शोभा यात्रा का गोचर प्रकार्य तो राम के प्रति श्रद्धा उपासना तथा धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति देना है। लेकिन जब इस शोभा यात्रा में दंगा हो जाता है तो यह अगोचर प्रकार्य है। मर्टन के अनुसार गोचर तथा अगोचर परिणामों से यह लक्षित होता है कि सामाजिक घटनाओं को अति सरल समझना मिथ्याजनक है। सामाजिक घटनाएं जटिल और बहुत कुछ अप्रत्यक्ष होती है, जिनका पता लगाने के लिए वैज्ञानिक सैद्धान्तिक अंतर्दृष्टि की आवश्यकता है।

3.6 मर्टन का प्रकार्यात्मक प्रारूप (पैराडाइम)

मर्टन ने अगस्त काम्ट से लेकर दुर्खीम तक तथा रेडक्लिफ ब्राउन एवं मैलिनोवस्की द्वारा विकसित प्रकार्यात्मक सिद्धान्त का आलोचनात्मक विश्लेषण किया। इन सबकी प्रकार्यात्मक व्याख्या से आवश्यक विचारों को लेकर मर्टन ने प्रकार्यात्मक विश्लेषण के उद्देश्य से मध्यस्तरीय सिद्धान्त के निर्माण के लिए एक प्रारूप (पैराडाइम) या मॉडल प्रस्तुत किया। यह प्रारूप मर्टन के प्रकार्यात्मक विश्लेषण के शब्दकोष, स्वीकृत तथ्य, अवधारणा तथा सैद्धान्तिक आरोपण को एक साथ सघन रूप में लाता है। उनका कहना है कि हम दुनिया के किसी भी समाज का अध्ययन करना चाहें और यदि हमारे अध्ययन का संदर्श प्रकार्यवादी है तो उन का यह प्रारूप या मॉडल लागू किया जा सकता है। यह मॉडल तो एक विधि है जिसकी सहायता से हम समाज का सांगोपांग अध्ययन कर सकते हैं। इस पैराडाइम या मॉडल में ग्यारह आइटम या मद हैं। इन मदों को अध्ययन में लागू कर समाज की प्रकार्यात्मक स्थिति का विश्लेषण किया जा सकता है। ये मद (Items) निम्नलिखित हैं -

1. उन इकाइयों या मदों को निर्धारित करना जिनसे प्रकार्य फलित होते हैं-

सबसे पहली आवश्यकता यह है कि अनुसंधानकर्ता उन आदर्श सामाजिक, सांस्कृतिक मदों या इकाइयों को पहचाने जिनका वह प्रकार्यात्मक अध्ययन करना चाहता है। उदाहरण के लिए यदि भारत की ग्रामीण स्थिति में अनुसंधान करना है तो अनुसंधानकर्ता को यह निश्चित करना होगा कि वह गांव के अनेक तत्वों में से जैसे गरीबी, जाति-व्यवस्था, बेरोजगारी, परिवार, सामाजिक प्रतिमान तथा राजनीति इत्यादि में से किन मदों का अध्ययन करना चाहता है। मद निर्धारित होने के बाद ही पैराडाइम के अगले चरण का कार्य किया जाएगा।

2. अध्ययन से संबंधित उद्देश्य एवं प्रेरणाएं -

इसके अंतर्गत यह निश्चित करना होगा कि अनुसंधानकर्ता अमुक मद का अध्ययन क्यों करता है? इसके पीछे उसके क्या उद्देश्य हैं? अध्ययन का कारण किस तरह इकाई अथवा मद से संबंधित अभिवृत्तियों से जुड़ा है। इन प्रश्नों का उत्तर व्यवस्था के उद्देश्यों को निश्चित करेगा।

3. वस्तुपरक प्रभावों का संबोध -

किसी भी प्रकार्यात्मक विश्लेषण में इस तथ्य की खोज करनी चाहिए कि जिस विषय का हम अध्ययन कर रहे हैं वह कहाँ तक अध्ययन क्षेत्र की व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक है।? इसका उद्देश्य सामाजिक घटनाओं के परिणामों का पता लगाना है। सामाजिक घटनाओं के निम्नलिखित परिणाम हो सकते हैं -

(1) प्रकार्यात्मक (2) अप्रकार्यात्मक (3) अनावश्यक परिणाम (4) गोचर परिणाम (5) अगोचर परिणाम ।

4. प्रकार्य द्वारा अनुसेवित इकाइयों की पहचान -

इसके अंतर्गत यह पता लगाया जाता है कि किसी गतिविधि का प्रकार्यात्मक प्रभाव कहां तक और किन इकाइयों पर पड़ सकता है। शाब्दिक दृष्टि से इसमें मनोवैज्ञानिक प्रकार्य, सामाजिक प्रकार्य, समूह प्रकार्य तथा सांस्कृतिक प्रकार्य शामिल हैं। उदाहरण के लिए पारिवारिक व्यवस्था में पति-पत्नी संबंध, माता-पिता संतान संबंध, परिवार और नातेदारी संबंध इत्यादि बहुत सी इकाइयाँ होती हैं। कोई भी प्रकार्य जो एक इकाई के लिए सकारात्मक होता है वही इसी व्यवस्था में अन्य इकाइयों के लिए

नकारात्मक हो सकता है। जैसे परिवार में पत्नी नौकरी धंधा करके पारिवारिक आय में वृद्धि करती है इसका सकारात्मक प्रकार्य यह है कि परिवार का जीवन स्तर ऊँचा उठ जाएगा। लेकिन नकारात्मक दृष्टि से संतान इकाई पर्याप्त पालन-पोषण से वंचित रह जाएगी। अतः प्रकार्यात्मक विश्लेषण में उन इकाइयों का पता लगाना चाहिए जिनके लिए सकारात्मक प्रकार्य हुए हैं।

5. प्रकार्यात्मक पूर्व-आवश्यकताओं का संबोध -

पूर्व आवश्यकताएं वे स्थितियाँ या शर्तें हैं जिनको व्यवस्था के संचालन व नियमन के लिए आवश्यक माना जाता है। उदाहरण के लिए संचार के लिए भाषा अथवा प्रतीक आवश्यक है तथा धर्म के लिए किसी अलौकिक सत्ता व शक्ति में विश्वास आवश्यक है। अतः किसी भी व्यवस्था की कुछ बुनियादी आवश्यकताएं होती है। व्यवस्था की इकाइयों का प्रकार्य इन पूर्व-आवश्यकताओं को पूरा करना होता है। जब हम प्रकार्यात्मक विश्लेषण करते हैं, तब हमें यह देखना चाहिए कि किन इकाइयों या मदों के प्रकार्य ऐसे हैं जो पूर्व आवश्यकताओं को पूरा करते हैं।

6. प्रकार्य की पूर्ति के लिए साधनों के उपयोग का संबोध -

किसी व्यवस्था की पूर्व-आवश्यकताओं की पूर्ति किसी न किसी क्रियाविधि अथवा साधन के द्वारा पूरी की जाती है। विवाह एक व्यवस्था है। इसकी आवश्यकता यौन संबंध प्रजनन तथा मोक्ष इत्यादि हो सकती है। इसकी प्राप्ति के लिए कई क्रियाविधियों या साधनों को प्रयोग में लाया जाता है। जैसे - विवाह का निमंत्रण, मंडप, पुरोहित, धार्मिक अनुष्ठान, प्रीतिभोज इत्यादि। अनुसंधानकर्ता को इस तथ्य का पता लगाना चाहिए कि किन क्रियाविधियों एवं साधनों द्वारा ये प्रकार्य पूरे किए जाते हैं।

7. प्रकार्यात्मक विकल्प का विचार -

इसके अन्तर्गत यह पता लगाना निहित है कि यदि किसी एक प्रकार्य को रोक दिया जाए तो उसकी वैकल्पिक व्यवस्था क्या होगी? मर्टन का मानना है कि किसी भी व्यवस्था की कोई भी प्रक्रिया जिसे एक मद पूरा करता है, अपरिहार्य नहीं है। किन्तु प्रकार्यों को करने वाले अन्य कई वैकल्पिक मद भी हैं । इन वैकल्पिक मदों की पहचान करनी चाहिए। जैसे यदि किसी व्यक्ति का विश्वास ईश्वर में है तो इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसे वैकल्पिक प्रकार्य प्राप्त है। वह हिन्दू धर्म, इस्लाम या ईसाई धर्म को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपना सकता है।

8. प्रक्रिया के लिए संरचनात्मक दबाव या प्रतिबंध -

मर्टन के अनुसार किसी व्यवस्था में प्रकार्यात्मक विकल्पों के होते हुए भी कुछ संरचनात्मक दबाव या प्रतिबंध व्यक्ति पर इस तरह के होते हैं कि उसे एक निश्चित प्रकार्य को ही अपनाना पड़ता है । जैसे एक समूह की जैविकीय आवश्यकता के लिए दाल-चावल, रोटी-सब्जी का भोजन एक निश्चित प्रकार्य को पूरा करता है, किन्तु इसके विकल्प में मांसाहारी भोजन भी उपलब्ध है। इस विकल्प के होते हुए भी व्यक्ति या उसके जाति समूह पर शाकाहारी भोजन का ऐसा दबाव होता है कि व्यक्ति मांसाहारी भोजन के प्रकार्यात्मक विकल्प को नहीं अपनाता है। अतः प्रकार्यात्मक विश्लेषण में अनुसंधानकर्ता को ऐसे संरचनागत या संस्थागत दबावों की पहचान भी करनी चाहिए जिन्हें मानने के लिए कोई भी व्यवस्था बाध्य होती है।

9. गतिशीलता एवं परिवर्तन की अवधारणा -

प्रकार्यात्मक सिद्धान्त पर यह आरोप लगाया जाता है कि उसमें ठहराव या गतिहीनता है। वास्तव में गतिहीनता का आरोप पिछले मानव शास्त्रियों ने लगाया था। उन्होंने अपने अनुसंधान के

निष्कर्षों में पाया कि अफ्रीका और भारत की जन-जातियाँ गतिहीन तथा जड़ हैं। इस संदर्भ में मर्टन का मत है कि ज्यों-ज्यों सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकताओं में परिवर्तन आता है, त्यों-त्यों प्रकार्यों में भी बहुलता आती है। यदि प्रकार्यों में गतिशीलता न हो तो व्यवस्था का समयानुकूलन तुरंत बिगड़ जाएगा और उसमें संघर्ष उत्पन्न हो जाएगा। उदाहरण के लिए प्रकार्यवादी सिद्धान्त की गतिशीलता हमारे देश की जाति व्यवस्था में देखी जा सकती है। एक समय ऐसा था जब निम्न जातियाँ तथा दलित अस्पृश्य थे, मंदिर में उनका प्रवेश वर्जित था तथा सार्वजनिक कुएं से वे पानी नहीं ले सकते थे। किन्तु समय के परिवर्तन व आधुनिक विचारों के प्रभाव से निम्न जातियों को संविधान में अन्य जातियों के समान ही स्थान दिया गया जिससे संभावी संघर्ष टल गया। अतः व्यवस्था की आवश्यकतानुसार प्रकार्यों में बदलाव पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

10. प्रकार्यात्मक मान्यताओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रमाणीकरण व सत्यापन -

मर्टन के अनुसार प्रकार्यात्मक विश्लेषण द्वारा युक्तियुक्त ढंग से यह देखा जाना चाहिए कि किस तरह किसी मद के प्रकार्य व्यवस्था की मान्यताओं तथा आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। उदाहरण के लिए यदि हमारी यह मान्यता है कि विश्वविद्यालय विद्यार्थियों को ज्ञान का विशाल भंडार प्रस्तुत करते हैं तो प्रकार्यात्मक विश्लेषण के द्वारा उपयुक्त विधि से इस मान्यता का प्रमाणीकरण करना चाहिए।

11. प्रकार्यात्मक विश्लेषण से संबंधित वैचारिक समस्याएँ -

मर्टन के अनुसार प्रकार्यात्मक विश्लेषण में कोई आर्थिक या राजनैतिक विचारात्मक पक्ष निहित नहीं है, फिर भी अध्ययन की प्रक्रिया में विचारात्मक पक्ष उभरने की संभावना रहती है। ये विचारात्मक पक्ष क्या है और किस तरह से इस उपागम से जुड़ जाते हैं, यह समझना आवश्यक है।

3.7 मर्टन के प्रकार्यात्मक प्रारूप (पैराडाइम) की उपयोगिता

मर्टन ने अपने प्रकार्यात्मक प्रारूप (पैराडाइम) के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए कहा है कि इसका महत्वपूर्ण उद्देश्य प्रकार्यात्मक विश्लेषण के लिए फलदायी तथा तात्कालिक संहिताबद्ध निर्देशन प्रदान करना है। इस रूपावली (मॉडल) के माध्यम से उसने प्रकार्यवादी उपागम के विभिन्न पक्षों एवं आयामों को संभावित प्रश्नों से जोड़ने का प्रयत्न किया है।इस उपागम के आधार पर समाज की किसी प्रघटना, संस्था, मूल्य अथवा अन्य किसी आयाम का अध्ययन किया जा सकता है। समाजशास्त्र में इस उपागम से अनेक अध्ययन किये गये हैं। डेविस एवं मूर ने सामाजिक असमानता का अध्ययन इस मॉडल के आधार पर किया है। उनके अनुसार सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था समाज के लिए प्रकार्यात्मक है क्योंकि इसके अंतर्गत व्यक्तियों को तथा उनके कार्यों को कौशल, योग्यता, प्रशिक्षण तथा मेहनत के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है। समाज का स्तरीकरण विभिन्न पदों, व्यवसायों व कार्यों से जुड़े सम्मान व धन के आधार पर निर्मित होता हैं, यदि समाज में सभी कार्यों के लिए एक से पारितोषिक मिलते हों तो व्यक्ति कठिन कार्यों को तथा जिनमें अधिक कौशल व प्रशिक्षण की आवश्यकता है उन्हें नहीं करेगा। इस आधार पर स्तरीकरण को प्रकार्यात्मक माना गया है।

मर्टन का यह पैराडाइम (मॉडल) न केवल सीमित अर्थों में वैज्ञानिक है, किन्तु इस तथ्य

की भी पूरी गुंजाइश है कि इसे प्रकार्यात्मक समाजशास्त्री किसी विचारधारा के लिए भी काम में ले सकता है । इस पैराडाइम में समाज सुधार, समाज उत्थान, संघर्ष निदान इत्यादि पर काम करने के लिए पूरी संभावना है। यह मॉडल एक तरह से सामाजिक अभियंत्रिकी की रूपरेखा भी है।

मर्टन के प्रकार्यात्मक विश्लेषण का यह मॉडल अध्ययन की एक विधि भी है। मैक्स वेबर के सामाजिक क्रिया के आदर्श प्रारूप या पारसंस के प्रतिमान चर (Pattern variables) की भांति यह मॉडल एक आदर्श प्रारूप भी है। मर्टन ने प्रकार्यवाद का दोहरा वर्गीकरण किया है - प्रकट प्रकार्य तथा प्रच्छन्न प्रकार्य। इसी प्रकार उन्होंने प्रकार्य की अवधारणा को भी निश्चित रूप से स्पष्ट शब्दों में परिभाषित किया है। मर्टन के द्वारा प्रकार्य तथा दुष्कार्य को पृथक श्रेणियों में रखना उसकी मौलिक देन है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मर्दों की यह संहिता जिसे मर्टन ने 'पैराडाइम' के नाम से संबोधित किया है - प्रकार्यात्मक सिद्धान्त के विश्लेषण में अत्यंत महत्वपूर्ण है।

3.8 मर्टन के प्रकार्यवाद की आलोचना

मर्टन के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त की एक आलोचना यह है कि यह सिद्धान्त केवल पुनुरूक्ति (Tautology) है। वह अपने सिद्धान्त की व्याख्या में कई तथ्यों को बार-बार थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ काम में लाता है। पुनुरूक्ति का एक कारण यह भी है कि मर्टन प्रभाव को ही कारण मानते हैं।उनके प्रकार्यात्मक विश्लेषण विधि में धर्म की व्याख्या इस तरह की गई हैं कि धर्म का अस्तित्व इस कारण है कि यह व्यक्तियों को नैतिक समुदाय में बांधता है। इस प्रकार मर्टन का प्रकार्यवाद एक चक्रीय प्रक्रिया के माध्यम से कार्यकारण के सम्बन्धों की व्याख्या करता है।

पी० एस० कोहन ने मर्टन के प्रकार्यवाद की आलोचना कुछ तार्किक आधारों पर की। उनके अनुसार मर्टन ने जिन प्रकार्यवादी परिकल्पनाओं को प्रस्तुत किया उन्हें प्रमाणित करने का कार्य आसान नहीं है। उदाहरणार्थ एक परिकल्पना यह है कि राज्य का प्रकार्य समाज की विभिन्न गतिविधियों को संगठित करना है। इस परिकल्पना की जांच तो संभव है किन्तु इसमें अवधारणात्मक स्पष्टता का अभाव है।

मर्टन की इस आधार पर भी आलोचना की जाती है कि उनके प्रकार्यात्मक विश्लेषण का पैराडाइम एक विधि (Method) है तथा सिद्धान्त नहीं है। टर्नर के शब्दों में मॉडल कभी भी किसी अर्थ में सिद्धान्त नहीं होता। होमन्स ने भी यही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया और इस बात पर जोर दिया कि प्रकार्यवाद सिद्धान्त नहीं है। कोपलर के अनुसार प्रकार्यात्मक सिद्धान्त केवल एक अध्ययन की विधि तथा अध्ययन का तर्क मात्र है।

मर्टन ने यह तर्क दिया है कि प्रकार्यवाद में जहां एक ओर रूढ़िवादी अर्थात यथास्थिति बनाए रखने के तत्व हैं वहीं इसमें क्रान्तिकारी तत्व भी हैं। रूढ़िवादी विचार से प्रकार्यवाद सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों के बीच सामंजस्यपूर्ण एवं समन्वयता को स्वीकारते हुए समाज के स्थायित्व व निरंतरता पर बल देता है। मर्टन के प्रकार्यवाद में सामाजिक परिवर्तन व क्रान्तिकारी होने के तत्व भी बताए हैं किन्तु उनके प्रकार्यात्मक उपागम में परिवर्तन का अध्ययन करने के लिए स्पष्ट रूपरेखा नहीं है। उनके द्वारा यह जानना कठिन है कि परिवर्तन क्यों होते हैं। गुल्डनर के अनुसार मर्टन का यह कहना कि प्रकार्यवाद रूढ़िवादी और क्रान्तिकारी दोनों हैं वह कमजोर नींव पर आधारित हैं।

यद्यपि मर्टन की आलोचना प्रकार्यवाद के कई तथ्यों पर हुई है फिर भी उनके द्वारा प्रस्तुत किया

गया प्रकार्यवाद का विश्लेषण समाजशास्त्रीय ज्ञान में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

3.9 सारांश

मर्टन के अनुसार प्रकार्य वे गोचर परिणाम हैं जो किसी व्यवस्था में अनुकूलन तथा समायोजन को बढ़ाते हैं। मर्टन ने अपने प्रकार्यात्मक विश्लेषण में अनुभाविक अथवा अवलोकनात्मक विधि को अपनाया। मर्टन ने अपने प्रकार्यात्मक विश्लेषण में विद्यमान तथ्यों तथा मान्यताओं की उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगाया तथा उन्हें संदेहास्पद बताया। ये तथ्य तथा मान्यताएं इस प्रकार हैं - (1) प्रकार्यात्मक एकता का स्वीकृत तथ्य (2) सार्वभौम प्रकार्यवाद का स्वीकृत तथ्य तथा (3) प्रकार्य की अपरिहार्यता का स्वीकृत तथ्य। मर्टन ने प्रकार्यवाद के क्षेत्र में सिद्धान्त से संबंधित महत्वपूर्ण अवधारणाओं को विकसित किया - जैसे प्रकार्य एवं अप्रकार्य तथा गोचर अथवा प्रकट प्रकार्य एवं अगोचर या प्रच्छन्न प्रकार्य । मर्टन के अनुसार प्रकार्य के गोचर परिणाम हैं जो किसी व्यवस्था में तदात्मीयकरण या अनुकूलन व समायोजन को बढ़ाते हैं। अकार्य से निरीक्षित परिणाम हैं जो किसी व्यवस्था के अनुकूलन अथवा सामंजस्य को घटाने का कार्य करते हैं। गोचर अथवा प्रकट प्रकार्य ऐसे निरीक्षित परिणाम हैं जो किसी व्यवस्था के अनुकूलन या सामंजस्य में अपना अंशदान करते हैं, साथ ही यह उस व्यवस्था के सहभागियों द्वारा मान्य तथा इच्छित होते हैं। अगोचर प्रकार्य तुलनात्मक दृष्टि से वे हैं जो न तो चाहे जाते हैं और न ही पहचाने जाते हैं।

मर्टन ने प्रकार्यात्मक विश्लेषण के उद्देश्य से एक प्रारूप (पैराडाइम) या मॉडल प्रस्तुत किया। इस पैराडाइम या मॉडल में ग्यारह मद हैं । इन मदों को अध्ययन में लागू कर समाज की प्रकार्यात्मक स्थिति का विश्लेषण किया जा सकता है। यह प्रारूप या मॉडल मर्टन के प्रकार्यात्मक विश्लेषण से संबंधित शब्दकोष, स्वीकृत तथ्य, अवधारणा तथा सैद्धान्तिक आरोपण को एक साथ सघन रूप में लाता है। यद्यपि मर्टन की आलोचना प्रकार्यवाद के विश्लेषण से संबंधित कई बिन्दुओं पर हुई है फिर भी उनके द्वारा की गई प्रकार्यवाद की व्याख्या एक महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय योगदान है।

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

- मर्टन रौबर्ट के0, सोश्यल थ्योरी एण्ड सोश्यल स्ट्रक्चर ग्लेन्को फ्री प्रेस, यू0 एस0 ए0 , 1957
- रिट्जर जॉर्ज, माडर्न सोसियोलॉजिकल थ्योरी, यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका, 2000
- टर्नर जोनाथन एच0, द स्ट्रक्चर ऑफ सोसियोलॉजिकल थ्योरी, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2002
- अब्राहम एम0 फ्रान्सिस, मॉडर्न सोसियोलॉजिकल थ्योरी, एन इन्ट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1988
- हरिकृष्ण रावत, समाजशास्त्रीय चिन्तक एवं सिद्धान्तकार, रावत पब्लिकेशन, जयपुर एवं नई दिल्ली।
- पाण्डे रवि प्रकाश, समाजशास्त्रीय सिद्धान्त : अभिगम एवं परिप्रेक्ष्य , शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद ।

3.11 सम्बन्धित प्रश्न-उत्तर

लघुउत्तरीय प्रश्न

प्र.1 मर्टन के अनुसार सामाजिक प्रकार्य क्या है?

प्र.2 अकार्य से क्या तात्पर्य है?

प्र.3 मध्यस्तरीय सिद्धान्त से क्या तात्पर्य है?

प्र.4 अप्रकट प्रकार्य क्या है?

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

प्र.1 मर्टन ने पूर्ववर्ती प्रकार्यवाद की आलोचना किन आधारों पर की है?

प्र.2 मर्टन के प्रकार्यवाद को विश्लेषित कीजिए।

प्र.3 मर्टन के प्रकार्यात्मक प्रारूप (पैराडाइम) की उपयोगिता क्या है?

प्र.4 मर्टन के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्र.1 'सामाजिक प्रकार्य अवलोकनकारी वस्तुपरक प्रभाव हैं'। यह वक्तव्य किसका है?

(अ) मर्टन (ब) दुर्खीम

(स) स्पेन्सर (द) मैलिनोवस्की

प्र.2 मर्टन के प्रकार्यवाद को किस नाम से संबोधन दिया गया है?

(अ) व्यक्तिवादी प्रकार्यवाद (ब) उद्विकासवादी प्रकार्यवाद

(स) आनुभाविक प्रकार्यवाद (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

प्र.3 'प्रकार्यात्मक विकल्प' की अवधारणा किसने दी?

(अ) पारसन्स (ब) काम्टे

(स) दुर्खीम (द) मर्टन

प्र.4 मर्टन के प्रकार्यात्मक प्रारूप अथवा मॉडल में कितने आइटम या मद हैं जिनको अध्ययन में लागू कर समाज की प्रकार्यात्मक स्थिति का विश्लेषण किया जा सकता है?

(अ) 20 (ब) 15

(स) 11 (द) 25

उत्तर- (1) अ (2) स (3) द (4) स

इकाई - 4 प्रकार्यवाद पारसंस के सन्दर्भ में- पारसंस का प्रतिमान चर, AGIL प्रारूप

इकाई की रूपरेखा-

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 प्रकार्यवाद एवं व्यवस्था विश्लेषण

4.3 संस्थाकरण

4.4 प्रतिमान चर (परिवर्त्य)

4.5 प्रकार्यात्मक योजना का प्रारूप (AGIL प्रारूप)

4.6 आलोचना

4.7 सारांश

4.8 संदर्भ ग्रन्थ

4.9 संबंधित प्रश्न-उत्तर

4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का मुख्य उद्देश्य पारसंस द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रकार्यवाद के विश्लेषण पर प्रकाश डालना है। पारसंस ने प्रकार्यवाद को जिस भांति परिभाषित किया है उसका केन्द्र बिन्दु व्यवस्था है तथा व्यवस्था के आधारीकरण में संस्थाकरण का बहुत बड़ा महत्व है। अतः प्रकार्यवाद की गहन व्याख्या के पहले 'व्यवस्था' तथा 'संस्थाकरण' की विवेचना की गई है। तत्पश्चात्, प्रतिमान्चर (Pattern variables) का विश्लेषण किया गया है जो कर्ता की क्रिया-कलापों के चयन तथा उनकी दिशा निर्धारित करते हैं। इसके बाद पारसंस की प्रकार्यात्मक योजना का प्रारूप जो AGIL प्रारूप से संबोधित किया जाता है, उसकी व्याख्या की गई है। इस प्रारूप में उन पूर्व आवश्यकताओं (समस्याओं) का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है जो पारसंस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था के जीवित रहने के लिए आवश्यक है- जैसे 1. अनुकूलन या समायोजन, 2. लक्ष्य प्राप्ति 3. एकीकरण तथा प्रतिमान परिपालन तथा तनाव प्रबंधन। अंत में पारसंस के प्रकार्यवाद के विश्लेषण पर की गई आलोचनाओं पर प्रकाश डाला गया है।

4.1 प्रस्तावना

पारसंस का एक बुनियादी प्रश्न यह है कि कर्ता की सब गतिविधियां जो पृथक-पृथक हैं वे प्रकार्यवाद को कैसे बनाती है? इस प्रश्न का उत्तर ही प्रकार्यवाद का उद्गम है। पारसंस का कहना है कि कर्ताओं के ये सब कार्य एक व्यवस्था को बनाते हैं और इस भांति विभिन्न व्यक्तियों की क्रियाएं व्यवस्था के साथ जुड़ जाती हैं। अतः पारसंस ने प्रकार्यवाद को जिस भांति परिभाषित किया है, उसका केन्द्र बिन्दु व्यवस्था है । कर्ताओं की वे क्रियाएं जो निश्चित मानव, मूल्य एवं विचारों के आधार

पर कुछ निश्चित दशाओं से बहुल साधनों को काम में लेकर लक्ष्य प्राप्ति करती हैं, सामाजिक क्रियाएं हैं । पारसंस के अनुसार समाजशास्त्र का प्रमुख कार्य प्रकार्यात्मक ढंग से जुड़े सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों का अध्ययन करना है। उन्होंने प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं की भी चर्चा की है, जो किसी भी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक है। हर व्यवस्था में क्रियाओं को संगठित करने के लिए संगठनों एवं संस्थाओं की आवश्यकता होती है। कर्ता की क्रिया व्यवस्था को बनाए रखने वाली होती है, अतः जो कुछ परिस्थितिकीय दशाएं हैं वे व्यवस्था की दशाएं हैं । जो भी मानक मूल्य एवं अन्य विचार हैं, वे व्यवस्था द्वारा निर्धारित होते हैं। वे लक्ष्य जिन्हें कर्ता प्राप्त करना चाहते हैं, व्यवस्था सम्मत हैं। पारसंस ने सामाजिक व्यवस्था की विवेचना प्रस्तुत करते हुए इस बात को सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इसका मुख्य आधार संरचना-प्रकार्य ही है।

4.2 प्रकार्यवाद एवं व्यवस्था विश्लेषण

पारसंस के प्रकार्यवाद की विवेचना सामाजिक व्यवस्था तथा संरचना के विश्लेषण करने के क्रम में की है। पारसंस के प्रकार्यवाद को समझने के लिए उनके द्वारा व्यक्त सामाजिक व्यवस्था को संज्ञेय रूप से समझना आवश्यक है। पारसंस ने 'The Social System' नामक अपनी पुस्तक में सामाजिक व्यवस्था को स्पष्ट किया है, जिसके आधार पर सामाजिक व्यवस्था के आवश्यक तत्वों को निम्नलिखित बिन्दुओं से समझा जा सकता है -

(1) एकाधिक वैयक्तिककर्ता

(2) इन कर्ताओं के बीच अंतःक्रिया होती है।

(3) इन अन्तःर्कियाओं का कुछ लक्ष्य होता है अथवा इच्छाओं की आदर्श प्राप्ति जो कि इन अंतःर्कियाओं के घटित होने के संदर्भ में प्रेरणाश्रोत होता है।

(4) इन अन्तक्रियाओं के घटित होने के लिए एक सामाजिक परिस्थिति जिसका भौतिक या पर्यावरण संबंधी पक्ष अवश्य हो।

(5) सांस्कृतिक प्रतिमान की एक व्यवस्था।

उक्त बिन्दुओं के आधार पर पारसंस ने सामाजिक व्यवस्था को इस प्रकार परिभाषित किया है- ''सामाजिक व्यवस्था आवश्यक रूप से अंतःक्रियात्मक (Interactive) संबंधों का एक जाल है।'' पारसंस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था की वास्तविकता को समझने के लिए उस व्यवस्था को निर्मित करने वाली इकाइयों के प्रकार्यों को समझना आवश्यक है। इस संदर्भ में सामाजिक व्यवस्था के ऐसे प्रकार्यात्मक तत्वों को देखना होगा जो संबंधित व्यवस्था के अधिकतम सदस्यों की न्यूनतम प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए अनेक सामाजिक नियम होते हैं, जिनमें से अधिकांश नियमों के सामाजिक प्रकार्य भी अवश्य ही होते हैं। व्यावसायिक नियमों का उदाहरण देकर पारसंस ने स्पष्ट किया है कि व्यवसाय के प्रत्येक क्षेत्र में निश्चित प्रकार्य होते हैं, व्यवसाय में प्रवेश करने की अर्हता व दशाओं को निर्धारित करना, कार्यरत लोगों के अधिकारों तथा कर्तव्यों का निर्धारण करना, नियोक्ता एवं कर्मचारियों के मध्य संबन्धों की शर्तों को निर्धारित करना तथा अन्य सहकर्मियों के साथ पारस्परिक संबंधों व अंतर्क्रियाओं का एक निश्चित स्वरूप तैयार करना इत्यादि उस व्यवस्था के विभिन्न प्रकार्य होते हैं।

पारसंस के अनुसार प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए कुछ प्रकार्यात्मक

आवश्यकताएं (functional requisites) होती हैं। इन आवश्यकताओं का संबंध सामाजिक व्यवस्था तथा व्यक्ति की वैयक्तिक व्यवस्था दोनों से होता है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था द्वारा अपने सदस्यों के अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना अपरिहार्य है। यह तभी संभव है जब व्यवस्था के पास कुछ ऐसे साधन हों जिनसे वह अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। इसके साथ ही साथ प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत समाजीकरण के कुछ साधन अथवा संस्कार का होना भी आवश्यक है जिनके द्वारा एक जैविकीय प्राणी को सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित किया जा सके। साथ ही साथ सामाजिक प्राणी के रूप में उनमें ऐसे गुण अर्थात मूल्यों, मान्यताओं एवं आदर्शों को विकसित किया जा सके जिससे वे सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल हो सकें। समाज में इन मूल्यों का होना आवश्यक है क्योंकि इन्हीं के द्वारा समाज के सदस्यों का समाज के अनुकूल व्यक्तित्व को विकसित किया जा सकता है। पारसंस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था की प्रत्येक इकाई का समग्र से तथा समग्र का सभी इकाई से गहरा प्रकार्यात्मक संबंध होता है।

4.3 संस्थाकरण

प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में क्रियाओं को संगठित करने के लिए संगठनों एवं संस्थाओं की आवश्यकता होती है। पारसंस द्वारा व्यवस्था के अवधारीकरण में संस्थाकरण की अवधारणा का केन्द्रीय स्थान है। जब परस्पर संबंधित क्रियाओं का संस्थाकरण हो जाता है तो सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व के बने रहने की संभावना बढ़ जाती है। संस्थाकरण ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक संरचना निर्मित होती है तथा उसका अस्तित्व बना रहता है। जब क्रियाओं का संस्थाकरण हो जाता है तो परस्पर क्रियाओं में स्थायित्व आ जाता है जो सामाजिक व्यवस्था का रूप बनती है। जब सामाजिक व्यवस्था बहुत बड़ी होती है जिसके अन्तर्गत अनेक अन्तरसंबंधित संस्थाएं होती हैं, तब ये संस्थाएं उप-संस्थाएं समझी जाती हैं। इस प्रकार पारसंस ने संस्थाकरण को प्रक्रिया तथा संरचना दोनों रूपों में देखा है।

पारसंस संस्थाकरण को सामाजिक व्यवस्थाओं के एकीकरण में मूलभूत यान्त्रिकी मानता है। इसे एक प्रक्रिया तथा एक संरचना दोनों ही माना गया है। उसका तात्पर्य अन्तर्क्रिया के स्थायी प्रतिमानों से भी है, जो आदर्शात्मक रूप से सांस्कृतिक व्यवस्थाओं द्वारा परिचालित होती है।इनमें दो प्रकार की प्रक्रियाएं निहित हैं: (1) सामाजिक व्यवस्था में मूल्य उन्मेषों का संरचना विन्यास (संरचना के रूप में विकसित होने की प्रक्रिया) तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व में मूल्य व्यवस्थाओं का अभ्यन्तरीकरण। सांस्कृतिक मूल्यों एवं विश्वासों का कर्ता द्वारा अभ्यन्तरीकरण संस्थाकरण का प्राथमिक आधार है। संस्थाकरण समुचित सीमाओं में तथा समुचित अवसरों पर वैयक्तिक स्वार्थों पर सामूहिकता की प्राथमिकता को स्वीकार करने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार एक ओर संस्थाकरण एकीकरण तथा संस्कृति के बीच संपर्क तो दूसरी ओर व्यक्तित्व एवं प्रेरणा के बीच सशक्त संपर्कसूत्र का निर्माण करता है।

यदि किसी व्यवस्था को स्थायी तौर पर निरंतरता बनाये रखना तथा विकासात्मक परिवर्तन की क्रमबद्ध प्रक्रिया से गुजरना है तो कुछ प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाओं का पूरा किया जाना अनिवार्य होता है। यह पूर्वापेक्षाएं विभिन्न उप-व्यवस्थाओं अथवा उप-संस्थाओं द्वारा पूरी की जाती है। पारसंस ने चार पूर्व आवश्यकताओं से संबंधित प्रकार्य के लिए चार उप-व्यवस्थाओं की व्याख्या की हैं : (1) अनुकूलन अथवा समायोजनकारी उपव्यवस्था, (2) लक्ष्यपूर्ति उप-व्यवस्था, (3) एकीकरण की

उपव्यवस्था तथा (4) अदृश्य तत्वों का निराकरण जैसे प्रतिमान परिपालन तथा तनाव प्रबंध उप-व्यवस्थाएं। इन उप -व्यवस्थाओं के प्रकार्यों पर इकाई 4.5 में प्रकाश डाला गया है।

4.4 प्रतिमान चर (परिवर्त्य)

पारसंस के अनुसार प्रकार्य के द्वारा सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए व्यवस्था के प्रतिमानों तथा व्यक्तियों की निजी विशेषताओं व पद्धतियों द्वारा निर्धारित मूल्यों के निर्मित होने की आवश्यकता होती है। यह मूल्य एवं संस्कृति कर्ता द्वारा क्रियाओं (प्रकार्यों) के चुनने का निर्धारण करते हैं। किसी कर्ता को सदैव दो विकल्पों में से चयन की समस्या का सामना करना पड़ता है। इस संबंध में पारसंस ने प्रतिमान चर (परिवर्त्य) (Pattern variables) की अवधारणा को प्रस्तुत करते हुए बताया है कि ये कर्ता की क्रिया-कलापों के चयन तथा उसकी दिशा निर्धारित करते हैं जो व्यवस्था के बने रहने की संभावना को इंगित करते हैं। ये प्रतिमान चर निम्नलिखित हैं -

(1) अनुशासन मुक्ति बनाम अनुशासनबद्धता -

किसी लक्ष्य की ओर उन्मुख कर्ता या तो नियमों की अवहेलना करके (अनुशासन मुक्त होकर) स्वच्छंदतापूर्वक अपने लक्ष्य की पूर्ति करे अथवा नियमानुसार क्रियाओं को सम्पन्न करके अपनी आवश्यकता की पूर्ति करे। जब कर्ता कष्ट से दूर रहता तथा अधिकतम आनन्द प्राप्त करना चाहता है - ऐसी हालत में प्रतिमान अनुशासन मुक्ति का होगा। इसके विपरीत यदि क्रिया व्यवस्था में अन्य स्वार्थों के हित में अनुशासनबद्धता होती है, त्याग होता है अथवा कुछ संतुष्टियों का परित्याग निहित होता है तो उसे अनुशासनबद्धता की संज्ञा दी जाती है। उदाहरण के लिए सैनिकों से आशा की जाती है कि वे तुरंत संतुष्टि प्रदान करने वाली क्रियाओं की अवहेलना करें तथा अपने कर्तव्यों का पालन अनुशासनबद्ध होकर करें,चाहें उन्हें संकट का सामना भले ही करना पड़े। यदि क्रियाएं भावुकता एवं संवेगों की अनियंत्रित अभिव्यक्ति पर आधारित हैं तो वे सांस्कृतिक प्रतिमानों द्वारा स्वीकृत एवं मान्य नहीं होती।

(2) स्वहित बनाम परहित (सामूहिक हित) -

कर्ता यदि स्वहित अर्थात व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ति के लिए कार्य करेगा तो दूसरे के हितों की उपेक्षा होगी और यदि दूसरों के हित को उद्देश्य बना कर कार्य करेगा तो उसे अपने हित को त्यागना पड़ सकता है। दुकानदारों तथा विक्रेताओं से यह आशा की जाती है कि वे अपनी वस्तु की प्रशंसा करेंगे- इसमें उनका अपना हित व स्वार्थ छिपा होता है। किन्तु डाक्टर से यह आशा की जाती है कि वह रोगी को उचित परामर्श दे, भले ही वह परामर्श डाक्टर के हित या स्वार्थ में न हो।

(3) विशिष्टवाद बनाम सार्वभौमिकवाद -

विशिष्टवादी क्रिया-प्रतिमान का अर्थ किसी कर्ता द्वारा किसी वस्तु से स्थापित विशिष्ट संबंधों से है। सार्वभौमिकवाद का तात्पर्य है कि क्रिया सामान्यीकृत मूल्य मापदंडों से बिना किसी पक्षपात के संपन्न की जाती है। एक अध्यापक से आशा की जाती है कि वह भेदभाव रहित होकर सभी छात्राओं को योग्यतानुसार समान अंक दे किन्तु संबंध विशेष के आधार पर यदि वह किसी छात्र के साथ पक्षपात पूर्ण तरीके से अंक देता है तो उसका यह व्यवहार विशिष्टवादी कहलाएगा।

(4) प्रदत्त बनाम अर्जित -

यह परिवर्त्य इस तथ्य पर आधारित है कि कर्ता किसी क्रिया का संपादन जन्मजात गुणों के

आधार पर करता है या उसकी योग्यता अथवा अर्जित गुणों के आधार पर । रंगभेद, जाति पहले विकल्प का उदाहरण है तथा प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर प्रशासन के किसी पद पर चयन दूसरे विकल्प का उदाहरण है।

(5) सम्पूर्ण बनाम अंश -

इसका तात्पर्य कर्ता द्वारा अपने कर्तव्य पालन के समय वस्तु में उत्पन्न संबंध की परिधि से है। यह अनिश्चित रूप से विस्तृत सीमा वाला, अनंत क्रियाशीलता वाला, नैतिक दृष्टि से अनिवार्यपूर्ण तथा बहुसंख्यक स्थितियों में सार्थक हो सकता है। दूसरी ओर सीमित क्षेत्र वाला तथा संकुचित क्रियाशीलता वाला हो सकता है। आधुनिक फैक्ट्री में "श्रमिकों तथा नियोक्ता" का संबंध सीमित होता है।, जिसे अंश द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसके विपरीत जमींदारी प्रथा में जमींदारों तथा रैयतों के संबंध "संपूर्ण " कोटि के होते थे।

प्रतिमान परिवर्त्य की अवधारणा में एकीकरण के रूप में व्यक्तित्व, संस्कृति एवं समाज के बारे में चिंतन विधा प्रस्तुत की गई है जो अत्यंत महत्वपूर्ण है। हम निश्चित रूप से व्यक्तित्व के अत्यंत मौलिक तत्वों को क्रिया की व्यवस्था के रूप में तथा सामाजिक व्यवस्था से उसके संबंधों को जान सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि प्रतिमान परिवर्त्यों के संश्लेषण ने पारसंस को छोटी से छोटी इकाई से लेकर संपूर्ण सामाजिक संरचना तक की अवधारणात्मक व्याख्या के योग्य बनाया है। यह प्रकार्यात्मक विश्लेषण के तर्क की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं

अनेक विद्वानों ने पारसंस के प्रतिमान परिवर्त्यों की योजना की आलोचना की है। मैक्स ब्लैक का कहना है कि प्रतिमान परिवर्त्यों के अंतर्गत प्रयुक्त चयन शब्द का "संकीर्ण तथा जोरदार" अर्थ लिया जाय तो यह कहना गलत होगा कि क्रिया की योजना बनाते समय किसी व्यक्ति के सामने इस प्रकार के प्रतिमान परिवर्त्य होते हैं। पारसंस द्वारा बलपूर्वक कहे जाने के बावजूद भी प्रतिमान परिवर्त्य उसके सामान्य सिद्धान्त के लिए आवश्यक नहीं है। ऐसी अनेक विधियां हो सकती हैं जिनके आधार पर कर्ता की अभिवृत्तियों को वर्गीकृत किया जा सकता है। बीर स्टीड का कहना है कि प्रतिमान परिवर्त्य योजना को अनावश्यक परिवर्त्यों के द्वारा बोझिल बना दिया गया है।

प्रकार्यात्मक उपागम के संदर्भ में प्रतिमान परिविर्त्यों का महत्व इसमें निहित है कि यह व्यवस्था के स्थायित्व तथा एकीकरण के लिए व्यक्तियों की क्रियाओं को निर्धारित करने के लिए एक अवधारणात्मक तथा सैद्धान्तिक प्रयत्न है। इस संबंध में यह बताना आवश्यक है कि पारसंस ने 'सामाजीकरण' तथा 'सामाजिक नियंत्रण' पर भी इसलिए बहुत जोर दिया क्योंकि ये व्यक्तियों व उनके व्यक्तित्व को सामाजिक व्यवस्था के साथ एकीकृत करते हैं।

4.5 प्रकार्यात्मक योजना का प्रारूप (AGILप्रारूप)

पारसंस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था को जीवित रहने के लिए क्रियाओं की पद्धतियों (Systems of action) में चार समस्याएं निहित होती हैं। यह समस्याएं अथवा पूर्व आवश्यकताएं निम्नलिखित हैं जो उप-व्यवस्थाओं द्वारा पूरी की जाती है।

(1) अनुकूलन या समायोजन

(Adaptation) --------- A

(2) लक्ष्य प्राप्ति

(Goal attainment) -----G

(3) एकीकरण

(Integration) ----------I

(4) प्रतिमान परिपालन तथा तनाव प्रबंध

(Latency) ----------L

पारसंस की उपर्युक्त चार प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं को संक्षेप में ऊपर बताए गये ढंग से (प्रत्येक का प्रथम अक्षर लेकर) AGILप्रारूप से भी संबोधित किया गया है। इस प्रारूप को अधोलिखित रूप में विश्लेषित किया जा सकता है।

(1) अनुकूलन अथवा समायोजन का प्रकार्य -

इसके अंतर्गत वातावरण से पर्याप्त साधनों को प्राप्त करने की समस्या तथा इन साधनों को व्यवस्था में वितरित करने की समस्या आती है। समायोजन के प्रकार्य से तात्पर्य सामान्यीकृत सुविधाओं एवं संसाधनों का उत्पादन, अर्जन तथा उनके वितरण से है। पारसंस की योजना के अन्तर्गत उदाहरण के रूप में यदि हम फैक्ट्री को सामाजिक व्यवस्था के रूप में लेते हैं तो इसमें समायोजन के प्रकार्य हुए : उचित प्रकाश, वातानुकूलन, उपयुक्त मशीनें, खाद्यान्न सेवा तथा अन्य कार्यकारी दशाएं यह उप-व्यवस्थाओं के द्वारा पूरी की जाती है।

(2) लक्ष्य प्राप्ति का प्रकार्य -

सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति की समाज की क्षमता को अधिकतम बनाना। फैक्ट्री के उदाहरण में इसके अंतर्गत उत्पादन करना अथवा माल तैयार करना, निर्माण, विपणन, तथा अनुसंधान क्रियाएं इत्यादि आती हैं।

(3) एकीकरण सम्बन्धी प्रकार्य -

इसके अंतर्गत व्यवस्था की इकाइयों में अंतःसंबंध तथा एकात्मकता एवं सहयोग लाने से संबंधित प्रकार्य आते हैं। जैसे - फैक्ट्री में श्रम समितियाँ, सहकारी समितियाँ, जन संपर्क तथा श्रम कल्याण इत्यादि कार्य किए जाते हैं। इसके अंतर्गत अन्य तीन पूर्व आवश्यकताओं (AGL) की पूर्ति से संबंधित कार्य भी आते हैं।

(4) प्रतिमान अनुरक्षण या प्रतिमान परिपालन तथा तनाव प्रबंधन -

इसके अन्तर्गत यह सुनिश्चित करने की समस्या रहती है कि किस तरह व्यवस्था के कर्ता उचित उद्देश्यों, आवश्यकताओं, योग्यताओं इत्यादि के द्वारा क्रियाएं संपन्न करते हैं। इसमें सांस्कृतिक मूल्यों से सामंजस्य के लिए पर्याप्त प्रेरणा प्रदान करना, सामंजस्य व समंजन को पुरस्कृत करना तथा सामाजिक व्यवस्था में कर्ताओं के आंतरिक तनावों को दूर करना भी इसके अंतर्गत आता है। फैक्ट्री के उदाहरण में यह प्रकार्य इस प्रकार हैं - प्रशिक्षण , पद निर्धारण, प्रोन्नति, वेतन वृद्धि तथा लाभांश अनुशासन संहिता तथा शिकायत निवारण इत्यादि ।

उपरोक्त प्रारूप के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि पारसंस के अनुसार "प्रकार्य, क्रियाओं का जाल है जो व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

अपने सिद्धान्त में पारसंस ने AGIL प्रारूप को प्रत्येक स्तर पर प्रयोग करने की बात कही

है। पारसंस AGIL प्रारूप को किस तरह प्रयोग में लाते है - इस पर निम्नलिखित विवरण में प्रकाश डाला गया है।

(1) प्राणीशास्त्रीय व्यवस्था (Behavioral organism)

यह वह कार्य व्यवस्था है जिसके द्वारा अनुकूलन या समायोजन (Adaptation) का प्रकार्य सम्पन्न होता है।पारसंस की धारणा है कि सामाजिक व्यवस्था एवं भौतिक पर्यावरण के बीच सभी संबंधों की मध्यस्थता व्यावहारिक सावयव के द्वारा की जाती है। पारसंस प्रौद्योगिकीय संगठन को समाज एवं सावयवी भौतिक पर्यावरण के बीच सीमा संरचना के रूप में देखता है क्योंकि प्रौद्योगिकी मानव आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर भौतिक पर्यावरण को नियंत्रित एवं विकल्प प्रस्तुत करने की सामाजिक क्षमता रखती है।

(2) व्यक्तित्व व्यवस्था (Personality System)

व्यक्तित्व व्यवस्था लक्ष्य प्राप्ति का प्रकार्य सम्पन्न करती है। यह व्यवस्था लक्ष्यों को परिभाषित करती है तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए साधनों को जुटाती है। पारसंस के अनुसार व्यक्तित्व कर्ता के रूप में जीवित व्यक्ति का वह पक्ष है जिसे उसकी व्यावहारिक व्यवस्था के बनाने वाले सामाजिक तथा सांस्कृतिक घटकों के सीखे प्रतिमानों के रूप में समझा जा सकता है। व्यक्तित्व क्रिया की एक स्वायत्तशासी उप-व्यवस्था है। व्यक्तित्व व्यवस्था का मुख्य प्रकार्य संप्रेरकों को सीखना, विकसित करना तथा परिपालन करना है, जिससे व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से मूल्य तथा विहित क्रियाओं में भाग ले सके। इसके बदले में समाज को भी अपने सदस्यों को संतुष्ट तथा पुरस्कृत करना होता है, जिससे संप्रेरणा तथा संपादन का स्तर बना रहे। चूँकि व्यक्तित्व व्यवहारशील व्यक्तियों का "सीखा हुआ संगठन" होता है, अतः समाजीकरण की प्रक्रिया - केन्द्रीय महत्व रखती है।

(3) सामाजिक व्यवस्था (Social System)

इस व्यवस्था के द्वारा एकीकरण संबंधी प्रकार्य सम्पन्न होते हैं जो इस व्यवस्था को निर्मित करने वाले विभिन्न भागों (Component parts) को नियंत्रित करके लिये जाते है। सामाजिक व्यवस्था इस तरह संचारित नहीं हो सकती कि उसके अंतर्गत प्राणिशास्त्रीय सावयवों, सामाजिक व्यक्तियों के रूप में वैयक्तिककर्ता, या सांस्कृतिक व्यवस्था की प्रकार्य दशाएं बिल्कुल सामंजस्य रहित हो जायें।अतः इस व्यवस्था के अंतर्गत अन्य तीन पूर्व आवश्यकताओं (AGL) की पूर्ति का प्रयत्न भी निहित है।

(4) सांस्कृतिक व्यवस्था (Cultural System)

सांस्कृतिक व्यवस्था के अंतर्गत ऐसे प्रकार्य संपन्न किये जाते हैं जो मूल्यों, प्रतिमानों तथा विश्वासों आदि को प्रदान करके कार्य करने के लिए प्रेरणा दे सके। इसके अन्तर्गत प्रतिमान अनुरक्षण या प्रतिमान परिपालन तथा तनाव प्रबंधन (Latency, pattern maintenance) से संबंधित प्रकार्य सम्पन्न होते हैं। पारसंस के अनुसार सांस्कृतिक व्यवस्था से तात्पर्य "क्रिया के उस पक्ष से है जो प्रतीकों की विशिष्ट विशेषताओं को संगठित कर उनके आधार पर स्थायी व्यवस्था का निर्माण करने की अनिवार्य दशा को निर्मित करते हैं। सांस्कृतिक संस्थाएं संज्ञानात्मक विश्वासों, अभिव्यक्तात्मक प्रतीक व्यवस्थाओं तथा वैयक्तिक नैतिक आग्रहों से मिलकर बनती है। सांस्कृतिक व्यवस्था का मुख्य कार्य समाज की आदर्श व्यवस्था को वैधता प्रदान करना है। समाज की आदर्शात्मक व्यवस्था को वैध बनाने में सांस्कृतिक मूल्य प्रतिमान सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था के बीच प्रत्यक्ष संपर्क सूत्र की भूमिका निभाते हैं। पारसंस का कहना है कि सांस्कृतिक व्यवस्था (प्रतिमान परिपालन) का संस्थाकरण

की दृष्टि से केन्द्रीय महत्व है।

पारसंस के उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक व्यवस्था के किसी भी अंग को संपूर्ण व्यवस्था से पृथक मानकर समझा नहीं जा सकता क्योंकि इन अंगों में एक प्रकार्यात्मक संबंध होता है। पारसंस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था की चार बुनियादी प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं है। : (1) अनुकूलन, (2) लक्ष्य प्राप्ति, (3) एकीकरण तथा (4) प्रतिमान परिपालन । ये पूर्व आवश्यकताएं वस्तुतः व्यवस्था की समस्याएं हैं। अतः यदि यह पूर्व आवश्यकताएं पूरी नहीं की जाती तो व्यवस्था का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। वे गतिविधियां जो इन पूर्व आवश्यकताओं को पूरा करती हैं, प्रकार्य हैं।

4.6 आलोचना

पारसंस के प्रकार्यवाद के विश्लेषण को एक ओर अत्यधिक महत्व दिया गया वहीं इसकी अनेकों आलोचनाएं भी हुई। कुछ आलोचकों का मत है कि यद्यपि पारसंस का वह विचार माना जा सकता है कि समाज का अस्तित्व व्यक्तियों से ऊपर एवं बढ़कर है, किन्तु पूर्व आवश्यकताएं (अनुकूलन, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण तथा प्रतिमान परिपालन) यथार्थतः समाज या व्यवस्था की नहीं मानी जा सकती, और यदि हम ऐसा मानते भी हैं तो समाज और व्यक्ति को एक ही स्तर या श्रेणी में रखते हैं, जो गलत है। एन्थोनी गिडिन्स तर्क देते हैं कि वास्तविक जगत में व्यक्ति तथा उनकी क्रियाओं की ही सार्थकता है। उनके अनुसार समाज एवं व्यवस्थाओं को व्यक्तियों से बढ़कर या अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता।

पारसंस संघर्षात्मक जगत की उपेक्षा कर अपना ध्यान संस्थाकृत आदर्श नियमों एवं मूल्यों की ओर लगाता है। मार्क्सवाद से प्रभावित लाकवूड की मान्यता है कि यदि मौलिक स्वार्थ व संघर्ष न हो तो उसके दमन के लिए आदर्शात्मक व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होती। अतः आदर्शात्मक व्यवस्था की निरन्तरता इंगित करती है कि स्वार्थ संघर्ष का बना रहना कितना महत्वपूर्ण है। पारसंस के अनेक आलोचकों का कहना है कि यद्यपि उन्होंने क्रिया पर पर्याप्त बल दिया है, किन्तु उनके द्वारा वर्णित व्यवस्था गतिहीन है। लेविस फ्योर ने लिखा है कि पारसंसवादी व्यवस्था में क्रिया की क्रियाहीनता में अनुदित होने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

ब्लैक तथा अन्य आलोचकों के अनुसार पारसंस की कृतियों में कार्यकारणवादी प्रस्थापनाओं का सुस्पष्ट अभाव है। ब्लैक की दृष्टि में पारसंस की अवधारणाओं में ''व्यवस्थित अस्पष्टता है'' - ऐसा लगता है कि ''पारसंसवादी योजना की घटक अवधारणाएं सुनने में तकनीकी शब्दावली लगने वाली छद्मवेश में सामान्य व्यक्ति की अवधारणाएं है।'' ब्लैक के अनुसार पारसंस के सिद्धान्त 'अनुभवजन्य सामान्यीकरण'' के किसी विचारणीय अर्थ में ''अनुभवजन्य सामान्यीकरण'' पर आधारित नहीं है। पारसंस की एक आलोचना यह भी है कि उसकी कृतियाँ कोई बौद्धिक उत्तेजना या अन्वेषण का भाव उत्पन्न नहीं कर पाती। पारसंस ने अपने सिद्धान्त की अवधारणा में तर्क या पद्धतिशास्त्र का वर्णन करना आवश्यक नहीं समझा।

डेहरेनडॉर्फ ने पारसंस के प्रकार्यवाद की आलोचना को विभिन्न पहलुओं से संबंधित करते हुए बताया कि : (1) पारसंस का विश्लेषण किसी विकासात्मक इतिहास की व्याख्या नहीं करता, (2) यह केवल मूल्यों एवं प्रतिमानों में सर्वसम्मति तथा एकमत होना प्रमाणित करता है। (3) उनका प्रकार्यवाद समाज के विभिन्न भागों में उच्च स्तर का एकीकरण प्रदर्शित करता है, एवं (4) यह ऐसी

यान्त्रिकी (mechanism) व अंतःक्रियाओं की व्याख्या करता है जिससे समाज में यथास्थिति बनी रहे । समाज की ऐसी व्याख्या काल्पनिक है क्योंकि इसमें संघर्ष एवं परिवर्तन के समावेश की कोई गुंजाइश नहीं है, जो समाज में सदैव व्याप्त रहते हैं।

पारसंस ने सामाजिक व्यवस्था में एकीकरण पर आवश्यकता से अधिक बल दिया किन्तु उन प्रक्रियाओं पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया जो समाज में एकीकरण लाने के लिए आवश्यक है। सामाजिक व्यवस्था में एकीकरण प्राप्त होने की दशा में यह माना जा सकता है कि व्यवस्था में संतुलन (equilibrium) बना रहता है। अनापेक्षित क्रियाएं, संघर्ष तथा परिवर्तन सदैव समाज में आवश्यक रूप से व्याप्त रहते हैं जो सामाजिक संतुलन की स्थिति से बहुत दूर हैं। सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक विकास के संबन्ध में पारसंस ने बताया कि जब संस्कृतियों के एकीकरण मे विलंब होता है तथा विभेदीकरण बना रहता है तो सामाजिक परिवर्तन व विकास भी देर से होता है। इसमें क्रान्ति के भाव नहीं हैं।

पारसंस की पूर्व आवश्यकताओं को पूरा करने की अवधारणा जो AGILप्रारूप पर आधारित हे वह इस बात पर बल देती है कि समाज के जीवित रहने के लिये अनुकूलन, लक्ष्यप्राप्ति, एकीकरण तथा प्रतिमान परिपालन अति आवश्यक हैं। यह ऐसी अवधारणाएं हैं जिन्हें प्रमाणित नहीं किया गया। पारसंस ने यह भी स्पष्ट नहीं किया कि विभिन्न व्यवस्थाओं में पूर्व आवश्यकताओं के पूरा होने पर या न पूरा होने पर व्यवस्था के जीवित रहने (survival) या न जीवित रहने (Non-survival) को किस आधार पर पहचाना जा सकता है। इसके अभाव में हम पूर्व आवश्यकताओं की अवधारणाओं को सर्वेक्षित या प्रमाणित नहीं कर सकते। अतः ये अवधारणाएं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त बनाने के लिए बहुत उपयोगी नहीं हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पारसंस के प्रकार्यवाद के विश्लेषण की अनेक आलोचनाएं की गई हैं। फिर भी वह प्रकार्यवाद तथा सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या का सर्वाधिक प्रतिभासम्पन्न विद्वान है।

4.7 सारांश

पारसंस ने प्रकार्यवाद को जिस भांति परिभाषित किया है उसका केन्द्र बिन्दु व्यवस्था है। उसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था आवश्यक रूप से अंतःक्रियात्मक (Interactive) संबंधों का एक जाल है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में क्रियाओं को संगठित करने के लिए संगठनों एवं संस्थाओं की आवश्यकता होती है। जब परस्पर संबंधित क्रियाओं का संस्थाकरण हो जाता है तो सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व के बने रहने की संभावना बढ़ जाती है। पारसंस ने प्रतिमान चर (Pattern variables) की अवधारणा को प्रस्तुत करते हुए बताया है कि ये कर्ता की क्रिया-कलापों के चयन तथा उनकी दिशा निर्धारित करते हैं जो व्यवस्था के बने रहने की संभावना को इंगित करते हैं। ये प्रतिमान चर इस प्रकार हैं - (1) अनुशासन मुक्ति बनाम अनुशासनबद्धता (2) स्वहित बनाम परहित (सामूहिक हित) (3) विशिष्टवाद बनाम सार्वभौमिकवाद (4) प्रदत्त बनाम अर्जित तथा (5) संपूर्ण बनाम अंश। पारसंस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था को जीवित रहने के लिए चार बुनियादी प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं को पूरा करना आवश्यक है । ये इस प्रकार हैं - (1) अनुकूल (Adaptation), (2) लक्ष्य प्राप्ति (Goal attainment), (3) एकीकरण (Integration) तथा (4) प्रतिमान परिपालन (Latency)। इन्हें संक्षेप में AGIL प्रारूप से भी संबोधित किया जाता है। पारसंस के अनुसार AGIL प्रारूप में दी गयी चारों पूर्व आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए अर्थात उनसे संबंधित प्रकार्यों को संपन्न करने के लिए कुछ व्यवस्थाओं की अहम भूमिका होती

हैं जैसे (1) प्राणिशास्त्रीय व्यवस्था (Behavioral organism), (2) व्यक्तित्व व्यवस्था (Personality system), (3) सामाजिक व्यवस्था (Social system) तथा (4) सांस्कृतिक व्यवस्था (Cultural system)। यद्यपि पारसंस के प्रकार्यवाद के विश्लेषण की अनेक आलोचनाएं की गई फिर भी वे प्रकार्यवाद तथा सामाजिक व्यवस्था सिद्धान्त के सर्वाधिक प्रतिभासम्पन्न व्याख्याता हैं।

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

- लेमर्ट चार्ल्स, सोसल थ्योरी, यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका, 1993
- रिट्जर जार्ज, माडर्न सोसियोलॉजिकल थ्योरी, यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका, 2000
- टर्नर जोनाथन एच0, द स्ट्रक्चर आफ सोसियोलॉजिकल थ्योरी, रावत पब्लिकेशन, जयपुर 2002
- अब्राहम एम0 फ्रांसिस, माडर्न सोसियोलॉजिकल थ्योरी, एन इन्ट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1988
- हरलम बोस एम0 एण्ड हेआल्ड आर0 एम0, सोसियोलॉजी थीम्स एण्ड पर्सपेक्टिव्स, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 2000
- द्विवेदी रमेश नन्दन, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, विजय प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी 1996

4.9 सम्बन्धित प्रश्न उत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 पारसंस द्वारा प्रतिपादित प्रकार्यवाद का केन्द्र बिन्दु क्या है?

प्र.2 पारसंस के अनुसार समाजशास्त्र का प्रमुख कार्य क्या है?

प्र.3 सामाजिक व्यवस्था को पारसन्स ने किस प्रकार परिभाषित किया है?

प्र.4 संस्थाकरण को पारसंस ने किस प्रकार परिभाषित किया है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 पारसंस द्वारा प्रतिपादित प्रकार्यवाद का विश्लेषण कीजिए।

प्र.2 'प्रतिमान चर' की विवेचना कीजिये।

प्र.3 प्रकार्यात्मक योजना का प्रारूप (AGIL) क्या-है? इसकी व्याख्या कीजिए।

प्र.4 पारसंस के प्रकार्यवाद का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्र.1 पारसंस के अनुसार प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए कुछ ---------- -------- होती है।

(अ) मूल्य एवं मान्यतायें (ब) प्रतिमान एवं मानदण्ड

(स) प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकतायें (द) इनमें से कोई नहीं।

प्र.2 निम्नलिखित में से क्या है जो कर्ता की क्रिया कलापों के चयन तथा उनकी दिशा निर्धारित करते हैं जो व्यवस्था के बने रहने की संभावना को इंगित करते हैं -

(अ) प्रतिमान चर (ब) संस्थायें

(स) मानव व्यवहार (द) मानव चेतना

प्र.3 निम्नलिखित कथनों को पढ़ कर बतायें कि ये सत्य हैं या असत्य?

(1) पारसंस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था को जीवित रखने के लिए समाज में कुछ पूर्व आवश्यकतायें होती हैं जिन्हें उप-व्यवस्थाओं द्वारा पूरा किया जाता है।

(अ) सत्य (ब) असत्य

(2) सामाजिक व्यवस्था व्यक्तियों की चेतना के आधार पर निर्धारित होती हैं।

(अ) सत्य (ब) असत्य

उत्तर- (1) स (2) अ (3-1) अ (3-2) ब

इकाई - 5 मर्टन एवं पारसंस के प्रकार्यात्मक प्रत्ययों का तुलनात्मक मूल्यांकन तथा नव प्रकार्यवाद : जे0 एलेक्जेन्डर के विचार एवं समालोचना

इकाई की रूपरेखा-

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 मर्टन एवं पारसंस के प्रकार्यात्मक प्रत्ययों का तुलनात्मक मूल्यांकन

5.3 नव प्रकार्यवाद (Neo-Functionalism)

5.4 जे0 एलेक्जेन्डर के विचार

5.5 समालोचना

5.6 सारांश

5.7 संदर्भ ग्रन्थ

5.8 संबंधित प्रश्न-उत्तर

5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का मुख्य उद्देश्य मर्टन एवं पारसंस के विचारों के आधार पर उनके प्रकार्यात्मक प्रत्ययों के विचारों के आधार पर उनके प्रकार्यात्मक प्रत्ययों का तुलनात्मक मूल्यांकन करना है तथा यह प्रदर्शित करना है कि इनके द्वारा प्रस्तुत प्रकार्यवाद के विश्लेषण का नव प्रकार्यवाद के उदय में क्या महत्व है? तत्पश्चात नव-प्रकार्यवाद के प्रमुख लक्षणों एवं विशेषताओं की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है तथा लूहमान के नव प्रकार्यवाद पर प्रकाश डाला गया है। इसके बाद जे0 एलेक्जेन्डर के विचार तथा उनके अनुसार नव प्रकार्यवाद की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। अंत में नव प्रकार्यवाद की, विशेषतः एलेक्जेण्डर के विचारों से संबंधित समालोचना प्रस्तुत की गई है।

5.1 प्रस्तावना

सन 1970-80 के दशकों में सामाजिक घटनाओं की व्याख्या के लिए प्रकार्यावाद पूर्णतया उपेक्षित हो गया था। मैलिनोवस्की, रेडक्लिफ ब्राउन, पारसंस तथा मर्टन के द्वारा की गई प्रकार्यवाद की व्याख्या की कड़ी आलोचनाएं हुई । परम्परागत प्रकार्यवादी दृढ़तापूर्वक यह मानते हैं कि प्रकार्यवाद का बुनियादी आधार प्रकार्यात्मक आवश्यकताएं (Fundamental needs) तथा अपेक्षित गुण (Requisits) हैं। दूसरे शब्दों में समाज या व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए

जो गतिविधियाँ की जाती हैं वे ही प्रकार्य हैं। प्रकार्यवादी सिद्धान्त के संदर्भ में प्रकार्य की कोई भी परिभाषा दी जाए तो आवश्यकताएं और गुण अनिवार्य हैं। परंपरागत प्रकार्यवादी अथवा संरचनात्मक प्रकार्यवादी विश्लेषण को पुनः जीवित करने के लिए 1980-90 के दशक के मध्य, जेफ्रे एलेक्जेण्डर, निक्लास लूहमान तथा पाल कोलोमी इत्यादि के प्रेरणाओं, प्रयत्नों एवं व्याख्या के द्वारा नव प्रकार्यवाद (Neo-Functionalism) का जन्म तथा विकास हुआ। अलेक्जेण्डर की एक बहुत बड़ी उपलब्धि पारसंस को समाजशास्त्र में पुनः स्थापित करने की है। अलेक्जेण्डर का कहना है कि पारसंस ही नहीं सभी क्लासिकल सिद्धान्तवेत्ताओं का यह दोष है कि वे आदर्शवाद और भौतिकवाद के विरोध को दूर नहीं कर पाये। एलेक्जेण्डर के अनुसार कोई भी विज्ञान हो, सामाजिक या प्राकृतिक उसे आनुभाविकता और तार्किक अवधारणाओं पर अपने निष्कर्ष निकालने चाहिए। एलेक्जेण्डर के नव प्रकार्यवाद पर आगे विस्तार से प्रकाश डाला जाएगा। लूहमान एक सीमा तक अपने नव प्रकार्यवाद की व्याख्या अमूर्त स्तर पर करते हैं।परम्परागत प्रकार्यवाद में जिसे मर्टन ने विकसित किया, आनुभाविकता की प्रधानता है। लूहमान ने ऐसा कोई निर्णायक स्थान अपनी व्याख्या में आनुभाविकता को नहीं दिया । आगे हम देखेंगे कि लूहमान के नव प्रकार्यवाद के विश्लेषण में क्या विशेषताएं हैं।

5.2 मर्टन एवं पारसंस के प्रकार्यात्मक प्रत्ययों का तुलनात्मक मूल्यांकन

पिछली इकाइयों में मर्टन तथा पारसंस के प्रकार्यवाद का विश्लेषण करने के बाद उनकी आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। इस इकाई में सर्वप्रथम मर्टन तथा पारसंस के प्रकार्यात्मक प्रत्ययों का तुलनात्मक मूल्यांकन किया गया है।जो निम्नवत् है -

मर्टन तथा पारसंस के प्रकार्यात्मक विश्लेषण में यह समानता है कि दोनों ही संरचनात्मक प्रकार्यवाद की व्याख्या करते हैं। दोनों ही व्यवस्था को प्राथमिकता देते हैं तथा व्यवस्था की आवश्यकताओं एवं अपेक्षित गुणों को व्यवस्था के लिए अनिवार्य मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक समाज तत्वों की एक स्थाई संरचना होती है तथा समाज एक स्व-नियमनकारी व्यवस्था है। टर्नर के अनुसार पारसंस की ही भाँति मर्टन का प्रकार्यात्मक विश्लेषण ऐसी योजना का प्रतिनिधित्व करता है जिसका प्रयोजन अवधारणाओं को व्यवस्थित तथा क्रमवार तरीके से हमारे समक्ष लाना है तथा महत्वहीन सामाजिक प्रक्रिया से महत्वपूर्ण को पृथक करना है। यह पारसंस के प्रारूप तथा मर्टन की पैराडाइम में देखने को मिलता है । दोनों का संरचनात्मक प्रकार्यवाद समय के परिपेक्ष्य को महत्व न देकर सामाजिक व्यवस्था को समय के एक बिन्दु के संदर्भ में समझने का प्रयास करता है। इनका संरचनात्मक प्रकार्यवाद ऐतिहासिकता को अधिक महत्व नहीं देता । पारसंस तथा मर्टन के प्रकार्यवाद के विश्लेषण में यह महत्वपूर्ण समानताएं है। इन दोनों के प्रकार्यवाद में विश्लेषणात्मक अंतर तथा इनसे संबन्धित प्रत्ययों के तुलनात्मक मूल्यांकन पर नीचे प्रकाश डाला गया है।

सर्वप्रथम 1960 के दशक के प्रारम्भ से ही पारसंस के आलोचकों ने यह प्रश्न उठाना

आरम्भ कर दिया था कि क्या पारसंस की अवधारणाओं की व्यवस्थित व्याख्या वास्तविक संसार से मेल खाती है? उनके वृहद (Grand) सिद्धान्त की व्याख्या, सामाजिक व्यवहार, संस्थाकरण तथा परिवर्तन के पूर्व निर्दिष्ट पहलुओं पर आधारित है। जो दार्शनिक परिकल्पनाओं के व्यवस्थित रूप के समान हैं,जिनकी अधिक उपयोगिता नहीं होती। उनकी व्याख्या सामाजिक व्यवस्था की सर्वोत्तम स्थिति (Utopia) से संबंधित है। मर्टन का विश्लेषण इससे भिन्न है। मर्टन के अनुसार यह वृहद सिद्धान्त (Grand Theory) अपरिपक्व है क्योंकि पारसंस ने अपने प्रारूप को निर्मित करने के पहले आवश्यक अवलोकनात्मक प्रयोग सिद्ध (empirical) कार्य नहीं किया। यह कहा जा सकता है कि मर्टन के मध्यंस्तरीय सिद्धान्त (Middle Range Theories) पारसंस के वृहद सिद्धान्त (Grand Theory) से अधिक उपयोगी है। मर्टन के अनुसार आनुभविक तथ्यों को अधिक से अधिक एकत्र करना चाहिए तथा इन आनुभविक तथ्यों के आधार पर मध्य स्तरीय सिद्धान्त (Middle Range Theories) बनाने चाहिए क्योंकि यह सिद्धान्त अधिक गहनता लिए हुए होते हैं। मध्य स्तरीय सिद्धान्त सामान्य आनुभाविक प्राकल्पनाओं एवं वृहद अथवा भव्य सिद्धान्त के बीच में होते हैं। मर्टन के अनुसार पहले मध्य स्तरीय सिद्धान्त बनाने चाहिए फिर उनके आधार पर उनके पैराडाइम (प्रारूप) की सहायता से सामान्य सिद्धान्त या वृहद सिद्धान्त निर्मित करना चाहिए। हमारे देश में जातियों का स्तरीकरण जातियों में गतिशीलता तथा शहरों में गंदी बस्तियाँ इत्यादि मध्यस्तरीय सिद्धान्त के उंदाहरण हैं। मर्टन का प्रकार्यवाद पार्सन्स से अधिक उपयोगी समझा जाता है क्योंकि मर्टन ने मध्यस्तरीय सिद्धान्त के निर्माण में प्रकार्यात्मक सिद्धान्त को विकसित किया ।

टर्नर के अनुसार मर्टन के मध्य स्तरीय सिद्धान्त किसी विशेष समय, स्थान तथा प्रासंगिकता से बहुत अधिक जुड़ा है।, अतः इनके आधार पर सैद्धान्तिक सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। संभवतः यही कारण रहा कि मर्टन का सिद्धान्त भी अधिक प्रभावकारी नहीं रहा।

पारसंस की कृतियों में कार्य-कारण वादी प्रस्थापनाओं का सुस्पष्ट अभाव है। दूसरी ओर मर्टन की व्याख्या भी कार्य-कारण संबंध पर आधारित नहीं है। उन्होंने बताया कि अमेरिका में "राजनैतिक यांत्रिकी "(Political Machines) इसलिए अस्तित्व में आती है और जीवित रहती है क्योंकि यह समाज के निर्बल वर्ग तथा कुछ अन्य वर्गों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। इनमें से बहुत सी आवश्यकताएं गैर-कानूनी भी होती है, जिन्हें वहाँ का प्रशासन पूरा नहीं करता। इस व्याख्या में कार्य-कारण का संबंध नहीं है क्योंकि वहां पर केवल कुछ वर्गों की आवश्यकताओं एवं राजनैतिक यांत्रिकी (Political Machines) में सह-संबंध प्रदर्शित होता है तथा इसमें यह नहीं स्पष्ट किया गया है कि किस तरह विभिन्न उपवर्गों की आवश्यकताओं ने राजनैतिक यांत्रिकी को जन्म दिया और किस प्रकार यह निरंतरता बनाए रखती है। मर्टन के विश्लेषण में अनेक कार्यकारण संबंधी श्रंखलाएं छिपी हैं । इस तरह के उनके अवैध या अवैध अनुमान वाले कार्य-कारण संबंध (illegitimate teleology) प्रकार्यात्मक विश्लेषण की सैद्धान्तिक उपयोगिता को कम करते हैं

पारसंस ने यह स्पष्ट नहीं किया कि विभिन्न व्यवस्थाओं में पूर्व आवश्यकताओं के पूरा होने

(AGIL प्रारूप के अनुसार) या न पूरा होने पर व्यवस्था के जीवित रहने (Survival) या न जीवित रहने (Non-survival) को किस आधार पर पहचाना जा सकता है। इसके अभाव में हम पूर्व आवश्यकताओं की अवधारणाओं को सर्वेक्षित या अवलोकनात्मक विधि से प्रमाणित नहीं कर सकते। अतः ये अवधारणाएं टर्नर के शब्दों में पुनुरूक्ति (tautology) है। मर्टन के प्रकार्यात्मक विश्लेषण की भी पुनुरूक्ति के आधार पर आलोचना की गई है क्योंकि वे प्रकार्यात्मक सिद्धान्त के निरूपण में कई तथ्यों को बार-बार थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ काम में लाते हैं तथा वे प्रभाव को ही कारण मानते हैं। मर्टन, प्रकार्यात्मक विश्लेषण की विधि में धर्म की व्याख्या इस तरह करते हैं कि धर्म का अस्तित्व इसलिए है कि यह व्यक्तियों को नैतिक समुदाय में बांधता हैं । मर्टन अपने पैराडाइम में प्रकार्यवाद के कारणों की व्याख्या एक चक्र के रूप में करते हैं । इन आधारों पर पारसंस एवं मर्टन के प्रकार्यात्मक विश्लेषण की उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया है।

पारसंस का प्रकार्यात्मक विश्लेषण मूल्यों एवं प्रतिमानों में सर्वसम्मति, समाज के विभिन्न भागों में एकीकरण तथा ऐसी यांत्रिकी (Mechanism) व अंतःक्रियाओं की विवेचना करता है जिससे समाज में स्थायित्व (Status quo) बना रहे। यह यान्त्रिकी संतुलन बनाए रखने का कार्य करती है। इसके अंतर्गत अनापेक्षित क्रियाएं, संघर्ष तथा परिवर्तन जो समाज में आवश्यक रूप से व्याप्त रहते हैं उनको महत्व नहीं दिया गया। मर्टन ने प्रकार्यवादी विश्लेषण में अपने पूर्ववर्ती विचारकों से भिन्न 'अप्रकार्य या दुष्प्रकार्य' पर भी बल दिया जो व्यवस्था के साथ अनुकूलन नहीं करते तथा विघटनकारी भी हो सकते हैं। अप्रकार्य का संबोध तनाव अथवा दबाव को महत्व देता है जो कि गत्यात्मकता एवं परिवर्तन के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है। यद्यपि मर्टन ने परिवर्तन व विकास की प्रक्रिया की व्याख्या नहीं की, फिर भी उनका प्रकार्यात्मक विश्लेषण इस अर्थ में पारसंस के विश्लेषण से अधिक उपयोगी है कि इसमें परिवर्तन, विकास तथा क्रान्ति के तत्व निहित हैं।

जैसा कि ऊपर की गई विवेचना से विदित होता हैं कि पारसंस की कृतियों में कार्य -कारणवादी प्रस्थापनाओं का अभाव है तथा मर्टन के विश्लेषण में भी कार्यकारण संबंध अवैध अनुमानों से युक्त (illegitimate teleology) हैं। पारसंस तथा मर्टन दोनों के विश्लेषण में पुनुरूक्ति (tautology) के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। यह ऐसी मुख्य कमियां हैं जिनके आधार पर इनके प्रकार्यावाद के विश्लेषण को 'सिद्धान्त' मानने के लिए प्रश्न चिन्ह लगाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त मर्टन के प्रकार्यात्मक के विश्लेषण का पैराडइम एक विधि है। जब हम इसे मॉडल मानते हैं तो टर्नर के शब्दों में मॉडल कभी भी किसी अर्थ में सिद्धान्त नहीं होता। होमन्स ने भी इसी तर्क को रखा है और निश्चित शब्दों में कहते हैं कि प्रकार्यवाद सिद्धान्त नहीं है। कोपलर अपनी टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि प्रकार्यात्मक सिद्धान्त मात्र अध्ययन की एक विधि है, अध्ययन का तर्क मात्र है।

यद्यपि पारसंस तथा मर्टन के द्वारा प्रस्तुत प्रकार्यवाद के विश्लेषण की आलोचनाएं कई बिन्दुओं पर हुई हैं फिर भी हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि इनके प्रकार्यवाद ने अनेक महत्वपूर्ण मान्यताओं का विकास किया। टर्नर की धारणा हैं कि प्रकार्यवाद का विश्लेषण महत्वपूर्ण

है, किन्तु आवश्यकता इसकी पद्धति में परिवर्तन की है। पारसंस की व्याख्या में पूर्व आवश्यकताओं की पूर्ति से संबंधित अनुकूलन, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण तथा प्रतिमान परिपालन की धारणाएं प्रकार्यवादी सिद्धान्त को और अधिक विकसित करने तथा आगे बढ़ाने के लिए दिशा-निर्देश प्रदान करती है।। मर्टन का पैराडाइम वास्तव में प्रकार्यात्मक सिद्धान्त की रणनीति है। मर्टन के प्रकार्य की अवधारणा तथा प्रकार्य के भेद (जैसे प्रकार्य, अप्रकार्य, प्रकट व प्रच्छन्न प्रकार्य) की व्याख्या प्रकार्यवाद के सिद्धान्त में महत्वपूर्ण योगदान है। वास्तव में पारसंस तथा मर्टन के विश्लेषण में इसी प्रकार की अनेक अवधारणाओं तथा विशेषताओं के कारण संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम एक प्रमुख एवं प्रभावकारी सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य के रूप में स्थापित हुआ। पारसंस तथा मर्टन ने ऐसी विश्लेषणात्मक भूमिका प्रदान की जिससे नव प्रकार्यवाद (Neo functionalism) का उदय हुआ।

5.3 नव-प्रकार्यवाद (Neo-Functionalism)

नव प्रकार्यवाद का प्रारम्भ 1984 ई में जर्मनी में हुआ था। इस सिद्धान्त का जन्म तथा विकास जेफ्रे एलेक्जेण्डर, निकलास लूहमान तथा पाल कोलोमी इत्यादि विचारकों के प्रयत्नों एवं कार्यों के द्वारा हुआ। नव प्रकार्यवाद का सिद्धान्त समाजशास्त्रीय दुनिया में तब आया जब 1985 में एलेक्जेण्डर द्वारा संपादित पुस्तक 'नियोफंकशनलिज्म (Neo-functionalism) प्रकाशित हुई। जर्मनी के निवासी लूहमान ने पारसंस के प्रकार्यवाद का संशोधन किया और इससे नई पीढ़ी के जर्मन समाजशास्त्री अत्यंत प्रभावित हुए। पारसंस के प्रकार्यवाद ने जिस नव प्रकार्यवाद को जन्म दिया, उसका विकास वास्तव में जर्मनी में हुआ। यह अपने प्रारंभिक वर्षो में यूरोप तक ही सीमित रहा और बाद में यह सिद्धान्त अमेरिका में आया। यह एक संयोग की बात है कि पारसंस जर्मनी में अपने सम्मान समारोह में गए थे और वहीं उनका 1979 में देहान्त हो गया। उनके देहान्त ने जर्मनी के समाजशास्त्रियों को पारसंस पर गम्भीरता से सोचने का मौका दिया और इसके परिणामस्वरूप नव प्रकार्यवाद विकसित हुआ।

नव प्रकार्यवाद के अन्तर्गत पारसंस की अवधारणाओं को संशोधित कर उन्हें विकसित करने तथा आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। अपने बौद्धिक जीवन काल में पारसंस ने सांस्कृतिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था तथा व्यक्तित्व व्यवस्था के अंतर्संबन्ध तथा इनके संयुक्तिकरण में अत्यधिक रूचि ली किन्तु अंत में उन्होंने अपनी व्याख्या का आधार संकुचित करते हुए इस बात पर बल दिया कि सांस्कृतिक व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं को निर्धारित करती हैं। इस संकुचित आधार में संशोधन की दिशा में नव प्रकार्यवाद का बहुत बड़ा योगदान है। एलेक्जेण्डर ने संरचनात्मक प्रकार्यवाद से संबंधित कुछ समस्याओं का उल्लेख किया जिन पर नव प्रकार्यवाद को विजय प्राप्त करनी है। ये समस्याएं इस प्रकार हैं - प्रकार्यवाद का व्यक्तिवाद - विरोधी होना (anti-individualism), परिवर्तन विरोधी होना (antagonism to change), रूढ़िवादिता (Conservatism), आदर्शवादिता (Idealism), तथा अवलोकनात्मक आनुभविकता के प्रति नकारात्मक झुकाव (Anti-empirical bias)। नव-प्रकार्यवाद में इन समस्याओं को व्यवस्थित ढंग से सैद्धान्तिक स्तरों पर सुलझाने का

प्रयत्न किया गया।

नव प्रकार्यवाद के लक्षण -

(1) नव प्रकार्यवाद के अनुसार जब व्यक्ति किसी क्रिया को करता है तो उस क्रिया को निर्धारित करने वाले अनेकों कारण होते हैं - जैसे क्रिया की उपयोगिता, व्यवस्था के मानक को स्वीकार करने के लिए या किसी अन्य परिस्थिति का सामना करने के लिए । यह इस बात को पारसंस की तरह स्वीकार नहीं करता कि मनुष्य की क्रियाएं सदैव मूल्यों और मानदण्डों के आधार पर होती हैं। यह इस बात को भी स्वीकार नहीं करता कि व्यवस्था का कर्ता की क्रियाओं पर भी दबाव पड़ता है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि नव प्रकार्यवाद बहुआयामी समाजशास्त्र है। (2) नव प्रकार्यवाद के अंतर्गत यह माना जाता है कि क्रिया स्वयं कर्ता का चयन होता है। कर्ता ही तय करता है कि उसे कौन सी क्रिया करनी है। व्यवस्था उसे निश्चित नहीं करती। पारसंस का प्रकार्यवाद यह स्थापित करता है कि कर्ता की क्रियाएं व्यवस्था निर्धारित करती हैं । नव प्रकार्यवाद के अन्तर्गत क्रिया कर्ता के लिए एक खुला विकल्प है। (3) हालवोर फौस्ले (Halvor Fausle) के अनुसार नव प्रकार्यवाद प्रकार्यवादी परम्परा का एक नया समाजशास्त्रीय पुनर्निमाण है। इसकी प्रवृत्ति विवरणात्मक है या आन्दोलनात्मक है, इसका कोई सैद्धान्तिक दर्जा नहीं हैं। (4) नव प्रकार्यवाद उत्तर प्रत्यक्षवादी (Post Positivism) है। उत्तर प्रत्यक्षवाद से तात्पर्य यह है कि विज्ञान को सैद्धान्तिक और आनुभविक दोनों तत्वों पर समान जोर देना चाहिए। नव प्रकार्यवाद सिद्धान्त और तथ्य में कोई गहरा अंतर नहीं करता। आनुभविक तथ्यों का निर्धारण एक सीमा तक सिद्धान्त करता है। इससे स्पष्ट है कि कोई भी तथ्य सिद्धान्त को अस्वीकार नहीं कर सकता। (5) नव प्रकार्यवाद में प्रतीकों को सावधानीपूर्वक समझने का प्रयत्न किया जाता है क्योंकि प्रतीकों की जटिलता होती है। प्रतीकों का संबन्ध क्रिया से होता है, अतः प्रतीकों को समझना जटिल कार्य है। जब व्यक्ति अपनी क्रिया का चयन करता है तब इसमें प्रतीकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

लूहमान के नव-प्रकार्यवाद का विश्लेषण -

निकलास लूहमान (Niklas Luhmann) पारसंस के विद्यार्थी थे। इसलिए आशा यह की जाती है कि पारसंस की तरह उनका लेखन भी अत्यधिक विश्लेषणात्मक व अमूर्त होगा। किन्तु हूबहू ऐसा तो नहीं है फिर भी लूहमान एक सीमा तक अपने नव प्रकार्यवाद की व्याख्या अमूर्त स्तर पर करते हैं उनकी पुस्तक 'दि डिफरेंशिएशन आफ सोसाइटी' (The Differentiation of Society, 1982) में आनुभविकता को अपेक्षित रूप से न्यूनतम स्थान दिया गया। उनका एकमात्र उद्देश्य यह रहा है कि वे एक ऐसी अमूर्त अवधारणात्मक योजना बनाएं जिसमें प्रचलित प्रकार्यवाद का विकल्प रखा जा सके।

लूहमान ने जिस तरह नव प्रकार्यवाद की व्याख्या की उसका केन्द्र व्यवस्था है । इनके नव प्रकार्यवाद की परिभाषा इस प्रकार है - मनुष्यों की क्रियाओं के संगठित (Organised) तथा संरचित (Structured) हो जाने के परिणाम स्वरूप व्यवस्था निर्मित हो जाती है। विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों

के द्वारा जब अपनी-अपनी क्रियाओं को संपादित किया जाता है तो इस दौरान इन क्रियाओं के मध्य पारस्परिक संबंध का निर्माण हो जाता है। आधारभूत प्रक्रिया (Basic mechanism) जिसके द्वारा क्रियाएं आपस में व्यवस्था बनाने के लिए संबंधित हो जाती हैं वह संचार (Communication) तथा भाषा (Language) इत्यादि हैं। प्रत्येक क्रिया प्रकार्यों के माध्यम से दूसरी अन्यान्य क्रियाओं से संबंधित हो जाती हैं इन समस्त पारस्परिक रूप से एक-दूसरे के साथ जुड़ी हुई क्रियाओं द्वारा व्यवस्था का निर्माण होता है, और यही नव प्रकार्यवाद है।

मनुष्यों की संगठित (Organised) व संरचित (Structured) क्रियाओं के द्वारा जिस व्यवस्था का जन्म होता है उस सामाजिक व्यवस्था का निर्माण बहुआयामी पर्यावरण द्वारा संपन्न होता है। इस पर्यावरण के मुख्यतयः तीन आयाम होते हैं : (1) **कालिक आयाम (Temporal Dimension)** - सामाजिक व्यवस्था काल चक्र में बंधी होती है। परिवार की जो व्यवस्था मौर्यकाल में थी वह उस समय के आयाम में पर्यावरण में बंधी थी। काल में अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों आयाम संस्थित होते हैं। अतः सामाजिक व्यवस्था को ऐसी क्रिया विधि को विकसित करना चाहिए जो काल की जटिलता को कम कर सके। (2) **भौतिक आयाम (Material Dimension):** मनुष्य की सभी संभावित क्रियाएं अनिवार्य रूप से लंबे चौड़े भौतिक स्थान से बंधी होती है। जैसे कोई क्रिया दिल्ली में होती है तो कोई न्यूयार्क में । अतः असीमित स्थान को ध्यान में रखकर ऐसी क्रिया विधियाँ विकसित करनी होती हैं जो भौतिक संसार में पारस्परिक रूप से जुड़ी हुई क्रियाओं में किसी तरह की व्यवस्था ला सके। (3) **प्रतीकात्मक आयाम (Symbolic Dimension):** समाज में कई तरह के प्रतीक होते हैं । कर्ता किन क्रिया विधियों द्वारा इन अगणित प्रतीकों का चयन करता है, यह भी एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। वास्तव में सामाजिक क्रियाओं को संगठित करने के लिए अथवा एक सूत्र में बांधने के लिए, किसी न किसी प्रतीकात्मक माध्यम को अपनाना पड़ता है।

पर्यावरण के उपर्युक्त तीनों आयामों में बहुत जटिलता है और इनकी जटिलता को घटाने के लिए समाज किसी क्रिया विधि को अवश्य अपनाता है। क्रिया विधियों में विभेदीकरण, विचारधारा, कानून, प्रतीकात्मक मीडिया और ऐसे ही कई आलोचनात्मक तत्व होते हैं। प्रकार्यात्मक क्रिया विधियों के द्वारा कालिक, भौतिक तथा प्रतीकात्मक पर्यावरण हट जाता है। इन तीनों आयामों के हटने के बाद जो व्यवस्था रह जाती है वह कालहीन, भौतिकताहीन तथा प्रतीकात्मकता विहीन विशुद्ध व्यवस्था होती है। इस प्रकार की विशुद्ध व्यवस्था के तीन भेद लूहमान ने बताए हैं :

(1) **अंतः क्रिया व्यवस्था (Interactional system)** : इसमें व्यक्तियों के बीच में अंतः क्रियाएं होती हैं ।

(2) **संगठन व्यवस्था (Organisation system)** : इसमें अंतः क्रियाएं व्यवस्था के सदस्य होने के नाते होती हैं तथा

(3) **सामाजिक व्यवस्था (Social system)** : इसमे संपूर्ण समाज के सदस्यों के बीच

में अंतः क्रियाएं होती हैं।

इन तीनों प्रकार की व्यवस्थाओं को सुचारू रूप से चलाने के लिए आत्म निर्देशन (Self-reference) की आवश्यकता होती है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यवस्था को अपने आप खुद का निर्देशन करना चाहिए और सुनिश्चित करना चाहिए कि कहां तक व्यवस्था के लक्ष्य प्राप्त हो रहे हैं। व्यवस्था को आत्म निर्देशन द्वारा यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि कहां तक क्रियाएं उसके प्रतिमानों के अनुसार हैं तथा उसका अनुकूलन कैसे हो रहा है। लूहमान का कहना है कि पारसंस ने यह कैसे मान लिया कि इस विशाल समाज में सर्वसम्मति (Consensus)होगी। आज की दुनिया इतनी पेचीदा है, कि इसमें सामान्य मूल्यों और मानकों की कोई साझेदारी नहीं हो सकती। यहाँ हर तरफ सामाजिक व्याधियां और विघटन है जिसे व्यवस्था को अपनी क्रिया विधियों के द्वारा आत्म निर्देशन या स्वयं के निर्णय द्वारा हल करना या सुलझाना चाहिए।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि लूहमान का प्रकार्यवादी सिद्धान्त व्यवस्था और पर्यावरण के अंतर पर केन्द्रित है। उनके अनुसार व्यवस्था और पर्यावरण में जो भी जटिलता है उसे कम करना चाहिए। किसी भी संगठन में व्यक्ति की क्रियाएं काल (समय), स्थान और प्रतीकों के माध्यम से होती हैं। वे प्रक्रियाएं जो व्यवस्था और पर्यावरण की जटिलताओं को कम करती हैं उन्हें लूहमान प्रकार्यात्मक कार्य विधि कहते हैं। व्यवस्था की सभी प्रक्रियाएं संचार के माध्यम से चलती हैं। यह लूहमान के सामान्य व्यवस्था उपागम का संक्षिप्त प्रकार्यात्मक विश्लेषण है। लूहमान के इस विश्लेषण की आलोचना भी कई बिन्दुओं पर हुई है जिस पर आगे इकाई 5.5 में प्रकाश डाला जाएगा।

5.4 जे0 एलेक्जेन्डर के विचार

एलेक्जेण्डर की एक बहुत बड़ी उपलब्धि पारसंस को समाजशास्त्र में पुनः स्थापित करने की है। उनका जन्म 1947 में अमेरिका में हुआ था। उन्होंने अपनी शिक्षा -दीक्षा हारवर्ड विश्वविद्यालय में प्राप्त की थी। यहीं पर उनका परिचय पारसंस से हुआ था। एलेक्जेण्डर की वास्तविक रूचि सिद्धान्त निर्माण में थी। उनकी 'समाजशास्त्र में तर्क की भूमिका' ('Theoretical Logic in Sociology) पुस्तक जो चार खण्डों में प्रकाशित है, उसमें उन्होंने सैद्धान्तिक समन्वय का काम किया है। एलेक्जेण्डर कहते हैं कि पारसंस ही नहीं, सभी क्लासिकल सिद्धान्तवेत्ताओं का यह दोष है कि वे आदर्शवाद और भौतिकवाद के विरोध को दूर नहीं कर पाए।

हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं कि एलेक्जेण्डर ने संरचनात्मक प्रकार्यवाद से संबंधित कुछ समस्याओं को दूर करने का प्रयत्न किया। इन समस्याओं में मुख्य हैं - प्रकार्यवाद का व्यक्तिवाद विरोधी होना (anti-individualism),परिवर्तन-विरोधी होना (antagoism to change), रूढ़िवादिता (Conservatism), आदर्शवादिता (idealism) तथा अवलोकनात्मक आनुभविकता के प्रति नकारात्मक झुकाव (anti-empirical bias)। इन समस्याओं के संदर्भ में एलेक्जेण्डर ने निम्नलिखित आधारभूत विचार प्रस्तुत किये।

एलेक्जेण्डर के अनुसार नव प्रकार्यवाद की व्याख्या समाज में ऐसे रूप से संबंधित हैं जिसमें

समाज विभिन्न तत्वों या इकाइयों (elements) से बना है तथा इसमें एक की पारस्परिक क्रियाएं दूसरे के साथ संबंधित होकर एक विशेष प्रणाली (pattern) बना लेती है। समाज का यह रूप अथवा उसकी प्रणाली (pattern) व्यवस्था को अपने पर्यावरण से पृथक करती है। समाज में परस्पर क्रियाएं (interaction) किसी एक सत्ता के द्वारा न निर्धारित होकर खुलेरूप में (Open ended) अनेकों कारकों द्वारा निर्धारित होती हैं। एलेक्जेण्डर व्यक्तिवाद पर बल देते हैं । उनका कहना है कि जब व्यक्ति किसी क्रिया को करता है तो या तो वह व्यवस्था के मानक को स्वीकार करने के लिए करता है या उसे वह क्रिया उपयोगी लगती है। उनके अनुसार व्यक्तित्व को उसके पृथक रूप में पहचानना चाहिए।

एलेक्जेण्डर के विचार से नव प्रकार्यवाद क्रिया तथा व्यवस्था दोनों पर लगभग समान ध्यान देता है। संरचनात्मक प्रकार्यवाद ने सामाजिक संरचनाओं व संस्कृति में व्यवस्था (Order) का मूल स्रोत संपूर्ण या विशाल स्तर (Macro level) से माना तथा सूक्ष्म या इकाई स्तर पर क्रिया प्रणाली पर बहुत कम ध्यान दिया। इससे नव प्रकार्यवाद सहमत नहीं है। नव प्रकार्यवाद में क्रिया का अर्थ विस्तृत रूप में लिया गया है। जिसमें क्रियाएं कर्ता की इच्छानुसार भी सम्पन्न होती हैं। नव प्रकार्यवाद के अंतर्गत सूक्ष्म (Micro) और विशाल (Macro) दोनों ही विश्लेषण आते हैं।

नव प्रकार्यवाद के अन्तर्गत एकीकरण को अनिवार्य न मानकर एक सामाजिक संभावना के रूप में माना गया है। इसके अंतर्गत असहमति, विचलन (deviance) तथा सामाजिक नियंत्रण को सामाजिक व्यवस्था में वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया गया है। नव प्रकार्यवाद 'संतुलन' पर ध्यान देता है किन्तु यह 'संतुलन' संरचनात्मक प्रकार्यवाद की अपेक्षा विस्तृत अर्थ में है। नव प्रकार्यवाद गतिशील (moving) एवं आंशिक संतुलन (Partial equilibrium) पर ध्यान केन्द्रित करता है। यह सामाजिक व्यवस्था में स्थिर संतुलन (Static equilibrium) को उपयुक्त नहीं मानता। अतः नव प्रकार्यवाद में परिवर्तन पर अधिक ध्यान दिया गया है।

नव प्रकार्यवाद पारसंस की परंपरागत अवधारणाओं जैसे - व्यक्तित्व व्यवस्था, सांस्कृतिक व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार करता है किन्तु नव प्रकार्यवाद के अनुसार इन व्यवस्थाओं के द्वारा तनाव भी उत्पन्न होता है जो परिवर्तन तथा नियंत्रण का निरंतर स्रोत है।

एलेक्जेण्डर उत्तर-प्रत्यक्षवाद को एक कारगर समाजशास्त्रीय विधि मानते हैं। इसी कारण वे पारसंस तथा अन्य समाजशास्त्रियों के परंपरागत प्रत्यक्षवाद को निरस्त कर देते हैं। ऐसा करने से एलेक्जेण्डर का विचार है कि समाजशास्त्र वैध निष्कर्ष देने में असफल नहीं रहेगा। उनका मानना है कि उत्तर प्रत्यक्षवाद तार्किकता पर अधिक निर्भर होगा। एलेक्जेण्डर के अनुसार कोई भी विज्ञान हो, सामाजिक या प्राकृतिक, उसे आनुभविकता और तार्किक अवधारणाओं पर अपने निष्कर्ष निकालने चाहिए। सामान्यतया समाज विज्ञान सिद्धान्तों को आनुभविक तथ्यों के संग्रह में लगाते हैं और पारसंस ने तो अपने सिद्धान्त निर्माण में ऐसा ही किया। इससे सामान्यतः वे ही तथ्य प्रकाश में आते हैं जो प्रबंध के अनुरूप होते हैं। इस तरह का प्रत्यक्षवाद कभी भी प्रबन्ध को अस्वीकार नहीं करता क्योंकि

तथ्य सिद्धान्त के अनुरूप ही एकत्र किए जाते हैं। एलेक्जेण्डर समाज विज्ञानों में प्रचलित इस प्रकार के प्रत्यक्षवाद को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जो भी प्रबंध हम बनाएं उनका आनुभविक और सैद्धान्तिक विश्लेषण बहुत स्पष्ट होना चाहिए। सिद्धान्तों के अनुमोदन में आनुभविक विश्लेषण करके अपने कर्तव्य की समाप्ति नहीं समझनी चाहिए।

संक्षेप में एलेक्जेण्डर के अनुसार नव प्रकार्यवाद की व्याख्या निम्न बिन्दुओं में की जा सकती है जो उनका उल्लेखनीय अवदान है :

(1) संपूर्ण समाज का विवरण एक खुले और बहुलवादी (Open and plural) रूप में होना चाहिए।

(2) जब क्रिया और संरचना की व्याख्या करनी होती है तो इसे खुले मस्तिष्क से करना चाहिए। यह नहीं कि क्रिया ही संरचना को निर्धारित करती है और न ही संरचना क्रिया को सुनिश्चित करती है । यह विश्लेषण खुला होना चाहिए। दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

(3) एकीकरण होने की संभावना होनी चाहिए तथा विचलन (deviance) एवं संघर्ष की यथार्थता समझना चाहिए।

(4) व्यक्तित्व, संस्कृति और समाज को उनके पृथक रूप में पहचानना चाहिए।

(5) सामाजिक परिवर्तन के लिए विभेदन (differentiation) होना आवश्यक है।

(6) समाजशास्त्रीय विश्लेषण में जो अवधारणाएं प्रयुक्त होती हैं, उनको स्वतंत्र रूप से परिभाषित और विकसित करना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हैं कि एलेक्जेण्डर ने परंपरागत प्रकार्यवाद को ठुकरा दिया तथा नव प्रकार्यवाद के माध्यम से पारसंस के सिद्धान्तों को नया जीवन दिया। एलेक्जेण्डर ने पारसंस की यथा-स्थिति (status quo) तथा समयानुकूलन व संतुलन (equilibrium) की अवधारणाओं को स्वीकार नहीं किया । वैचारिक दृष्टि से एलेक्जेण्डर मार्क्सवादी रहे हैं। उनके नव प्रकार्यवाद की व्याख्या में संघर्ष के प्रति झुकाव है तथा उसमें परिवर्तन व क्रान्तिकारी तत्वों का समावेश है। एलेक्जेण्डर के अनुसार क्रिया एक प्रकार का आन्दोलन है तथा एक जीवन्त यथार्थता है। उनके विचारों के आधार पर हम कह सकते हैं कि एलेक्जेण्डर का विश्लेषण नव प्रकार्यवाद के लिए एक महत्वपूर्ण देन है।

5.5 समालोचना

लूहमान तथा एलेक्जेण्डर की सामान्यतया इस आधार पर आलोचना की जाती है कि दोनों ही नव प्रकार्यवाद सिद्धान्त की कोई पुख्ता रूपरेखा नहीं बना पाए। लूहमान के प्रकार्यात्मक व्यवस्था सिद्धान्त के सम्बन्ध में टर्नर का कहना है कि यह सिद्धान्त घटनाओं के विश्लेषण में किसी तरह उपयोगी नहीं है। टर्नर यह प्रश्न उठाते हैं कि परंपरागत प्रकार्यात्मक विश्लेषण में जो समस्याएं आती

हैं क्या उसका निदान लूहमान ने किया है? उनका यह भी प्रश्न है कि क्या लूहमान का प्रकार्यवाद व्यवस्था सिद्धान्त सामाजिक परिवर्तन पर कोई गहरी अन्तर्दृष्टि देता है। इस संबंध में टर्नर कहते हैं कि लूहमान ने प्रकार्यात्मक विश्लेषण की समस्या की उपेक्षा की है। लूहमान का विचार है कि प्रकार्यात्मक आवश्यकताएं व्यवस्था की जटिलता को कम कर देंगी और पर्यावरण के साथ अपना अनुकूलन कर लेंगी। व्यवस्थाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति क्रिया-विधियाँ कर लेगी। इस तरह के तर्क पुनरूक्ति मात्र हैं।

आलोचकों का मत है कि एलेक्जेण्डर के नव प्रकार्यवाद को एक सिद्धान्त का दर्जा देना अत्यंत कठिन होगा। स्वयं एलेक्जेण्डर यह स्वीकार करते हैं कि यह सिद्धान्त एक प्रवृत्ति है, एक झुकाव और रूझान है। अधिक से अधिक यह एक आंदोलन (Movement) है जो पारसंस के क्रिया और व्यवस्था सिद्धान्त की नये तरीके से व्याख्या करता है । एलेक्जेण्डर का कहना है कि कई आलोचकों की दृष्टि में नव प्रकार्यवाद बुनियादी रूप से वही पारसंस का पुराना प्रकार्यवाद है । नई बोतल में पुरानी शराब है। पहले इसे प्रकार्यवाद कहते थे और अब नव प्रकार्यवाद। केवल नाम बदल गया है। किन्तु साथ ही साथ यह भी सत्य है कि एलेक्जेण्डर ने नव प्रकार्यवाद के माध्यम से पारसंस के सिद्धान्तों को नया जीवन दिया है। यद्यपि एलेक्जेण्डर के विश्लेषण में कई कमियाँ बताई गई किन्तु बाद में पॉल कोलोमी ने एलेक्जेण्डर के योगदान की प्रशंसा की।

पॉल कोलोमी के अनुसार एलेक्जेण्डर ने पारसंस के प्रकार्यवाद की आलोचना और संशोधन में कोई कमी नहीं की। वे नव प्रकार्यवाद के सिद्धान्त निर्माण में हर तरह से ईमानदार रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में पारसंस के प्रकार्यवाद को अस्वीकार किया है। पारसंस बार- बार यथास्थिति (Status quo) पर बल देते हैं और अपने सिद्धान्त का सम्पूर्ण केन्द्र समयानुकूलन को बताते हैं। यह एलेक्जेण्डर ने स्वीकार नहीं किया। उनका समयानुकूलन किस काम का जब गरीबों का जीवन पूरी तरह से ध्वस्त हो गया है। पति, पत्नी, बच्चों और दलित लोगों की कोई सुरक्षा नहीं हैं। आज धार्मिक कट्टरवाद बढ़ गया है। वास्तव में, नव प्रकार्यवाद का वामपंथी झुकाव समाज के हित में हैं।

नव प्रकार्यवाद एक ऐसा सिद्धान्त है जो आज निर्माण के स्तर पर है। इसके लिए अधिक से अधिक आनुभविक सामग्री चाहिए तथा ज्यादा से ज्यादा सैद्धान्तिक विश्लेषण चाहिए।

5.6 सारांश

इस इकाई में प्रस्तुत की गई व्याख्या के आधार पर संक्षिप्त रूप से यह कहा जा सकता है कि यद्यपि पारसंस तथा मर्टन के प्रकार्यवाद के विश्लेषण में अनेकों कमियाँ हैं तथा इनकी आलोचनाएं कई बिन्दुओं पर हुई है, फिर भी हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि इनके प्रकार्यवाद ने अनेकों महत्वपूर्ण अवधारणाओं एवं मान्यताओं का विकास किया। पारसंस की व्याख्या में पूर्व आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित अनुकूलन, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण तथा प्रतिमान परिपालन की धारणाएं प्रकार्यवादी सिद्धान्त को और अधिक विकसित करने तथा आगे बढाने के लिए दिशा- निर्देश प्रदान

करती हैं। मर्टन का पैराडाइम प्रकार्यात्मक सिद्धान्त की रणनीति है तथा उनके द्वारा प्रस्तुत की गई प्रकार्य, अप्रकार्य, प्रकट व प्रच्छन्न प्रकार्य की व्याख्या प्रकार्यवाद के सिद्धान्त में महत्वपूर्ण योगदान हैं। पारंसस तथा मर्टन ने ऐसी विश्लेषणात्मक भूमिका प्रदान की जिससे नव प्रकार्यवाद का उदय हुआ।

नव प्रकार्यवाद का प्रारम्भ 1984 में जर्मनी में हुआ था। इस सिद्धान्त का जन्म तथा विकास जेफ्रे अलेक्जेण्डर, निकलास लूहमान तथा पाल कोलोमी इत्यादि विचारकों के प्रयत्नों एवं कार्यों के द्वारा हुआ था। नव प्रकार्यवाद के अंतर्गत पारसंस की अवधारणाओं को संशोधित कर उन्हें विकसित करने तथा आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। नव प्रकार्यवाद इस बात को पासरंस की तरह स्वीकार नहीं करता कि मनुष्य की क्रियाएं हमेशा मूल्यों और मानदण्डों के आधार पर होती है। नव प्रकार्यवाद की प्रकृति बहुआयामी है। नव प्रकार्यवाद के अनुसार क्रिया स्वयं कर्ता का चयन होता है। जब व्यक्ति अपनी क्रिया का चयन करता है तो इसमें प्रतीकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। नव प्रकार्यवाद में प्रतीकों को सावधानीपूर्वक समझना चाहिए। लूहमान का प्रकार्यवादी सिद्धान्त व्यवस्था और पर्यावरण के अंतर पर केन्द्रित है। उनके अनुसार व्यवस्था और पर्यावरण में जो जटिलता है उसे कम करना चाहिए। किसी भी संगठन में व्यक्ति की क्रिया काल (समय), स्थान और प्रतीकों के माध्यम से होती है। वे प्रक्रियाएं जो व्यवस्था और पर्यावरण की जटिलताओं को कम करती हैं उन्हें लूहमान प्रकार्यात्मक क्रिया विधि कहते हैं। व्यवस्था की सभी प्रक्रियाएं संचार के माध्यम से चलती हैं। यह लूहमान के सामान्य व्यवस्था उपागम का संक्षिप्त प्रकार्यात्मक विश्लेषण है।

एलेक्जेण्डर ने परंपरागत प्रकार्यवाद को ठुकरा दिया तथा नव प्रकार्यवाद के माध्यम से पारसंस के सिद्धान्तों को नया जीवन दिया। एलेक्जेण्डर के अनुसार व्यक्तित्व, संस्कृति एवं समाज को उनके पृथक रूप में पहचानना चाहिए। उन्होंने पारसंस की यथास्थिति तथा समयानुकूलन व संतुलन की अवधारणाओं को स्वीकार नहीं किया। वैचारिक दृष्टि से एलेक्जेण्डर मार्क्सवादी रहे हैं। उनके नव प्रकार्यवाद की व्याख्या में संघर्ष के प्रति झुकाव है तथा उसमें परिवर्तन व क्रान्तिकारी तत्वों का समावेश है। एलेक्जेण्डर के अनुसार क्रिया एक प्रकार का आंदोलन है तथा एक जीवन्त यथार्थता है। लूहमान तथा एलेक्जेण्डर की सामान्यतया इस आधार पर आलोचना की जाती है कि दोनों ही नव प्रकार्यवाद सिद्धान्त की कोई पुख्ता रूपरेखा नहीं बना पाए। स्वयं एलेक्जेण्डर यह स्वीकार करते हैं कि यह सिद्धान्त एक प्रवृत्ति है, एक झुकाव और रूझान है। बाद में पॉल कोलोमी ने एलेक्जेण्डर के योगदान की प्रशंसा की और कहा कि उनका नव प्रकार्यवाद गरीबों, दलितों एवं अन्य कमजोर वर्गों के हित में है।

5.7 संदर्भ ग्रन्थ

- टर्नर जोनाथन एच0, द स्ट्रक्चर ऑफ सोसियोलॉजिकल थ्योरी, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2002
- रिट्जर जॉर्ज, मॉडर्न सोसियोलॉजिकल थ्योरी, यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका, 2000

- मार्शल गोरडौन, आक्सफोर्ड डिक्शनरी ऑफ सोसियोलॉजी, इण्डियन एडिशन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू डेलही, 2007
- अब्राहम एम0फ्रान्सिस, माडर्न सोसियोलॉजिकल थ्योरी, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1988
- द्विवेदी रमेश नन्दन, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, विजय प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, 1996
- सिंघी नरेन्द्र कुमार, समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विवेचन एवं व्याख्या,रावत पब्लिकेशन, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2001
- दोषी एस0 एल0, आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता एवं नव समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रावत पब्लिकेशन, जयपुर एवं नई दिल्ली 2005।

5.8 संबन्धित प्रश्न उत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 मर्टन तथा पारसन्स के प्रकार्यात्मक विश्लेषण में क्या समानता है?

प्र.2 मर्टन का मध्यस्तरीय सिद्धान्त किस प्रकार पारसन्स के प्रकार्यवादी वृहद सिद्धान्त से अधिक उपयोगी है?

प्र.3 पारसन्स तथा मर्टन के प्रकार्यवादी सिद्धान्तों की किन आधारों पर आलोचना की गयी है?

प्र.4 नव प्रकार्यवाद के लक्षणों पर प्रकाश डालिये।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 मर्टन तथा पारसंस के प्रकार्यात्मक प्रत्ययों का तुलनात्मक मूल्यांकन करिये।

प्र.2 नव प्रकार्यवाद के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए लूहमान के नव प्रकार्यवाद का विश्लेषण कीजिये।

प्र.3 जे0 एलेक्जेण्डर के नव प्रकार्यवादी सिद्धान्त की विवेचना कीजिये।

प्र.4 नव प्रकार्यवाद का आलोचनात्मक परीक्षण करिये।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्र.1 यह वक्तव्य किसका है : 'मर्टन के मध्यस्तरीय सिद्धान्त किसी विशेष समय स्थान तथा प्रासंगिकता से बहुत अधिक जुड़े हैं; अतः इनके आधार पर सैद्धान्तिक सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता'?

(अ) टर्नर (ब) जे0एलेक्जेण्डर

(स) पारसन्स (द) इनमें से कोई नहीं।

प्र.2 प्रकार्यवाद के आलोचकों का मानना है कि पारसंस तथा मर्टन दोनों के विश्लेषण में निम्नलिखित में से कौन सा लक्षण दृष्टिगोचर होता है?

(अ) व्यवस्था संचालन (ब) पुनुरूक्ति

(स) प्रत्यक्षवाद (द) इनमें से कोई नहीं

प्र.3 नव प्रकार्यवाद का प्रारम्भ कब हुआ था?

(अ) 1920 (ब) 1950

(स) 1984 (द) 1990

प्र.4 इनमें से कौन सा विचारक नव प्रकार्यवादी नहीं है?

(अ) जे0 एलेक्जेण्डर (ब) निकलास लूहमान

(स) पाल कोलोमी (द) पारसन्स

उत्तर - (1) अ (2) ब (3) स (4) द

खण्ड

3

संघर्ष एवं आलोचनात्मक सिद्धान्त

इकाई- 1 5

संघर्ष की समाजशास्त्रीय अवधारणा, समालोचनात्मक सिद्धान्त का प्रत्यय एवं स्वरूप

इकाई- 2 13

संघर्ष सिद्धान्त का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, कार्लमार्क्स के विचार एवं समकालीन प्रासंगिकता

इकाई- 3 25

संघर्ष की प्रकार्यात्मकता कोजर के सन्दर्भ में

इकाई- 4 33

औद्योगिक समाज में संघर्ष का स्वरूप - डेहरेन्डॉर्फ का विश्लेषण

इकाई- 5 42

आलोचना सिद्धान्त का अविर्भाव : होरखाइमर का मत, हैबरमॉस के विचार एवं प्रासंगिकता

खण्ड-3 संघर्ष एवं आलोचनात्मक सिद्धान्त

इस खण्ड में निम्नलिखित इकाईयाँ हैं.

इकाई - 1 संघर्ष की समाजशास्त्रीय अवधारणा, समालोचनात्मक सिद्धान्त का प्रत्यय एवं स्वरूप।

इकाई - 2 संघर्ष सिद्धान्त का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, कार्लमार्क्स के विचार एवं समकालीन प्रासंगिकता।

इकाई - 3 संघर्ष की प्रकार्यात्मकता कोजर के सन्दर्भ में ।

इकाई - 4 औद्योगिक समाज में संघर्ष का स्वरूप - उहरेनडार्फ का विश्लेषण ।

इकाई - 5 आलोचना सिद्धान्त का आविर्भाव : हारर्वामाइर का मत। हैबरमास के विचार एवं प्रासंगिकता।

इकाई - 1 : संघर्ष की समाजशास्त्रीय अवधारणा, समालोचनात्मक सिद्धान्त का प्रत्यय एवं स्वरूप

इकाई की रूपरेखा-

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 सामाजिक संघर्ष के कारण

1.3 सामाजिक संघर्ष के लक्षण

1.4 संघर्ष सिद्धान्त के विभिन्न प्रकार

1.5 समालोचनात्मक सिद्धान्त का प्रत्यय एवं स्वरूप

1.6 आलोचनात्मक सिद्धान्त के आविर्भाव के कारण

1.7 आलोचनात्मक सिद्धान्त के लक्षण

1.8 सारांश

1.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.10 प्रश्न उत्तर

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक संघर्ष के अर्थ को स्पष्ट करते हुये उसके कारणों का संक्षिप्त विवरण देने का प्रयास किया गया है। सामाजिक संघर्ष प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। सभी संघर्षों की प्रकृति एक जैसी नहीं होती, उनके भिन्न भिन्न लक्षण होते हैं। इस इकाई में इन्हीं लक्षणों का सार रूप में उल्लेख करने की चेष्टा की गयी है। सामाजिक संघर्ष को अनेक समाजशस्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से विश्लेषित किया है। संघर्ष का अध्ययन जिन भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्यों में किया गया हैं, उन सभी परिप्रेक्ष्यों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। सामाजिक संघर्ष की अगली कड़ी समालोचनात्मक सिद्धान्तों की है। परिवर्तित नवीन सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में संघर्ष का प्राचीन सिद्धान्त प्रभावहीन होने लगा था। इसी कारण नव मार्क्सवादियों ने तत्कालीन पूंजीवादी समाज की आलोचना करते हुये मार्क्सवाद का समालोचनात्मक सिद्धान्त के अन्तर्गत संशोधन किया जिसका विवरण इस इकाई में दिया गया है।

1.1 प्रस्तावना

जब दो व्यक्ति अथवा समूह अपने निहित स्वार्थों की प्राप्ति हेतु सीमित साधनों पर अपना अधिकार जमाने के लिए एक- दूसरे का विरोध करने लगते हैं तो इस स्थिति को सामाजिक संघर्ष कहा जाता है। मैक्सवेबर के मतानुसार, "एक ऐसे सामाजिक संबंध को संघर्ष की संज्ञा दी जा सकती है जिसमें कर्ता की स्वयं की इच्छा की पूर्ति के लिए कोई क्रिया दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का विरोध करते हुए की जाती है।" भिन्न महत्व की वस्तुओं में संघर्ष की मात्रा एवं तीव्रता में अन्तर हो सकता

है। यह संगठित अथवा असंगठित, स्थाई अथवा अल्पकालिक, भौतिक, बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक हो सकता है। संघर्ष के दो रूप हो सकते हैं । प्रथम की उत्पत्ति दो या अधिक व्यक्तियों अथवा समूहों के बीच हितों के टकराव के कारण होती है, जबकि दूसरे की उत्पत्ति व्यक्ति अथवा समूहों का एक दूसरे के साथ सक्रिय रूप में हाथापाई के कारण होती है। हित आधारित संघर्ष से हमेशा खुले विरोध की संभावना नहीं रहती, जबकि सक्रिय संघर्ष में यह संभावना बनी रहती है।

संघर्ष के सिद्धान्त का उदय प्रकार्यवाद के विरोध में हुआ । 1950 और 1960के दशक में प्रकार्यवादी विश्लेषण सामाजिक यथार्थ की संघर्षात्मक पद्धति को नकारने में लगा था। प्रकार्यवाद में 'सामाजिक व्यवस्था', 'सर्व सम्मति' 'क्रम' एवं 'सन्तुलन' को ही महत्व दिया जाता है। परन्तु समाज में कुछ ऐसे लक्षण विद्यमान रहते हैं, जिनके कारण संघर्ष अवश्य होता है। जैसे - शक्ति का असमान वितरण, सीमित साधन तथा विभिन्न समूहों द्वारा अपने हितों की पूर्ति करना। संघर्ष समाज की एक वास्तविकता है जिसे कोई भी नकार नहीं सकता। संघर्ष शब्द जीवन के सभी पक्षों से जुड़ा हुआ है। जिसको सैद्धान्तिक स्तर पर समझना आवश्यक है। कार्ल मार्क्स, सी0 राइट मिल्स, राल्फ डेहरेन डार्फ, इरविंग लुइस होरोविट्ज, लेविस कोजर, हरबर्ट मारक्यूज तथा आन्ड्रेगुण्डरे फ्रैन्क आदि इसके सूत्रधार हैं।

1.2 सामाजिक संघर्ष के कारण

समाज के व्यक्तियों के कई तरह के बुनियादी स्वार्थ होते हैं। लोग इन स्वार्थों को किसी न किसी तरह अवश्य साधना चाहते हैं इन्हीं स्वार्थों को सिद्ध करने के प्रयास में कुछ व्यक्तियों का अन्य व्यक्तियों से विरोध होने लगता है जो सामाजिक संघर्ष का कारण बन जाता हैं। मानव सदैव से महत्वाकांक्षी रहा है। एक इच्छा पूर्ति के पश्चात दूसरी इच्छा जागृत हो जाती है, अतः अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह अधिकतम शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करता रहता है। किसी भी समाज में शक्ति या सत्ता समान रूप से बंटे नहीं रहते । किसी के पास बहुत अधिक शक्ति केन्द्रित होती है और किसी के पास बहुत कम। प्रत्येक व्यक्ति या समूह शक्ति में अधिकतम हिस्सा चाहता हैं और इसी कारण समाज में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। संघर्ष का प्रत्येक पहलू मूल्यों व विचारधाराओं से युक्त होता है। सामाजिक समूह वास्तव में मूल्य व विचारधारा को हथियार बना लेते हैं और संघर्ष अपरिहार्य हो जाता है। विकसित देशों के लिए पूँजीवाद या साम्यवाद प्रेरक हथियार होते हैं, जिनके आधार पर वे अधिक से अधिक प्रभावशाली बनना चाहते हैं।

सामाजिक संघर्ष का एक मुख्य कारण समाज में होने वाले परिवर्तन हैं। समाज जड़ नहीं है। इसकी सदस्यता जीवित व्यक्तियों की होती है। इससे आगे समाज के कई भाग होते हैं - अर्थव्यवस्था, राजनीति, कानून तथा शिक्षा आदि । ये सब भाग किसी न किसी प्रकार से बदलते रहते हैं। एक भाग में जब परिवर्तन होता है तो दूसरे भाग भी इससे प्रभावित होते हैं और यही संघर्ष को जन्म देते हैं। इसीलिये हम कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन व संघर्ष एक ऐसी जोड़ी है जो कदम मिला कर चलती है। संघर्ष समाज की आन्तरिक या बाह्य प्रक्रियाओं के कारण होता है। जब समाज के आन्तरिक भागों में विरोध या विवाद उत्पन्न हो जाता है तो आन्तरिक संघर्ष होता है। जब स्त्रियों में शैक्षिक स्तर बढ़ा तो वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो गयी और फिर उन्होंने अपने अधिकारों की मांग रख दी। आज नारी आन्दोलन का जो स्वरूप देखते हैं वह व्यवस्था या समाज का आन्तरिक संघर्ष है। ऐसे आन्तरिक संघर्ष हमें देश में सैकड़ों की तादाद में देखने को मिलेंगे। साम्प्रदायिक दंगे, आतंकवाद, भ्रष्टाचार,

विद्यार्थी और श्रम संघ आन्दोलन आदि आंतरिक संघर्ष के दृष्टान्त है। बाह्य संघर्ष की स्थिति एक समाज या राष्ट्र के साथ दूसरे समाज या राष्ट्र के युद्धरत हो जाने पर आती है। तकनीकी साधनों के उत्पादन में जापान व अमेरिका में जो होड़ है, वह भी वाह्य संघर्ष का दृष्टान्त है।

समाज में संघर्ष क्यों उत्पन्न होता है? इस सम्बन्ध में समाजविचारकों में काफी मतभेद रहे हैं । एक विचारधारा जिसके प्रमुख प्रणेता जर्मन समाजशास्त्री प्रो० सिमेल रहे हैं, के अनुसार संघर्ष को अन्तःक्रिया का एक मुख्य स्वरूप माना गया है। स्वयं सिमेल ने लिखा है कि "यदि मानवों के बीच होने वाली प्रत्येक अन्तःक्रिया सामाजिकता को प्रकट करती है तो फिर संघर्ष को भी अनिवार्यतः सामाजिकता समझा जाना चाहिए। यह एकता प्राप्त करने का ऐसा तरीका है जिसमें संघर्षरत व्यक्तियों में से किसी एक का नष्ट होना संभव है।" पार्क एवं बर्जेस तथा ल्युइस कोजर ने भी प्रो० सिमेल के विचारों से प्रभावित होकर संघर्ष के एकीकरण के प्रकार्यो की ओर ध्यान आकर्षित किया है।

1.3 संघर्ष सिद्धान्तों के लक्षण

संघर्ष सिद्धान्त के प्रणेताओं की भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के कारण संघर्ष के लक्षणों में भी भिन्नता देखने को मिलती है। कार्ल मार्क्स, जार्ज सिमेल, मैक्सवेबर, कोजर और डैहरेन्डार्फ आदि सिद्धान्तवेत्ताओं ने कुछ निश्चित आधारों पर संघर्ष की व्याख्या की है ।एक बात पर सभी संघर्षवेत्ता सहमत हैं कि समाज सदैव एकीकृत और सजातीय (Homogeneous) नहीं रहता। इसमें संघर्ष, दबाव और तनाव भी विद्यमान रहते हैं। अतः संघर्षहीन समाज का अस्तित्व सम्भव नहीं।

सामाजिक संघर्ष विकास जनित होता है। एक नये प्रकार का संघर्ष तीसरी दुनिया के देशों में देखने को मिलता है। जब किसी परम्परागत देश में विकास कार्यक्रम आरम्भ होते हैं, तब मूल्य और तकनीकी का संघर्ष उत्पन्न होता है परन्तु यह संघर्ष समाज को आधुनिकता की ओर अग्रसर करता है । कोजर का विचार है कि संघर्ष हमेशा समाज के लिए हानिकारक नहीं होता। जब एक समाज दूसरे समाज के साथ संघर्षरत होता है तो समाज की सुदृढ़ता बढती है। मार्क्स मानते हैं कि संघर्ष में समाज को परिवर्तित करने की क्षमता होती है। आदिम साम्यवाद युग (Primitive Communism) से साम्यवादी समाज (Communist Soceity) तक होने वाले परिवर्तनों का कारण सामाजिक संघर्ष ही था। कुछ संघर्ष सिद्धान्तकारों का यह भी कहना है कि संघर्ष जितना अधिक तीव्र होगा, सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन उतनी ही अधिक मात्रा में आयेगा।

डैहरेन्डार्फ जैसे संघर्ष सिद्धान्तवेत्ताओ ने परम्परागत वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को संशोधित किया है। उनका तर्क है कि आजकल की पूँजीवादी व्यवस्था वास्तव में कारपोरेट (समष्टिगत) अर्थ व्यवस्था है। समष्टिगत समाजों में व्यक्तियों के सम्बन्ध प्राधिकार सम्बन्ध (Authority Relations) होते हैं। इन समाजों में संघर्ष का लक्षण शक्ति और प्राधिकार पर आधारित होता है।

सभी संघर्ष एक जैसे नहीं होते । परिवार के स्तर पर सम्पत्ति के बँटवारे अथवा भावनाओं एवं संवेगों को लेकर संघर्ष होता है। कारखानों में मालिक - मजदूर का संघर्ष होता है। समाज में विभिन्न धर्मावलम्बियों में संघर्ष होता है। राजनीति में विभिन्न दलों में संघर्ष होता है। प्रत्येक स्थिति में संघर्ष का स्वरूप भिन्न होता है। यह भिन्नता ही संघर्ष के लक्षणों को बताती है।

1.4 संघर्ष सिद्धान्त के विभिन्न प्रकार

समाज में पारितोषिक का असमान वितरण संघर्ष सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु है जिसके मुख्य प्रणेता कार्ल मार्क्स है। मार्क्स के अतिरिक्त अनेक समाज वैज्ञानिक हैं जिन्होंने विभिन्न संघर्ष परिप्रेक्ष्यों के माध्यम से समाज में होने वाले संघर्षों का गहन अध्ययन किया है। समकालीन समाजशास्त्रीय परम्परा के अन्तर्गत मुख्य रूप से छः विभिन्न संघर्ष सिद्धान्त देखने को मिलते हैं :

(1) फ्रैंकफुर्ट स्कूल तथा आलोचनात्मक सिद्धान्त -

फ्रैंकफुर्ट स्कूल की स्थापना जर्मनी में 1923 में नव मार्क्सवादियों के एक समूह द्वारा हुयी जिन्होंने नये सिरे से मार्क्सवाद का अध्ययन किया। एडोर्नो, मैक्स होरखाइमर, हरबर्ट मार्क्यूज, एरिक फ्रौम तथा फैन्ज नेयूमन (Franz Neumann) तथा हैबरमास इत्यादि इस स्कूल के सक्रिय सदस्य थे।

(2) अतिवादी समाजशास्त्र (Radical Sociology)

सी० राइट मिल्स द्वारा युनाइटेड स्टेट्स में अतिवादी समाजशास्त्र की नींव रखी गयी। बाद में इरविंग लुइस होरोविट्ज (Irving Louis Horowitz) संघर्ष सिद्धान्त के इस उपागम के मुख्य प्रवर्तक सिद्ध हुये। अतिवादी समाजशास्त्र सामाजिक संरचना के कुछ नकारात्मक पक्षों पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। जैसे निर्धनता, जातीयता, शोषण तथा शक्तिहीनता आदि। इसमें शक्तिशाली के विरूद्ध कमजोर का तथा उत्पीड़न करने वाले के विरूद्ध उत्पीड़ित व्यक्ति का समर्थन किया जाता है। अतिवादी संघर्ष सिद्धान्तकार समाज में मानव अधिकार के प्रति अत्यधिक संवेदनशील रहते हैं तथा समाज के उत्थान के लिये तथा उसमें समानता लाने के लिए नीतियाँ निर्मित करने के लिये तत्पर रहते हैं।

(3) द्वन्द्वात्मक समाजशास्त्र (Dialectic Sociology)

प्रारम्भ में चिन्तन की इस द्वन्द्वात्मक प्रणाली का प्रयोग प्राकृतिक घटनाओं के समझाने में किया गया और यह विश्वास किया जाने लगा कि प्रकृति का विकास प्रकृति में विरोधी शक्तियों की अन्तःक्रिया के फलस्वरूप होता है। बाद में, चिन्तन की इस प्रणाली का प्रयोग प्रसिद्ध दार्शनिक हीगल द्वारा किया गया। हीगल के अनुसार, "संसार में प्रत्येक वस्तु की विरोधी अर्थात प्रतिवादी वस्तु अवश्य होती है। पहले 'वाद' का जन्म होता है और बाद में उसके 'प्रतिवाद' का । इन दोनों के द्वन्द्व से एक तीसरी स्थिति उत्पन्न होती है जिसे 'संवाद' कहा जाता है। 'संवाद' में 'वाद' एवं 'प्रतिवाद' दोनों की विशेषताओं का समावेश होता है। 'संवाद' की स्थिति अस्थाई होती है। यह 'संवाद' कालान्तर, में 'वाद' में परिणत हो जाता है और पुनः इसके 'प्रतिवाद' का जन्म होता है। इन दोनों के संघर्ष द्वारा पुनः 'संवाद' का जन्म होता है। वाद, प्रतिवाद और संवाद की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। हीगल से प्रेरित होकर ही मार्क्स तथा डेहरेनडौर्फ ने भी द्वन्द्वात्मक पद्धति के आधार पर अपने संघर्ष सिद्धान्त को विश्लेषित किया है।

(4) संघर्ष प्रकार्यवाद (Conflict Functionalism)

संघर्ष प्रकार्यवाद के अन्तर्गत सामाजिक संघर्ष को समाज के लिये लाभदायी एवं आवश्यक बताया गया है। संघर्ष प्रकार्यवाद के प्रबल समर्थक सिमेल तथा कोजर है। कोजर ने सामाजिक संघर्ष के सकारात्मक प्रकार्यों का विस्तार से विश्लेषण किया है। उनके अनुसार संघर्ष के द्वारा शत्रुता का प्रदर्शन किया जाता है तथा सम्बन्धों में तनाव तथा वैमनस्य परिलक्षित होता है । यह शत्रुता, तनाव

तथा वैमनस्य संघर्ष के माध्यम से समाज में उभर कर आते हैं और कुछ समय बाद समाप्त हो जाते हैं और समाज में मैत्री सहयोग तथा एकता का संचार हो जाता है। सामाजिक संघर्ष न केवल नवीन मानदण्डों एवं संस्थाओं को जन्म देता है बल्कि नये सम्बन्धों को उत्पन्न करता है । इन संघर्षों द्वारा समाज को नई दिशा मिलती है अर्थात परिवर्तन आता है।

(5) विश्लेषण सम्बन्धी संघर्ष सिद्धान्त (Analytic Conflict Theory)

संघर्ष सिद्धान्त की इस परम्परा के सूत्रधार रेण्डल कोलिन्स (Randall Collins) है। वे मार्क्स, मैक्स वेबर, दुर्खीम, मीड, शूट्ज तथा गौफमैन से प्रभावित थे। कोलिन्स ने प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावाद (Symbolic Interactionism), फेनोमेनोलाजी (Phenomenology) तथा लोक विधि विज्ञान (Ethno-methodology)को संयुक्त करके सामाजिक संघर्ष सिद्धान्त को विकसित किया है। इनका मानना है कि मनुष्य मिलनसार होते हैं परन्तु वे संघर्ष प्रिय भी होते हैं। संघर्ष का मूल स्रोत 'शून्य तथा समस्त (Zero-sum) होता है अर्थात साधन शून्यता तथा साधन सम्पन्नता समाज में साथ-साथ विद्यमान रहती है। बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं जो साधन विहीन (Zero) होते हैं तथा कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें साधनों का स्वामित्व (Sum) प्राप्त होता है। कोलिन्स का मत है कि प्रत्येक समाज में सम्पत्ति, शक्ति तथा प्रतिष्ठा का असमान वितरण होता है जिसके परिणामस्वरूप वह समाज श्रेणियों अथवा संस्तरणों में विभाजित हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति समाज में उच्च स्तर प्राप्त करना चाहता है अर्थात अधिक से अधिक सम्पत्ति, शक्ति तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है। यही कारण है कि सभी व्यक्ति एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हो जाते हैं और समाज में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

(6) औपचारिक संघर्ष सिद्धान्त (Formal Conflict Theory)

कुछ समाजशास्त्रियों ने सम्मिलित सिद्धान्त (Coalition theory) तथा खेल सिद्धान्त (game theory) को संघर्ष परिप्रेक्ष्य से जोड़ा है। सामाजिक संघर्ष के इस सिद्धान्त के प्रवर्तक थीयोडोर कैपलो (Theodore Caplow) हैं। इन्होंने सामाजिक संघर्ष के अन्तर्गत समाज में अनेक संयोजनों का उल्लेख किया है। इनका विचार है कि सामाजिक संघर्ष दो वर्गों के मध्य तो होता है परन्तु इन दोनों वर्गों के लक्षण विभिन्न प्रकार के होते हैं। वर्ग संयोजन मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं - (1) क्रान्तिकारी संयोजन (Revolutionary coalitions) तथा रूढ़िवादी संयोजन (Consurvative coalitions)। पहले संयोजन में एक वर्ग कमजोर तथा दूसरा शक्तिशाली होता है तथा दूसरे संयोजन में दोनों वर्ग शक्तिशाली होते हैं जो सामाजिक स्तर एवं प्रतिष्ठा के लिये संघर्ष करते हैं । खेल सिद्धान्त जिसे कभी- कभी 'संघर्ष का विज्ञान' भी कहा जाता है, एक औपचारिक संघर्ष सिद्धान्त हैं, जिसमें यह बात रखी गयी है कि मूल्यों (Value) को अधिकतम करने के उद्देश्य से प्रतियोगितापूर्ण संघर्ष होते हैं। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि व्यक्ति सदैव अपने स्वार्थों के प्रति उन्मुख रहता है और दूसरों के हितों की कीमत पर वह उन स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए प्रयासरत रहता है। जेम्स टी0 ङ्यूक ने अपनी पुस्तक (Conflict and Power in Social Life) में कहा है कि समाज में अधिकतम मूल्य प्राप्त करने की होड़ में पार्टियां एक-दूसरे के लिये गड्ढे खोदती हैं तथा एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करना चाहती हैं जिसका परिणाम यह होता है कि पारितोषिक का असमान वितरण हो जाता है तथा असंख्य लोग अभावग्रस्त हो जाते हैं जिससे पुनः संघर्ष को आमंत्रण मिलता है।

1.5 समालोचनात्मक सिद्धान्त का प्रत्यय एवं स्वरूप

समालोचनात्मक सिद्धान्त का उद्भव संघर्ष सिद्धान्त के कारण हुआ है। कार्ल मार्क्स ने 19वीं शताब्दी के अन्त में एक क्रान्तिकारी आन्दोलन सम्पूर्ण यूरोप के सामने रखा। मार्क्स ने दृढ़तापूर्वक

पूंजीवाद तथा राज्य का विरोध किया क्योंकि इस व्यवस्था में मानव का शोषण हो रहा था। मार्क्स के संघर्ष सिद्धान्त का मूल उद्देश्य शोषण तथा प्रभुत्व से मनुष्य को मुक्ति दिलाना था। समालोचनात्मक सिद्धान्त मार्क्स के संघर्ष सिद्धान्त की अगली कड़ी मात्र है। मार्क्स के पश्चात, विवेचनात्मक सिद्धान्तकारों ने यह प्रयास किया कि वे इस संघर्ष सिद्धान्त को तत्कालीन समाज की आवश्यकताओं के अनुसार संशोधित करें। आलोचनात्मक सिद्धान्त 1932 से 1941 के मध्य विकसित हुआ। इस सिद्धान्त की उत्पत्ति जर्मनी के फ्रैंकफर्ट स्कूल (Frankfurt) से 1923 में हुयी जिसके सिद्धान्तवेत्ताओं में जार्ज लूकाक्स (George Lukacs) अग्रणी हैं। उनकी पहली कृति हिस्ट्री एण्ड क्लास कान्सीयसनेस (History and class consciousness) समालोचनात्मक सिद्धान्त के विकास में एक अद्वितीय योगदान है। 1960 के दशक में होरखीमेर (Horkheimer) तथा एडोर्नो (Theodor Adorno) आये । वास्तव में लूकाक्स एक ऐसी कड़ी है जो हीगल, मार्क्स तथा वेबर को आधुनिक विवेचनात्मक सिद्धान्त के साथ जोड़ते हैं। होरखीमेर तथा एडोर्नो की कृतियाँ सातवें दशक में आयी। इन दोनों लेखकों की विवेचनात्मक सिद्धान्त के बारे में जो समझ है वह लूकाक्स के पद चिन्हों पर ही है। इन लेखकों ने जुर्गेन हेबरमास को भी अत्यधिक प्रभावित किया।

1.6 आलोचनात्मक सिद्धान्त के आविर्भाव के कारण

जर्मनी में मैक्स वेबर के युक्ति संगतता (Rationality) और अधिकारीतन्त्र (Bureaucracy) के आर्विभाव ने सैद्धान्तिक जगत में एक तहलका मचा दिया। वेबर के इस सिद्धान्त से यूरोप को लगा कि आधुनिक समाज अपने मूल में एक पूँजीवादी समाज है।यह बात मार्क्सवादियों को स्वीकार्य नहीं थी। उधर फासीवाद का जन्म पहले विश्व युद्ध के बाद इटली में हुआ जिसके प्रणेता बेनिटो मुसोलिनी थे तभी एक विचारधारा यह पनपी कि राज्य और पूँजीवादी शक्तियाँ मनुष्य का शोषण करती हैं। सम्पूर्ण यूरोप में अब यह समझा जाने लगा कि आम आदमी का जीवन कभी मुक्त जीवन नहीं हो सकता। 1934 में रूस में स्टालिनवाद के विकास ने मार्क्सवादियों को हताश कर दिया। स्टालिन ने लोगों में बड़ा भय पैदा कर दिया। उसने कई लोगों को देश निकाला दिया, और आबादी के बहुत बड़े भाग को रूस छोड़ने के लिये मजबूर कर दिया। स्टालिनवाद ने मार्क्स के सपने को चूर-चूर कर दिया।

आलोचनात्मक सिद्धान्तवेत्ताओं की पहली पीढ़ी ने जब मार्क्सवाद को नये संदर्भ में देखना प्रारम्भ किया तब उन्होंने पाया कि एक ऐसे सिद्धान्त की अवश्यकता है जो अर्थ व्यवस्था मनोविज्ञान संस्कृति और तत्कालीन पूँजीवादी समाज के सम्बन्धों को पुर्नगठित कर सके। होरखेमर ने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समूह अनुसंधान (Group Research) तथा सिद्धान्त निर्माण की रणनीति को अपने प्रोजेक्ट की तरह अपनाया क्योंकि ये समाज वैज्ञानिक तत्कालीन पूंजीवादी समाज और प्रचलित सिद्धान्तों के आलोचक थे। इसी कारण उनके सिद्धान्तों को आलोचनात्मक सिद्धान्त (Critical theory) कहते हैं।

1.7 आलोचनात्मक सिद्धान्त के लक्षण

आलोचनात्मक सिद्धान्त मार्क्स की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को अस्वीकार करता है। इस सिद्धान्त में मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विकल्प के रूप में हीगल के द्वन्द्ववाद को स्वीकार किया गया है। इसमें चेतना की प्रक्रिया (Process of consciousness) तथा विषयनिष्ठा

(Subjectivity) पर बल दिया जाता है क्योंकि विचार सदैव देशकाल परिस्थिति सापेक्ष होते हैं। अतः देश, काल, परिस्थिति से पृथक करके विचार को नहीं समझा जा सकता है। यह सिद्धान्त मनुष्य की स्वतंत्रता को प्रभावित करने वाली ताकतों का विवरण प्रस्तुत करता है साथ ही साथ मनुष्य को हर प्रकार के शोषण, प्रभुत्व तथा दमन से मुक्ति दिलाने का मार्ग प्रशस्त करता है। आलोचनात्मक सिद्धान्त का उद्देश्य मार्क्स के प्रैक्सिस (Praxis) को मूर्तरूप प्रदान करना है। प्रैक्सिस का अर्थ है ऐसे सिद्धान्त जो व्यवहार में लाये जाने की प्रेरणा देते हैं। इस सिद्धान्त की विधि अन्तर्विषयी (Inter Disciplinary) होती है। जिसमें विभिन्न विषयों का एक साथ अध्ययन करते हुये सामाजिक स्थितियों तथा परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाता है ताकि उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अपेक्षित रणनीति निर्मित की जा सके।

1.8 सारांश

यद्यपि संघर्ष परिप्रेक्ष्य का उदय समाजशास्त्र में प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य के पश्चात् हुआ परन्तु प्राचीन दार्शनिकों एवं राजनीतिज्ञों द्वारा संघर्ष सिद्धान्त का प्रतिपादन बहुत पहले ही हो चुका था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सामाजिक संघर्ष के अनेक विवरण मिलते हैं। प्रत्येक समाज में संघर्ष अनिवार्य रूप से विद्यमान होता है। सामाजिक संघर्ष के मुख्य कारण व्यक्तियों के निहित स्वार्थ, प्रतियोगिता तथा पारितोषिक का असमान वितरण हैं। सामाजिक संघर्ष के परिणामस्वरूप समाज में नये प्रतिमान स्थापित होते हैं तथा परिवर्तन आता है। अब्राहम ने उचित ही कहा है कि समाजशास्त्र में कोई एक संघर्ष सिद्धान्त नहीं है बल्कि अनेक संघर्ष सिद्धान्त हैं जो सामाजिक घटनाओं के विशिष्ट पक्षों का विश्लेषण करते हैं। समकालीन समाजशास्त्र में संघर्षात्मक विश्लेषण अभिगम को एक स्वरूप एवं शिक्षा प्रदान करने के लिए अनेक प्रयास चल रहे हैं। वास्तव में सामाजिक संघर्ष आधुनिक तथा उत्तराधुनिक समाज का यथार्थ है। सामाजिक घटनायें सदैव संतुलन से असंतुलन, तनाव से स्थायित्व, तथा एंकीकरण से विघटन में परिवर्तित होती रहती है। संघर्ष परिप्रेक्ष्य में इन परिवर्तनों को विश्लेषित करने की पूर्ण क्षमता है।

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- अब्राहम एम0फ्रान्सिस, मॉडर्न सोसियोलॉजिकल थ्योरी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1988
- बोटोमोर टी0 बी0, 'मार्क्सिस्ट सोसियोलॉजी इन द इण्टरनेशनल इनसाइकलोपीडिया ऑफ द सोसियल साइन्सेज, वॉल्यूम 10, द्वारा डेविड एल0 सिल्स, न्यूयार्क, 1968, पृ0 46
- जेम्स टी0 डूक, कॉनफ्लिक्ट एण्ड पावर इन सोसियल लाइफ, ब्रीघम यंग यूनिवर्सिटी प्रेस, 1976
- रावत हरिकृष्ण, समाजशास्त्र विश्वकोश, रावत पब्लिकेशन, जयपुर एवं नई दिल्ली, 1998
- द्विवेदी रमेश नन्दन, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, विजय प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, 1996
- दोषी एस0 एल0 आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता एवं नव समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रावत पब्लिकेशन, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2002

1.10 प्रश्न उत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 सामाजिक संघर्ष से क्या तात्पर्य है?

प्र.2 सामाजिक संघर्ष का अतिवादी सिद्धान्त क्या है?

प्र.3 औपचारिक संघर्ष सिद्धान्त पर टिप्पणी कीजिए।

प्र.4 संघर्ष की 'शून्य तथा समस्त' (Zero-Sum) की अवधारणा स्पष्ट करो।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 सामाजिक संघर्ष का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसकी प्रकृति को स्पष्ट करें।

प्र.2 सामाजिक संघर्ष के कारणों की विवेचना कीजिए।

प्र.3 संघर्ष सिद्धान्त के प्रकारों का विश्लेषण कीजिए।

प्र.4 समालोचनात्मक सिद्धान्त के उद्भव व लक्षणों पर प्रकाश डालिये।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्र.1 फ्रैंकफर्ट स्कूल की स्थापना कब हुई ?

(अ) 1860 (ब) 1901

(स) 1923 (द) 1940

प्र.2 अतिवादी समाजशास्त्र की नींव किसने रखी?

(अ) लुइस होरोविट्ज (ब) सी0 राइट मिल्स

(स) हरबर्ट मार्क्यूज (द) मैक्स होरखीमेर

प्र.3 द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोग सर्वप्रथम किसने किया ?

(अ) हीगल (ब) मार्क्स

(स) डेहरेनडोर्फ (द) एडोर्नो

प्र.4 कोजर संघर्ष के किस परिप्रेक्ष्य के समर्थक हैं?

(अ) द्वन्द्वात्मक संघर्ष (ब) अतिवादी समाजशास्त्र

(स) विश्लेषण सम्बन्धी सिद्धान्त (द) संघर्ष प्रकार्यवाद

उत्तर- (1) स (2) ब (3) अ (4) द

इकाई - 2 संघर्ष सिद्धान्त का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, कार्लमार्क्स के विचार एवं समकालीन प्रासंगिकता

इकाई की रूपरेखा-

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 संघर्ष सिद्धान्त का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

2.3 कार्ल मार्क्स के विचार एवं समकालीन प्रासंगिकता

2.3.1 मार्क्स का पद्धतिशास्त्र

2.3.2 द्वन्द्वात्मकता

2.3.3 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

2.4 इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या

2.4.1 उत्पादन प्रणाली

2.4.2 उत्पादन सम्बन्ध

2.5 वर्ग संघर्ष

2.6 आलोचना

2.7 मार्क्स का आर्थिक निर्धारणवाद

2.8 आलोचना

2.9 सारांश

2.10 संदर्भ ग्रन्थ

2.11 सम्बन्धित प्रश्न उत्तर

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में संघर्ष सिद्धान्त के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर संक्षिप्त टिप्पणी करने का प्रयास किया गया है। मार्क्स के पद्धतिशास्त्र का चित्रण करने के साथ-साथ उसकी इतिहास से सम्बन्धित भौतिकवादी व्याख्या का लघु वर्णन किया गया है। यहाँ मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग संघर्ष का विवेचन किया गया है तथा उसके आर्थिक निर्धारणवाद का सार रूप में वर्णन किया गया है।

2.1 प्रस्तावना

यूरोप में 14वीं तथा 15वीं शताब्दी में मानवतावाद का व्यापक प्रभाव पड़ा था और मानवीय क्रियाओं के कारणों को मानवीय धरातल पर देखकर उन्हें दैवी प्रसन्नता-अप्रसन्नता से मुक्त कर समझने का प्रयास शुरू हो चुका था। प्राकृतिक विज्ञानों का 17वीं 18वीं शताब्दियों में विधिवत विकास हुआ

और वस्तुओं की प्रकृति तथा गतियों के नियमों की खोज तथा उपयोग सामने आने लगे (न्यूटन 1642-1727)। राजा की दैवी शक्ति पर भी प्रश्न चिन्ह लगे। इन गतिविधियों के बीच मानवीय तथा सामाजिक व्यवस्था के लौकिक सिद्धान्तों को स्पष्ट करने की प्रणाली सारे यूरोप में प्रचलित हो गई। विचारों की इन्हीं प्रक्रियाओं के बीच मार्क्स ने अपने चिंतन और विवाद का क्रम जारी रखा और प्रश्नों को व्यावहारिक धरातल से जोड़ा।

19वीं शताब्दी के आरम्भ में पूँजीवाद की नींव पड़ चुकी थी। औद्योगिक क्रान्ति के कारण सामन्तवादी समाज का ह्रास शुरू हो गया था। लेकिन इन प्रभावों से समाज का स्तरीकरण समाप्त नहीं हुआ। सामन्तवादी अभिजात्य वर्ग का स्थान पूंजीवादी अभिजात्य वर्ग ने ले लिया और भूमिहीन दासों का स्थान मजदूर वर्ग ने। अतः शोषण के नए स्वरूप व समाज में नए वर्गों का जन्म हुआ। पूँजीवादी वर्ग ने मजदूर वर्ग का शोषण किया क्योंकि उनके हित परस्पर विरोधी एवं विपरीत थे। समाज की इस नवीन परिस्थिति के कारण अनेक बुद्धिजीवियों को इसकी व्याख्या में विशेष रूचि जागी।

2.2 संघर्ष सिद्धान्त का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

संघर्ष के विचार को बौद्धिक स्तर पर अनेक लेखकों ने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से विवेचित किया है। राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त से सम्बन्धित लेखनों में संघर्ष का समीचीन विवेचन किया गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्य संचालन में कानून व युद्ध के विज्ञान का व्यवस्थित वर्णन है। चीन के एक लेखक हैन फी जुह ने संघर्ष को शक्ति से जोड़कर विश्लेषित किया है। उसके अनुसार समाज का सार शक्ति में निहित है। हैराडिट्स जोकि एक ग्रीक दार्शनिक थे, ने संघर्ष को एक प्राथमिक सामाजिक तथ्य माना है। मैकीवली संघर्ष को राजनैतिक संस्थाओं के उद्विकास का कारण मानते थे। राज्य के अविर्भाव से पूर्व समाज में स्तरीकरण नहीं था। लेकिन राज्य की उत्पत्ति के साथ उच्च व अधीनस्थ सम्बन्धों व श्रेणियों का निर्माण हुआ। डेविड ह्यूम राज्य की उत्पत्ति का संबंध संघर्ष के सिद्धान्त से जोड़ते है। 17वीं शताब्दी तक संघर्ष संबोध राजनैतिक विचारधाराओं से जुड़ा रहा। 18वीं शताब्दी में इस संबोध का आर्थिक क्षेत्र में उपयोग किया गया। प्रतिस्पर्धा को भी एक प्रकार का द्वंद माना गया। तत्पश्चात् संघर्ष का सिद्धान्त प्राणीशास्त्रीय क्षेत्र के अंतर्गत भी समाविष्ट हुआ जबकि चार्ल्स डार्विन ने योग्यतम की उत्तरजीविता (Survival of the Fittest) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

मार्क्सवादी व डार्विनवादी विचारकों ने अनेक बुद्धिजीवियों को प्रभावित किया। मार्क्स के विचार सर्वहारा वर्ग के हितों की रक्षा करते थे, जबकि सामाजिक डार्विनवाद का विचार बुर्जुआ वर्ग के हितों की रक्षा करता था। डार्विनवादी विचारधारा के अन्तर्गत हरबर्ट स्पेंसर एवं विलियम ग्राहम समनर आते हैं। स्पेंसर के अनुसार समाज में भी प्राकृतिक व्यवस्था में संघर्ष के अनुरूप प्रक्रिया एवं प्रतिमान अभिव्यक्त होते हैं। इस आधार पर उन्होंने असमानता स्तरीकरण एवं वर्गों के विभेद को उचित ठहराया। उनके अनुसार जो शोषित एवं अभावग्रस्त हैं वे इसीलिये हैं क्योंकि वे समाज के दृष्टिकोण से अयोग्य है। इसी प्रकार समनर भी सामाजिक असमानता को उचित मानते थे। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् संघर्ष की प्रक्रिया की ओर समाजशास्त्रियों का ध्यान गया। अणुअस्त्र के खतरे, अलगाववाद व अमानवीयकरण की प्रक्रियाओं ने कुछ नए प्रश्नों को जन्म दिया जिन्हें परम्परागत समाजशास्त्र व प्रकार्यवाद उपागम सुलझाने में सक्षम नहीं था। सी0 राइट मिल्स के लेखन ने इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1959 में प्रकाशित उनकी पुस्तक "सोसियोलॉजिकल

इमेजिनेशन''(Sociological Imagination) ने स्थापित प्रारूपों की आलोचना की व समाजशास्त्र में प्रचलित वृहद सिद्धान्त, अमूर्त आनुभाविकवाद (Abstract Empiricism) व प्रशासन तंत्रीय आचार तत्व की आलोचना की। उन्होंने संघर्ष के अभिमुखन की पुर्नस्थापना की । 1955 में सीमेल की पुस्तक 'संघर्ष के अनुवाद व 1956 में प्रकाशित लेविस कोजर की पुस्तक ''फंक्शन्स आफ सोसियल कॉनफ्लिक्ट'' ने संघर्ष के उपागम के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। मार्क्स के युवा अवस्था में लिखी गई पुस्तकों में विद्वानों की रूचि बढ़ी । मार्क्स के प्रारम्भिक लेखन ने अमेरिका व पश्चिम यूरोप में नव वामपंथ आन्दोलन को प्रभावित किया । जर्मनी के विद्वान हरबर्ट मारक्यूज भी मार्क्स के प्रारम्भिक लेख से प्रभावित हुए। 1957 में यूनेस्को ने 'नेचर आफ कॉनफ्लिक्ट' रचना प्रकाशित की । इस साल में संघर्ष से सम्बन्धित विशिष्ट शैक्षणिक पत्रिकाओं का प्रकाशन भी हुआ। उदाहरणतः "Journal of Conflict Resolution"_"International Journal of Comparative Sociology" इत्यादि । इस शताब्दी के छठे दशक के मध्य द्वन्द्वात्मक छवि का पुर्नयन हुआ।

2.3 कार्लमार्क्स के विचार एवं समकालीन प्रासंगिकता

कार्ल मार्क्स संभवतः संसार का प्रथम विचारक हैं जिसके विचारों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यवहारिक रूप से उपयोग किया जा रहा है। वह वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्तक हैं। उन्होंने सामाजिक विचारधारा में आर्थिक सम्प्रदाय को नवीन एवं ठोस आधार पर खड़ा किया। मार्क्स का जन्म 5 मई सन 1818 को जर्मनी के रीन प्रान्त प्रदेश के नगर ट्रियर में हुआ था। उन्होंने 1830 से 1835 तक ट्रियर के ही एक स्कूल में शिक्षा प्राप्त की । इस स्कूल की अन्तिम परीक्षा के लिए उन्होंने जो निबन्ध चुना उसका शीर्षक था ''व्यवसाय के चुनाव में एक तरूण के विचार''। इसी निबन्ध से मार्क्स की प्रतिभा का आभास हो जाता है। इसके पश्चात मार्क्स ने बान और फिर बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। बर्लिन विश्वविद्यालय में मार्क्स 'हीगल' के दर्शन से बहुत प्रभावित हुए। दर्शन और व्यवहार का अदभुत समन्वय मार्क्स के व्यक्तित्व में मिलता है। मार्क्स का जीवन तपस्या और संघर्ष का जीवन था। वह दार्शनिक होकर भी एक क्रियाशील व्यक्ति थे । सन 1883 की 14 मार्च को इस महान व्यक्ति की जीवन लीला समाप्त हो गयी । मार्क्स के जाने के बाद भी मार्क्सवाद जीवित रहा। मार्क्स के वैचारिक योगदानों एवं उनकी समकालीन प्रासंगिकता को उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के अध्ययन के माध्यम से जाना जा सकता है। अपने संपूर्ण लेखनी में मार्क्स ने जिस पद्धतिशास्त्र का प्रयोग किया वह अद्वितीय है। उनकी कुछ प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार है - (1) 'पावर्टी ऑफ फिलासफी' (Poverty of Philosophy)1847, (2) कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो (Communist Manifesto) 1849 (3) 'ए क्रिटिकल पोलिटिकल इकोनॉमी' (A Critical Political Economy) 1852 तथा (4) तीन अंकों में प्रकाशित 'दास कैपिटल' (Das Capital) 1867.

2.3.1 मार्क्स का पद्धतिशास्त्र

मार्क्स के चिन्तन का प्रमुख आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) है। मार्क्स ने सामाजिक जीवन एवं मानव इतिहास की प्रत्येक घटना को वैज्ञानिक और क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा की। गहन चिन्तन और ऐतिहासिक ज्ञान के आधार पर उन्होंने सामाजिक जीवन की व्याख्या के लिये जो सूत्र चुना और जिस सूत्र पर उनके प्रत्येक विचार की व्याख्या की जा सकती है वह है 'द्वन्दात्मक भौतिकवाद' । द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वास्तविक जगत

में व्याप्त स्वाभाविक विरोधों और संघर्षों के अस्तित्व में विश्वास करता है और समस्त सामाजिक जीवन को इन विरोधों और संघर्षों का परिणाम मानता है।

2.3.2 द्वन्दात्मकता (Dialectic)

द्वन्दात्मकता विचार दर्शन की एक प्रसिद्ध परम्परा है। प्राचीन काल में सत्य की खोज करने के लिये एक विशेष पद्धति अपनाई जाती थी जिसे तर्क-वितर्क कहते थे। किसी तथ्य की व्याख्या के लिए कोई तर्क दिया जाता है, उस तर्क का सम्भव विरोध करने के लिए विपरीत तर्क (वितर्क) प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार निरन्तर तथ्य के विषय में तर्क-वितर्क करने से किसी सर्वसम्मत सत्य की खोज की जाती है। तर्क-वितर्क की यह प्रणाली ही द्वन्दवाद के रूप में परिभाषित की जा सकती है। द्वन्दवाद के समर्थकों का यह विश्वास है कि विश्व में जो भी परिवर्तन होते हैं चाहे वे विचार प्रणाली में हों या व्यवहार प्रतिमानों में, सामाजिक संस्थाओं में हों या समुदायों में सब इसी द्वन्द के परिणाम स्वरूप होते हैं। कार्ल मार्क्स हीगल के द्वन्दात्मक सिद्धान्त से प्रभावित थे। हीगल का विचार था कि जब मस्तिष्क किसी वास्तविकता का अनुभव करता हैं तो वह परिवर्तन विचार का रूप धारण कर लेता है। विचार की प्रक्रिया से मस्तिष्क में कोई धारणा जन्म लेती है। इस धारणा के पैदा होते ही विचार विकास करता है और तुरन्त कोई विपरीत धारणा उत्पन्न होती है अब मस्तिष्क में इन दो विरोधी धारणाओं में संघर्ष होता है और इस संघर्ष के परिणाम स्वरूप एक तीसरी धारणा उत्पन्न होती है जो पहली दोनों धारणाओं में सामंजस्य करके नवीन विचार या विकसित विचार को जन्म देती है । हीगल ने 'धारणा', 'विपरीत' धारणा' और 'सामन्जस्यपूर्ण धारणा' को क्रमशः 'वाद (Thesis), 'प्रतिवाद'(Antithesis) और 'संवाद' (Synthesis) कहा है।

मार्क्स के दर्शन का आधार भी द्वन्दवाद है किन्तु मार्क्स का द्वन्दात्मक विश्लेषण हीगल के द्वन्दवाद का अनुकरण नहीं था। हीगल का द्वन्दवाद कल्पना, आदर्श आध्यात्मिकता और गुणात्मक तथ्यों पर आधारित है। जबकि मार्क्स ने द्वन्दवाद को वास्तविक जगत की ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या के साधन के रूप में प्रयोग किया। मार्क्स ने स्वयं कहा है, ''हीगल ने द्वन्दवाद को रहस्यात्मक बना दिया -------हीगल ने द्वन्दवाद को सर के बल खड़ा किया है। मैंने उसे पैरों के बल सीधा खड़ा कर दिया है''। "In Hegel's hands dialectic underwent a mystification. In Hegel's writing dialectic stands on its head. I put it down on its feet."

मार्क्स जगत को एक वास्तविकता, एक सत्य मानता है जो जड़ है, प्रकृति है। इस प्रकृति में विरोधी प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। जब तक इन विरोधी प्रवृत्तियों में सन्तुलन बना रहता है तब तक प्रकृति की अवस्था स्थिर रहती है, उसमें किसी प्रकार का क्षोभ या संघर्ष उत्पन्न नहीं होता किन्तु विरोधी प्रवृत्तियों का सन्तुलन बिगड़ जाने से क्षोभ या संघर्ष उत्पन्न होता है जिससे परिवर्तन होता है और प्रकृति का स्वरूप बदल जाता है। मार्क्स के अनुसार भौतिक संसार वह वास्तविकता है जो इन्द्रिय ग्राह्य है और अपने अस्तित्व के लिए मनुष्य जिसमें कार्य करता है, भोजन प्राप्त करता है और जिसका आश्रय लेकर वह इस योग्य बनता है कि विचारों को जन्म दे सके। मार्क्स का कथन है, ''मनुष्यों की मानसिक चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि इसके विपरीत, उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी मानसिक चेतना को निर्धारित करता है''। "It is not the consciousness of men that determines their existence, on the contrary, their social existence determines their consciousness."

मार्क्स ने द्वन्दात्मक पद्धति को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया क्योंकि उन्होंने वास्तविक ऐतिहासिक तथ्यों को आधार मान कर यह सिद्ध करने में सफलता प्राप्त की कि संसार में प्रत्येक परिवर्तन का प्रमुख कारण द्वन्द ही है। पानी का बिजली में परिवर्तन, बीज का अंकुर में, वनमानुष का मनुष्य में, तीर कमान का बम में ओर जादू-टोने का चिकित्साशास्त्र में परिवर्तन द्वन्दात्मक प्रक्रिया

के द्वारा ही हुआ है।

2.3.3 द्वन्दात्मक भौतिकवाद

मार्क्स ने द्वन्दात्मक दर्शन को भौतिक तथा वैज्ञानिक आधार पर व्यवस्थित किया। उसने समस्त सामाजिक विकास को विचारों के संघर्ष का नहीं बल्कि भौतिक तथा आर्थिक संघर्ष का परिणाम बताया। मार्क्स का द्वन्दवाद द्वन्दात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism)या अधिक सही शब्दों में भौतिक द्वन्दवाद (Materialistic Dialectic) कहा जाता है। द्वन्दात्मक भौतिकवाद की प्रमुख मान्यतायें निम्नलिखित हैं -

(1) वास्तविकता की जटिलता (Complexity of Reality)

(2) वास्तविकता की परिवर्तनशील प्रकृति (Changing Nature of Reality)

(3) क्रान्तिकारी परिवर्तन (Revolutionary Change)

(4) विरोध की प्रक्रिया (Process of Contradiction)

(5) पदार्थ प्रमुख है (Matter is Primary)

द्वन्दात्मक भौतिकवाद सामाजिक तथ्यों का भौतिक संघर्ष के आधार पर वैज्ञानिक अध्ययन करता है। वह प्रत्येक घटना को अन्य घटनाओं से सम्बन्धित, संचालित मानता है। उसकी निरन्तर गतिशीलता और संचित परिमाणात्मक कारकों के फलस्वरूप उत्पन्न विस्फोटक अथवा क्रान्तिकारी परिवर्तन में विश्वास करता है और उसके आन्तरिक विरोध को परिवर्तन का कारण मानता है। उदाहरण के लिए पानी कुछ तत्वों से मिलकर एक निश्चित स्वरूप में विद्यमान है। इन तत्वों का सन्तुलन बिगड़ने से या इनमें विरोध उत्पन्न होने से पानी की अवस्था में परिवर्तन होने लगता है। जैसे सूर्य की गर्मी उसमें परिवर्तन करने लगती है, भाप बन जाती है। भाप पानी को नकारता (Negation) है। भाप आकाश में बादल का रूप ले लेती है और फिर इस भाप का विरोध (Negation) ठण्ड द्वारा होता है। अन्त में फिर वर्षा के रूप में पानी स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि पानी धीरे धीरे गरम होता है किन्तु भाप एकदम, अनायास बनकर उठ जाती है। इसी प्रकार बादल भी धीरे-धीरे बनते हैं पर एक विस्फोटक स्थिति एकदम आती है जब वे बरस पड़ते हैं । द्वन्दवाद के शब्दों में पानी का प्राथमिक स्वरूप 'वाद' (Thesis) है जो जल है, उसका प्रतिवाद (Antithesis) अग्नि या सूर्य की गर्मी है और संवाद (Synthesis) भाप या बादल है। फिर इस संवाद का भी विरोध (Negation) होता है और वर्षा हो जाती है। यही द्वन्दात्मक भौतिकवाद है।

सामाजिक क्षेत्र में द्वन्दात्मक भौतिकवाद को मार्क्स ने वैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया है।मार्क्स ने ऐतिहासिक तथ्यों के माध्यम से व्यक्त किया है कि समाज सदा से दो विरोधी शक्तियों, वाद और प्रतिवाद का संघर्ष स्थल रहा है। सदा ही इस संघर्ष ने एक नवीन व्यवस्था संवाद (Synthesis) को जन्म दिया है। ये विरोधी शक्तियाँ, दो विरोधी वर्गों (Classes) के रूप में देखी जा सकती हैं। प्राचीन काल में मालिक और दास, मध्यकाल में सामन्त और किसान तथा आधुनिक युग में पूँजीपति (Capitalist) और मजदूर वर्ग हैं। उत्पादन की प्रणाली में परिवर्तन होते ही एक वर्ग की शक्ति बढ़ जाती है। यह वाद (Thesis) की अवस्था है। दूसरा वर्ग विरोध 'प्रतिवाद' (Anthithesis) करता है ।क्रान्ति होती है और एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का जन्म होता है।

2.4 इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या

मार्क्स के मित्र एंजेल्स ने कहा कि "जिस प्रकार डार्विन ने भौतिक प्रकृति में विकास के नियम

की खोज की है उसी प्रकार मार्क्स ने मानव इतिहास के विकास के नियम की खोज की है।''

"Just as Darwin discovered the law of evolution in organic nature to Marx discovered the law of evolution in human history."

मार्क्स ने इतिहास की व्याख्या एक नवीन दृष्टिकोण से की । उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों का भौतिक आधार ढूँढ कर इतिहास को एक विज्ञान का स्वरूप प्रदान किया। समाज और इतिहास के सम्बन्ध मे मार्क्स ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया उसे 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' के नाम से पुकारा जाता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद मानव इतिहास की घटनाओं की भौतिक आधार पर व्याख्या करता है। मार्क्स इतिहास को महान व्यक्तियों के जीवनवृत्त या युद्धों का संकलन नहीं मानते अपितु सामान्य लोगों के द्वारा जीवन के लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त करने के लिए समय-समय पर परिवर्तित प्रणालियों की श्रृंखला समझते हैं । इतिहास की परिभाषा करते हुये वह लिखते हैं कि ''यह मनुष्य के द्वारा अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए की जाने वाली क्रिया है।'' मार्क्स के अनुसार इतिहास के दो प्रमुख आधार हैं - (1) उत्पादन प्रणाली (Method of Production) (2) उत्पादन सम्बन्ध (Production Relationship)

2.4.1 उत्पादन प्रणाली (Method of Production)

भौतिक अस्तित्व ही इतिहास का आधार है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य कुछ उपकरण (Tools) जुटाते हैं । जीवित रहने के लिए भोजन, वस्त्र एवं मकान आदि अनिवार्य हैं। सामाजिक संरचना का सम्पूर्ण भवन किसी समूह के द्वारा विकसित जीवन के लिये आवश्यक भौतिक साधनों की उत्पादन प्रणाली और उसके परिणामस्वरूप आर्थिक विकास के स्तम्भों पर खड़ा होता है। उसके अनुसार भौतिक उत्पादन प्रणाली ही समस्त ऐतिहासिक घटनाओं की माता है। इतिहास का वास्तविक अध्ययन करने के लिए धार्मिक, राजनैतिक, कलात्मक तथा अन्य सामाजिक घटनाओं से पहले इनसे सम्बन्धित समकालीन भौतिक उत्पादन प्रणालियों को समझना चाहिये। भौतिक अस्तित्व की रक्षा के लिए आवश्यक सामग्री का उत्पादन ही समस्त मानवीय क्रिया का केन्द्र बिन्दु है। तात्पर्य यह है कि मार्क्स उत्पादन प्रणाली को ऐतिहासिक घटनाओं का मौलिक आधार मानता है। उत्पादन प्रणाली अर्थात उपकरण, कुशलता, अनुभव आदि से किसी समाज की उत्पादन शक्ति बढ़ती है।

2.4.2 उत्पादन सम्बन्ध (Production Relationships)

उत्पादन कार्य कोई भी मनुष्य अकेले नहीं कर सकता है। भौतिक उत्पादन में अधिक सुविधा और लाभ के लिये पारस्परिक सहयोग आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार उत्पादन व्यक्तिगत क्रिया न होकर सामाजिक क्रिया हो जाती है। मार्क्स कहते हैं कि उत्पादन में मनुष्य केवल प्रकृति के प्रति ही नहीं वरन् एक -दूसरे के प्रति भी क्रियाशील रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत उत्पादन में संलग्न व्यक्तियों में पारस्परिक सम्बन्धों का स्थापित होना अनिवार्य है। उत्पादन प्रक्रिया में दो प्रकार के वर्ग बन जाते हैं । एक वर्ग तो सेवाओं का नियोजन और संकलन करके उत्पादन को संचालित करता है और दूसरा वर्ग सेवायें प्रदान करता है। पहले वर्ग को मालिक और दूसरे वर्ग को सेवक वर्ग कहा जा सकता है। मालिक या शासक वर्ग इन सम्बन्धों को निरन्तर स्थायी बनाने की चेष्टा करता है। धीरे -धीरे उत्पादन प्रक्रिया इन वर्गों के बीच तनाव को जन्म देती है। मालिक वर्ग उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण रखने के लिए राज्य व्यवस्था पर अधिकार रखता है। इतिहास

में युग परिवर्तन तब होता है जब उत्पादन प्रक्रिया में संलग्न सेवक वर्ग अपनी संख्या के बल पर क्रान्ति कर देता है। अतः मानव इतिहास को उत्पादन प्रक्रिया से उत्पन्न सम्बन्धों के तनाव और वर्ग संघर्ष के द्वारा ही समझा जा सकता है। मार्क्स ने भौतिक उत्पादन शक्ति के आधार पर मानव इतिहास को निम्नलिखित पाँच युगों में विभाजित किया है -

1. आदिम युग (Primitive Communism)
2. दास युग (Age of Slavery)
3. सामन्तवादी युग (Feudalism)
4. पूँजीवाद (Capitalism)
5. समाजवाद (Socialism)

2.5 वर्ग संघर्ष (Class-Struggle)

संसार के प्रत्येक भाग में किसी न किसी रूप में सामाजिक संस्तरण (Social stratification) पाया जाता है। वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त यद्यपि मार्क्स की कोई नवीन देन नहीं है। आदि काल से ही विद्वानों ने वर्ग भेद और वर्ग विरोध का महत्व स्वीकार किया है। किन्तु मार्क्स ने वर्गों के निर्माण की मौलिक व्याख्या करके तथा वर्ग संघर्ष को समस्त सामाजिक परिवर्तन का आधार घोषित करके वर्ग संघर्ष को एक दृढ़ समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में विकसित किया। मार्क्स के अनुसार वर्गों का निर्माण "भौतिक विभाजन" के कारण होता है। उसके वर्ग आर्थिक वर्ग (Economic Classes) हैं जो उत्पादन की प्रक्रिया के आधार पर विकसित होते हैं। आदिम काल में अधिक वर्ग भेद नहीं था क्योंकि मनुष्य की आवश्यकताएं प्रकृति के द्वारा दी हुई वस्तुओं से पूरी होती थी। वस्तुओं का समान वितरण होने से कोई वर्ग विभाजन नही था। जैसे -जैसे मनुष्य ने बौद्धिक विकास के द्वारा वस्तुओं का उत्पादन स्वयं करना प्रारम्भ किया तो श्रम विभाजन हो गया और वितरण में अन्तर होने लगा। वस्तुओं के वितरण का अन्तर ही वर्ग भेद का कारण है। मार्क्स के द्वारा पूँजीवादी समाज में वर्ग संघर्ष के विश्लेषण को संक्षेप में निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा समझा जा सकता है।

2.5.1 सम्पत्ति का महत्व (Importance of property)

वर्ग के निर्धारण में सम्पत्ति के अधिग्रहण की प्रमुख भूमिका रहती है।।सम्पूर्ण समाज सम्पत्ति के सम्बन्ध के आधार पर दो भागों में बंट जाता है। पहला "जिसके पास है" (Haves) तथा दूसरा "जिसके पास नहीं है।" (Haves not) जिन व्यक्तियों के पास सम्पत्ति होती है वे ही उत्पादन के साधनों पर अपना अधिकार स्थापित कर पाते हैं शेष व्यक्ति सम्पत्ति रहित (Haves not) रह जाते हैं। ऐसे लोगों के पास अपने श्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं होता।

2.5.2 आर्थिक निर्धारणवाद (Economic Determinism)

पूंजीवादी समाज, उत्पादन के साधनों का मुट्ठीभर लोगों में केन्द्रीकरण तथा वितरण पर आधारित है। पूँजीपति जिनका निजी सम्पत्ति पर प्रभावोत्पादक एकाधिकार होता है, राजनीतिक यांत्रिकी पर नियंन्त्रण रखते हैं तथा उनके स्वार्थ राजनीतिक शक्ति तथा वैचारिकीय क्षेत्रों तक फैले होते हैं। उचित अर्थ में राजनीतिक शक्ति एक वर्ग की संगठित शक्ति होती है जिसका उद्देश्य दूसरे वर्ग का शोषण होता है। बुर्जुआ वर्ग राज्य का उपयोग स्वहित को दृढ़ करने तथा आर्थिक शोषण के यंत्र के

रूप में करता है। राज्य वह स्वरूप या प्रकार है जिसमें शासक वर्ग के व्यक्ति अपने हितों को प्रकट करते हैं।

2.5.3 वर्गों का ध्रुवीकरण (Polarization of classes)

पूँजीवादी व्यवस्था में बड़े पैमाने पर उत्पादन और एकाधिकार की प्रवृत्तियाँ विकसित हो जाती हैं एकाधिकार के कारण पूँजीपतियों की संख्या घटने लगती है क्योंकि प्रतियोगिता में पिछड़ कर धीरे धीरे छोटे पूँजीपति श्रमिकों में मिलने लगते हैं। औद्योगिक केन्द्रों में मजदूरों का एकत्रीकरण होने लगता है जिससे उनमें पारस्परिक सम्पर्क बढ़ जाता है। सम्पूर्ण समाज अधिकाधिक दो महान विरोधी समूहों में विभाजित हो जाता है। पूँजीवादी मालिक वर्ग को बुर्जुआ (Bourgeoisie) वर्ग कहा गया तथा श्रमिक वर्ग को मार्क्स द्वारा 'सर्वहारा' (Proletariat) कहा गया। अतः समाज में दो विरोधी वर्गों का एक 'बुर्जुआ' तथा दूसरा 'सर्वहारा' एकत्रीकरण ही वर्गों का ध्रुवीकरण कहलाता है।

2.5.4 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (The Theory of Surplus Value)

मार्क्स के अनुसार बुर्जुआ वर्ग श्रमिकों के श्रम को कम मूल्य में खरीदकर अतिरिक्त मूल्य बचा लेते हैं जिससे श्रमिक (सर्वहारा वर्ग) निर्धन और अभावग्रस्त होता चला जाता है और दूसरी तरफ पूँजीपति श्रमिकों के अधिकार को हड़पकर धनी होते चले जाते हैं। किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन में लगे श्रम के द्वारा निर्धारित होता है। किसी श्रमिक द्वारा उसकी मजदूरी के मूल्य के बराबर उत्पादन करने में उसके द्वारा लगायी गयी कार्यविधि से कम कार्य अवधि की आवश्यकता होती है। इस प्रकार वह आधे समय अपने लिये तथा आधे समय अपने उद्यमी के लिये कार्य करता है। अतिरिक्त मूल्य का अभिप्राय श्रमिक द्वारा प्राप्त किये गये पारिश्रमिक की अपेक्षा कहीं अधिक श्रम किये जाने से है। अपने वेतन के बराबर श्रम करने के बाद जितना भी श्रम एक मजदूर करता है उससे जो मूल्य प्राप्त होता है उसे अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है जो उसे मिलने के बजाए उसके मालिक द्वारा हड़प कर लिया जाता है।

अतिरिक्त मूल्य = कुल उत्पादित मूल्य - श्रमिकों को दिया गया मूल्य

यह अतिरिक्त मूल्य ही असन्तोष का वास्तविक कारण है। जैसे - जैसे उत्पादन बढ़ता है अतिरिक्त मूल्य भी बढ़ता जाता है, परिणामस्वरूप असन्तोष भी काफी सीमा तक बढ़ जाता है।

2.5.5 विपन्नीकरण अथवा दरिद्रीकरण (Pauperization)

जैसे-जैसे अतिरिक्त मूल्य बढ़ता जाता है श्रमिकों का शोषण भी बढ़ता जाता है। बुर्जुआ वर्ग धनी होता जाता है और सर्वहारा वर्ग कंगाल होता जाता है। एक स्थिति ऐसी आती है कि उसके लिये जीवन निर्वाह करना भी मुश्किल हो जाता है। वह निर्धनता की चरम सीमा होती है।

2.5.6 परकीयकरण अथवा अलगाववाद (Alienation)

निर्धनता की पराकाष्ठा पर पहुंचने के साथ- साथ श्रमिक अलगाववाद का शिकार हो जाता है। अलगाववाद से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति स्वयं से तथा अपने समुदाय से विरक्त हो जाता है। उसमें इतनी शक्तिहीनता आ जाती है कि वह स्वयं की उत्पादित की हुई वस्तु से ही स्वयं को हीन समझने लगता है । ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण संसार उसे निरर्थक लगने लगता है तथा जीवन से उसका मन उचाट हो जाता है।

2.5.7 स्वयं में वर्ग तथा स्वयं के लिये वर्ग (Class in itself and class for itself)

जब श्रमिकों का शोषण अपनी चरम सीमा पर होता है परन्तु उस शोषण के प्रति वे जागरूक नहीं होते और अपने साथ हो रही अन्याय को वे भाग्य का दोष मान लेते हैं तो यह अवस्था 'स्वयं

में वर्ग' (Class in itself) की होती है। मार्क्स के अनुसार यह स्थिति अर्थात जब सर्वहारा वर्ग 'स्वयं में वर्ग' होता है, ज्यादा दिन तक नहीं रहती । यातायात तथा संचार के साधनों में विकास होने के कारण विभिन्न औद्योगिक केन्द्रों के श्रमिकों का परस्पर सम्पर्क बढ़ जाता है। वे अपनी सामान्य कठिनाइयों, अभावों एवं आवश्यकताओं के विषय में विचार-विमर्श करने लगते है। विचारों के आदान -प्रदान के फलस्वरूप वे अपने साथ हो रहे शोषण के प्रति सचेत होने लगते हैं और इस अत्याचार के विरूद्ध संगठित होने लगते हैं।अब इस सर्वहारा वर्ग को जो अपने ऊपर हो रहे शोषण के प्रति जागरूक हो जाता है तथा संगठित होने लगता है मार्क्स ने 'स्वयं के लिए वर्ग' (Class for itself) कहा । यही 'स्वयं के लिये वर्ग' संगठन, विरोध तथा संघर्ष को जन्म देता है।

2.5.8 वर्ग एकता तथा विरोध (Class solidarity and antagonism)

वर्ग चेतना की वृद्धि के साथ -साथ सर्वहारा वर्ग संगठित होना आरम्भ कर देते हैं तथा बुर्जुआ वर्ग का विरोध करने लगते हैं। वे अपनी मांगों की पूर्ति के लिये बुर्जुआ वर्ग पर दबाव डालने लगते हैं। अब वे अपने एकताबद्ध बहुसंख्यक समूह की ताकत को समझ जाते हैं और मालिकों के विरूद्ध क्रान्ति के लिए सभी आवश्यक तैयारियों में जुट जाते हैं।

2.5.9 क्रान्ति (Revolution)

वर्ग संघर्ष की पराकाष्ठा हिंसक क्रान्ति के रूप में परिलक्षित होती है। सर्वहारा वर्ग सशस्त्र तथा सशक्त उग्र विद्रोह कर देते हैं तथा हिंसक क्रान्ति के द्वारा राज्य शक्ति को ध्वस्त कर दिया जाता है।

2.5.10 सर्वहारा का अधिनायक तन्त्र (The Dictatorship of the proletariat)

रक्त की क्रान्ति पूँजीवादी समाज को समाप्त कर देती है तथा सर्वहारा के सामाजिक अधिनायक तन्त्र का जन्म होता है। क्रान्ति हिंसक होती है किन्तु इसमें आवश्यक रूप से बुर्जुआ का नर संहार नहीं होता। चूँकि उनसे सम्पत्ति छीन ली जाती है तो बुर्जुआ शक्तिहीन हो जाते हैं तथा सर्वहारा की श्रेणी में आ जाते हैं। मार्क्स ने सामाजिक अधिनायक तन्त्र को एक प्रकार का 'श्रमिकों का प्रजातंत्र' कहा है।

2.5.11 साम्यवादी समाज का उद्घाटन (The Dictatorship of the proletriat)

निजी सम्पत्ति का समाजीकरण वर्ग तथा सामाजिक संघर्ष के कारणों का उच्छेद कर देगा। राज्य मुरझा जायेगा, क्योंकि वर्ग रहित समाज में यह निरर्थक हो जायेगा तथा हर व्यक्ति सारी चीजों का स्वामी हो जायेगा तथा कोई भी व्यक्ति किसी चीज का स्वामी नहीं रह जायेगा। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार अंशदान करेगा तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करेगा।

2.6 आलोचना

मार्क्स का सिद्धान्त अनेक पद्धतिशास्त्रीय एवं अवधारणात्मक समस्याओं से ग्रस्त है। प्रबन्धक, व्यावसायिक, पर्यवेक्षक तथा तकनीकी विशेषज्ञों के उदय से नये, मध्यम वर्ग का जन्म आधुनिक पूँजीवाद की महत्वपूर्ण विशेषता है । निगमों के उदय से स्वामित्व एवं नियंत्रण अलग - अलग हो गये हैं। उत्पादन के साधनों के स्वामी निश्चित रूप से निर्णयकर्ता नहीं होते हैं । आज का पूँजीवाद मार्क्स के विश्वास को कि वर्ग संघर्ष मुख्यतः क्रान्तिकारी होता है, उचित नहीं ठहराता । समाज में केवल विरोधी वर्ग ही नहीं होते। विरोधी मान्यता रखने वाले वर्गों में भी संघर्ष आवश्यक

नहीं। मार्क्स के स्वप्नों की साकार समाज रचना, 'सोवियत रूस' ने स्पष्ट शब्दों में 'सह अस्तित्व' (Coexistence) के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद यह सत्य है कि वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर के मार्क्स ने विचार को क्रिया के रूप में बदलने की प्रेरणा दी। उसने दर्शन को विज्ञान का वस्त्र पहनाया। सर्वहारा वर्ग को साहसपूर्ण शब्दों में क्रान्ति की आवश्यकता बताते हुये उन्हें निर्बल से सबल, शासित से शासक और रंक से राजा बनने की प्रेरणा दी। उसके उद्‌बोधन का फल संसार के बड़े भाग पर कम्यूनिस्ट विचार प्रणाली के शासन और प्रचार के रूप में देखा जा सकता है।

2.7 मार्क्स का आर्थिक निर्धारणवाद (Economic Determinism)

मार्क्स ने मानव समाज में होने वाले समस्त परिवर्तनों को समझने के लिए निर्णयवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। उसके विचार से संसार के सभी सामाजिक परिवर्तन आर्थिक कारक के द्वारा संचालित होते हैं । उन्होंने आर्थिक कारक (Economic factor) को सर्वाधिक शक्तिशाली, मौलिक और निर्णायक कारक माना है। यद्यपि उन्होंने आर्थिक कारक का सामाजिक परिवर्तन के साथ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किया है और 'उत्पादन प्रणाली' (Mode of production) को ही मौलिक कारक माना है। मार्क्स के अनुसार सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख आधार उत्पादन प्रणाली है। उत्पादन प्रणाली के दो पक्ष होते हैं। प्रथम तो उत्पादन की शक्ति और दूसरा उत्पादन का सम्बन्ध। उत्पादन की शक्तियों में मशीनें, औजार, (प्रौद्योगिकी) आदि, श्रमिक और श्रम कौशल सम्मिलित होते हैं। किसी वस्तु का उत्पादन एक अकेला व्यक्ति नहीं कर सकता अतः उत्पादन प्रक्रिया के लिये एक से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। उत्पादनकर्ता सदैव उत्पादन हेतु उत्पादन प्रक्रिया में श्रमिकों को सम्मिलित करता है। यह श्रमिक प्रशिक्षित (skilled) तथा अप्रशिक्षित (Unskilled) दोनों प्रकार के होते हैं। इन श्रमिकों का उत्पादनकर्ता के साथ निश्चित सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसके साथ-साथ श्रमिकों के आपस में भी सम्बन्ध विकसित होते हैं।

उत्पादन प्रणाली में सबसे पहले उत्पादन की शक्तियों जैसे मशीन, औजार तथा यांत्रिकी इत्यादि में परिवर्तन होता है, इस परिवर्तन का प्रभाव उत्पादन के सम्बन्धों पर पड़ता है और यह सम्बन्ध भी परिवर्तित हो जाते हैं। मार्क्स के अनुसार उत्पादन की शक्तियाँ तथा उत्पादन के सम्बन्ध के संयोग द्वारा किसी समाज की आर्थिक संरचना का निर्माण होता है। इस आर्थिक संरचना को मार्क्स ने अधिसंरचना (Sub structure) कहा है। यह अधिसंरचना सम्पूर्ण समाज का मूल आधार होती है जिस पर समाज के अन्य भाग जैसे धर्म, राजनीति, नीति, कला तथा साहित्य इत्यादि आधारित होते हैं। अधिसंरचना में होने वाले परिवर्तन सम्पूर्ण समाज में परिवर्नन लाते है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य का व्यवहार तथा समाज के प्रत्येक पहलुओं का निर्धारण अधिसंरचना द्वारा सम्भव होता है।

2.8 आलोचना

मार्क्स के आर्थिक निर्धारणवाद की आलोचना निम्न कारणों से की जा सकती है -

1. सामाजिक व्यवस्था इतनी जटिल है और सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्ष परस्पर इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि केवल आर्थिक कारक से ही उनमें होने वाले समस्त परिवर्तनों की व्याख्या नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ, भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना केवल आर्थिक आधार पर ही नहीं हुई, ईसाइयत का प्रचार उत्पादन प्रणाली के परिवर्तन का परिणाम नहीं है। इसी प्रकार सन् 1942 का आन्दोलन उत्पादन प्रणाली को बदलने का प्रयत्न मात्र नहीं था

और न ही 1947 का 15 अगस्त उत्पादन प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन का स्वरूप था।

2. केवल आर्थिक हित ही मनुष्य की क्रियाओं को निर्देशित नहीं करते। धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यों में मनुष्य केवल आर्थिक स्वार्थों के कारण भाग नहीं लेते ।

3. मैक्स वेबर जैसे प्रसिद्ध विद्वानों ने धर्म को ही मानवीय व्यवस्थाओं का आधार माना है।

4. मार्क्स का आर्थिक निर्धारणवाद व्यवहारिक नहीं क्योंकि उन्होने यह नहीं बताया कि स्वयं आर्थिक कारक में किन कारणों से परिवर्तन होता है।

5. मार्क्स का सिद्धान्त अवैज्ञानिक है क्योंकि उसमें कार्य और कारण की निरन्तरता की लय नहीं है। समाज में अनेकों विरोधी व्यवस्थायें होती हैं । एक ही कारक दो विरोधी परिणाम उत्पन्न नहीं करता ।

6. सोरोकिन ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा कि केवल एक कारक के द्वारा सामाजिक जीवन और इतिहास के सर्वाधिक जटिल परिवर्तनों की व्याख्या की आशा करना मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

मार्क्स के आर्थिक निर्धारणवाद में अनेक त्रुटियाँ हैं। मार्क्स और एंजिल्स ने स्वयं अपनी त्रुटियों को ठीक करने का प्रयत्न किया और बाद में घोषित किया कि वे धार्मिक, राजनैतिक, बौद्धिक तथा अन्य सामाजिक कारकों का महत्व भी स्वीकार करते हैं किन्तु आर्थिक कारक को सर्वाधिक महत्वपूर्ण और निर्णायक कारक मानते हैं।

2.9 सारांश

कार्ल मार्क्स ने अपने जीवन के प्रारम्भ से जिस विचारधारा को अपनाया, लाख आपत्तियाँ सहने पर भी अन्तिम क्षणों तक वह उसके विकास और प्रसार में लगे रहे। उनकी कृतियों में अद्वितीय संगति का आभास मिलता है। उनके प्रत्येक कार्य की प्रत्येक पंक्ति में उनके अन्तिम लक्ष्य के साथ सामन्जस्य मिलता है। उनके क्रान्तिकारी विचारों ने अपने समय के ही नहीं वर्तमान युग की महान व्यवस्था के स्तम्भों को भयभीत कर दिया। उनकी साहसपूर्ण अभिव्यक्तियाँ, उनके कटु किन्तु सत्यतापूर्ण व्यंग्य, उनकी तर्क शक्ति, उनका अध्ययन और अध्यवसाय, उनका व्यवहारिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा उनका संघर्षों और अनुभवों से पूर्ण जीवन वास्तव में प्रशंसा का पात्र हैं । मार्क्स के द्वारा प्रतिपादित समाजवादी व्यवस्था का चित्र व्यवहारिक है। उन्होंने यथार्थवादी दृष्टिकोण से समाज की प्रत्येक स्थिति पर विचार किया और ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर पूँजीवाद के विनाश और सर्वहारा की विजय की भविष्यवाणी की। यद्यपि कुछ विद्वानों ने उनके द्वारा वर्गहीन और राज्य विहीन समाज की स्थापना को नितान्त अव्यवहारिक तथा काल्पनिक बताया है। यद्यपि यह सत्य है कि समाजवाद को इतिहास की अन्तिम व्यवस्था के रूप में अभिव्यक्त करके मार्क्स ने अपने सिद्धान्त की वैज्ञानिकता को सीमित कर दिया किन्तु मार्क्स एक रचनात्मक विचारक थे। उनका उद्देश्य सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति के लिये तैयार करना था । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने समाजवादी व्यवस्था का चित्र खींचा था। संभव है कि इसकी अतिशयता इसी लक्ष्य से प्रेरित हो।

2.10 संदर्भ ग्रन्थ

- टरनर जोनाथन एच0 , द स्ट्रक्चर आफ सोसियोलॉजिकल थ्योरी, रावत पब्लिकेशन, जयपुर

1987

- मार्टिन्डेल डॉन, द नेचर एण्ड टाइप्स ऑफ सोसियोलॉजिकल थ्योरी, न्यूयार्क, 1960
- अब्राहम एम. फ्रान्सिस, मार्डन सोसियोलॉजिकल थ्योरी, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली 1988
- सिंघी नरेन्द्र कुमार, समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, विवेचन एवं व्याख्या, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर।

2.11 सम्बन्धित प्रश्न उत्तर

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "मार्क्स की विचार पद्धति का आधार द्वन्दात्मक भौतिकवाद है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।
2. इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या पर निबन्ध लिखिए।
3. मार्क्स के द्वारा प्रतिपादित वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
4. मार्क्स के आर्थिक निर्धारणवाद की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. संघर्ष सिद्धान्त के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर टिप्पणी करिये ।
2. 'द्वन्दात्मकता' का अर्थ स्पष्ट करिये।
3. मार्क्स के अनुसार इतिहास का अध्ययन किस प्रकार का होना चाहिये।
4. मार्क्स ने किसे 'स्वयं में वर्ग' तथा 'स्वयं के लिये वर्ग' कहा ।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कार्ल मार्क्स का जन्म कब हुआ था?

   (अ) 1883 (ब) 1901

   (स) 1818 (द) 1850

2. इनमें से कौन सी पुस्तक मार्क्स की नहीं है ?

   (अ) डिवीजन ऑफ लेबर (ब) दर्शन की दरिद्रता

   (स) साम्यवादी घोषणा पत्र (द) दास कैपिटल

3. द्वन्दवाद की अवधारणा सबसे पहले किसने दी ?

   (अ) मार्क्स (ब) हीगल

   (स) मोस्का (द) सी. राइट मिल

4. मार्क्स के अनुसार समाज में समस्त परिवर्तन का आधार क्या है?

   (अ) राजनीतिक आधार (ब) सामाजिक आधार

   (स) सांस्कृतिक आधार (द) आर्थिक आधार

उत्तर -(1) स (2) अ (3) ब (4) द

इकाई -3 संघर्ष की प्रकार्यात्मकता कोजर के सन्दर्भ में

इकाई की रूपरेखा-

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 कोजर की सामाजिक संगठन की कल्पना

3.3 सामाजिक संघर्ष के प्रकार

3.4 संघर्ष के कारणों से सम्बद्ध कोजर के प्रस्ताव

3.5 सारांश

3.6 संदर्भ ग्रन्थ

3.7 सम्बन्धित प्रश्न उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई में कोजर के प्रकार्यात्मक संघर्ष सिद्धान्त के अन्तर्गत यह विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है कि समाज में संघर्ष होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है क्योकि मनुष्यों में आक्रमणशील (Aggressive) अथवा शत्रुतापूर्ण (Hostile) आवेग होते हैं। संघर्ष के प्रकारों का यहाँ संक्षिप्त विवरण देते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार संघर्ष समाज के सुचारू संचालन तथा परिवर्तन के लिये आवश्यक है। संघर्ष के कारणों से सम्बद्ध कोजर के प्रस्ताव पर भी प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है।

3.1 प्रस्तावना

लेविस कोजर ने सिमेल (Simmel) की परम्परा को अपनाते हुए इस तथ्य पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया है कि किस प्रकार संघर्ष द्वारा सामाजिक व्यवस्था लचीली बनी रहती है, और उसमें नवीनता तथा सृजनात्मकता का निरन्तर संचार होता रहता है। उसके लेखन में सामाजिक संघर्ष के सकारात्मक पक्षों की प्रधानता पायी जाती है। उसका मानना है कि संघर्ष शत्रुता को अभिव्यक्त करने का एक माध्यम है तथा इस अभिव्यक्ति के परिणामस्वरूप तनावपूर्ण संबंधों में मधुरता आती है। सामाजिक संघर्ष केवल नये मानदण्डों तथा संस्थाओं को ही जन्म नहीं देता बल्कि इससे नये संयोजन तथा समूह भी उभर कर आते हैं जिससे समाज में परिवर्तन आता है तथा वह प्रगति करता है। सामाजिक संघर्ष के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले सभी विद्वानों में से लेविस ए0 कोजर का सिद्धान्त अन्यों से अलग हटकर कुछ विशिष्ट है क्योंकि वे मानते हैं कि सामाजिक संघर्ष की भूमिका सिर्फ विघटनकारी ही नहीं बल्कि संगठनकारी भी होती है।इस प्रकार कोजर का सिद्धान्त सामाजिक संघर्ष के संगठनात्मक प्रकार्यों पर आधारित है।

3.2 सामाजिक संगठन की परिकल्पना (Image of Social Organisation)

यदि दुर्खीम को प्रकार्यावाद के संस्थापकों में माना जाय तों यह भी महत्वपूर्ण है कि कोजर

ने दुर्खीम की सामाजिक यथार्थ की कल्पना की आलोचना की है। उसने जार्ज सीमेल के सावयववाद को स्वीकारा है। उसके अनुसार संघर्ष को प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है जो कुछ दशाओं में 'सामाजिक सावयव' को बनाये रखने के लिए प्रकार्य करता है। इस दृष्टि से कोजर की समाज की परिकल्पना निम्नांकित है -

1. सामाजिक जगत को विभिन्न अन्तर्सम्बन्धित अंगों की व्याख्या के रूप में देखा जा सकता है।
2. सभी व्यवस्थाओं में असन्तुलन, तनाव तथा विभिन्न अन्तर्सम्बन्धित अंगों में हितों का संघर्ष पाया जाता है।
3. विभिन्न दशाओं में व्यवस्था के घटक तत्वों के बीच व्यवस्था के एकीकरण तथा अनुकूलन को बनाये रखने, परिवर्तित करने, बढ़ाने या घटाने की प्रक्रियायें चलती रहती हैं।
3. हिंसा, असहमति, विचलन तथा संघर्ष जैसी प्रक्रियाओं को जिन्हें व्यवस्था के लिए विघटनकारी समझा जाता है, विशिष्ट दशाओं में व्यवस्था के एकीकरण के आधारों को मजबूत बनाने वाली तथा पर्यावरण से अनुकूलन करने वाली समझा जा सकता है।

इन प्रस्थापनाओं के आधार पर कोजर ने समाज व्यवस्थाओं के लिए संघर्ष के प्रकार्यों के सम्बन्ध में विस्तृत प्रस्थापनाओं का निर्माण किया है। यद्यपि कोजर ने ऐसी दशाओं पर भी विचार किया है जहाँ संघर्ष सामाजिक व्यवस्था के लिए विघटनकारी होते हैं फिर भी उसके विश्लेषण के मुख्य बिन्दु एकीकरण तथा अनुकूलन हैं। उदाहरण के लिये यह सही है कि गाँवों के लोग जब रोजगार के लिए शहर में आते हैं तो उनके पारम्परिक परिवार टूट जाते हैं। यह भी सही है कि आज समाज की जो दशाएँ हैं उनमें जाति व्यवस्था टूट रही है, यानी संघर्ष व तनाव से परिवार व जाति में विघटन हो रहा है। लेकिन कोजर के संघर्ष सिद्धान्त का दूसरा क्षितिज यह है कि कुछ खास परिस्थितियों में संघर्ष के कारण सामाजिक संस्थाओं में एकीकरण व अनुकूलन भी उत्पन्न हुआ है।

कोजर के विश्लेषण को हम कुछ इस तरह देख सकते हैं : (1) व्यवस्था के विभिन्न भागों में जब असंतुलन आता है, एकीकरण टूटता है, तब (2) व्यवस्था के विभिन्न भागों में कई तरह के संघर्ष देखने को मिलते हैं, (3) इसके परिणामस्वरूप व्यवस्था में एक प्रकार का एकीकरण लाया जाता है, जिससे (4) व्यवस्था की संरचना में लचीलापन आ जाता है। कोजर की समाज के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना दिखने में बहुत साफ-सुथरी है, लेकिन जब खुलासे से इस व्यवस्था का निर्वचन होता है तो हमारे सामने व्यवस्था के विश्लेषण की समस्याएं आती हैं जिसे कोजर अनुकूलन व एकीकरण कहते हैं, वास्तव में वे व्यवस्था की आवश्यकताएं हैं वस्तुतः व्यवस्था की यह स्वाभाविक प्रकृति है कि वह समयानुकूलन की अवस्था में आ जाये। इसी संदर्भ में मर्टन ने कहा था कि यदि किसी भाग दौड़ में छिपकली पीठ के बल उल्टी हो जाती है तो यह उसके संघर्ष की अवस्था है। लेकिन बिना किसी सहारे के छिपकली पेट के बल होने के लिए हर तरह से जूझती है अन्ततः वह सफल हो जाती है। इस तरह के संघर्ष तो व्यवस्था में अपने आप जुड़े होते हैं। हर व्यवस्था की यह क्षमता होती है कि वह व्यवस्था को अपनी यथास्थिति में बनाये रखें। संघर्ष की उपयोगिता कोजर के लिये व्यवस्था में एकीकरण और अनुकूलन लाने की है।

3.3 सामाजिक संघर्ष के प्रकार

लेविक ए0 कोजर ने अपनी पुस्तक 'द फंक्शन ऑफ सोसियल कॉनफ्लिक्ट', 1956 में अपने सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। उनका मानना है कि मनुष्य एक संघर्ष प्रिय प्राणी है। जिन व्यक्तियों के साथ लोगों के निकट के सम्बन्ध होते हैं उन्हें वे प्यार व घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वास्तविकता यह है कि जो लोग हमारे बहुत नजदीकी होते हैं उनसे असहमति, संघर्ष या स्नेह के सम्बन्ध विकसित करना बहुत स्वाभाविक है। इस प्रकार के घृणा और प्रेम के आवेग किसी तरह यह नहीं बताते कि हमारे अपने नजदीकी लोगों के साथ सम्बन्ध टूट गये हैं। इसका बहुत अच्छा दृष्टान्त देते हुये कोजर कहते हैं कि विभिन्न देशों में बच्चे अपने माता-पिता से विभिन्न प्रकरणों व प्रसंगों में लड़ते हैं। माता-पिता व बच्चों के बीच की यह आक्रमणशीलता टाली नहीं जा सकती। बच्चे क्षण में माँ-बाप से लड़ते हैं और क्षण में स्नेह से लिपट जाते हैं। भाई-बहन भी इसी तरह नोक-झोंक करते रहते हैं। इस तरह की आक्रमणशीलता को परिवार यानी माता-पिता और बच्चों के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। संघर्ष की प्रकृति के आधार पर कोजर ने संघर्ष के प्रमुख दो प्रकारों की चर्चा की है -

(1) यथार्थवादी (Realistic)

(2) अयथार्थवादी (Non-realistic)

(1) यथार्थवादी संघर्ष (Realistic Conflict)

निश्चित लक्ष्यों के आधार पर परिणामों को प्राप्त करने की अपेक्षा से पैदा हुए संघर्ष अथवा लक्ष्यों तक पहुँचने में विफल हो जाने पर पुनः उसे प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर होने पर उत्पन्न हुए संघर्ष को कोजर यथार्थवादी संघर्ष की संज्ञा प्रदान करते हैं। इस प्रकार के संघर्ष की विशिष्टता यह होती है कि इसमें जिन पक्षों के बीच संघर्ष होता है वे अपने-अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ही संघर्ष करते हैं। वे इसलिए संघर्ष कदापि नहीं करते हैं कि एक-दूसरे को नष्ट कर दिया जाए। उदाहरण के तौर पर हम देख सकते हैं कि राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव मैदान में खड़े प्रत्येक सदस्य का लक्ष्य जीत हासिल करके राष्ट्रपति बनना होता है। उन प्रत्याशियों में, एक-दूसरे को नष्ट करना, उनका लक्ष्य नहीं होता है। यथार्थवादी संघर्ष में प्रायः लोग संघर्ष को अपनी इच्छाशक्ति का सशक्त साधन मानते हैं। यदि उनकी इच्छा बिना संघर्ष किये पूरी हो जाये तो वे तुरन्त संघर्ष छोड़ देंगे। इस दृष्टि से संघर्ष को अपनाने का कारण तार्किक है- कोई आवेग या संवेग नहीं। जब श्रमिक संगठन या छात्र संघ किसी संघर्ष का आह्वान करते हैं तो उसके पीछे निश्चित मांगें होती हैं। इन मांगों के पीछे तर्क होते हैं। इसी कारण इस प्रकार के संघर्ष को कोजर यथार्थवादी संघर्ष कहते हैं।

(2) अयथार्थवादी संघर्ष (Non-Realistic Conflict)

जब संघर्ष करने वाले पक्ष सिर्फ एक-दूसरे को नुकसान पहुँचाने अथवा नष्ट करने की भावना से ही संघर्ष करते हैं तो इस प्रकार के संघर्ष को कोजर ने अयथार्थवादी संघर्ष की संज्ञा प्रदान की है।

अर्थात इस प्रकार के संघर्ष लक्ष्य अथवा परिणाम को ध्यान में रखकर नहीं किये जाते हैं, बल्कि दूसरे को नष्ट करना ही एकमात्र उद्देश्य होता है। अतः स्पष्ट है कि अयथार्थवादी संघर्ष में सिर्फ मानसिक तनाव को दूर करने के लिए संघर्ष होता है। जिसका कोई लक्ष्य नहीं होता है। अयथार्थवादी संघर्ष में प्रायः लोग अपनी दबी हुई भावनाओं को अभिव्यक्ति देते हैं। ये एक तरह से लोगों के मन का रोष है। इसमें संघर्ष साधनों के रूप में नहीं अपितु लक्ष्यों के रूप में पाये जाते हैं। साम्प्रदायिक दंगे, प्रदर्शन आदि अयथार्थवादी संघर्ष के दृष्टान्त हैं। कोजर कहता है कि अयथार्थवादी संघर्ष साधारणतयः स्थाई कम और विघटनकारी अधिक होते हैं।

यथार्थवादी तथा अयथार्थवादी संघर्ष में अन्तर

यथार्थवादी संघर्ष तथा अयथार्थवादी संघर्ष में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर यह होता है कि यथार्थवादी संघर्ष कर्ता के लक्ष्यपूर्ति का एक साधन मात्र है, लक्ष्यप्राप्त हो जाने पर अथवा लक्ष्य प्राप्त होने की सम्भावना पर यह संघर्ष समाप्त कर दिया जाता है। यह एक जानबूझ कर योजनाबद्ध तरीके से किया जाने वाला संघर्ष है। इस संघर्ष से विघटन कम तथा एकीकरण एवं परिवर्तन अधिक होता है। इसके विपरीत अयथार्थवादी संघर्ष का उद्देश्य तनाव तथा कुण्ठाओं को अभिव्यक्त करना होता है। जब व्यक्ति हर तरफ से निराश हो जाता है और उसे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का मार्ग दिखाई नहीं पड़ता तब वह आक्रोश में आ जाता है और हिंसा तथा तोड़-फोड़ करने लगता है। इस प्रकार के संघर्ष नाना प्रकार के विरोधात्मक व्यवहार के रूप में प्रकट होते हैं क्योंकि आक्रमणशील कार्य से ही संतुष्टि की प्राप्ति होती है। एक उदाहरण के माध्यम से इस अन्तर को स्पष्ट किया जा सकता है। किसी देश के विद्युत विभाग के कर्मचारी अपने वेतन एवं अन्य भत्तों में वृद्धि के लिए हड़ताल करते हैं। हड़ताल के दौरान दो स्थितियाँ बन सकती हैं। प्रथम स्थिति यह हो सकती है कि कर्मचारी यूनियन अपने विभाग के मन्त्री तथा सचिव से वार्ता करें तथा अधिक जिम्मेदारीपूर्वक कार्य करने का वादा करें और इस क्रम में मन्त्री व सचिव उनके वेतन तथा भत्ते में वृद्धि कर दें। कोजर इस प्रकार के सहयोग व समायोजन मूलक (Accommodation) संघर्ष को यथार्थवादी संघर्ष की संज्ञा प्रदान करते हैं। जबकि दूसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि कर्मचारी यूनियन इस बात के लिए संघर्ष करे कि विभाग का मन्त्री तथा सचिव निकम्मा है, उसे पद से हटाया जाए तथा मंत्री व सचिव कर्मचारियों के विरूद्ध दमनात्मक क़ार्यवाही करें और उन्हें नौकरी से गिरा दें, अर्थात दो संघर्षरत पक्ष सिर्फ एक दूसरे को नष्ट करने पर अमादा हो जाय। कोजर इस प्रकार के संघर्ष को अयथार्थवादी संघर्ष की संज्ञा प्रदान करते हैं।

3. बाहरी संघर्ष तथा आंतरिक संघर्ष

कोजर जब सामाजिक संघर्ष का विश्लेषण करते हैं तब बार-बार कहते हैं कि संघर्ष का परिणाम अन्ततोगत्वा सामाजिक परिवर्तन होता है। संघर्ष के कारण नवीनीकरण भी आता है।कोजर ने संघर्ष का दोहरा वर्गीकरण एक-दूसरे संदर्भ में भी किया है। इसमें पहला प्रकार बाहरी संघर्ष का और दूसरा आंतरिक संघर्ष का है। बाहरी संघर्ष वह है जो समाज या समूह के बाहर से आता है। यदि हमारा देश किसी दूसरे देश के आक्रमण को झेलता है तो यह देश यानि समाज के बाहर का संघर्ष है। बाहरी संघर्ष समूह को सुदृढ़ करता है तथा संमूह की पहचान बनाये रखता है। कोजर का इस

प्रकार का कथन न केवल सिमेल के साथ जुड़ा है, बल्कि मार्क्स से भी जुड़ा हुआ है। मार्क्स भी कहते हैं कि संघर्ष वर्ग के लोगों को सामाजिक चेतना देता है। यह संघर्ष ही है जो एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग कर देता है। सीमेल और मार्क्स की तरह कोजर का भी तर्क है कि बाहरी संघर्ष प्रायः समूह को सुदृढ़ता देता है। यह समूह के सदस्यों में इस बात की चेतना देता है कि उनके समूह की अपनी एक विशेष पहचान है, और वह बनी रहनी चाहिए।

जब कोजर आन्तरिक संघर्ष की चर्चा करते हैं तब वे दुर्खीम, मीड और यहाँ तक कि मार्क्स का अनुसरण करते हैं। जब समूह का कोई सदस्य बुरी संगत में पड़ जाता है, समूह के मानक व मूल्यों को नहीं मानता है। अर्थात जब वह विचलित हो जाता है और अपराध करने लगता है तो समाज उसे कठोर दण्ड देता है। इससे दण्ड प्रक्रिया के प्रति सम्पूर्ण समाज जागरूक हो जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि अपराधों पर नियंत्रण हो जाता है और पहले से अधिक एकीकरण समाज में व्याप्त हो जाता है। अतः आन्तरिक संघर्ष समूह को सुदृढ़ता व स्थायित्व देता है। यहाँ भी कोजर सीमेल के तर्क से सहमत है कि आन्तरिक संघर्ष एक तरह का 'सेफ्टी वॉल्व' है जो सदस्य को दण्डित करके व्यवस्था के प्रतिरूप को बनाता है। कुल मिला कर आन्तरिक संघर्ष की भूमिका को समूह की सुदृढ़ता के लिए आवश्यक बताते हुये कोजर कहते हैं कि जितना अधिक आन्तरिक संघर्ष होगा, समूह में उतनी ही अधिक मजबूती व सजातीयता आयेगी। यद्यपि कोजर ने यह भी स्पष्ट किया है कि सामाजिक संरचना हेतु आन्तरिक संघर्ष सदा लाभकारी ही नहीं होते है। बल्कि कुछ आन्तरिक सामाजिक संघर्ष हानिकारक भी होते हैं। सामाजिक व्यवस्था की वैधता जिन आधारभूत मूल्यों पर टिकी होती है, उनके माध्यम से उत्पन्न होने वाले आन्तरिक सामाजिक संघर्ष सामाजिक संरचना हेतु हानिकारक सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिये परिवार में यदि पति-पत्नी में झगड़ा हो जाये और उसमें सम्बन्ध विच्छेद हो जाये तो इसके परिणामस्वरूप उनकी सन्तानों के समाजीकरण पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसे संघर्ष समाज के लिये कभी लाभप्रद नहीं होते क्योंकि इससे समाज का नैतिक पतन होता है और समाज में विघटन भी आता है।

3.4 संघर्ष के कारणों से सम्बद्ध कोजर के प्रस्ताव

सिमेल की विश्लेषण विधि का प्रयोग करते हुए कोजर ने संघर्ष से सम्बन्धित उसकी अन्तर्दृष्टि को काफी विस्तृत किया है। कोजर की संघर्ष सम्बन्धी प्रस्थापनाओं के परिप्रेक्ष्य में निम्नांकित परिवर्त्य संघर्ष प्रमुख हैं -

(1) संघर्ष के कारण (2) संघर्ष की प्रचण्डता या तीव्रता (3) संघर्ष की हिंसात्मकता (4) संघर्ष की अवधि तथा (5) संघर्ष के कार्य ।

(1) संघर्ष के कारण

डेहरेनडॉर्फ की संघर्ष प्रस्थापना के विपरीत कोजर की प्रस्थापना वैधता के प्रश्न से आरम्भ होती है -

(अ) किसी व्यवस्था के वंचित सदस्य दुर्लभ साधनों के वितरण की वैधता को जितनी चुनौती देंगे, संघर्ष छिड़ने की सम्भावना उतनी ही बढ़ेगी।

(ब) वंचित लोगों के लिये असमान वितरण सम्बन्धी शिकायत निवारण के मार्ग जितने कम होंगे

उतना अधिक वे उस वैधता को चुनौती देंगे।

(स) वंचित लोग विशेष सुविधा प्राप्त समूहों में प्रवेश पाने के लिए जितने इच्छुक होंगे तथा गतिशीलता की जितनी कम अनुमति होगी वैधता को वापस लेने की सम्भावना उतनी ही बढ़ेगी।

(द) वंचन या अभावबोध निरपेक्ष से सापेक्ष में जितना रूपान्तरित होगा वंचितों द्वारा संघर्ष की सम्भावना उतनी ही बढ़ेगी। अर्थात जब अधीनस्थ लोगों के सीमित अभाव अभियोग सामान्य अधीनस्थों के अभाव अभियोग बन जाते हैं तब संघर्ष व्यापक हो जाता है।

(2) संघर्ष की तीव्रता

तीव्रता की परिभाषा देने में कोजर में अस्पष्टता है, तथापि इसका तात्पर्य संघर्ष आरम्भ करने के लिए भावनात्मक प्रतिबद्धता की मात्रा से है। कोजर की दृष्टि में संघर्ष के लिए आवश्यक तीव्रता को प्रभावित करने वाले कारण निम्नलिखित हैं -

(अ) संघर्ष छिड़ने की दशाओं की अनुभूति जितनी अधिक होगी, संघर्ष उतना ही तीव्र होगा। किसी संघर्ष में सदस्यों का भावनात्मक लगाव जितना अधिक होगा तथा उनमें प्राथमिक सम्बन्ध जितना अधिक होगा संघर्ष उतना ही अधिक तीव्र होगा।

(ब) संघर्ष में रत सदस्यों में द्वैतीयक सम्बन्ध जितना अधिक होगा उनकी सहभागिता उतनी ही खण्डित होगी तथा उतना ही कम उनका भावनात्मक लगाव भी होगा।

(स) संघर्ष जितना ही व्यक्ति के स्वहित से ऊपर उठा एवं वस्तुनिष्ठ होगा उतना ही तीव्र होगा।

(द) कोई समूह वैचारिकीय दृष्टि से जितना एकीकृत होगा उतना ही वह स्वहित से दूर होगा तथा तीव्र होगा।

(3) संघर्ष की हिंसात्मकता

(अ) जब समूह के सदस्य वास्तविक (Realistic) मुद्दों के निदान के लिए किसी तरह का समझौता करना चाहते हैं, बातचीत द्वारा किसी हल को निकालने की बात करते हैं, तब हिंसात्मक संघर्ष कमजोर हो जाता है। लेकिन जब अयथार्थवादी मुद्दों पर संघर्ष होता है और लोगों के आवेग बढ़ जाते हैं तब संघर्ष के अधिक हिंसात्मक होने की सम्भावना बढ़ जाती है।

(ब) सामाजिक संरचना जितनी आलोचनापूर्ण होगी, संघर्ष तथा तनाव को समाहित करने वाली संस्थाएं उतनी ही कम उपलब्ध होंगी तथा संघर्ष उतना ही हिंसक होगा।

(स) संघर्ष जितना केन्द्रीय मूल्यों के कारण होगा, उतना ही अधिक हिंसक होगा।

(द) संघर्ष के लक्ष्यों पर जितना ही कम मतैक्य होगा, संघर्ष उतना ही अधिक चलेगा।

(4) सामाजिक संघर्ष के प्रकार्य

(अ) संघर्ष जितना तीव्र होगा, प्रत्येक सन्दर्भित संघर्ष दल की सीमाएं उतना ही स्पष्ट होंगी। प्रत्येक संघर्ष दल में श्रम विभाजन जितना विभिन्नीकृत होगा, प्रत्येक दल की निर्णय संरचना उतनी ही केन्द्रीयकृत होगी।

(ब) संघर्षरत समूहों के सदस्यों के बीच प्राथमिक सम्बन्धों को जितनी अधिकता होगी तथा संघर्ष जितना तीव्र होगा, संघर्ष उतना ही सन्दर्भित समूह के बीच मत-वैभिन्य तथा विचलन को दबायेगा तथा आदर्श नियमों एवं मूल्यों का बलपूर्वक पालन करेगा।

(स) सामाजिक संरचना जितनी कम आलोचनापूर्ण होगी तथ संघर्ष जितना बार-बार तथा कम तीव्र होगा, संघर्ष के द्वारा व्यवस्था में अनुकूलन तथा एकीकरण लाने की ओर परिवर्तन की संभावना उतनी ही अधिक होगी।

(द) व्यवस्था जितनी कम आलोचनापूर्ण होगी उतनी ही संभावना होगी कि संघर्ष समूहात्मक गठबंधन बनायेगा जो व्यवस्था की एकता तथा एकीकरण को बढ़ायेगा। संघर्ष जितने बार-बार कम तीव्र होंगे, संघर्षों के आदर्शात्मक नियमन की संभावना उतनी ही अधिक होगी।

कोजर की प्रस्थापनाओं में अनेक अवधारणाओं का अस्पष्ट अर्थ में प्रयोग किया गया है। कोजर का सिद्धान्त एकांगी है। वह संघर्ष से प्रारम्भ तो करता है किन्तु उसका विश्लेषण तेजी से एकीकरण तथा अनुकूलन की ओर मुड़ जाता है, तथा अन्ततः संघर्ष प्रकार्यात्मक आवश्यकता में बदल जाता है। फिर भी कोजर का उपयोगितावादी प्रोत्साहन सीमेल की सावयवी प्रकृति से उत्पन्न हुआ है मार्क्स की द्वन्दात्मक योजना से नहीं। कोजर की कृतियों का मूल्यांकन करते समय उचित दिखता है कि उसकी मान्यतायें, प्रस्थापनाएं तथा कारणात्मक प्रक्रिया के बिम्ब एक ऐसी व्यवस्था की ओर निर्देश करते हैं जिसमें संघर्ष सकारात्मक दिशा में कार्य करता है। यह समाजशास्त्रीय चिन्तन को उसका प्रमुख योगदान है।

3.5 सारांश

कोजर का संघर्ष सिद्धान्त अधिकांशतयः प्रकार्यवाद पर आधारित है। कोजर का सम्पूर्ण ध्यान इस बात पर केन्द्रित है कि किसी तरह व्यवस्था का प्रतिमान या उसकी यथास्थिति बराबर बनी रहे। वे संघर्ष से होने वाले लाभ या नुकसान को व्यवस्था की यथास्थिति के रूप में देखते है।इसी कारण टर्नर कोजर के संघर्ष को प्रकार्यवादी संघर्ष के नाम से पुकारते हैं। कोजर के संघर्ष सिद्धान्त का बहुत बड़ा योगदान यह है कि वे इस तथ्य को स्थापित करते हैं कि प्रत्येक समाज में संघर्ष अनिवार्य है।लेकिन यह संघर्ष व्यवस्था में एकीकरण व अनुकूलन लाने के लिये उपयोगी है। इससे व्यवस्था में स्थायित्व आता है, निरन्तरता आती है और सदस्यों का विचलन अन्य सदस्यों के लिए सुदृढ़ता का कारण बनता है। यह संघर्ष ही है जो किसी भी सामाजिक व्यवस्था को उसकी पहचान देता है और इससे आगे प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन संघर्षजनित होता है।

आज की दुनिया में समाज का जो नवीन ढांचा खड़ा हुआ है, उसमें संघर्ष को सुलझाने वाली तमाम इकाइयाँ प्रभावी रूप में क्रियाशील हैं। मानवाधिकार आयोग, संयुक्त राष्ट्र संघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन तथा विश्व बैंक जैसी तमाम इकाइयाँ विभिन्न देशों के बीच तालमेल बैठाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। अधिकांश लोकतांत्रिक देशों में जिला न्यायालय, उच्च न्यायालय, सर्वोच्च न्यायालय, जन अदालतों सहित तमाम सारी इकाइयाँ भी समस्या समाधान के लिए प्रभावी ढंग से कार्य कर रही हैं अर्थात् समझौता वार्ता, संवाद तथा न्यायपालिका आदि तमाम ऐसे विकल्प समाज के पास हैं जिनसे हिंसात्मक कार्यवाहियों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। यह स्थिति मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की विपरीत स्थिति है। यद्यपि इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि समाज पूर्णतया प्रकार्यवादी सिद्धान्त या सावयवी सिद्धान्त पर संचालित होता है। वास्वत में प्रकार्यवादी सिद्धान्त तथा संघर्ष दोनों का अपना-अपना स्थान है। दोनों की समाज में आवश्यता है।यही बात कोजर अपने सिद्धान्त में व्यक्त करते हैं। सामाजिक संघर्ष के स्वीकारमूलक पक्ष (Positive aspect) की अच्छी विवेचना करते हुए कोजर ने संघर्ष के संगठनात्मक और समायोजनात्मक प्रकार्यों की भूमिका को रेखांकित किया है।

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

- कोजर लेविस ए, द फंक्शन्स ऑफ सोसियल कॉनफ्लिक्ट, न्यूयार्क, द फ्री प्रेस, 1956
- अब्राहम फ्रान्सिस, मॉडर्न सोसियोलॉजिकल थ्योरी : ऐन इन्ट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, मुम्बई, 1988
- टर्नर जोनाथन एच., द स्ट्रक्चर ऑफ सोसियोलॉजिकल थ्योरी, चतुर्थ एडिशन, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1987
- द्विवेदी रमेश नन्दन, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, विजय प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, 1996
- पाण्डे रवि प्रकाश, समाजशास्त्रीय सिद्धान्त : अभिगम एवं परिप्रेक्ष्य, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004

3.7 सम्बन्धित प्रश्न उत्तर

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. कोजर ने सामाजिक संगठन को किस प्रकार विश्लेषित किया है?
2. संघर्ष के प्रकारों पर प्रकाश डालिये।
3. सामाजिक संघर्ष के क्या कारण कोजर ने बताये हैं तथा किन सामाजिक परिस्थितियों में संघर्ष में तीव्रता आती है?
3. संघर्ष किस प्रकार समाज में एकीकरण तथा संयोजन में लाभकारी होता है?

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. टर्नर ने कोजर के संघर्ष सिद्धान्त को प्रकार्यात्मक संघर्ष सिद्धान्त क्यों कहा ?
2. यथार्थवादी तथा अयथार्थवादी संघर्ष में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. बाहरी संघर्ष तथा आन्तरिक संघर्ष पर टिप्पणी कीजिए।
3. कोजर ने संघर्ष के क्या प्रकार्य बताए हैं?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. कोजर का संघर्ष सिद्धान्त किससे प्रभावित था?

   (अ) कार्ल मार्क्स (ब) हीगल

   (स) सीमेल (द) डेहरेनडॉर्फ

2. कौन सा संघर्ष समाज के लिए विघटनकारी होता है?

   (अ) अयथार्थवादी संघर्ष (ब) यथार्थवादी संघर्ष

   (स) वर्ग संघर्ष (द) प्रकार्यात्मक संघर्ष

3. आन्तरिक संघर्ष को सेफ्टी वाल्व किसने कहा?

   (अ) लेविस कोजर (ब) जार्ज सीमेल

   (स) सी0राइट0मिल्स (द) दुर्खीम

उत्तर- (1) स (2) अ (3) ब

इकाई -4 औद्योगिक समाज में संघर्ष का स्वरूप - डेहरेन्डॉर्फ का विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा-

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 डेहरेनडॉर्फ और मार्क्स

4.3 सहमतिजन्य प्रारूप तथा निग्रही प्रारूप

4.4 डेहरेनडॉर्फ का द्वन्दात्मक संघर्ष सिद्धान्त

4.5 अर्ध-समूह एवं हित-समूह

4.6 डेहरेनडॉर्फ के कुछ अमूर्त प्रस्ताव

4.7 डेहरेनडॉर्फ के द्वन्दात्मक संघर्ष की आलोचना

4.8 सारांश

4.9 संदर्भ ग्रन्थ

4.10 सम्बन्धित प्रश्न उत्तर

4.0 उद्देश्य

मार्क्स का संघर्ष सिद्धान्त उस समय के औद्योगिक समाज के लिये प्रासंगिक था परन्तु धीरे धीरे समाज में और विकास हुये और औद्योगिक समाज पहले की अपेक्षा अधिक जटिल हो गया। मार्क्सवादी सिद्धान्त के आधार पर इस विकासोन्मुख औद्योगिक समाज का विश्लेषण करना कठिन हो रहा था। ऐसी स्थिति में राल्फ डेहरेनडॉर्फ ने मार्क्स की ही द्वन्दात्मक पद्धति को अपनाते हुये संघर्ष सिद्धान्त का पुनर्निर्माण किया ताकि परिवर्तित औद्योगिक समाज का विश्लेषण सुगमता से किया जा सके। इस अध्याय का प्रमुख उद्देश्य डेहरेनडॉर्फ के द्वन्दात्मक संघर्ष सिद्धान्त को व्याख्यायित करना है। यहाँ डेहरेनडॉर्फ द्वारा प्रयुक्त संबोधों को समझाने का प्रयास किया गया है। साथ ही साथ उनके द्वन्दात्मक संघर्ष सिद्धान्त की आलोचना भी प्रस्तुत की गयी है।

4.1 प्रस्तावना

द्वन्दात्मक अभिगम (DialelcticApproach) के अन्तर्गत कई परिप्रेक्ष्य दिखाई पड़ते हैं। जिसमें से प्रथम मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य है दूसरा विश्लेषणात्मक परिप्रेक्ष्य है जिसके अन्तर्गत राल्फ डेहरेनडॉर्फ , लेविस कोजर तथा रेन्डल कोलिन्स आदि आते हैं। डैहरेनडॉर्फ का तर्क है कि पारसंस की प्रकार्यात्मक व्यवस्था समाज का एक समझौतावादी अथवा सर्वसम्मत (Consensual), एकीकृत (Integrated) और स्थैतिक (Static) दृश्य प्रस्तुत करता है। डैहरेनडॉर्फ का कहना है कि समाज के 'कुरूप स्वरूप' के विश्लेषण का समय आ गया है तथा प्रकार्यवादियों के स्वप्नचिन्तनात्मक बिम्ब का परित्याग किया जाना चाहिए। उसके अनुसार स्वप्नचिन्तनात्मक विवेचन को दूर करने के

लिए एकांगी प्रकार्यात्मक प्रतिकृति को तैयार किया जाना चाहिए। डैहरेनडॉर्फ यह मानते थे कि प्रत्येक समाज में संघर्ष किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहता है परन्तु वे मार्क्स के संघर्ष सिद्धान्त से सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य की कटु आलोचना की। वास्तविकता यह है कि मार्क्स के समय में यूरोप का पूँजीवाद अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। तब कारखानों के मालिक सामान्यतया पूँजीपति थे। इसीलिये मार्क्स ने आर्थिक आधार पर वर्गों के विभाजन की बात की। डेहरेनडॉर्फ जिस औद्योगिक समाज की कल्पना करते हैं उसमें पूँजीवाद का स्वरूप'कोरपोरेट' व्यवस्था पर आधारित है। अब निजी स्वामित्व का स्थान शेयर होल्डर्स और कोरपोरेट समूह ले लेते हैं। इस तरह मार्क्स और डेहरेनडॉर्फ दोनों ही पूंजीवादी व्यवस्था पर प्रहार करते हैं, पर दोनों के लिये पूँजीवादी व्यवस्था भिन्न है।

4.2 डेहरेनडॉर्फ और मार्क्स

राल्फ डेहरेनडॉर्फ का जन्म जर्मनी में 1929 में हुआ था। यूरोप के आधुनिक समाजशास्त्रियों में डेहरेनडॉर्फ की बहुत प्रतिष्ठा है। उनका युवाकाल राजनीति के घेरे में बीता। वे पश्चिम जर्मनी में वहाँ की पार्लियामेन्ट के सदस्य भी रहे। इन राजनैतिक गतिविधियों से हटकर उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा एक शिक्षाविद्, वैज्ञानिक और अनुसंधानकर्ता के रूप में भी स्थापित की है। उनके शैक्षणिक जीवन का बहुत बड़ा भाग जर्मनी के विश्वविद्यालयों में गुजरा। 1984 में वे कान्सर्टेंस विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बन गये थे। जर्मनी के अतिरिक्त डेहरेनडॉर्फ ने ब्रिटेन व अमेरिका में भी काम किया है। ब्रिटेन में वे उच्च शिक्षा की एक बहुत बड़ी प्रतिष्ठित संस्था 'लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स (London School of Economics : LSE) के निदेशक रहे डेहरेनडॉर्फ को प्रतिष्ठा दिलाने वाली उनकी पुस्तक 'क्लास एण्ड क्लास कॉनफ्लिक्ट इन इन्डस्ट्रीयल सोयाइटी' (Class and Class Conflict in Industrial Society) 1959 है। इस पुस्तक में उन्होंने संघर्ष सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। इसमें उन्होने समाज की यथार्थता के बारे में सामान्य सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। इस सामाजिक विश्लेषण में उनका एक बड़ा तर्क यह है कि समाज में शक्ति का बहुत बड़ा महत्व है। इस शक्ति से उत्पन्न संघर्ष को कोई नहीं टाल सकता, संघर्ष अपरिहार्य है।

डेहरेनडॉर्फ यह मानते हैं कि प्रत्येक समाज में सत्ता, शक्ति एवं प्रभुत्व का असमान वितरण होता है। इस असमान वितरण के कारणों की वह विवेचना नहीं करते परन्तु उनकी धारणा है कि संघर्ष का मूल कारण सत्ता, शक्ति तथा प्रभुत्व का समाज के थोड़े से लोगों के हाथ होना होता है। अतः शेष जन समुदाय इसे हस्तगत करने में प्रयासरत रहता है। परिणामस्वरूप परस्पर हितों के टकराव के कारण संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। डेहरेनडार्फ मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद को अस्वीकार करते हैं। वह वर्ग विभाजन के आर्थिक कारणों से भी असहमत हैं । उनका मानना है कि सम्पत्ति के बिना शक्ति तथा प्रभुत्व के-आधार पर भी वर्ग विभाजित हो जाते हैं। उनके मत में वर्ग संघर्ष कोई अनिवार्य नियम नहीं है। वर्गों के मध्य संघर्ष हुये बिना भी समाज में परिवर्तन हो सकता है। परस्पर प्रतियोगिता तथा व्यक्तियों में महत्वाकांक्षाओं के अतिरेक के चलते भी परिवर्तन होता है। मार्क्स ने अपनी पुस्तक ''पावर्टी ऑफ फिलॉसफी'' में यह सिद्ध किया कि अब तक का समाज वर्ग संघर्ष का समाज है तथा संघर्ष करने पर ही शोषण को समाप्त किया जा सकता है तथा दरिद्रता को दूर किया जा सकता है। अपनी इसी बात को उन्होंने अपनी अगली पुस्तक ''कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो'' में आगे बढ़ाया है। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि समस्त सामाजिक परिवर्तन शोषणकर्ता और शोषित इन दो वर्गों के संघर्ष के द्वारा ही होता है। मार्क्स का कहना है कि संघर्ष के

पूर्व शोषित वर्ग अपने शोषण के प्रति जागरूक हो जाता है और संगठित होकर विरोध करता है। मार्क्स के इन विचारों का खण्डन करते हुये डेहरेनडॉर्फ कहते हैं कि वर्गीय चेतना या सामान्य हित की भावना अनिवार्य रूप से नहीं पायी जाती है। सामाजिक वर्ग अपना हित जानता -समझता है, यह मात्र आस्था है सत्य नहीं है। मार्क्स ने इस आस्था पर इतिहास का सिद्धान्त बना डाला जो कि एक प्रकार का तत्व दर्शन हो सकता है, वास्तविकता नहीं।

डेहरेनडॉर्फ ने मार्क्स के इस विचार के प्रति कि 'वर्ग विशेष के सभी व्यक्ति एक ही पीड़ा से तथा शोषण से ग्रस्त होते हैं' आपत्ति दर्ज की जाती है। वे कहते हैं कि शोषित वर्ग में अनेक ऐसे भी होते हैं जो अपनी क्षमता तथा प्रतिभा के बल पर स्वयं को उस शोषण से दूर कर लेते हैं जैसे कोई मजदूर अपनी क्षमता के आधार पर अपनी जीविका अन्यत्र तलाश लें। वास्तविकता यह है कि एक ही वर्ग में कई भिन्न स्तर होते हैं। उन स्तरों में एकता होना आवश्यक नहीं है अतः वर्गों का ध्रुवीकरण भी अनिवार्य नहीं है।

4.3 सहमतिजन्य प्रारूप (Consensus Model) तथा निग्रही प्रारूप (Coercion Model)

डेहरेनडॉर्फ ने पश्चिमी समाज के विश्लेषण के उद्देश्य से दो विरोधी प्रारूपों की चर्चा की है - (1) सहमतिजन्य प्रारूप (2) निग्रही प्रारूप । इन प्रारूपों की मान्यतायें निम्नलिखित हैं-

(1) सहमति जन्य प्रारूप -

(अ) हर समाज में स्थायित्व होता है जो कि संरचना के स्थिर तत्वों पर आधारित होता है।

(ब) हर समाज नियोजित समन्वयात्मक तत्वों से बनता है।

(स) समाज के हर तत्व का प्रकार्य है अर्थात वह तत्व समाज के संचालन में योगदान करता है।

(द) हर प्रकार्यात्मक सामाजिक संरचना, सदस्यों के मूल्यों के प्रति सहभागी स्वीकृति पर निर्भर है।

यह प्रारूप प्रमुख रूप से पारसंस व अन्य संरचनात्मक प्रकार्यात्मक लेखकों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इस प्रारूप में मानदण्डों को आधार मानकर, सामाजिक क्रियाओं को समझाया गया है। हमारी क्रियाएं समाज के मानदण्डों के अनुसार सम्पन्न होती हैं। अतः यह प्रारूप एक तरफा है और समाज की सभी प्रक्रियाओं को समझाने में विफल रहा हैं

(2) निग्रही प्रारूप

(अ) हर समाज में परिवर्तन होते रहते हैं। परिवर्तन की गति व दिशा में अन्तर व विभेद होते हैं।

(ब) हर समाज में मतभेद, विरोध व संघर्ष दृष्टिगोचर होते हैं अतः संघर्ष सनातन स्थिति व प्रक्रिया है।

(स) समाज का हर तत्व परिवर्तन, परिवर्धन व विघटन में योगदान देता है।

(द) हर समाज में कुछ सदस्य अन्य सदस्यों पर दबाव व जोर डालते हैं।

डेहरेनडार्फ के अनुसार दोनों ही प्रारूप अपने-अपने ढंग से उपयुक्त व सही हैं। सामाजिक

स्थायित्व, सहयोग व समन्वयता के आधार पर विवेचित किए जा सकते हैं जबकि संघर्ष, असहयोग, मतभेद, अप्रकार्य की व्याख्या निग्रही प्रारूप के माध्यम से की जा सकती है। ये दोनों प्रारूप वैकल्पिक न हो कर पूरक है। डेहरेनडॉर्फ ने निग्रही प्रारूप के माध्यम से औद्योगिक समाज में वर्ग -संघर्ष को समझाने का प्रयास किया है।

4.4 डेहरेनडॉर्फ का द्वन्दात्मक संघर्ष सिद्धान्त

डेहरेनडार्फ ने अपने सिद्धान्त की व्याख्या में कतिपय संबोधों का उपयोग किया है जोकि निम्नलिखित हैं।

(1) सत्ता (Authority)

इस संबोध को वेबर से लिया गया है। सत्ता वह अधिकार है जिसकी अधीनता समाज के सभी व्यक्तियों को मान्य होती है। सत्ता का निर्धारण व्यक्तिगत रूप से नहीं होता बल्कि समाज की स्वीकृति तथा सहमति द्वारा किसी व्यक्ति अथवा समूह को कुछ अधिकार सौंप दिये जाते हैं। यह अधिकार वैधानिक भी माने जाते हैं। यह अधिकार श्रेणीगत रूप से विभाजित होते हैं अर्थात सत्ताधारी समूह में कुछ व्यक्तियों को अधिक प्राधिकार प्राप्त होते हैं तथा कुछ को कम ।

(2) शक्ति (Power)

डेहरेनडॉर्फ ने शक्ति की अवधारणा को भी मैक्स वेबर से प्रेरित हो कर विकसित किया है। उसका मानना है कि सामाजिक संरचना का निर्धारण शक्ति के बँटवारे से होता है। वेबर ने इसकी परिभाषा में लिखा है कि किसी भी सामाजिक समूह में कर्ता दूसरों के विरोध में रहते हुये भी अपनी इच्छाओं को पूरा कर लेता है, तो जिस ऊर्जा के कारण वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है उसी ऊर्जा को वेबर शक्ति की संज्ञा देता है। यहाँ महत्वपूर्ण यह है कि शक्ति यदि भूमिका के साथ जुड़ी हुई होती है तभी वैध (Legitimate) मानी जाती है क्योंकि समाज भूमिका को मान्यता देता है। अतः शक्ति तभी तक शक्ति है जब तक वह भूमिका से जुड़ी है। उदाहरण के लिए कोई न्यायाधीश स्वयं में कितना भी ताकतवर क्यों न हो पर उसके पास वैध शक्ति तभी तक है जब तक वह उस न्यायाधीश की कुर्सी पर बैठा है।। उस पद को छोड़ देने के बाद वह पुनः साधारण व्यक्ति अर्थात शक्तिहीन हो जायेगा। इसी कारण डेहरेनडॉर्फ का तर्क है कि शक्ति को हासिल करने में ही व्यक्तियों के मध्य संघर्ष होता है वे कहते हैं कि शक्ति वैमनस्य का चिरस्थायी स्रोत है।

(3) आदेश सूचक-समन्वित समाज (Imperatively Co-ordinated Association - ICA)

डेहरेनडॉर्फ जब समाज के आदेशसूचक (Imperative) तत्वों की चर्चा करते हैं तो वस्तुतः उनका मानना यह है कि शक्ति अनिवार्य रूप से अवपीड़क (Coercive) यानी मजबूर करने वाली होती है। शक्ति में जब वैधता आ जाती है तब उसे वेबर और डेहरेनडॉर्फ दोनों ही प्राधिकार या सत्ता मानते है। यद्यपि-शक्ति में प्रभाव होता है । तथापि इस प्रभाव को मानना न मानना संस्था या समाज के सदस्यों पर निर्भर है। जब यह शक्ति किसी व्यक्ति या समूह को विधिवत संस्था से प्राप्त होती है तो यह प्राधिकार का रूप ग्रहण कर लेती है। विश्वविद्यालय में किसी विद्यार्थी को प्रवेश देना, नहीं देना, निष्कासित करना, ये सारे प्राधिकार कुलपति को हैं। उन्हें यह शक्ति विश्वविद्यालय के अधिनियम से प्राप्त है और इसीलिये यह उनका प्राधिकार है, और समाज इसे वैधता भी देता है। शक्ति

को जब वैधता मिलती है तो वह प्राधिकार बन जाता है और प्राधिकार में से जब वैधता निकाल ली जाती है तो केवल शक्ति रह जाती है।

डेहरेनडॉर्फ के अनुसार समाज को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए विभिन्न प्रक्रियायें सम्पन्न होती रहती हैं। यह प्रक्रियायें अधिकोटि समूह (Super ordinate group) तथा अधीनस्थ समूह (Subordinate group) के मध्य होती है। अधिकोटि समूह विभिन्न भूमिकाओं का निर्वहन करते हुये अधीनस्थ समूह से आदेश पूर्वक (Authority) विभिन्न कार्य करवाता रहता है। यह सभी कार्य समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये करवाये जाते हैं। अधिकोटि समूह समाज की विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से ही अधीनस्थ समूह से कार्य करवाते है। विभिन्न संस्थायें परस्पर अन्तर्सम्बन्धित तथा परस्पर निर्भर होती है। यह भी कहा जा सकता है कि एक संस्था का कार्य अन्य संस्थाओं के सहयोग के बिना नहीं चलता। उदाहरणार्थ विशवविद्यालय एक संस्था है जिसको किसी बैंक तथा राज्य के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। अतः विभिन्न संस्थाओं के आपसी सहयोग के माध्यम से जब पूर्ण प्राधिकार से सामाजिक प्रक्रियायें सम्पन्न होती है उसी को डेहरेनडॉर्फ ने आदेश सूचक समन्वित समाज (Imperatively Co-ordinated Association) कहा है। वे मानते हैं कि प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे आदेश सूचक अर्थात कुछ ऐसे दबाव डालने वाले मानक व मूल्य हैं जिन्हें समन्वित करके ही समाज बनता है। वास्तव में, समाज या संस्था के सदस्य जो भी भूमिका अदा करते हैं उसके पीछे समाज का आदेश है और इन भूमिकाओं का ताल- मेल ही आदेश सूचक समन्वित समाज को बनाता है। दूसरे शब्दों में 'ICA' और कुछ न होकर संस्था के विभिन्न सदस्यों की एक गठरी मात्र है।

टर्नर ने डेहरेनडॉर्फ के सिद्धान्त को द्वन्दात्मक संघर्ष सिद्धान्त का नाम दिया है। द्वन्दात्मक इसलिये कि किसी भी समाज में दो समूहों में संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। एक समूह वह है जिसके पास अधिकतम शक्ति है और दूसरा वह है जिसके पास न्यूनतम शक्ति है। किसी भी समूह के हितों की पूर्ति शक्ति से होती है। इसी कारण विभिन्न समूहों में शक्ति के पुनर्बटवारे के लिये संघर्ष चलता रहता है। डेहरेनडॉर्फ के अनुसार यह द्वन्द अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिये होता है। वे सामाजिक व्यवस्था की कल्पना एक ऐसे ढांचे के रूप में करते हैं जिसे विभिन्न प्रकार के प्राधिकार सम्बन्धों द्वारा एक सूत्र में बांधे रखा जाता है। किसी भी संस्था या समाज में जो भी भूमिकाएं की जाती है वस्तुतः वे शक्ति व प्राधिकार से बंधी होती हैं। लेकिन शक्ति बराबर अपर्याप्त होती है। जैसे किसी विश्वविद्यालय में दो-चार कुलपति तो हो नहीं सकते। एक ही विषय में 10-20 अध्यक्ष भी नहीं हो सकते। विश्वविद्यालय में कुलपति और वित्त अधिकारी शक्ति के स्रोत हैं और इनकी संख्या सीमित होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि शक्ति व प्राधिकार अपर्याप्त होता है । किसी एक भूमिका में प्राधिकार अधिक होते हैं और किसी में कम। इसी कारण प्रत्येक संस्था में दो समूह पाये जाते हैं एक 'अधिकोटि समूह' तथा दूसरा 'अधीनस्थ समूह'।

डेहरेनडॉर्फ मानते हैं कि समाज में कई संस्थागत ढांचे हैं, यथा परिवार, जाति, धार्मिक सम्प्रदाय, राजनैतिक दल और आर्थिक समूह। इन संस्थागत ढांचों में एकाधिक सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य की कई भूमिकाएं होती हैं। समाज इन भूमिकाओ को वैधता प्रदान करता है। प्रत्येक संस्था में कुछ निश्चित शक्ति होती है। यह शक्ति कुछ व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित होती है, ऐसे व्यक्तियों के समूह को 'अधिकोटि' समूह कहा जाता है। वास्तविकता यह है कि अधिकोटि समूह निरन्तर यह प्रयास करता रहता है कि यथास्थिति बनी रहे। दूसरी ओर भूमिकाओं का वह समूह जिसे अधीनस्थ समूह कहते हैं बराबर इस बात के लिये प्रयत्नशील रहता है कि संस्था की सम्पूर्ण शक्ति या प्राधिकार का नये

सिरे से वितरण हो जाय। दोनों समूह अपने वस्तुगत हितों की पूर्ति के लिये परस्पर टकराते हैं । इस संघर्ष का निदान यह होता है कि संस्था में निहित प्राधिकारों का पुनर्वितरण होता है। अब संस्था पर नये लोग काबिज होते हैं और नये शासित समूह आते हैं । प्रत्येक संस्था में परिवर्तन का यह सिलसिला या चक्र निरन्तर चलता रहता है।

4.5 अर्ध समूह एवं हित समूह

डेहरेनडॉर्फ ने अर्ध समूह एवं हित समूह का भी उल्लेख किया है। अर्ध समूह व्यक्तियों की वह सामूहिकता है जिनके परोक्ष हित एक से होते हैं। यद्यपि वे संगठित नहीं होते हैं। दूसरी ओर हित समूह के अन्तर्गत संगठन का प्रत्यक्ष स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। उनके क्रिया के स्तर पर कार्यक्रम व लक्ष्य होते हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए वे संगठन का निर्माण करते हैं। मजदूर संघ, राजनैतिक दल एवं सामाजिक आन्दोलन हित समूह के अन्तर्गत आते हैं। अर्ध समूह के सदस्य बिखरे हुये होते हैं अतः हित समूहों में उनका आसानी से चयन हो जाता है। संघर्ष में हित समूहों की भूमिका प्रभावी रहती है और वे ही समूह के सदस्यों को एकत्रित करके किसी क्रिया को सम्पन्न करते हैं। महिला आंदोलन के अन्तर्गत अनेक अवसरों पर महिलाओं ने संगठित रूप से नारी से संबंधित मुद्दों को सार्वजनिक व राजनैतिक स्तर पर प्रस्तुत किया है। दिवराला के सती कांड में व भंवरी देवी के बलात्कार कांड में महिलाओं की सक्रिय भूमिका के कारण राजनैतिक व सामाजिक स्तर पर संघर्ष के अनेक स्वरूप उभर कर आए थे। इन संघर्षों में परंपरागत मूल्यों व प्रथाओं से, राज्य से व किसी स्तर पर प्रभुत्वशाली समुदाय के लोगों से टकराव व संदेह की स्थिति उत्पन्न हुई थी। ये संघर्ष वांछनीय सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते है। यह सही है कि स्थापित व संस्थागत मान्यताओं को परिवर्तित कर देने से संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है जोकि अन्ततः परिवर्तन की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

डेहरेनडॉर्फ ने संघर्ष समूह निर्माण की तीन परिस्थितियों का उल्लेख किया है - (1) सामाजिक परिस्थितियाँ (2) राजनैतिक परिस्थितियाँ (3) तकनीकी परिस्थितियाँ । जब अर्धसमूह हित समूह में परिवर्तित होता है तो उसकी कुछ सामाजिक शर्तें होती हैं। समान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदस्यों के मध्य संचार का होना आवश्यक है। साथ ही संगठन के निर्माण के लिए सदस्यों के चयन की किसी प्रक्रिया का होना भी जरूरी है। केवल सामाजिक शर्तें ही महत्वपूर्ण नहीं होती अपितु राजनैतिक तथा तकनीकी स्थितियाँ भी आवश्यक है। सामाजिक संघर्ष कभी पूर्णतया समाप्त नहीं होते, एक संघर्ष का निदान होने पर दूसरा संघर्ष आरम्भ होने लगता हैं। यह सच है कि संघर्ष को नियन्त्रित किया जा सकता है। संघर्ष के नियमन के तीन स्वरूप बताए गये हैं - (1) विवाचन (Artibution) (2) सुलह (Conciliation), (3) मध्यस्थता (Mediation)

4.6 डेहरेनडॉर्फ के कुछ अमूर्त प्रस्ताव

डेहरेनडॉर्फ की बहुत बड़ी समस्या यह जानने की थी कि आखिर कौन से समूह संघर्ष में भाग लेते हैं और इससे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि संघर्ष के निर्णायक कारक कौन से हैं? संघर्ष के निर्णायक कारकों की व्याख्या डेहरेनडॉर्फ शक्ति के पुनर्वितरण से करते हैं। वास्तव में डैहरेनडॉर्फ के अनुसार प्राधिकार द्विभागी होता है। शक्ति को पाने के लिये सबसे बड़ी आवश्यकता व्यक्तियों या वर्गों को संगठित करने की है। समाज के व्यक्ति हित समूहों (Interest groups) में बँटे होते हैं । ये हित समूह सामाजिक तकनीकी तथा राजनैतिक लक्षणों से युक्त होते हैं। राज्य जितना अधिक

उदार होगा उतनी ही अधिक संख्या में लोग संघर्ष करने के लिये संगठित होंगे। दूसरी ओर, राज्य जितना अधिक अधिनायकवादी होगा उसके संगठित होने की सम्भावना उतनी ही कम होगी। डेहरेनडॉर्फ ने तकनीकी व सामाजिक हेतु समूहों के लिए भी कुछ प्राक्कल्पनाएं बनायी हैं । यहाँ उनके द्वारा दिये गये कतिपय अमूर्त प्रस्तावों को जो उन्होंने "क्लास एण्ड क्लास कॉनफ्लिक्ट" में रखे है, प्रस्तुत किया जा रहा है-

(1) किसी भी आदेश सूचक समन्वित समाज के लोगों में वास्तविक समाज के बारे में जितनी अधिक चेतना होगी, उतनी ही अधिक उनकी संघर्ष करने की सम्भावना होगी, अर्थात् अधिक जानकारी व जागृति के परिणाम अधिक संघर्ष ।

(2) जितनी अधिक तकनीकी, राजनैतिक और सामाजिक दशाओं की पूर्ति संगठन में होगी, संघर्ष उतना ही अधिक तीव्र होगा।

(3) अधि-कोटि (Super ordinate) और अधीनस्थ (Subordinate) समूहों में जितनी कम गतिशीलता होगी संघर्ष उतना ही अधिक होगा।

(4) संघर्ष जितना अधिक गहरा, सघन और हिंसात्मक होगा सामाजिक परिवर्तन उतना ही अधिक होगा।

4.7 डेहरेनडॉर्फ के द्वन्दात्मक संघर्ष सिद्धान्त की आलोचना

डेहरेनडॉर्फ के द्वन्दात्मक संघर्ष सिद्धान्त की तीखी आलोचना पीटर वेनगार्ट (Peter weingart) ने की है। उनका तर्क है कि डेहरेनडॉर्फ ने मार्क्स से हटकर द्वन्दात्मक संघर्ष का जो सिद्धान्त रखा है, यद्यपि उसकी बहुत बड़ी उपयोगिता है पर डेहरेनडॉर्फ कारणात्मक विश्लेषण की विधि में कमजोर है। वह यह भूल जाते हैं कि संघर्ष जहाँ सामाजिक संरचना में परिवर्तन लाता है वहाँ यह परिवर्तन भी संघर्ष का एक कारण होता है। ऐसी ही कुछ और कठिनाइयाँ जो आनुभाविकता से जुड़ी हुयी है, कारणात्मक विश्लेषण को कठिन बना देती है। डेहरेनडॉर्फ के संघर्ष सिद्धान्त की कुछ मुख्य आलोचनायें इस प्रकार हैं -

1. अब्राहम के अनुसार डेहरेनडॉर्फ के सिद्धान्त का सन्दर्भ आधार संकुचित तथा सीमित है। यह वर्ग सिद्धान्त का एक प्रकार है जो समाज के सम्पूर्ण परिवर्तनों की व्याख्या नहीं कर सकता। उसकी यह मान्यता कि सामाजिक परिवर्तन अनिवार्यतः सत्ता-संरचना में परिवर्तन का परिणाम है, स्वीकार करने योग्य नहीं है।

2. डेहरेनडॉर्फ के द्वन्दात्मक संघर्ष सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमजोरी जिसका उल्लेख टर्नर ने किया है, वह यह है कि उन्होंने जिन अवधारणाओं को प्रयुक्त किया है उन्हें चरों की तरह कहीं भी परिभाषित नहीं किया है। यह ठीक है कि जब शक्ति को समाज वैधता प्रदान करता है तो वह प्राधिकार या सत्ता बन जाता है। लेकिन यह सत्ता कहीं कम होती है और कहीं अधिक। प्राधिकार की भाँति, प्रभुत्व, अधीनता तथा हित आदि अवधारणाएं भी चर की तरह परिभाषित नहीं हैं। इन अवधारणाओं को स्पष्ट रूप से परिभाषित करके चर के रूप में इन्हें वर्गीकृत किया जाना चाहिये था।

4. यह कहना बहुत सरल है कि मनुष्य के जीवन में संघर्ष तथा समाज में संघर्ष होते हैं, लेकिन इस संघर्ष को विश्व के स्तर पर कैसे मापा जा सकता है, यह स्पष्ट करना भी आवश्यक

है। वैमनस्य भी संघर्ष है और युद्ध भी संघर्ष है। संघर्ष होते हुये भी अपनी- अपनी गहनता में दोनों प्रकार के संघर्षों के स्वरूप भिन्न हैं। डेहरेनडॉर्फ के पास संघर्ष की इस परिमाण के मूल्यांकन का कोई वैज्ञानिक मापदण्ड नहीं है।

4. डेहरेनडॉर्फ के संघर्ष सिद्धान्त का आनुभविक क्षेत्र में परीक्षण करना सम्भव नहीं है।

डेहरेनडॉर्फ के कारणात्मक विश्लेषण मे चाहे जितनी अस्पष्टता हों, उसने कुछ मध्यस्थित अनुभवात्मक दशाओं का उल्लेख किया है जैसे अर्ध समूहों का 'निहित समूह' में परिवर्तित होना तथा हित -समूह का संघर्ष-समूह का रूप ले लेना । यह विचार तथा अवधारणायें आधुनिक समाज के लिये प्रासंगिक सिद्ध हुई हैं। संघर्ष तथा परिवर्तन को सार्वभौमिक बताकर डैहरेनडॉर्फ ने सामाजिक संघर्ष का एक सामान्य सिद्धान्त विकसित किया है।

4.8 सारांश

डेहरेनडॉर्फ ने सामाजिक संघर्ष का एक स्पष्ट सैद्धान्तिक प्रारूप स्पष्ट किया है जिसके अन्तर्गत विभिन्न संबोधों की व्यवहारिक परिभाषा दी गयी है। वे यह भी मानते हैं कि समन्वय व संघर्ष के उपागम एक-दूसरे के पूरक हैं। उसके अनुसार सत्ता वह मूल तत्व है जिसके माध्यम से सामाजिक संघर्ष की व्याख्या की जा सकती है। उनके अनुसार संरचना व संघर्ष के मध्य सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है और इसी के द्वारा संघर्ष के संरचनात्मक कारणों को ढूंढा जा सकता है। उन्होंने संघर्ष के कारणों को अधिक महत्व दिया है न कि प्रभावों को। डेहरेनडॉर्फ ने मार्क्स की द्वन्दात्मक पद्धति को अपनाया है लेकिन वे उसके आर्थिक निर्धारणवाद से सहमत नहीं है। उनका मानना है कि उत्तर पूंजीवादी समाज में स्वामित्व व नियंत्रण एक ही हाथ में नहीं है। ऐसे समाजों में मालिक वर्ग तथा मजदूर वर्ग के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग भी उभर कर आया है जो मध्यम वर्ग हैं । वे कहते हैं कि अब पूँजीवादी लोग भी कई संस्तरणों (Hierarchy) में विभाजित हैं तथा श्रमिक वर्ग भी अनेक श्रेणियों (Ranks) में बंटा है (प्रशिक्षित तथा अप्रशिक्षित इत्यादि) । यही कारण है कि वर्तमान समाज में वर्गों का ध्रुवीकरण एवं क्रान्ति की सम्भावनाएं बहुत कम है। वास्तव में आज का समाज आदेश सूचक समन्वित समाज (ICA) है।

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

- डेहरेनडॉर्फ राल्फ, क्लास एण्ड क्लास कॉनफ्लिक्ट इन इन्डस्ट्रियल सोसाइटी, स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1959
- डेहरेनडॉर्फ राल्फ, 'टुवर्ड्स ए थ्योरी ऑफ सोसियल कॉनफ्लिक्ट' इन अमिताई एटजियौनी एण्ड इवा एटजियौनी (द्वारा), सोशल चेन्ज, न्यूयार्क,
- सिंघी नरेन्द्र कुमार, समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली,

4.10 सम्बन्धित प्रश्न उत्तर

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. डेहरेनडॉर्फ के द्वन्दात्मक संघर्ष सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
2. नवीन औद्योगिक समाज की क्या विशेषता है? इसमें आदेश सूचक समन्वित समाज (ICA)

की क्या भूमिका है?

4. अर्ध-समूह तथा हित-समूह का सामाजिक संघर्ष में क्या योगदान है?

4. डेहरेनडॉर्फ ने क्या अमूर्त प्रस्ताव प्रस्तुत किये है? उनके संघर्ष सिद्धान्त की क्या सीमाएं हैं?

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. डेहरेनडॉर्फ मार्क्स के 'संघर्ष सिद्धान्त' के किन विचारों से क्यों सहमत नहीं थे?

2. सहमतिजन्य प्रारूप तथा निग्रही प्रारूप क्या हैं?

4. डेहरेनडॉर्फ ने सत्ता को किस प्रकार परिभाषित किया है?

4. शक्ति की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. डेहरेनडॉर्फ के अनुसार नवीन पूँजीवाद का स्वरूप कैसा है?

(अ) दमनकारी (ब) संस्तरणबद्ध

(स) कॉरपोरेट व्यवस्था (द) उदारवादी

2. डेहरेनडॉर्फ की पुस्तक 'क्लास एण्ड क्लास कॉनफ्लिक्ट इन इन्डस्ट्रियल सोसाइटी' किस वर्ष में प्रकाशित हुई?

(अ) 1959 (ब) 1920

(स) 1949 (द) 1965

4. सामाजिक संघर्ष किस समूह द्वारा संभव होता है?

(अ) संगठित समूह (ब) हित समूह

(स) अर्ध-समूह (द) शोषित समूह

उत्तर- (1) स (2) अ (3) ब

इकाई - 5 आलोचना सिद्धान्त का अविर्भाव : होरखाइमर का मत, हैबरमॉस के विचार एवं प्रासंगिकता

इकाई की रूपरेखा-

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 आलोचनात्मक सिद्धान्त का अविर्भाव

5.3 आलोचनात्मक सिद्धान्त के मुख्य लक्षण

5.4 प्रारम्भिक आलोचनात्मक सिद्धान्त

5.5 मैक्स होरखाइमर का मत

5.6 हैबरमॉस के विचार

5.7 सारांश

5.8 संदर्भ ग्रन्थ

5.9 सम्बन्धित प्रश्न उत्तर

5.0 उद्देश्य

आलोचनात्मक सिद्धान्त को संघर्ष सिद्धान्त की एक कड़ी के रूप में समझा जा सकता है। प्रस्तुत इकाई में आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य के उदय तथा विकास के सम्बन्ध में विवरण दिया गया है। इस परिप्रेक्ष्य के प्रमुख प्रणेता के रूप में मैक्स होरखाइमर के विचारों से पाठकों को अवगत कराया जा रहा है। हैबरमॉस जिन्होंने मार्क्स के संशोधन में सर्वप्रमुख योगदान दिया है, के सिद्धान्तों का यहाँ सार रूप में विश्लेषण किया जा रहा है।

5.1 प्रस्तावना

आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य का अविर्भाव मुख्य रूप से मार्क्सवाद को पुर्नव्यवस्थित करने के उद्देश्य से हुआ। इस परिप्रेक्ष्य के मुख्य प्रणेता मैक्स होरखाइमर थे। इस सम्प्रदाय से जितने भी विचारक जुड़े थे उनके दो लक्ष्य थे - पहला तत्कालीन समाज की आलोचना करना तथा दूसरा मार्क्स के क्लासिक सिद्धान्त से असहमत होकर उसका पुर्नसंगठन करना। इन विचारकों के अनुसार योरोप का समाज एक शोषित समाज था। इसमें राजा-महाराजाओं द्वारा दमन अपनी चरम सीमा पर था। फासीवाद तथा स्टालिनवाद के उदय के साथ-साथ वेबर के तर्क संगतता एवं अधिकारीतन्त्र के सिद्धान्त ने मार्क्स के सम्पूर्ण सिद्धान्त को हाशिये पर ला कर खड़ा कर दिया था। इन परिस्थितियों में मार्क्सवाद को जीवित रखना तथा उसकी प्रसिद्धि तथा लोकप्रियता को बनाये रखना आलोचनात्मक सिद्धान्तवेत्ताओं का प्रमुख लक्ष्य बन गया। वर्तमान युग में मार्क्स की व्याख्या नये सिरे सें आरम्भ हो गयी है। हेबरमॉस ने आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत मार्क्सवादी सिद्धान्त को नये तरीके से रखा है। हेबरमॉस आधुनिक समाज के विश्लेषण के लिए एक ऐसा सिद्धान्त बनाना चाहते थे जो मार्क्स के प्रबन्ध का संशोधन भी करे तथा समाज के विश्लेषण का एक विकल्प भी प्रस्तुत करें।

5.2 आलोचनात्मक सिद्धान्त का अविर्भाव

यूरोप में जब प्रबुद्ध काल (Enlightenment period) आया और लोगों में जनजागरण

हुआ तब इस अवधारणा का प्रयोग मानववादियों और सुधारवादियों ने किया। इन सुधारवादियों को लगा कि विभिन्न धर्मों में जो भी उपदेश भरे पड़े हैं वे एक तरह से व्यक्ति को सामाजिक बंधन में बांधे रखते हैं। इन धार्मिक ग्रन्थों ने तो मनुष्य की युक्ति पर अंकुश लगा दिया था। यह सब सुधारकों और मानववादियों को स्वीकार नहीं था। उन्होंने धार्मिक ग्रन्थों यहाँ तक कि बाइबिल की भी आलोचना की । जब यूरोप में प्रबुद्ध काल में इस प्रकार की आलोचना शुरू हुयी तो उसके लिये 'क्रिटिक' या 'क्रिटिकल' अवधारणा का प्रयोग किया जाने लगा। आगे चलकर ये धार्मिक विवेचक चर्च को अपना शत्रु समझने लगे और चर्च इन्हें अपना दुश्मन मानने लगा। प्रारम्भ में जो आलोचनात्मक सिद्धान्त उभर कर आया उसका एकमात्र उद्देश्य यह जताना था कि जो कुछ भी धार्मिक सिद्धान्त हैं वे केवल पैगम्बरों, पादरियों या अवतारों की उपज है। इस सिद्धान्तों में कहीं भी तार्किक पुट नहीं हैं। जो कुछ धार्मिक सिद्धान्त के रूप में उपलब्ध है वह कोरा विश्वास है। आलोचनात्मक सिद्धान्त का यह प्रारम्भिक स्वरूप था।

आलोचनात्मक सिद्धान्त की प्रमुख दो धारायें हैं। पहली धारा अमेरिका की है। दूसरी जर्मनी की । प्रथम अमेरिकी धारा आनुभाविकतावाद (Empiricism) की है। दूसरी जर्मनी की धारा दार्शनिकता के धरातल पर विकसित हुई। इसका अत्यधिक विस्तार हुआ। विवेचनात्मक सिद्धान्तों के क्षेत्र में जर्मनी की धारा प्रभावी है। इसका शुभारम्भ फ्रैंकफुर्ट स्कूल से हुआ है। आलोचनात्मक सिद्धान्त की दो परस्परर विरोधी धाराओं में सामान्य तथ्य यह है कि ये कार्ल मार्क्स द्वारा प्रस्तावित पैराडाइम पर आधारित हैं। मार्क्स ने क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल इकोनॉमी (Critique of Political Economy) में आदमी के उद्धार की चर्चा आर्थिक शोषण के सम्बन्ध में की है। यही आलोचनात्मक सिद्धान्तीकरण का केन्द्रीय आधार है। इस सिद्धान्त की दोनों धारायें, चाहें वह जर्मनी का दर्शनशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तीकरण हो या अमेरिका की आनुभाविकता पर आधारित विधा, मार्क्स के "प्रेक्सिस" को सुरक्षित रखना चाहती है। "प्रेक्सिस" का अर्थ है सिद्धान्त और क्रिया का सम्मिश्रण। दूसरे शब्दों में सिद्धान्त का प्रयोग इस तरह से किया जाये कि यह क्रिया करने के लिए प्रेरित करे। इन दोनों धाराओं की उत्पत्ति जर्मनी के फ्रेंकफुर्ट नगर से हुयी।

आलोचनात्मक सिद्धान्तवेत्ताओं की पहली पीढ़ी ने जब मार्क्सवाद को नये संदर्भ में देखना प्रारम्भ किया तब उनके चारों ओर धुंध या कोहरा ही था। फासीवाद चढ़ाव पर था, रूस की क्रान्ति स्टालिनवाद के सामने घुटने टेक कर बैठ गई थी,और फासीवाद का नशा यूरोप के राजाओं पर चढ़ गया था। इस सबके आगे वेबर के सिद्धान्त तर्कसंगतता और अधिकारीतंत्र ने मार्क्स के सिद्धान्त की प्रासंगिकता को बहुत कम कर दिया था। ऐसे समय में जार्ज ल्युकाक्स, मेक्स होरखाइमर तथा थियोडोर एडोर्नो ने मार्क्स का पुर्नअध्ययन करके मार्क्सवाद को संशोधित करने का अथक प्रयास किया।

5.3 आलोचनात्मक सिद्धान्त के मुख्य लक्षण

1. विवेचनात्मक सिद्धान्त मार्क्स की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को अस्वीकार करता है।
2. आलोचनात्मक सिद्धान्त मार्क्स के द्वन्दात्मक भौतिकवाद के विकल्प के रूप में हीगल के द्वन्दवाद को स्वीकार करता है।
3. यह सिद्धान्त चेतना की प्रक्रिया (Process of Consciousness) पर बल देता है।
4. इसमें विषयनिष्ठता (Objectivity) पर बल दिया जाता है।
5. इस सिद्धान्त के अनुसार देश, काल तथा परिस्थिति से पृथक करके विचार को नहीं समझा जा सकता है।

6. यह सिद्धान्त मनुष्य की स्वतंत्रता को प्रभावित करने वाली ताकतों का विवरण प्रस्तुत करता है।

7. इसमें मनुष्य की स्वतंत्रता को प्रभावित करने वाली ताकतों के पक्ष में दिये जाने वाले विचारों व दलीलों का विरोध किया जाता है।

8. आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य का उद्देश्य है मनुष्य को हर प्रकार के शोषण, प्रभुत्व तथा दमन से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करना।

9. इस सिद्धान्त का लक्ष्य मार्क्स के प्रैक्सिस (Praxis) को मूर्त रूप प्रदान करना है। प्रैक्सिस का अर्थ है ऐसे सिद्धान्त जो व्यवहार में लाये जाने की प्रेरणा देते हैं।

10. यह सिद्धान्त अन्तर्विषयी विधि (Inter Disciplinary) अपनाता है। इसमें विभिन्न विषयों की एक साथ गवेषणा की जाती है।

उपर्युक्त आलोचनात्मक सिद्धान्त के लक्षण जार्ज लुकाक्स द्वारा वर्णित किये गये हैं। लुकाक्स एक ऐसी कड़ी है जो हीगल, मार्क्स तथा वेबर को आधुनिक आलोचनात्मक सिद्धान्त के साथ जोड़ते हैं । उनकी पहली कृति 'हिस्ट्री एण्ड क्लास कोन्सीयसनेस' ने उन्हें उच्च कोटि का आलोचनात्मक सिद्धान्तवेत्ता सिद्ध किया था।

5.4 प्रारम्भिक आलोचनात्मक सिद्धान्त

आलोचनात्मक सिद्धान्त का प्रारम्भ फ्रेंकफुर्ट स्कूल से हुआ। फ्रेंकफर्ट स्कूल की विचारधारा को होरखाइमर, एडोर्नो तथा ल्यूकाक्स के अतिरिक्त कुछ और दार्शनिकों ने भी विकसित किया है। इनमें हर्बर्ट मारक्यूज, वाल्टर बेंजामिन और ईरिच फ्रोम के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ल्यूकाक्स मार्क्स के आर्थिक निर्धारणवाद तथा वेबर के विवेकीकरण से असहमत थे। मार्क्स के अनुसार मनुष्य जीवन में द्वन्द का कारण विचार न होकर भौतिक वस्तुएं होती हैं। ल्यूकाक्स ने यहाँ मार्क्स से असहमति व्यक्त की है और हीगलवादी विचारधारा को अपनाया है कि भौतिक वस्तुओं में जो द्वन्द मिलता है वह वस्तुतः मानवीय चेतना में अन्तर्निहित है। यही उनका मार्क्स से मतभेद था। मैक्स वेबर के बारे में ल्यूकाक्स ने कहा कि विवेकीकरण सब कुछ नहीं है। मनुष्यों में कतिपय आन्तरिक गुण होते हैं जो एक सीमा के बाद विवेकीकरण को स्वीकार नहीं करते।

आलोचनात्मक सिद्धान्त के अन्तर्गत थियोडोर एडोर्नो भी महत्वपूर्ण विचारक के रूप में माने जाते है। एडोर्नो तथा होरखाइमर समकालीन थे। एडोर्नो के मन में एक तरह की खीज थी, उनकी परेशानी नाजी सत्ता का दमन था। यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि उनकी कृतियों में स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है।उनकी कृतियों में होरखाइमर की भागीदारी बहुत अधिक थी। कहीं-कहीं एडोर्नो तथा होरखाइमर सह-लेखक की तरह हैं अतः उनके साथ हमें होरखाइमर को जोड़कर पढ़ना चाहिये। इन दोनों ने 'दि डायलेक्टिक ऑफ एन्लाइटनमेंट' (Dialectic of Enlightenment) पुस्तक सम्मिलित रूप से लिखी। इनका तर्क था कि ज्ञान के क्षेत्र में ऐसा कोई अन्तिम निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। इस पुस्तक में 'ज्ञानोदय' के सम्बन्ध में एडोर्नो तथा होरखाइमर दोनों के विचारों को आगे प्रस्तुत किया जायेगा। एडोर्नो की अन्य कृतियां इस प्रकार हैं - (1) द अथौरिटेरियन परसनैलिटी (1950), (2) प्रिज्मस् (1955), (3) मिनिमा मोरॉलिया (1951)। एडोर्नो की कृतियों में यहूदी विरोधी लेखन का बराबर जायजा मिलता है। उन्होंने सामाजिक सिद्धान्त और अनुभाविक अनुसन्धान को जोड़ा।

5.5 मैक्स होरखाइमर का मत

होरखाइमर फ्रेंकफर्ट स्कूल के एक अग्रणी सदस्य थे। इन्हें समाजशास्त्र में उनके इस शोध के लिए विशेष रूप से जाना जाता है कि विलम्बित पूंजीवाद (Late Capitalism) ने किस तरह बुद्धिसंगतता (Rationality) को विकसित किया। इनका मानना है कि आधुनिक सभ्यता वस्तुतः एक बीमार सभ्यता है। इस सभ्यता को स्वस्थ करने के लिये सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही स्तरों पर क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। उनका कहना है कि सभी सिद्धान्त अधूरे और एक पक्षीय हैं। इस सन्दर्भ में वे मार्क्स के सिद्धान्त को भी इस मूल रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। होरखाइमर के अनुसार ऐसी अवश्यम्भावी सर्वहारा क्रान्ति का विचार जो अलगाव और शोषण का अन्त कर देगा, एक भ्रान्तिपूर्ण विचार है। मार्क्स ने इतिहास की भौतिक शक्तियों को अत्यधिक प्रमुखता देते हुये यह निष्कर्ष निकाला है। होरखाइमर आपत्ति करते हैं : क्या आर्थिक मुक्ति सम्पूर्ण मुक्ति है? अगर हाँ तो निश्चित रूप से यह मुक्ति बहुत सीमित मुक्ति है। होरखाइमर का सिद्धान्त एक आलोचनात्मक सिद्धान्त है और इसलिये इसका उद्देश्य ज्ञान की खोज करना है और यह ज्ञान सामाजिक संरचना में छिपा हुआ है। होरखाइमर आनुभविकता और प्रत्यक्षवाद के विरोधी थे। इस विरोध का कारण यह है कि ज्ञान आनुभाविकता में स्पष्ट नहीं होता। इसका तो विश्लेषण करना होता है।

होरखाइमर उच्च कोटि के सिद्धान्तवेत्ता थे। उनकी कुछ प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं -

1. डायलेक्टिक्स ऑफ इनलाइटमेन्ट (एडोर्नो के साथ) (Dialectics of Enlighten ment, 1949)
2. क्रिटिकल थ्योरी (Critical Theory, 1972)
3. दि इक्लीप्स ऑफ रीजन (The Eclipse of Reason, 1974)

होरखाइमर ने एडोर्नो के साथ मिल कर ज्ञानोदय में निहित द्वन्द को उठाया था। इनके अनुसार ज्ञानोदय ने वस्तु विनिमय की प्रक्रिया में पूँजीवाद को ऐसा अवसर दिया है कि वह खुलकर आम आदमी का शोषण कर सके। जिस तरह वस्तु विनिमय में श्रम शक्ति का शोषण होता है वैसे ही ज्ञानोदय के कारण सभी मानव मूल्यों का विनिमय होने लगा है। ज्ञानोदय सभी को समान बना देता है, सभी विशिष्टताओं को बराबर कर देता है और अन्ततः सभी एक दूसरे के दुश्मन हो जाते हैं। ज्ञानोदय ने इस सम्पूर्ण द्वन्द का निराकरण भी ज्ञानोदय से ही माना है। होरखाइमर और एडोर्नो ज्ञानोदय का इस सीमा तक विरोध करते हैं कि वे इसे सर्वसत्तात्मक समाज के निर्माण को लाने वाला कहते है।

होरखाइमर के अनुसार सामाजिक अनुसंधान ऐसा होना चाहिये जो इण्टरडिसिप्लनरी हो और उसमें भौतिकवादी तथा सामाजिक कार्यक्रमों का समावेश हो। उनका विचार था कि दर्शनशास्त्र को एक सिद्धान्त की तरह काम करना चाहिये। अनुसंधान की दिशा को सिद्धान्त और अनुभाविकता दोनों को मिलकर निश्चित करना चाहिये । सिद्धान्त को आनुभाविकता और आनुभाविकता को सिद्धान्त से जोड़ने की कोशिश करें तो अनुसंधान समाज के ज्ञान को प्राप्त करने में कामयाब होगा। वे कहते हैं कि सामाजिक अनुसंधान और समाजशास्त्र एक नही हैं। सामाजिक अनुसंधान के सामने कई समस्याएं होती हैं, एक विशाल परिवेश होता है, जबकि समाजशास्त्र तो अपनी विधा की सीमाओं में बंधा रहता है।

होरखाइमर फ्रेंकफुर्ट स्कूल द्वारा चलाये गये मार्क्सवाद के आन्दोलन के अग्रणी थे। उन्होंने लम्बे समय तक एडोर्नो के सहयोग से 'समाजशास्त्र को फ्रेंकफुर्ट का योगदान' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया जिसके माध्यम से ये सिद्धान्तकार अपने विचार प्रकट करते रहे। इस पत्रिका में पूंजीवाद पर निरंतर लेखन हुआ। होरखाइमर का कहना था कि पूंजीवाद ने उदारवाद को छोड़ दिया था। अब बाजार की मुक्त प्रतियोगिता नहीं रही थी। उत्पादन के साधनों का स्वामित्व कुछ सीमित लोगों के हाथ में आ गया था। परिणामस्वरूप उदार पूंजीवाद अब एकाधिकारी पूंजीवाद (Monopoly Capitalism) बन गया था। होरखाइमर बहुत निराश थे और इधर 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया था। उन्हें महसूस हुआ कि पूंजीवाद और फासीवाद का गठबन्धन बहुत घनिष्ठ हो गया है। उनका कहना था कि वे लोग जो पूंजीवाद के खिलाफ नहीं बोलना चाहते उन्हें फासीवाद के बारे में मौन रहना चाहिये। दूसरे शब्दों में अगर पूंजीवाद को बर्दाश्त करेंगे तो फासीवाद को भी झेलना पड़ेगा।होरखाइमर एक स्पष्टवादी विचारक थे। उन्होंने नाजी जर्मनी से आये सभी यहूदी शरणार्थियों को खूब लताड़ा और कहा कि वे शरणार्थी जो पूँजीवाद के समर्थक हैं और इसे व्यवहार में लाते हैं, उन्हें नाजियों के फासीवाद पर बोलने का कोई अधिकार नहीं है। वास्तविकता यह है कि मार्क्स ने बहुत पहले कहा था कि पूँजीवाद के विकास में फासीवाद निहित है।

5.6 हैबरमॉस के विचार

हैबरमॉस फ्रैंकफुर्ट सम्प्रदाय की दूसरी पीढ़ी के सदस्य माने जाते हैं। ये बहुत सक्रिय विचारक हैं। इनका लेखन बहुत समृद्ध है। लेकिन इनकी बहुत बड़ी खासियत यह है कि ये जन-आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी करते हैं। हैबरमॉस का विचार है कि आज के प्रजातांत्रिक, नौकरशाही और वैज्ञानिक संस्कृति प्रधान समाज में स्वतंत्र संवाद की बहुत आवश्यकता है और वे सलाह देते हैं कि इस संवाद का आधार विवेक यानि बुद्धिसंगतता (Rational) होना चाहिये। हेबरमॉस का सम्पूर्ण लेखन जर्मन भाषा में हुआ है। उनकी कुछ पुस्तकों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद हो गया है। जुर्गेन हेबरमॉस ने 1962 में प्रकाशित अपनी सर्वप्रथम पुस्तक 'द स्ट्रक्चर्ड ट्रान्सफॉरमेशन ऑफ पब्लिक स्फेयर' में लोक जगत के संरचनात्मक रूपान्तरण में लोक जगत के ऐतिहासिक विकास एवं आधुनिक समाजों में उसके ह्रास एवं विनाश की प्रक्रिया का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। आधुनिक समाज में व्याप्त वैधता का संकट'' (Legitimation Crisis) से सम्बन्धित हैबरमॉस के महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रकाशन 1973 में हुआ। संप्रेषणात्मक क्रिया का सिद्धान्त (Theory of Communication Action) से सम्बन्धित सिद्धान्त का प्रकाशन 1984 में अनेक खण्डों में हुआ। उपर्युक्त तीनों सिद्धान्तों में हैबरमॉस ने आधुनिक समाजों के संकटों के अनेक कारणों, परिणामों और उनके सम्भव उपायों की समीक्षा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त भी उनकी अनेक महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं जो इस प्रकार हैं - (1) थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस (1963) (2) नॉलेज एण्ड ह्यूमन इण्टरेस्ट (1968) (3) टुवर्ड ए रैशनल सोसाइटी (1970) (4) द फिलोसोफिकल डिस्कोर्स ऑफ मॉडरनिटी (1988) (5) पोस्ट मेटाफिजिकल थिंकिंग (1992)। हैबरमॉस के तीन दशकों से अधिक के गहन अनुसंधान एवं चिन्तन के क्रमिक विकास में एकसूत्रता, सिद्धान्त निर्माण की पैनी दृष्टि, वांछनीय परिवर्तन की दिशाओं, एवं परिवर्तनों के लिए अपेक्षित कारगर उपायों की गहरी खोज विलक्षण एवं सराहनीय है।

5.6.1 लोक जगत की संकल्पना

हैबरमॉस के समाजशास्त्रीय चिन्तन का प्रारम्भ 'लोक जगत'(Public Sphere) की

संकल्पना से सम्बद्ध है। हैबरमॉस के विचार में सामुदायिक जीवन के स्वस्थ संचालन में संवाद एवं संप्रेषणशीलता की प्रक्रियाओं का असाधारण महत्व है। मानव समाज के विकास क्रम में आदिम अवस्था से मध्ययुगीन समाजों तक के प्रारूप संप्रेषणशील सामुदायिक जीवन पर आधारित थे। उसके बाद के काल-क्रम में समाज के प्रारूप लघु समुदाय की सीमाओं से बढ़कर विशाल जनसंख्या वाले बहुल संस्कृति से वृहद प्रौद्योगिकी, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं उनकी विविध उपव्यवस्थाओं में रूपान्तरित होते गये। सामुदायिक जीवन का इन वृहद व्यवस्थाओं में रूपान्तरण एक ऐसी अनिष्टकारी प्रक्रिया रही जिससे सामुदायिक जीवन में व्यक्ति एवं समूह के बीच संप्रेषणात्मक विनिमयशीलता का तीव्र ह्रास एवं विनाश होता गया। सामाजिक व्यवस्थाओं के विकास के साथ-साथ सामुदायिक जीवन में व्यक्तिगत विचारों के आदान-प्रदान के लिये बने सामुदायिक मंच एवं प्राथमिक अन्तःक्रियाओं के माध्यम महत्वहीन होते गये। हेबरमॉस के विचार में जिस मुक्त संवाद की प्रक्रियाओं से 'लोक जगत' की गतिविधियाँ स्वस्थ एवं न्यायोचित पद्धति से संपादित होती थीं, उन संप्रेषणात्मक प्रक्रियाओं का आधुनिक समाज में क्रमशः अभाव एवं समापन होता गया। संप्रेषणशील, अर्थपूर्ण सामाजिक अन्तःक्रियाएं एक न्यायोचित समाज का निर्माण करती हैं ।

आधुनिक समाज आर्थिक, राजनैतिक एवं प्रौद्योगिकीय सत्ता संचालन की विशाल यान्त्रिक व्यवस्थाओं का रूप धारण कर चुके हैं। हैबरमॉस के विचारों में ये सभी वृहद व्यवस्थाओं, विधि विधानों की आड़ में मुद्रा एवं सत्ता जैसे अमानवीय अभिकरणों से संचालित होते हैं। आधुनिक समाज का संकट व्यक्ति एवं समुदायों के कल्याण के विषय में इन वृहद व्यवस्थाओं की उदासीनता एंव उपेक्षा से निर्मित है। आधुनिक समाज में आर्थिक, राजनैतिक एवं प्रौद्योगिकीय व्यवस्थाओं की सामुदायिक जीवन एवं व्यक्ति के संदर्भ में उत्तरदायित्वता, पारदर्शिता तथा प्रमाणिकता लगभग समाप्त हो गयी है।

संप्रेषणशील समुदायों की सभी विशेषताओं को स्थापित करने, व्यक्ति एवं समाज के बीच परस्पर उत्तरदायित्व को पुनः स्थापित करने, सामाजिक व्यवस्था में पारदर्शिता एवं विनिमयशीलता के असाधारण महत्व पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से हैबरमॉस ने 'लोक जगत' की संकल्पना प्रस्तुत की है। हैबरमॉस के विचारों में 'लोक जगत' सामुदायिक जीवन का वह अंग है जहाँ लोग सामान्य हित की बातें उठाते हैं। जहाँ किसी प्रथा, परम्परा, धर्म या रूढ़िगत आधारों का सहारा लिये बिना और बिना किसी सत्ता, अधिकार या दबाव के उन विषयों पर परस्पर संवाद, चर्चा या बहस करते हैं। सामुदायिक संवाद से इन विषयों में उत्पन्न आपसी मतभेदों को अपने- अपने तार्किक वक्तव्यों से आपस में सुलझा लेते हैं।

5.6.2 हेबरमॉस और मार्क्सवाद

हेबरमॉस का दृष्टिकोण कुछ दर्शनशास्त्र तथा कुछ समाजशास्त्र से जुड़ा हैं। ये भी इस बात को मानते हैं कि मार्क्सवाद को पूर्ण तौर पर विज्ञान से जोड़ना हानिकारक सिद्ध हुआ है। इनके अनुसार मार्क्सवाद को दो दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है -

(1) जब मार्क्स के विचारों का अध्ययन विज्ञान की परम्परा में करें।

(2) जब दर्शन की परम्परा में करें।

ये भी मानते हैं कि विज्ञान की अपनी कुछ सीमाएं हैं । विज्ञान का एक पक्षीय विचार स्वयं स्वार्थ की परम्परा से जुड़ गया है। उनके अनुसार विज्ञान के नाम पर कुछ ऐसे कार्य किये जाते हैं जो कुछ विशेष प्रकार के स्वार्थों को बढ़ावा देते हैं। पूर्ववर्ती फ्रैंकफर्ट विचारकों की ही भाँति इनका भी विचार है कि मार्क्स के चिन्तन में सामाजिक चिंतन को मानने के लिये जो प्राकृतिक विज्ञानों के

नमूने बनाये गये वे बहुत ठीक नहीं थे। इनका स्वप्न था कि जब प्राकृतिक विज्ञानों की बात हो तब दार्शनिक पृष्ठभूमि की उपेक्षा न हो। इनका मानना था कि मार्क्स के विचारों को दर्शन से जोड़ा जाय। इन्होंने मार्क्स के पदार्थवाद की व्याख्या करते हुए कहा है कि इसमें प्रमुख दो तत्व है -

(1) श्रम की अवधारणा

(2) मानवीय अन्तः क्रिया की अवधारणा

(1) यह दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित होते हुए भी दोनों का स्वरूप और आधार भिन्न-भिन्न हैं। श्रम का सम्बन्ध बाह्य जगत या वस्तु जगत से है क्योंकि मनुष्य जो श्रम करता है वह वस्तु के लिये। इसीलिए इसका जो महत्व है वह मनुष्य समाज से है बाह्य जगत से जो वस्तुएं सम्बन्ध रखती हैं उसे (Instrumental Action) कहते हैं।

(2) मानवीय अन्तःक्रिया का सम्बन्ध वैयक्तिक है अर्थात यह चेतना से सम्बन्धित है। इसका सम्बन्धित क्षेत्र सम्प्रेषण क्रिया है। सम्प्रेषणात्मक क्रिया में प्रौद्योगिक तर्कसंगतता को स्थान नहीं देना चाहिये।

हैबरमॉस के अनुसार किसी अच्छे समाज के लिए यह आवश्यक है कि किसी भी प्रकार से व्यक्तियों को अपने निहितार्थों को व्यक्त करने या दूसरों के निहितार्थों को समझने के लिए किसी प्रकार का दबाव न हो। दूसरे शब्दों में अच्छा समाज वह है जिसमें सम्प्रेषणात्मक क्षमता के विकास का पूर्ण अवसर मिले। समाज के किसी भी व्यक्ति को अपने विचार व्यक्त करने तथा दूसरों के विचार समझने की पूर्ण स्वतंत्रता हो। उनके अनुसार राज्य या अन्य संस्थाओं की नीतियों के ऊपर जनता का नियंत्रण हो तथा यह विचार किया जाय कि यह नियंत्रण कहाँ तक न्याय संगत है।सम्प्रेषण को लोग नियन्त्रित करना चाहते हैं और इसके लिए प्रौद्योगिकी का भी प्रयोग करते हैं। यह ठीक नहीं है । इन्होंने अपनी दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक "Legitimation Crisis" में पूर्व पुस्तक की बातों को थोड़ा और विकसित किया है। इन्होंने प्रश्न उठाया है कि हमारे यहाँ जो श्रम समस्यायें हैं उनका स्वरूप क्या है।उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि आधुनिक पूँजीवादी समाज आर्थिक संकटों का मुकाबला कर सकता है लेकिन इससे अन्य संकट भी पैदा होते जा रहे हैं जो इस प्रकार हैं - (1) तर्कसंगतता का संकट (2) वैधता का संकट (3) प्रेरणात्मक संकट। इन संकटों के पैदा होने के प्रमुख कारण आर्थिक संकट को रोकने के लिये किये जाने वाले प्रयास हैं इन संकटों के बीच पूंजीवादी समाज बुरी तरह से फँसता जा रहा है। राज्य के माध्यम से जब इस संकट का समाधान होता है तो कभी-कभी पूँजीवादी समाज को अनायास बढ़ावा मिल जाता है।

आधुनिक राज्य के सामने यह भी समस्या है कि इनको रोकने के लिए क्या उपाय करें। इन्हीं से जुड़ी हुई अभिप्रेरणा भी है। जब तक किसी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए प्रेरणा नहीं बन जाती तब तक समस्या बनी रहती है।

5.6.3 वैधता का संकट

आधुनिक पूँजीवादी समाजों की अनेक विसंगतियों एवं विडम्बनाओं पर प्रकाश डालते हुये उनकी बृहद व्यवस्थाओं में व्याप्त विविध संकटों की व्याख्या करना हैबरमॉस के सिद्धान्तों की प्रमुख विषयवस्तु रही है। हैबरमॉस का समस्त चिन्तन, उसके जीवन के चार दशकों का अनुसंधान एवं लेखन आधुनिक समाजों के संकटों एवं उनके निराकरण के सम्भव उपायों की समालोचना को समर्पित रहा है। आलोचनात्मक सम्प्रदाय कार्लमार्क्स को अपना प्रेरणास्रोत मान कर आवश्यकतानुसार मार्क्स के सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए सभी दमनात्मक सामाजिक संरचनाओं से मानव मुक्ति के

आन्दोलन को आगे बढ़ाने को अपना सर्वोपरि लक्ष्य मानता है। हैबरमॉस के विचार में आधुनिक पूँजीवादी समाज अनेक ऐतिहासिक प्रवृत्तियों का परिणाम है। ऐसे समाज में बहुआयामी संकट विद्यमान रहते हैं। जिनके मूल कारणों के रूप में तीन ऐतिहासिक प्रवृत्तियों की चर्चा हैबरमॉस ने की है - (1) लोक जगत का ह्रास एवं विनाश (2) आर्थिक जगत में राज्य का बढ़ता हस्तक्षेप (3) विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का एक उपकरण के रूप में अधिकाधिक उपयोग।

हैबरमॉस के विचार में आधुनिक समाजों को तीन उप-व्यवस्थाओं में बाँटा जा सकता है - (1) आर्थिक उप-व्यवस्था (2) राजनैतिक प्रशासनिक उप-व्यवस्था (3) सांस्कृतिक उप-व्यवस्था या जीवन संचार । यह तीनों व्यवस्थायें अलग-अलग प्रकार के संकटों से ग्रस्त हैं। इन्हें हैबरमॉस ने क्रमशः आर्थिक संकट, तार्किकता का संकट और अभिप्रेरणा के संकट के नाम से सम्बोधित किया है। समाज के इन बहुस्तरीय संकटों के मिले हुए परिणाम के रूप में आधुनिक समाजों का सर्वव्यापी, गहन एवं चिन्ताजनक संकट 'वैधता का संकट' है। समाज की व्यवस्था, संस्थागत प्रणालियां एवं उनकी अपने-अपने क्षेत्र की सत्तायें, हैबरमॉस के अनुसार समाज की मान्यताओं, मूल्यों एवं जनहित के प्रति सक्रिय वचन बद्धता से वैध होती है। सत्ता सभी अभिकर्ताओं की सहमति तथा प्रेरणात्मक प्रतिबद्धता से निर्मित होती हैं सत्ता की मनोवैज्ञानिक वैधता में प्रत्याशित नैतिक मूल्यों के प्रति राज्य सक्रिय संकल्पबद्धता से जुड़े हैं। जैसे आत्मा एवं शरीर का सम्बन्ध होता है वैसे ही राज्य, सत्ता एवं उसे अधिष्ठित करने वाले नैतिक मूल्यों का सम्बन्ध होता है। नैतिक मूल्यों को अपना अधिष्ठान मानकर जनहित के प्रति संकल्पबद्धता, लोक जगत के प्रति जवाबदेही एवं व्यवस्था जनित अधिकारों के प्रयोग में प्रमाणिकता एवं पारदर्शिता राजनीतिक सत्ता की आत्मा एवं वैधता है। आधुनिक समाज व्यवस्थाओं के विश्लेषण द्वारा हैबरमॉस यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि एक तरफ राज्य जैसी सत्तापरक वृहद व्यवस्थाएं (सम्पूर्ण राजनीतिक प्रणाली) हैं तो दूसरी ओर वह सामुदायिक जीवन है जो मनो-सांस्कृतिक प्रतिमानों एवं मूल्यों से संचालित होता है, जिसे हैबरमॉस ने लोक जगत (Public sphere) कहा है। इन दो ध्रुवीय सामाजिक यथार्थों के बीच परस्पर दायित्वपूर्ण विनिमयशील सम्बन्ध लगभग समाप्त हो चुके हैं। लोक जगत के जनमानस की दृष्टि में आज की विविध सत्ताओं के नैतिक आधार, जनहित के प्रति राज्य की संकल्पबद्धता, शासकीय प्रावधानों एवं प्राधिकारों के सदुपयोग या दुरूपयोग की परख के लिये लोक साक्षीत्व को सुलभ बनाने वाली पारदर्शिता तथा राज्य सत्ता का लोक जगत के प्रति उत्तरदायित्व का समाप्त होना, आधुनिक समाजों का 'वैधता का संकट' है।

इस प्रसंग में राज्य की भूमिका एवं प्रशासकों के संवैधानिक अधिकारों की जनहित की दृष्टि से सार्थकता के बारे में सामान्यजन की आस्था समाप्त हो चुकी है। राजनैतिक प्रणाली से सामान्य आदमी का विश्वास उठ जाना ही वैधता का संकट है।

5.6.4 शिल्पतंत्री चेतना (Technocratic Consciousness)

आधुनिक समाजों के वैधता के संकट के लिये मुख्य रूप से उत्तरदायी कारकों में राज्य द्वारा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का उपकरण के रूप में बढ़ता प्रयोग हैबरमॉस की दृष्टि में एक विचारणीय विषय है। हैबरमॉस के विचार में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की एक अपनी सार्वभौम संस्कृति, आचार संहिता एवं विशिष्ट मनोसंरचना होती है। वैज्ञानिक संस्कृति परम्परागत मूल्यों एवं मनोसंरचना को प्रतिस्थापित कर स्व निर्धारित जीवन दृष्टि, स्वसंगत सामाजिक व्यवस्था स्वसंचारी मनोविज्ञान को प्रवर्तित करती है। 'शिल्पतन्त्री चेतना' आधुनिक समाजों की वह तर्कनिष्ठ मानसिकता है जो विज्ञान को मानव के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान प्रतिमान के रूप में एवं प्रौद्योगिकी तन्त्र को भौतिक विकास के सार्वभौम साधन के रूप

में प्रतिष्ठित कर चुकी है। प्रत्यक्षवाद, 'शिल्पतंत्री चेतना' का दर्शन है। शिल्पतन्त्री चेतना की दृष्टि से प्रौद्योगिकी मानव समाज की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। राज्य आज की शिक्षा प्रणाली एवं जनसंचार माध्यमों से 'शिल्पतन्त्री चेतना' को बढ़ावा देने के लिए उत्सुक है एवं तत्परता से क्रियाशील भी है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की निष्पक्षता, उपादेयता एवं अनिवार्यता के बारे में जन मानस में विश्वास एवं आस्थाओं को जमाने से राज्य को अपने सही-गलत निर्णयों को वैज्ञानिकता का जामा पहना कर वैधता एवं लोक सहमति प्राप्त करने में सुविधा हो रही है। लोक जगत की सामान्य समस्याओं को राज्य प्राविधिक समस्या में परिवर्तित कर उनके बारे में निर्णय एवं प्रबंध का दायित्व विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विशेषज्ञों के विवेक एवं अधिकार क्षेत्र का विषय बना देता है। विशेषज्ञों के वैज्ञानिक तर्क सामान्य जन के लिए अगम्य होने से सामान्य जन अपनी ही समस्याओं के आकलन तथा प्रबन्धन के बारे में असहाय कर दिये जाते हैं। इस प्रकार राज्य जन समस्याओं को लोगों के विचार विमर्श सामूहिक चर्चा, जन समीक्षा एवं जन संप्रेषण से अलग करने में सफल होता जा रहा है। समस्याओं एवं नियोजन के भिन्न विषयों पर खुली राजनीतिक चर्चा के अभाव एवं अवरोधन के कारण शासक वर्ग अपने निहित स्वार्थो की पूर्ति की दिशा में निर्णय लेने में सफल हो जाते हैं । नियोजन की प्रक्रिया में लोक जगत की सहभागिता को निष्क्रिय करने में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की भूमिका हैबरमॉस की दृष्टि में दुष्कार्यात्मक सिद्ध हो रही है।

5.6.5 संप्रेषण क्रिया का सिद्धान्त

आधुनिक पूँजीवादी समाजों के विविध संकटों के स्वरूप एवं उसके कारणों की समालोचना हैबरमॉस ने 1973 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'वैधता का संकट' में प्रस्तुत किया है। आधुनिक समाजों की इन गंभीर समस्याओं के समाधान एवं उनके सम्भव उपायों की खोज में व्यतीत एक लम्बे समय के चिंतनात्मक अनुसंधान के बाद हैबरमॉस ने अपने बहुचर्चित सिद्धान्त 'सम्प्रेषणात्मक क्रिया का सिद्धान्त' से सम्बन्धित प्रबन्ध को दो वृहद खण्डों में क्रमशः 1984 एवं 1988 में प्रकाशित किया। बाद में इस जर्मन भाषा में रचित ग्रन्थ का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ। दबावमूलक सामाजिक संरचना, बंधनों एवं बाध्यताओं को उजागर करते हुए मानव मुक्ति के मार्क्सवादी आन्दोलन को आगे बढ़ाने के प्रयास में हैबरमॉस का 'सम्प्रेषणात्मक क्रिया' का सिद्धान्त सार्थक माना गया। हैबरमॉस की संप्रेषण क्रिया की संकल्पना मानव स्वतन्त्रता को कम से कम बाधित करने वाली व्यवहार एवं जनसंप्रेषणशील प्रक्रियाओं के प्रतिस्थापन का सुझाव देती है जो सामाजिक संरचनाओं को अपेक्षाकृत मुक्त वातावरण प्रदान कर सकें एवं लोक जगत के जीवन संचार को फिर से प्रभावशील बना सकें।

हैबरमॉस की उपर्युक्त वर्णित पुस्तक के अनुवादक थामस मैकार्थी के विचार में हैबरमॉस के क्रिया सिद्धान्तों के संरूपण में मैक्सवेबर, दुर्खीम, मीड, लुकॉक्स, होरखाइमर, एडोर्नो एवं पारसंस आदि अनेक विचारकों के प्रवाह अंकित हैं। मैकार्थी को अनुभव होता है कि हैबरमॉस के चिंतनात्मक जगत में ये सभी विचारक आज भी जीवित है। हैबरमॉस के शब्दों में - संप्रेषणात्मक क्रिया की संकल्पनात्मक पृष्ठभूमि निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट की जा सकती है। 'यदि हम मानें कि मनुष्य जाति अपने सदस्यों के व्यवहारों में समन्वय से सामाजिक व्यवस्थाओं को निरन्तर बनाये रखती है और यह भी कि सम्प्रेषण से ही समन्वय स्थापित हो सकता है तो यह कहना उचित होगा कि लोक जगत के सभी क्षेत्रों में सहमति को प्राप्त करने के उद्देश्य से संपादित संप्रेषण समाज में समन्वय स्थापित कर सकता है।'

क्रिया प्रतिमानों का वर्गीकरण

हैबरमॉस सामाजिक क्रिया को चार प्रतिमानों में विभक्त करते हैं -

(1) सोद्देश्य क्रिया या प्रयोजन मूलक क्रिया

(2) आदर्शात्मक क्रिया

(3) अभिनयपरक क्रिया

(4) संप्रेषणात्मक क्रिया

(1) सोद्देश्य क्रिया - मनुष्य अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उचित एवं कारगर साधनों के आकलन, चयन एवं संसाधनों के सम्पादन की दिशा में जिन क्रियाओं को करता है उन्हें सोद्देश्य क्रिया की संज्ञा दी जा सकती है। सामाजिक परिस्थितियों की साधन सीमाओं में जीवन चयन के अनुकूलतम स्तर को सम्पादित करने के लिए की जाने वाली सभी क्रियायें हैबरमॉस के विचार में उद्देश्यपरक क्रिया की श्रेणी में देखी जा सकती हैं

(2) आदर्शात्मक क्रिया - सामुदायिक जीवन में सहमति एवं समन्वय स्थापित करने में मूल्यों एवं आदर्शों का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके विचार से आदर्शात्मक क्रिया की श्रेणी में वे सभी संमजनकारी क्रियाएं आती है जो मूल्यों एवं आदर्शों के अनुपालन से प्रेरित है। आदर्शात्मक क्रियायें समूह की संस्कृति को निरन्तरता प्रदान करने तथा समूह को संगठित रखने की प्रक्रिया के सर्वाधिक महत्व के कारक हैं ।

(3) अभिनयपरक क्रिया - किसी सामूहिक स्थिति में कोई अभिकर्ता - श्रोता या दर्शकगण अथवा अन्य लोगों की उपस्थिति में जब अपने व्यवहारों को सचेत होकर किसी विशिष्ट शैली में पूर्ण कुशलता से प्रस्तुत करने का प्रयास करता है ताकि वह अपने सामने के व्यक्तियों को प्रभावित कर सके तो ऐसे व्यवहारों को हैबरमॉस के विचार में 'अभिनयपरक क्रिया' की संज्ञा दी जा सकती है। ऐसी क्रियाओं में कर्ता अपनी एक विशेष छवि को प्रस्तुत करना चाहता है।

(4) संप्रेषणात्मक क्रिया - संप्रेषण क्रिया से हैबरमॉस का तात्पर्य अभिकर्ताओं की ऐसी अन्तः क्रियाओं से है जिसमें संभाषण तथा गैर-भाषित प्रतीकों के प्रयोग से सभी कर्ता अपनी अन्योन्य परिस्थितियों का पारस्परिक बोध स्वयं निर्मित करते हैं और अन्य को कराते हैं । परिस्थिति के समाज बोध के आधार पर अभिकर्ता अपनी क्रिया-योजनाओं से एक-दूसरे को अवगत कराते हुए सामूहिक व्यवहारों में सामन्जस्य स्थापित करने के तरीकों के बारे में सहमति प्राप्त करते हैं।

हैबरमॉस के विचार में उपर्युक्त चार क्रिया प्रतिमान क्रमशः क्रिया जगत के चार भिन्न आयामों से जुड़े हैं । हैबरमॉस की दृष्टि में उन चार आयामों को अलग-अलग क्रिया जगत माना जा सकता है और वस्तुतः वे चारों क्रिया जगत मानवीय क्रियाओं का एक समग्र सामाजिक जगत ही है। संप्रेषणात्मक क्रिया व्यक्ति, समाज एवं संस्कृति के बीच समन्वय स्थापित करता है। संप्रेषणात्मक क्रिया लोक जगत को संरूपित एवं संगठित करने वाली सबसे प्रभावशाली प्रक्रिया है।

5.7 सारांश

आलोचनात्मक सिद्धान्त का अविर्भाव मूल रूप से मार्क्सवाद को पुर्नजीवित करने के उद्देश्य से हुआ। इस उद्धारक सिद्धान्त की उत्पत्ति फ्रैंकफुर्ट स्कूल, जर्मनी में हुई। फ्रैंकफुर्ट स्कूल के जार्ज ल्युकॉक्स , मैक्स होरखाइमर, थियोडोर एडोर्नो तथा हैबरमॉस ने मार्क्स का पुनर्अध्ययन करके मार्क्सवाद को समकालीन पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप संशोधित करने का प्रयास किया। इन सब में ल्यूकॉक्स एक ऐसी कड़ी है जो हीगल, मार्क्स तथा वेबर को आधुनिक आलोचनात्मक सिद्धान्त के साथ जोड़ते हैं।होरखाइमर ने एडोर्नो के साथ मिलकर ज्ञानोदय में निहित द्वन्द को उठाया

था। इनके अनुसार ज्ञानोदय ने वस्तु-विनिमय की प्रक्रिया में पूँजीवाद को ऐसा अवसर दिया है कि वह खुलकर आम आदमी का शोषण कर सके। वे ज्ञानोदय के इतने खिलाफ हैं कि वे इसे सर्वसत्तात्मक समाज के निर्माण को लाने वाला कहते हैं। अर्वाचीन आलोचनात्मक सिद्धान्तवेत्ताओं में हैबरमॉस का नाम अग्रणी है। वस्तुतः हैबरमॉस का समस्त चिन्तन, उसके जीवन के चार दशकों के अनुसंधान एवं लेखन आधुनिक समाजों के संकटों एवं उनके निराकरण के सम्भव उपायों के विश्लेषण में समर्पित रहा है। आलोचनात्मक सम्प्रदाय कार्लमार्क्स को अपना प्रेरणास्रोत मान कर आवश्यकतानुसार मार्क्स के सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए सभी दमनात्मक सामाजिक संरचनाओं से मानव मुक्ति के आन्दोलन को आगे बढ़ाने को अपना सर्वोपरि लक्ष्य मानता है।

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

- ट्रेन्ट स्क्रॉयर, 'ए रिकॉन्सेप्चुअलाइजेशन ऑफ क्रिटिकल थ्योरी', इन अलन वेल्स (ed) कन्टेम्परेरी सोसियोलॉजिकल थ्योरीज, गुड इयर पब्लिशिंग कंपनी, सन्ता मोनिका, 1978
- टर्नर जोनाथन एच0, द स्ट्रक्चर ऑफ सोसियोलॉजिकल थ्योरी, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1987
- अब्राहम फ्रान्सिस, मॉडर्न सोसियोलॉजिकल थ्योरी : ऐन इन्ट्रोडक्शन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, मुम्बई, 1988

5.9 सम्बन्धित प्रश्न उत्तर

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. आलोचनात्मक सिद्धान्त की उत्पत्ति एवं लक्षणों पर प्रकाश डालिये।
2. आलोचनात्मक सिद्धान्त के अन्तर्गत होरखाइमर के विचारों पर प्रकाश डालिये।
3. हैबरमॉस के अनुसार वैधता का संकट क्या है?

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

खण्ड

4

सांकेतिक अन्तःक्रियावाद, घटना विज्ञान एवं लोकविधि विज्ञान

इकाई-1 5

सांकेतिक अन्तःक्रियावाद-प्रत्यय एवं परिभाषा, जी0 एच0 मीड का सिद्धान्त

इकाई-2 11

सांकेतिक अन्तः क्रियावाद - एच0 ब्लूमर के सन्दर्भ में

इकाई-3 17

विनिमय सिद्धान्त : प्रत्यय, जार्ज होमन्स एवं पीटर एम0 ब्लाऊ का सिद्धान्त

इकाई-4 27

घटना क्रिया विज्ञानः परिभाषा, प्रत्यय एवं प्रकृति। अल्फ्रेड शुत्ज एवं इरविंग गॉफमैन के विचार

इकाई-5 36

लोक विधि विज्ञान का प्रत्यय, एच0 गारफिन्केल का सिद्धान्त

खण्ड-4 सांकेतिक अन्तःक्रियावाद, घटना विज्ञान एवं लोकविधि विज्ञान।

इस खण्ड में निम्नलिखित इकाइयाँ हैं -

इकाई - 1 सांकेतिक अन्तः क्रियावाद प्रत्यय एवं परिभाषा, जी0एच0 मीड का सिद्धान्त।

इकाई - 2 सांकेतिक अन्तःक्रियावाद - एच0 ब्लूमर के सन्दर्भ में ।

इकाई - 3 विनिमय सिद्धान्त : प्रत्यय, जार्ज होमन्स एवं पीटर एम0 ब्लाऊ का सिद्धान्त ।

इकाई - 4 घटना विज्ञान की परिभाषा, प्रत्यय एवं प्रकृति। अलेफ्रेड शुत्ज एवं इ0 गाफमैन के विचार।

इकाई - 5 लोक विधि विज्ञान का प्रत्यय, एच0 गारफिन्केल का सिद्धान्त।

इकाई -1 : सांकेतिक अन्तःक्रियावाद-प्रत्यय एवं परिभाषा, जी0एच0 मीड का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 सांकेतिक अन्तःक्रियावाद-प्रत्यय एवं परिभाषा

1.3 जी0एच0मीड का योगदान

1.3.1 प्रतीकीकरण

1.3.2 सामाजिक जीवन का मूल-भूमिका ग्रहण की प्रक्रिया

1.3.3 'स्व' की अवधारणा

1.3.4 'स्व' के विकास की अवस्थाएं

i) क्रीड़ा अवस्था (Play stage)

ii) खेल अवस्था (Game stage)

1.3.5 स्व-बोध व नियंत्रण

1.3.6 चिन्तन प्रक्रिया - एक 'आत्म संवाद'

1.4 समालोचनात्मक विश्लेषण

1.5 सारांश

1.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची /उपयोगी पुस्तकें

1.7 सम्बन्धित प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप जान सकेंगे कि,

- मनुष्य की सर्वाधिक विकसित और श्रेष्ठ अन्तः क्रिया का आधार क्या है?
- प्रतीकों का मानव जीवन में महत्त्व क्या है?
- व्यक्ति के अन्दर 'स्व',की चेतना का प्रस्फुरण कैसे होता है?
- व्यक्ति के अन्दर 'समाज' की अवधारणा कैसे विकसित होती है।
- भूमिका-ग्रहण की अवधारणा क्या है?

1.1 प्रस्तावना

प्रतीकात्मक अन्तः क्रियावाद वस्तुतः समाजशास्त्र की एक विशिष्ट शाखा है जो कुछ अमेरिकी दार्शनिकों एवं चिन्तकों के एक समूह की कृतियों के आधार पर विकसित हुयी है। इन दार्शनिकों/चिन्तकों में जॉन डेवी (Dewey), विलियम आई0 थामस और

जार्ज हरबर्ट मीड प्रमुख हैं। यह उपागम विज्ञानवाद व वस्तुपरकता को नकारता है एवं व्यक्ति के परिप्रेक्ष्य को महत्व देता है। सामाजिक वास्तविकता की व्याख्या एवं कर्त्तापरक दृष्किोण के कारण कभी-कभी प्रघटनाशास्त्र के साथ इसका मिश्रण हो जाता है; जबकि दोनों परम्परायें अलग-अलग समय और भौगोलिक क्षेत्र की उपज हैं तथा दोनों में काफी सीमा तक दृष्टिकोणीय अन्तर भी स्पष्ट है।

1.2 सांकेतिक अन्तःक्रियावाद : प्रत्यय एवं परिभाषा

सांकेतिक अंतःक्रियावाद शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हरबर्ट व्लूमर (Herbert Blumer) नें 1937 में किया जबकि इसकी आधारशिला चार्ल्स कूले (Charles Cooley) के 'आत्म दर्पण' की आवधारणा (Concept of looking glass-self) के माध्यम से 19वीं शताब्दी में ही रखी जा चुकी थी। इस उपागम के अन्तर्गत सामाजिक अन्तःक्रिया की प्रक्रिया को अध्ययन का केन्द्रीय बिन्दु माना जाता है, न कि अन्तः क्रिया के कारणों एवं प्रभावों को। यह उपागम इस बात को महत्त्व देता है कि प्रतीकों के माध्यम से सामाजिक अन्तःक्रिया किस तरह से निर्मित होती है। कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों की क्रियाओं के प्रति किस तरह से क्रिया करता है यह इस पर निर्भर करेगा कि वह उस क्रिया को क्या अर्थ प्रदान करता है; एवं उसके प्रति उसकी क्या भावना है? कोई भी भाव अपमान का सूचक नहीं माना जायेगा जब तक कि व्यक्ति उसे करने की इच्छा को प्रतीकात्मक रूप में न देखे। हम अन्तःक्रिया की प्रक्रिया के द्वारा ही दूसरों की क्रियाओं की व्याख्या कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण से क्रियाओं के अर्थ अन्तःक्रिया की प्रक्रिया में निर्मित होते हैं।

समाज मूल रूप से विचारों से निर्मित है या इसे विचारों का क्रियात्मक स्वरूप कहा जा सकता है। समाजीकरण की प्रक्रिया में व्यक्ति के अन्दर 'स्व' की चेतना का विकास होता है। स्वयं के बारे में धारणा समाज के अन्य सदस्यों द्वारा रखी गई धारणा के प्रति लक्षण के आधार पर बनती है। विलियम थामस ने इस बात पर बल दिया कि लोगों का व्यवहार उनके द्वारा पारिभाषित स्थिति अथवा यथार्थ पर निर्भर करता है। जार्ज हरबर्ट मीड जो कि विलियम जेम्स एवं डेवी द्वारा प्रभावित थे, ने प्रतीकात्मक अंतः क्रियावाद में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। मीड ने मस्तिष्क को महत्त्व देते हुए कहा कि यह किसी भी दृश्य का मूक दृष्टा नहीं है। मस्तिष्कीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो कि व्यक्ति और सामाजिक परिवेश के मध्य अंतःक्रिया सें निर्मित होती है। सामाजिक विश्व किन्हीं ऐसे तत्वों एवं वस्तुओं से नहीं बना है, जिनका कि कोई निर्धारित अर्थ अथवा महत्त्व हो। सामाजिक वस्तुओं के अर्थ बदलते रहते हैं। उनके बदलने का आधार हमारे उद्देश्यों से जुड़ा रहता है।

1.3 जी0 एच0 मीड (G. H. Mead) का योगदान

सांकेतिक अंतःक्रियावाद के विकास में जिन दार्शनिकों एवं चिन्तकों ने अपना योगदान दिया है, जार्ज हरबर्ट मीड (1863-1931) उनमें सर्वप्रमुख स्थान रखते हैं।

प्रस्तुत सैद्धान्तिक अवधारणा से जुड़ी इनकी प्रस्थापनाओं का आधार 1934 में प्रकाशित इनकी पुस्तक 'माइन्ड, सेल्फ एण्ड सोसायटी' है। मीड के योगदान का विवेचन निम्न बिन्दुओं के माध्यम से किया जा सकता है।

1.3.1 प्रतीकीकरण (Symbolization)

मीड के अनुसार मानवीय चिन्तन, अनुभव और आचरण सब समाज की उपज हैं। इनकी सामाजिक प्रकृति का मूल इस तथ्य में निहित है कि मनुष्य समस्त अन्तःक्रियाएं प्रतीकों के सन्दर्भ में करता है जिसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग भाषा में निहित है। प्रतीक किसी वस्तु या घटना का केवल बोध ही नहीं कराता है अपितु यह उन्हें एक खास तरह से परिभाषित करता है और उनके प्रति सम्भावित प्रत्युत्तर (Response) का निर्देशन भी करता है। उदाहरण के लिए 'कुर्सी' एक प्रतीक के रूप में एक समान वर्ग की वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हुए केवल उन्हें परिभाषित ही नहीं करता, बल्कि उससे एक निश्चित क्रिया का बोध भी होता है - बैठने की क्रिया। प्रतीकों के माध्यम से वस्तुओं और घटनाओं पर विशेष अर्थ का आरोपण होता है और इस प्रक्रिया में अन्य सम्भावित अर्थ अलग कर दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ कुर्सियाँ धातु, बेंत या लकड़ी की बनी हो सकती हैं और सर्वथा भिन्न-भिन्न वस्तुओं के रूप में परिभाषित की जा सकती हैं। लेकिन ये सारे विभेद उस समय महत्त्वहीन हो जाते हैं जब इन्हें एक प्रतीक 'कुर्सी' के अन्तर्गत श्रेणीबद्ध कर दिया जाता है। ठीक उसी तरह 'कुर्सी' का प्रयोग खड़े होने के लिए, मार-पीट करने के लिए या ईंधन के स्रोत के रूप में सकता है; लेकिन 'कुर्सी' के प्रति निर्दिष्ट प्रत्युत्तर शेष सारे अर्थों को खारिज़ कर देता है। प्रतीक मनुष्य को अपने प्राकृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण के साथ अन्तःक्रिया करने का साधन प्रदान करते हैं। प्रतीक मानव-निर्मित होते हैं और वे वस्तुओं या घटनाओं की अन्तर्निहित प्रकृति का नहीं अपितु उस तरीके की तरफ इशारा करते हैं जिस रूप में व्यक्ति उन्हें देखता और अनुभव करता है।

प्रतीकों के अभाव में न मानव-अन्तःक्रिया सम्भव है और न ही मानव समाज। सांकेतिक अन्तःक्रिया इसलिए आवश्यक है क्योंकि मनुष्य के पास अपने व्यवहार का निर्देशन करने के लिए कोई मूल-प्रवृत्ति नहीं होती। अपना अस्तित्व बचाये रखने के लिए उसे एक अर्थपूर्ण जगत का निर्माण करना पड़ता है। जैसे मूल पोषण आवश्यकता पूर्ति के लिए उसे प्राकृतिक पर्यावरण को खाद्य और अखाद्य दो श्रेणियों में वर्गीकृत करना पड़ता है। इस तरह मनुष्य उत्तेजना और प्रत्युत्तर (Stimuli & Response) दोनों की परिभाषा करता है। प्रतीकों के सहारे प्राकृतिक जगत पर अर्थ का आरोपण किया जाता है और उस जगत के साथ मानव-अन्तः क्रिया को सम्भव बनाया जाता है।

1.3.2 सामाजिक जीवन का मूल-भूमिका ग्रहण की प्रक्रिया

सामाजिक जीवन तभी आगे बढ़ सकता है जब समाज के सदस्य अधिकाधिक रूप में प्रतीकों के अर्थ का अनुभव करते हों। यदि ऐसा न हो तो सार्थक संवाद असम्भव हो जायेगा। सर्वनिष्ठ प्रतीक मानव अन्तःक्रिया के लिए केवल साधन प्रदान करते हैं। अंतःक्रिया जारी रहने के लिए हर व्यक्ति को दूसरे के अर्थ और इरादे की व्याख्या करनी

होती है। सर्वनिष्ठ प्रतीकों की उपस्थिति से यह सम्भव हो पाता है, लेकिन वास्तव में एक ऐसी प्रक्रिया द्वारा यह सम्पादित होता है जिसे मीड 'भूमिका-ग्रहण' (role-taking) कहते हैं। भूमिका - ग्रहण की प्रक्रिया में व्यक्ति काल्पनिक तौर पर अन्तःक्रिया में शामिल दूसरे पक्ष की प्रस्थिति में स्वयं को अवस्थित करता हुआ उसके इरादे और अर्थ का ज्ञान करता है और तद्नुसार अपने प्रत्युत्तर का निर्णय करता है। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी को घूँसा ताने हुए देखता है तो वह उसके इरादे को आवश्यकता के सूचक के रूप में व्याख्या कर सकता है, लेकिन उसकी व्याख्या से स्वयं में किसी खास प्रत्युत्तर की उत्पत्ति नहीं हो जायेगी। वह उसके हाव-भाव (Gesture) की उपेक्षा कर सकता है, दूसरे तरह से ले सकता है, या किसी मजाक आदि के सहारे स्थिति के तनाव को हल्का कर सकता है। दूसरा पक्ष अब उसकी भूमिका में आकर उसके प्रत्युत्तर की व्याख्या करेगा और उसी व्याख्या के आधार पर या तो अन्तःक्रिया जारी रखेगा या बन्द कर देगा। इस संदर्भ में मानव-अन्तः क्रिया को परस्पर भूमिका-ग्रहण की व्याख्या सम्बन्धी सतत् प्रक्रिया कहा जा सकता है।

1.3.3 'स्व' की अवधारणा

मीड का मानना है कि 'भूमिका-ग्रहण' की प्रक्रिया के माध्यम से ही व्यक्ति के 'स्व' की अवधारणा का विकास होता है। दूसरे की स्थिति में अपने को रखकर व्यक्ति स्वयं बाहर से अपने व्यवहार पर दृष्टि डालता है। स्व की अनुभूति का विकास उसी दशा में हो सकता है जब व्यक्ति स्वयं से बाहर निकलकर स्वयं के लिए अध्ययन की वस्तु बन जाय। ऐसा करने के लिए उसे स्वयं को दूसरों के दृष्टिकोण से देखना चाहिए। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्व की अवधारणा की उत्पत्ति और विकास का सूत्र 'अन्य' की भूमिका के ग्रहण करने की क्षमता में निहित है। स्व का प्रत्यय जन्मजात नहीं है, अपितु यह बाल्यवस्था के दौरान सीखने वाली प्रक्रिया है।

1.3.4 स्व के विकास की अवस्थाएं

(i) क्रीडा अवस्था (Play stage) मीड के अनुसार स्व का विकास दो अवस्थाओं में होता है जिसमें पहली अवस्था क्रीड़ा अवस्था है। इस चरण में बच्चा उन भूमिकाओं का अभिनय करता है जो उसकी नहीं हैं। उदाहरण के लिए बच्चा खेल-खेल में माता, पिता, डाक्टर या नर्स की भूमिका में अपने को अवस्थित कर देता है। ऐसा करते हुए उसे इस बात का एहसास होता है कि उसमें और उसके द्वारा खेली जाने वाली भूमिका में अन्तर है। इस प्रकार स्व की चेतना का विकास उस समय होता है जब बच्चा दूसरों को प्रतीति कराने वाली (Make-belive) भूमिका का अभिनय करना सीखता है।

(ii) खेल अवस्था (Game Stage)

स्व के विकास की दूसरी अवस्था खेल अवस्था कही जाती है। एक खेल खेलने में बच्चा स्वयं को विभिन्न सहभागियों के दृष्टिकोण से देखता है। फुटबाल या क्रिकेट जैसा कोई खेल खेलने के लिए बच्चे में अन्य खिलाड़ियों के साथ उसके सम्बन्धों की चेतना होना आवश्यक है। खेल में स्वयं की भूमिका का मूल्यांकन करने के लिए उसे

स्वयं को उनकी भूमिका में अवस्थित करना पड़ता है। ऐसा करने मे उसे स्वयं को दूसरे खिलाड़ियों के सामूहिक नजरिये से देखना पड़ता है। जी0एच0 मीड के शब्दों में, 'वह स्वयं को 'सामान्यीकृत अन्य' के दृष्टिकोण से देखता है।

1.3.5 स्व-बोध व नियंत्रण

मीड के विचार में स्व की चेतना का विकास मानव-प्राणी बनने की प्रक्रिया का आवश्यक हिस्सा है। यह विचार, क्रिया और मानव समाज के लिए आधार प्रदान करता है। बिना स्व की चेतना के व्यक्ति न तो स्वयं की क्रिया का निर्देशन कर सकता है और न ही दूसरे की क्रियाओं का प्रत्युत्तर दे सकता है। स्व की अवधारणा के बोध के साथ ही व्यक्ति स्व की भूमिका ग्रहण कर सकता है।

1.3.6 चिन्तन प्रक्रिया - एक 'आत्म-संवाद'

'स्व' की चेतना के विकास के साथ व्यक्ति स्वयं और अन्य की भूमिका का आभास करने लगता है। स्वयं से संवाद की प्रक्रिया ही व्यक्ति के अन्दर चिन्तन शक्ति का विकास करती है। इस तरह चिन्तन और कुछ नहीं बल्कि स्व से की गयी बात-चीत है। जब तक व्यक्ति के अन्दर स्व की चेतना नहीं होगी, वह स्वयं से संवाद नहीं कर सकेगा और विचार की उत्पत्ति असम्भव हो जायेगी। आत्म-चेतन होकर वह विचार और सूझबूझ से अपनी क्रियाओं का निर्देशन कर सकता है। वह स्वयं के लिए लक्ष्य निर्धारित कर सकता है, भविष्य की कार्य-योजना बना सकता है और वैकल्पिक क्रिया के परिणामों पर विचार कर सकता है। स्व की चेतना के साथ व्यक्ति स्वयं को उसी तरह देख सकता है जैसे दूसरे उसे देखते हैं। अन्य की भूमिका में स्वयं को अवस्थित कर स्वयं के विषय में अन्य के दृष्टिकोण से परिचित होने की चेतना समाज में सहयोगात्मक क्रिया का आधार उपस्थित करती है। व्यक्ति को दूसरों द्वारा उससे की जाने वाली अपेक्षा का एहसास होने पर वह तद्नुसार अपनी क्रिया को संशोधित कर लेता है।

1.4 समालोचनात्मक विश्लेषण

प्रस्तुत सिद्धान्त की समालोचना अगले अध्याय में ब्लूमर के दृष्टिकोण के विवेचन के बाद की जायेगी।

1.5 सारांश

मानव अन्तःक्रिया सम्बन्धी मीड के विचार से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य सक्रिय सहभागिता द्वारा सामाजिक पर्यावरण का निर्माण भी करता है और उसी से स्वयं भी स्वरूप ग्रहण करता है। सामाजिक अन्तःक्रिया की प्रक्रिया में भाषा सर्वोत्तम प्रतीक का कार्य करती है। भाषा के माध्यम से ही मनुष्य वस्तुओं और व्यक्तियों या घटनाओं की सर्वस्वीकृत व्याख्या करने की क्षमता प्राप्त करता है। भूमिका ग्रहण की प्रक्रिया में स्व की चेतना का विकास होता है जिससे व्यक्ति 'सामान्यीकृत अन्य' के परिप्रेक्ष्य मे स्वयं की भूमिका की व्याख्या करता है। सर्व स्वीकृत अर्थों वाले प्रतीकों के सन्दर्भ में संवाद के बिना

ये प्रक्रियाएं सम्भव नहीं हैं। उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि मनुष्य प्रतीकों की दुनिया में विश्वास करता है जिससे जीवन को अर्थ एवं महत्त्व प्राप्त होता है और मानव अंतः क्रिया का आधार निर्मित होता है।

1.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची/उपयोगी पुस्तकें

1. श्रीवास्तव, हरिश्चन्द्र, आधुनिक समाज वैज्ञानिक सिद्धान्त परिचय, 1991, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
2. सिंधी, नरेन्द्र कुमार, समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, विवेचन एवं व्याख्या, 2002, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर।
3. मीड, जी0 एच0, माइन्ड, सेल्फ एण्ड सोसायटी, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो, 1934
4. टर्नर, जे0 एच0, 2002, दि स्ट्रक्चर ऑफ सोशियोलॉजिकल थियरी, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर.
5. कालिन्स, आर0 1997, थियरेटिकल सोशियोलॉजी, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर (प्रथम भारतीय संस्करण)
6. अलेक्जेन्डर, जेफ्री सी0, 1980-83, थियरेटिकल लॉजिक इन सोशियोलाजी, 4 खण्ड, बर्कले, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस.
7. ब्लूमर, हरबर्ट 1969, सिम्बालिक इन्टरएक्शनिज्म, एंजिलवुड क्लिफ्स, एन0 जे0; प्रेन्टिस हाल.
8. एडम्स, बर्ट एन0 एवं सिडी, आर0 ए0 2002, सोशियोलॉजिकल थियरी, (भारतीय संस्करण), विस्तार प्रकाशन, नयी दिल्ली.

1.7 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय -

1. सांकेतिक अंतःक्रियावाद में प्रमुख योगदान देने वाले चिन्तकों के नाम लिखिए।
2. भाषा किस तरह प्रतीक का कार्य करती है?
3. मनुष्य को प्रतीकों की आवश्यकता क्यों हुई?
4. 'स्व' के विकास की अवस्थाएं कौन-कौन सी हैं?
5. भूमिका ग्रहण किसे कहते हैं?
6. 'सामान्यीकृत अन्य' की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय

1. सांकेतिक अंतःक्रियावाद में जी0एच0 मीड के योगदान का उल्लेख कीजिए।
2. स्व के विकास और मानवीय अन्तःक्रिया के मध्य सम्बन्धों का सविस्तार विश्लेषण कीजिए।

इकाई -2 : सांकेतिक अन्तःक्रियावाद-एच0 ब्लूमर के सन्दर्भ में

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 सांकेतिक अन्तः क्रियावाद : हरबर्ट ब्लूमर का योगदान

2.2.1 तीन मूल प्रस्थापनाएं

2.2.2 अंतःक्रियात्मक परिप्रेक्ष्य बनाम मुख्यधारा समाजशास्त्र

2.2.3 संरचना, संस्थाएं और अन्तःक्रिया

2.2.4 प्रत्यक्षात्मक पद्धतिशास्त्र की आलोचना

2.2.5 सामाजिक यथार्थता का कर्त्ता का दृष्टिकोण

2.3 समालोचनात्मक विश्लेषण

2.4 सारांश

2.5 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.6 सम्बन्धित प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप जान सकेंगे कि,

- सांकेतिक अन्तःक्रियावाद में कितनी विविधता है?
- हरवर्ट ब्लूमर की अंतःक्रियावाद की व्याख्या का आधार क्या है?
- अंतःक्रियात्मक परिप्रेक्ष्य एवं मुख्यधारा समाजशास्त्र में अलगाव के बिन्दु क्या हैं?
- व्याप्त संरचना एवं संस्थाएं अंतःक्रिया को किस तरह प्रभावित करती हैं।
- सामाजिक यथार्थता का 'कर्ता का दृष्टिकोण' क्या है?

2.1 प्रस्तावना

सम्पूर्ण अन्तःक्रियात्मक सिद्धान्त जी0एच0 मीड द्वारा दिये गये सैद्धान्तिक समन्वय पर आधारित है। फिर भी बहुत से समकालिक चिन्तकों ने मीड के विचारों से उद्देश्यपूर्ण चुनाव करते हुए अपने स्वतन्त्र सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य विकसित किये हैं; परिणाम स्वरूप अन्तःक्रियात्मक सैद्धान्तीकरण में पर्याप्त विविधता के दर्शन होते हैं। यहाँ तक कि एक विशेष अन्तःक्रियात्मक वैचारिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत अवधारणात्मक भ्रान्तियाँ आ गयी हैं। सांकेतिक अन्तःक्रियावाद के दो सम्प्रदाय इवोवा (Iowa) और शिकागो (Chicago) सम्प्रदाय इस सैद्धान्तिक विवाद के दो ध्रुव हैं। मनफोर्ड कून और हरबर्ट ब्लूमर इन सम्प्रदायों के मुख्य प्रणेता हैं। कई समानताओं के साथ दोनों सम्प्रदायों में

दृष्टिकोण का अन्तर स्पष्ट है।

2.2 सांकेतिक अन्तःक्रियावादः हरबर्ट ब्लूमर का योगदान

ब्लूमर, जो जी0 एच0 मीड के छात्र रह चुके थे; ने अपने गुरू और प्रणेता के विचारों का क्रमबद्ध विकास किया। शिकागो सम्प्रदाय के मुखिया के रूप में ब्लूमर की सैद्धान्तिक योजना को निम्न क्रम में प्रस्तुत किया जा सकता है।

2.2.1 तीन मूल प्रस्थापनाएं

ब्लूमर के विचार से सांकेतिक अंतःक्रियावाद तीन मूल प्रस्थापनाओं पर आधारित है : (i) सामाजिक शक्तियों के रूप में बाह्य उत्तेजक या जैविक इच्छाओं के रूप में आन्तरिक उत्तेजक मात्र से मनुष्य की क्रिया-प्रतिक्रिया संचालित नहीं होती। मनुष्य की क्रिया का आधार वस्तुओं एवं घटनाओं को उसके द्वारा प्रदान किया गया अर्थ होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सांकेतिक अंतःक्रियावाद समाजपरक और जैवकीय दोनों तरह के निश्चयवाद को नकारता है। (ii) अर्थों की उत्पत्ति अन्तःक्रिया की प्रक्रिया में होती है न कि वे मुहाने पर पड़े हुए भविष्य की क्रिया की रूपरेखा बनाते हैं। अर्थ स्थिर और पूर्वनिर्मित नहीं होते, बल्कि कुछ श्रेणी तक अन्तःक्रियात्मक स्थिति में निर्मित, संशोधित, विकसित और परिवर्तित होते हैं। अन्तःक्रिया की प्रक्रिया में कर्त्ता पूर्वनिर्धारित मानकों का अन्धानुकरण या स्थापित भूमिकाओं का मशीनी निष्पादन नहीं करते। (iii) अर्थ अन्तःक्रियात्मक सन्दर्भ में कर्त्ता द्वारा अपनायी गयी व्याख्यात्मक प्रणाली का परिणाम हुआ करते हैं। अन्य की भूमिका ग्रहण करने के द्वारा कर्त्ता अन्य के अर्थ और इरादों की व्याख्या करता है। 'स्व-अन्तःक्रिया की प्रक्रिया' के द्वारा व्यक्ति अपनी परिभाषा संशोधित या परिवर्तित करता है, वैकल्पिक क्रिया का पूर्वाभ्यास करता है और सम्भावित परिणामों पर विचार करता है। इस प्रकार क्रिया का निर्देशन करने वाले अर्थ जटिल निर्वचनीय प्रणालियों की श्रेणी से गुजरते हुए अन्तःक्रियात्मक प्रसंग में स्वरूप ग्रहण करते हैं।

2.2.2 अन्तः क्रियात्मक परिप्रेक्ष्य बनाम मुख्यधारा समाजशास्त्र

ब्लूमर का तर्क है कि अन्तःक्रियात्मक परिप्रेक्ष्य मुख्यधारा समाजशास्त्र द्वारा प्रस्तुत सामाजिक क्रिया के विचार से तीव्र भिन्नता रखता है। उनका मानना है कि समाज ऐसे कर्त्ताओं से युक्त अन्तःक्रिया की सतत् प्रक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए जो निरन्तर पारस्परिक समंजन एवं स्थिति के सतत् निर्वचन में तल्लीन हैं। इसके विपरीत मुख्यधारा समाजशास्त्र और विशेषकर प्रकार्यवाद क्रिया को सामाजिक व्यवस्था के दबाव के मशीनी प्रत्युत्तर के रूप में चित्रित करता है। यह विचार यह जानने में असफल रहता है कि मानव समाज में व्यक्ति की सामाजिक क्रियाएं व्याख्या की प्रक्रिया के सहारे उसी द्वारा निर्मित होती हैं। इसके बजाय क्रिया को उन कारकों का उत्पाद माना जाता है जो व्यक्ति पर कार्य करने का दबाव डालते हैं। अपनी सामाजिक दुनिया के सक्रिय रचनाकर्ता की

जगह व्यक्ति को बाह्य दबावों के उदासीन प्रत्युत्तरदाता के रूप में चित्रित किया जाता है। सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकताएं और मूल्य, भूमिकाएं और मानक, जो उसी व्यवस्था के अंग हैं, उसकी क्रिया के स्वरूप का निर्णय करते हैं। ब्लूमर तर्क के साथ इस विचार का खण्डन करते हुए कहते हैं, "मानव समूह जीवन को मशीनी संरचना के संचालन से संतुलनवादी व्यवस्था के प्रकार्य से तुलना करना अन्तःक्रिया के स्वरूपात्मक एवं अन्वेषणात्मक चरित्र के परिप्रेक्ष्य में मुझे गम्भीर कठिनाइयों से युक्त लगता है क्योंकि सहभागीगण एक दूसरे की क्रियाओं पर निर्णय देते हैं और स्वयं के कार्यों का निर्देशन उन्हीं निर्णयों द्वारा करते हैं।

2.2.3 संरचना, संस्थाएं और अन्तःक्रिया

यद्यपि ब्लूमर ऐसे लोगों के आलोचक हैं जो क्रिया को बाह्य दबावों के मानकीकृत प्रत्युत्तर के रूप में भविष्यवाणी योग्य बताते हैं, फिर भी वे यह स्वीकार करते हैं कि क्रिया कुछ श्रेणी तक संरचित एवं रूटीनीकृत होती है। वे कहते हैं कि 'अधिकतर स्थितियों, जिसमें लोग एक-दूसरे के साथ क्रिया करते हैं, में उनमें इस बात की अग्रिम दृढ़ समझ होती है कि क्रिया कैसे की जाय और अन्य लोग कैसे क्रिया करेंगे? फिलहाल, इस तरह का ज्ञान आचरण हेतु मात्र सामान्य निर्देश प्रदान करता है। यह क्रिया का कोई ऐसा शुद्ध एवं विस्तृत नुस्खा नहीं पेश करता जिसका प्रत्येक स्थिति में मशीनी अनुपालन होता हो। इन निर्देशों के अन्तर्गत चालाकी, समझौता, आपसी समञ्जन और व्याख्या के लिए पर्याप्त जगह रहती है। ठीक उसी तरह, ब्लूमर सामाजिक संस्थाओं का अस्तित्व स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि ये मानव आचरण को सीमा के दायरे में लाती हैं; लेकिन उन स्थितियों में भी, जहाँ सख्त नियम लागू होते हैं, मानवीय दखल और रचनात्मकता के लिए पर्याप्त जगह रहती है। यहाँ तक कि जब क्रिया विशेष रूप से मानकीकृत और संरचित लगती है, तब भी यह इस बात का सूचक नहीं हो सकता कि कर्त्ता बाह्य शक्तियों के प्रत्युत्तरदाता मात्र होते हैं । ब्लूमर दृढ़ता के साथ कहते हैं कि ऐसी स्थितियों में व्यक्तियों के व्यवहार की सामान्य पुनरावृत्ति से विद्यार्थी को यह विश्वास करने की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि निर्वचन की कोई प्रक्रिया सक्रिय नही है। इसके विपरीत, स्थिर होने की स्थिति में भी, सहभागीगणों की क्रियाएं व्याख्या की प्रक्रिया में उन्हीं द्वारा निर्मित होती हैं। इस प्रकार मानकीकृत क्रिया का निर्माण सामाजिक कर्त्ता करते हैं, न कि सामाजिक व्यवस्था।

2.2.4 प्रत्यक्षात्मक पद्धतिशास्त्र की आलोचना

ब्लूमर की अधिकांश कृतियाँ मानव अन्तःक्रिया के उनके विचार के लिए उपयुक्त पद्धतिशास्त्र के विकास से सम्बन्धित हैं। वह कारणात्मक सम्बन्धों को स्थापित करने वाले उन हल्के प्रयासों को नकारते हैं जो प्रत्याक्षात्मक पद्धतिशास्त्र से जुड़े हैं। उदाहरण के लिए वे उस प्रस्तावना को उद्धृत करते हैं कि 'औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप विस्तारित परिवार नाभिकीय परिवारों में बदल रहे हैं।' वे 'चरों' को अलग करने की प्रणाली और स्थिति की कर्त्ता के दृष्टिकोण के संदर्भ के बिना एक को दूसरे का कारण मान लेने की कल्पना पर आपत्ति करते हैं। उनका तर्क है कि औद्योगीकरण और पारिवारिक जीवन पर

कर्त्ता के अर्थ और व्याख्या से सम्बन्धित आंकड़े आवश्यक हैं इसके पहले कि दो कारकों के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाय। ब्लूमर का दावा है कि बहुत से समाजशास्त्री अन्वेषण क्षेत्र की ऊपरी जानकारी के ही साथ अपना शोध करते हैं। यह प्राकृतिक विज्ञानों की अनुसंधान प्रणाली का अनुकरण करने की उनकी पूर्वधारणा से संतुष्ट होता है। परिणाम स्वरूप सामाजिक जगत पर उस जगत से सम्बन्धित समीचीनता की परवाह किये बिना खण्डात्मक (Operational) परिभाषाएं लाद दी जाती हैं। सामाजिक यथार्थ को कर्त्ता के दृष्टिकोण से देखने की बजाय बहुत से समाजशास्त्रिों ने उसे पूर्व परिभाषित श्रेणियों एवं अवधारणाओं में बलात् रखने का प्रयत्न किया है। इससे सामाजिक वास्तविकता के कैद करने का अवसर कम और उसे विद्रूप बनाने का अवसर बढ़ जाता है।

2.2.5 सामाजिक यथार्थता का कर्त्ता का दृष्टिकोण

इन प्रणालियों के स्थान पर ब्लूमर आग्रह करते हैं कि समाजशास्त्रियों को अपने अनुसंधान क्षेत्र में स्वयं को डुबा देना चाहिए। पूर्व परिभाषित श्रेणियों में आंकड़ा फिट करने की बजाय उसे कर्त्ता का सामाजिक वास्तविकता का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। यह अध्ययनकर्ता को कर्त्ता के अनुभव के अन्दर जाने का रास्ता प्रदान करता है। चूंकि क्रिया कर्त्ता के अर्थ द्वारा निर्देशित होती है, समाजशास्त्रियों को निवर्चन की प्रक्रिया की पकड़ होनी चाहिए जिससे वे अपनी क्रिया निर्मित कर सकें। इसका आशय है कि उसे उस सक्रिय इकाई की भूमिका ग्रहण करनी चाहिए जिसके व्यवहार का वह अध्ययन कर रहा है। कैसे इस तरह का शोध किया जाय, ब्लूमर इसके बारे में कुछ नहीं कहते। फिर भी उनके द्वारा बतायी गयी अनुसंधान - प्रणाली के प्रारुप को उनके इन वाक्यों के द्वारा ग्रहण किया जा सकता हैः "यह एक कठिन कार्य है जिसमें उच्च स्तर का सतर्क और ईमानदार परीक्षण, रचनात्मक अनुशासित कल्पना, संसाधनपूर्णता और अध्ययन में लचीलापन, सतत् उपलब्धि पर विचार और क्षेत्र सम्बन्धी स्वयं के विचार का परीक्षण करने की सतत् तैयारी की आवश्यकता होती हैं।"

2.3 समालोचनात्मक विश्लेषण

अंतःक्रियावादियों पर प्रायः यह आरोप लगता रहा है कि वे मानव अन्तःक्रिया का परीक्षण शून्य में करते हैं। ऐतिहासिक या सामाजिक परिस्थितियों को सम्बद्ध किये बिना वे छोटे स्तर की अन्तःक्रिया पर जोर देते हैं। ऐतिहासिक घटनाओं और सामाजिक परिस्थितियों की उपेक्षा को आलोचकों ने अन्तःक्रियावादियों की गम्भीर भूल माना है। मीड की एक समालोचना में रोपर्स (Ropers) तर्क देते हैं कि 'वह (मीड) जिन गतिविधियों में लोगों को संलग्न बताते हैं, वे सामाजिक और ऐतिहासिक निरन्तरता की ऐतिहासिक रूप से निश्चयीकृत सम्बन्ध नहीं हैं; वे मात्र घटनाएं, अन्तःक्रियाएं, सम्मिलन और स्थितियाँ हैं"।

यद्यपि सांकेतिक अन्तःक्रियावाद समाजपरक निश्चयवाद के अतिरोग की

सुधारात्मक चिकित्सा प्रस्तुत करता है, बहुत से आलोचकों का तर्क है कि इस दिशा में यह बहुत आगे निकल गया है। अन्तःक्रियावादी यह दावा करते हैं कि क्रिया संरचनात्मक मानकों से निर्धारित नहीं होती, फिर भी वे समाज में ऐसे मानकों की उपस्थिति स्वीकार करते हैं। मानव क्रिया के लचीलेपन और स्वतन्त्रता की व्याख्या में अन्तःक्रियावादी क्रिया पर दबाव की उपेक्षा करते हैं।

स्किडमोर (Skidmore) के विचार से इसका कारण इस तथ्य में निहित है कि 'अन्तःक्रियावाद संगत रूप से सामाजिक संरचना की व्याख्या करने मे असफल रहा है।' दूसरे शब्दों में यह इस तथ्य की सटीक व्याख्या नहीं करता कि मानवीय व्यवहारों का निर्माण कैसे होता है और समाज के सदस्य सामाजिक मानकों के अनुसार क्रिया करने के लिए क्यों प्रेरित होते हैं?

अर्थ, जिस पर अन्तःक्रियावादी इतना महत्त्व देते हैं, के स्रोत की व्याख्या में वे असफल रहते हैं। इस आधार पर समान प्रकृति की आलोचनाएं उठती है। मार्क्सवादियों का तर्क है कि आमने-सामने की अन्तःक्रियात्मक स्थितियों में कार्यशील अर्थ अधिकांशतया वर्ग-सम्बन्धों की उपज हुआ करते हैं। इस दृष्टिकोण से अन्तःक्रियावादी अर्थ के सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चीज-उनकी उत्पत्ति का स्रोत-की व्याख्या करने में असफल रहते हैं।

सांकेतिक अन्तःक्रियावाद विशिष्ट रूप से समाजशास्त्र की अमेरिकी शाखा है, यह तथ्य कुछ लोगों के अनुसार, इसकी कमियों की व्याख्या कर देता है। लिऑन शाश्कोल्सकी (Leon Shaskolsky) के अनुसार अन्तःक्रियावाद अमेरिकी समाज के सांस्कृतिक आदर्शों का प्रतिलक्षण है। उनका कहना है कि 'सांकेतिक अन्तःक्रियावाद की जड़ें अमेरिकी जीवन के सांस्कृतिक पर्यावरण में गरहायी से जमी हुयी हैं और समाज की इसकी व्याख्या, एक अर्थ में उस समाज के वांछित स्वरूप का दर्पण (Looking glass) है। इसकी सारी कमियों के बावजूद बहुत से लोग विलियम स्किडमोर के इस कथन से सहमत होंगे कि , "सकारात्मक पक्ष की तरफ, यह स्पष्टतया सत्य है कि कुछ सर्वाधिक आकर्षक समाजशास्त्र सांकेतिक अन्तःक्रियावादी परम्परा में निहित है।"

2.4 सारांश

इस इकाई के प्रारम्भ में सांकेतिक अन्तःक्रियावाद के दो सम्प्रदायों-इवोवा और शिकागो का उल्लेख किया गया है। सांकेतिक अन्तः क्रियावाद में हरबर्ट ब्लूमर के योगदान के सन्दर्भ में उनकी मूल प्रस्तावनाओ की व्याख्या की गयी है। तदनन्तर अन्तःक्रियात्मक परिप्रेक्ष्य और मुख्यधारा समाजशास्त्र की तुलनात्मक समीक्षा की गयी है। संरचनात्मक मानकों और संस्थाओं के अन्तःक्रिया पर पड़ने वाले प्रभाव की व्याख्या की गयी है। उसके बाद प्रत्यक्षात्मक पद्धतिशास्त्र की अक्षमता पर प्रकाश डाला गया है तथा निष्कर्ष रूप में ब्लूमर के कर्त्ता के दृष्टिकोण के महत्त्व का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्तः में इस सिद्धान्त की सैद्धान्तिक समालोचना की प्रक्रिया में इसकी कमियों एवं असफलताओं को उद्घाटित किया गया है।

2.5 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ब्लूमर, एच0 (1969) सोसायटी एज सिम्बालिक इन्टरऐक्शन इन रोज'', सिम्बालिक इन्टरऐक्शनिज्म, प्रेन्टिस-हाल, एंजिलवुड किल्कस।
2. शाश्कोल्सकी, एल0 (1970) दि डेवलपमेन्ट ऑफ सोशियोलॉजिकल थियरी-ए सोशियोलॉजी ऑफ नालेज इन्टरप्रिटेशन-सोशियोलॉजी ऑफ सोशियोलॉजी, सम्पादित एल0टी0 एण्ड जे0 एम0 रेनाल्ड्स, मैके, न्यूयार्क।
3. स्किडमोर, डब्ल्यू0 (1975) थियरेटिकल थिंकिंग इन सोशियोलॉजी, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।
4. एडम्स, बर्ट एन0 एवं सिडी, आर0 ए0 (2002) सोशियोलॉजिकल थियरी, (भारतीय संस्करण), विस्तार प्रकाशन, नयी दिल्ली।
5. श्रीवास्तव, हरिश्चन्द्र, (1991) आधुनिक समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त परिचय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
6. सिंघी, नरेन्द्र कुमार (2002) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, विवेचन एवं व्याख्या, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर।
7. टर्नर, जे0 एस0 (2002) दि स्ट्रक्चर ऑफ सोशियोलॉजिकल थियरी, रावत पब्लिकेशन्स,जयपुर।

2.6 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय

1. ब्लूमर के सैद्धान्तिक सम्प्रदाय का परिचय दीजिए।
2. ब्लूमर के सिद्धान्त की तीन आधारभूत प्रस्थापनाएँ कौन सी हैं?
3. अन्तःक्रियात्मक परिप्रेक्ष्य और मुख्यधारा समाजशास्त्र में अन्तर स्थापित कीजिए।
4. सामाजिक संरचना और मानक मनुष्य के व्यवहार में क्या भूमिका निभाते हैं? आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
5. प्रत्यक्षात्मक पद्धतिशास्त्र की कमियाँ क्या है?
6. ब्लूमर का कर्त्ता का दृष्टिकोण क्या है?

दीर्घ उत्तरीय

1. सांकेतिक अन्तःक्रियावाद के विकास में ब्लूमर के योगदान की विवेचना कीजिए।
2. सांकेतिक अन्तःक्रियावाद के सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

इकाई -3 : विनिमय सिद्धान्तःप्रत्यय, जार्ज होमन्स एवं पीटर एम0 ब्लाऊ का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 जार्ज सी. होमन्स का सिद्धान्त

- 3.2.1 प्रारम्भिक आगमनात्मक प्रविधि
- 3.2.2 निगमनात्मक प्रविधि
- 3.2.3 होमन्स का विनिमय प्रारूप-सामाजिक व्यवहारवाद से विवेकशील चुनाव तक

3.3 पीटर एम0 ब्लाऊ का सिद्धान्त

- 3.3.1 विनिमय के मौलिक सूत्र
- 3.3.2 पुरस्कार के प्रकार
- 3.3.3 विनिमय और शक्ति

3.4 समालोचना

3.5 सारांश

3.6 इकाई की मौलिक अवधारणाएं

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

38 सम्बन्धित प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप समझ सकेंगे कि,

- विनिमय सिद्धान्त का आधार क्या है एवं इस सिद्धान्त के प्रेरक कौन हैं?
- जार्ज सी0 होमन्स का विनिमय सिद्धान्त में क्या योगदान है?
- विनिमय में विवेकशीलता का क्या स्थान है?
- पीटर एम0 ब्लाऊ का विनिमय सिद्धान्त क्या है?
- विनिमय और शक्ति के बीच क्या सम्बन्ध है?

3.1 प्रस्तावना

सैद्धान्तिक विकास के इतिहास के विनिमय सिद्धान्त की वंशावली सर्वाधिक वैविध्यपूर्ण और विषम है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में विनिमय सिद्धान्त का प्रारम्भ और विकास मुख्यतया जार्ज सी0 होमन्स और पीटर एम0 ब्लाऊ के कार्यों से जुड़ा है जिसे रिचर्ड इमरसन आदि ने आगे बढ़ाया। इस सिद्धान्त का मूल सूत्र सन् 1770 से 1850 के बीच एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो, जान स्टुअर्ट मिल, बेन्थम जैसे क्लासिकी अर्थशास्त्रियों के 'उपयोगितावाद' (Utilitarianism) के सिद्धान्त में खोजा जा सकता है। इस सिद्धान्त का मूल आधार यह है कि व्यक्ति दुख को कम करना चाहता है और सुख को बढ़ाना चाहता है।

इस सिद्धान्त की पदावली से सम्बन्धित कई जटिलताएं हैं। इस सिद्धान्त का इतिहास इसके नामकरण से बहुत पूर्व का है। विलार्ड वालर (Willard Waller) ने प्रेम सम्बन्धों में सापेक्ष आकर्षण से सम्बन्धित 'विवाह बाजार' (Marriage Market) की अवधारणा का विकास 1937 में किया था। उसी के समानान्तर वैयक्तिक सम्बन्धों के विश्लेषण के लिए ब्लाऊ जैसे विनिमय सिद्धान्तकारों ने 1964 में 'मित्रता बाजार' जैसी अवधारणाओं का विकास किया और संघर्ष सिद्धान्त में भी इसका प्रयोग किया गया।

दूसरी जटिलता इस सिद्धान्त के दो अत्यन्त भिन्न-भिन्न परम्पराओं से सम्बन्धित है। परम्परात्मक सुविधात्मक रूप से यह पद होमन्स और ब्लाऊ से होकर जाने वाली वंशावली के लिए प्रयोग में आता है जो शत-प्रतिशत अमेरिकी समाजवैज्ञानिकों से निर्मित है। एक दूसरी भी वंशावली है जो मुख्यतया फ्रांस के मानवशास्त्रियों से निर्मित हैं, जो सामाजिक संरचना के सिद्धान्त को विनिमय के रूप में प्रस्तुत करती है। यह वंशावली अमेरिकी वंशावली से प्राचीन है जिसका आदि सूत्र मार्सल मॉस (Mauss) के अध्ययन 'दि गिफ्ट' (1925) और सी0 लेवी-स्ट्रास (1949) की जनजातीय नातेदारी संरचना में देखा जा सकता है। विनिमय सिद्धान्त के दोनों स्वरूप अवधारणात्मक रूप से बिल्कुल भिन्न हैं। मॉस और लेवी-स्ट्रास दुर्खीम की परम्परा से आबद्ध है और विनिमय की प्रतीकात्मक प्रकृति का आग्रह करते हैं, जबकि होमन्स और ब्लाऊ स्वयं को व्यवहारिक मनोविज्ञान की प्रत्याक्षवादी परम्परा और अर्थशास्त्र में सम्बद्ध करते हुए विनिमय को प्रमुखतया विवेकशील बनाने का प्रयास करते हैं। प्रस्तुत इकाई होमन्स और ब्लाऊ के योगदान तक सीमित हैं।

3.2 जार्ज कैस्पर होमन्स का सिद्धान्त

बीसवीं सदी के प्रख्यात सिद्धान्तकारों की पंक्ति में जार्ज सी0 होमन्स ऐसे सिद्धान्तकार हैं जिन्होने व्यावहारिक मनोविज्ञान से प्रस्तावनाओं और मौलिक अवधारणाओं के सहारे एक विनिमय सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का प्रवर्तन किया। होमन्स का प्रारम्भिक कार्य इस खोजी बिन्दु पर केन्द्रित था दी हुई स्थितियों में ''लोग क्या करते हैं? और वे कैसा व्यवहार करते हैं'', होमन्स का यह कार्य आगमनात्मक पद्धति पर आधारित था। यह आनुभविक सन्दर्भ सामान्यीकरणों से निकलता हुआ निष्कर्ष था जिसका उद्देश्य सिद्धान्त को प्रचलित सामाजिक प्रक्रियाओं से बाँधना था। लेकिन जैसा टर्नर (1987) मानते हैं कि आनुभविक सामान्यीकरण सिद्धान्त नहीं है, बल्कि सिद्धान्त से उनकी व्याख्या की अपेक्षा की जाती है। यह कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे होमन्स विविध अनुभवजन्य प्राप्तियों एवं सामान्यीकरणों की व्याख्या की कोशिश करते हैं, वैसे-वैसे वह अधिकाधिक निगमनात्मक सैद्धान्तिक प्रविधि के समीप चले जाते हैं।

3.2.1 प्रारम्भिक आगमनात्मक प्रविधि

1950 तक 'दि ह्यूमन ग्रुप' के प्रकाशन के साथ-साथ होमन्स के कार्यों में समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के निर्माण हेतु एक आगमनात्मक प्रविधि के प्रति स्पष्ट प्रतिबद्धता दृष्टिगोचर हो रही थी। स्ट्रीट गैंग और कारखाने के एक कार्य समूह के विश्लेषण से लेकर एक आदिम समाज की नातेदारी व्यवस्था और सम्पूर्ण न्यू इंग्लैण्ड समुदाय की संरचना तक के सारे अध्ययनों में उन्होंने विभिन तरह के समूहों में लोगों के वास्तविक व्यवहार और गतिविधियों के अवलोकन की महत्ता पर प्रकाश डाला। 'लोग वास्तव में क्या करते हैं' के अवलोकन के द्वारा सामाजिक व्यवस्था की क्रियाशील प्रक्रियाओं से सम्बद्ध

अवधारणाओं का विकास किया जा सकता है। ऐसी अवधारणाओं को होमन्स ने 'प्रथम श्रेणी का अमूर्तीकरण' (First-order abstractions) नाम दिया क्योंकि ये मात्र उन नामों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनका प्रयोग अवलोकनकर्ता किसी समूह में अवलोकनों के एक वर्ग को बताने के लिए करता है। होमन्स ने इन शब्दों का चुनाव सावधानीपूर्वक किया है। उन्होंने इनका प्रयोग सामाजशास्त्रियों के द्वारा प्रयोग में आने वाले 'द्वितीय श्रेणी के अमूर्तीकरण' से अन्तर बताने के लिए किया। ये 'द्वितीय श्रेणी के अमूर्तीकरण' अवलोकन के विभिन्न वर्गों को उद्धृत करते हैं और उसी कारण कुछ-कुछ वास्तविक समूहों में चल रही घटनाओं से अलग हो जाते हैं। उदाहरण के लिए 'प्रस्थिति' और 'भूमिका' समूह में प्रक्रियाओं के संकेत के लिए समाजशास्त्रियों द्वारा प्रयोग की जाने वाली पसंदीदा अवधारणाएं हैं; लेकिन सतर्क परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी प्रस्थिति या भूमिका का अवलोकन सीधे नहीं कर लेता; अपितु, वे उच्च स्तर की अमूर्त संज्ञाएं हैं जो समूह में घटित होने वाली विविध प्रकार और वर्गों की घटनाओं का प्रतिलक्षण करती हैं। समूह में घटित होने वाली वास्तविक घटनाओं को नाम देने के लिए होमन्स ने 3 प्रथम-क्रम के अमूर्तीकरण का प्रारम्भ किया। गतिविधियाँ (Activities), अन्तःक्रिया (Interaction) और मनोभाव (Sentiments)। गतिविधि, 'किसी दी हुई स्थिति में लोग क्या करते हैं से सम्बन्धित हैं। अन्तःक्रिया का सम्बन्ध उस प्रक्रिया से है जिसमें गतिविधि की एक इकाई दूसरे व्यक्ति में गतिविधि की एक इकाई को उत्तेजित करती है और मनोभाव का सम्बन्ध ऐसी क्रियाओं से हैं जो गतिविधियों और अन्तःक्रिया में लगे हुए लोगों की आन्तरिक मनोवैज्ञानिक स्थिति की सूचना देती हैं।

दि ह्यूमन ग्रुप में होमन्स की योजना विविध समूहों पर पाँच वैयक्तिक अध्ययनों का विस्तृत सारांश प्रस्तुत करने की थी। सारांश प्रस्तुत करने की इस योजना में होमन्स एक अध्ययन के सामान्यीकरण को दूसरे से पुष्ट करने का प्रयास करते हैं और आगे के हर अध्ययन को अतिरिक्त सामान्यीकरणों के लिए स्रोत के रूप में प्रयोग करते हैं। इस सन्दर्भ में उदाहरण के तौर पर वह हाथोर्न वेस्टर्न इलेक्ट्रिक संयत्र के बैंक वायरिंग रूम और विलियम फूटे ह्वाइट (W.F. Whyte) के स्ट्रीट कार्नर सोसायटी के विश्लेषण से कुछ सामान्यीकरण निम्न क्रम में प्रस्तुत करते हैं-(1) यदि दो या अधिक व्यक्तियों में अन्तःक्रिया की आवृत्ति बढ़ती है तो उनके बीच आपसी-चाहत की मात्रा भी बढ़ेगी और इसका विपरीत क्रम भी हो सकता है। (2) लोगों में आपसी पसन्द के बढ़े हुए मनोभाव उनकी बढ़ी हुई गतिविधि में प्रकट होंगे और इसका विपरीत क्रम भी होगा। (3) जितना ही अधिक लोग एक दूसरे के साथ अन्तःक्रिया करेंगे उतने ही उनके मनोभाव और गतिविधियाँ एक जैसे होंगे और इसका विपरीत क्रम भी होगा। (4) समूह के अन्दर व्यक्ति की श्रेणी जितनी उच्च होगी, उतनी ही उसकी गतिविधियाँ समूह मानकों के अनुरूप होगी और इसका विपरीत क्रम भी होगा। (5) व्यक्ति की सामाजिक श्रेणी जितनी उच्च होगी, व्यक्ति की अन्तःक्रियाओं का प्रसार उतना ही विस्तृत होगा। (6) व्यक्ति का सामाजिक स्तर जितना उच्च होगा उतना ही उन व्यक्तियों की संख्या अधिक होगी जो उसके साथ प्रत्यक्ष या मध्यस्थों के द्वारा अन्तःक्रिया करना चाहते हैं। (7) व्यक्ति का सामाजिक स्तर जितना उच्च होगा उतना ही उन व्यक्तियों की संख्या अधिक होगी जिनके प्रति प्रत्यक्ष या मध्यस्थों के माध्यम से अन्तःक्रिया प्रारम्भ होगी। (8) कुछ लोग सामाजिक श्रेणी में जितने अधिक समान होंगे, वे आपस में उतना ही अधिक आवृत्ति में अन्तःक्रिया करेंगे। (9) जितना ही अधिक लोग एक-दूसरे के साथ अन्तःक्रिया करेंगे, और उनमें से कोई भी दूसरे की अपेक्षा ज्यादा अन्तःक्रिया नहीं करेगा, उतना ही एक-दूसरे के प्रति उनकी चाहत होगी और एक-दूसरे ही उपस्थिति में सामान्य महसूस करेंगे। (10) जब दो व्यक्ति एक दूसरे से अन्तःक्रिया करते हैं और उनमें से एक की दूसरे के लिए अन्तःक्रिया

जितना अधिक बढ़ती है, उतना ही दूसरे व्यक्ति के सम्मान (या शत्रुता) का मनोभाव मजबूत होगा और अन्तःक्रिया की आवृत्ति न्यूनतम स्तर की तरफ बढेगी।

3.2.2 निगमनात्मक प्रविधि

'सोशल बिहैवियर : इट्स एलीमेन्ट्री फार्म्स' (1960) के प्रकाशन के साथ होमन्स का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण नया मोड़ लेता है और दि ह्यूमन ग्रुप की सातत्यता समाप्त होती है। आगमन से निगमन योजना में रूपान्तरण को होमन्स 'बौद्धिक पाखंड' से बाहर आना मानते हैं और इसी आधार पर पारसन्स की अवधारणाओं की व्यवस्था की वर्गात्मक योजना का आलोचनात्मक खण्डन करते हैं। निगमनात्मक व्यवस्था के तर्कवाक्यों का निर्माण, होमन्स की दृष्टि में, अधिक अनुकूल योजना है। निगमनात्मक व्यवस्था में चोटी पर सामान्य स्वयं सिद्ध कथन होते हैं, जिनसे तर्कपूर्वक निम्न क्रम के तर्कवाक्य निगमित किये जाते हैं। इस योजना में निम्नतम क्रम की प्रस्तावनाएं वह होती हैं जो प्रथम श्रेणी के अमूर्तीकरण से निर्मित होती हैं और जो अनुभवजन्य जगत में वास्तविक घटनाओं का वर्णन करती हैं। इस प्रकार होमन्स की दृष्टि में अधिकाधिक सामान्य प्रस्तावनाओं और स्वयं सिद्ध कथनों (axioms) के समुच्चय से अनुभवजन्य नियमितता का तर्कपूर्ण निगमन करना ही नियमितता की व्याख्या करना है। स्वयं सिद्ध कथनयुक्त सिद्धान्त (axiomatic theory) के प्रति इस प्रतिबद्धता से सज्जित होकर होमन्स अपने विनिमय दृष्टिकोण का निर्माण करते हैं।

3.2.3 होमन्स का विनिमय प्रारूप : सामाजिक व्यवहारवाद से विवेकशील चुनाव तक

होमन्स, ब्लाऊ और इमर्सन द्वारा प्रतिपादित बहुत से सिद्धान्त आवश्यक रूप से विनिमय से सम्बन्धित न होकर वैयक्तिक अभिप्रेरणा से सम्बन्धित हैं। होमन्स ने अपने सिद्धान्तों को व्यावहारिक मनोविज्ञान पर आधारित किया। यद्यपि उन्होंने 'सामाजिक विनिमय' शब्द का निर्माण (1958) किया, लेकिन उससे अपनी पहचान पर पश्चाताप करते हुए अपनी स्थिति को इसकी अधिक मौलिक विशेषता 'सामाजिक व्यवहारवाद' से जोड़ा। उनके लिए व्यवहारवाद मानव-क्रिया के सन्दर्भ में पूर्ण वस्तुनिष्ठ होने का प्रयास था और व्यक्ति के व्यक्तित्व दशा को उद्धृत किये बिना इसके नियमों (Laws) का वर्णन करना था। मानव मस्तिष्क एक "ब्लैक बॉक्स" (Black box) की भांति है। चूंकि हम दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क के अन्दर नहीं देख सकते, हमें अपना सिद्धान्त ऐसा बनाना चाहिए जिससे हम उनके व्यवहार को देख सकें। होमन्स ने इसी रास्ते का अनुसरण किया।

होमन्स की मूल प्रस्तावनाएं जो अन्य व्यवस्थाओं का आधार हैं, निम्न रूप से प्रस्तुत की जा सकती हैं:

1. सफलता सम्बन्धी प्रस्तावना : "जितना ही अधिक एक व्यक्ति के किसी कार्य विशेष को पुरस्कृत किया जाता है, उतना ही उस व्यक्ति के उस कार्य को करने की सम्भावना बढ़ जाती है।" दूसरे शब्दों में व्यक्ति के पुरस्कारों के इतिहास से व्यवहार का विनिश्चियन होता है।

2. उत्तेजना सम्बन्धी प्रस्तावना : "अतीत में जिस प्रकार की उत्तेजना पर, कर्म करने पर, व्यक्ति को पुरस्कार मिल चुका है, वर्तमान में भी अगर वैसी ही उत्तेजना मिली तो वह पहले की भाँति ही कर्म करेगा।" अर्थात अतीत की स्थिति से वर्तमान की स्थिति की समानता होने पर व्यक्ति वही करेगा जिस पर वह पूर्व में पुरस्कृत हो चुका है।

3. मूल्य सम्बन्धी प्रस्तावना : "जिस कर्म के परिणाम जितने ही मूल्यवान होंगे, व्यक्ति सामान्यतः वैसा ही कर्म करेगा।" कमजोर पुरस्कारों की अपेक्षा मजबूत पुरस्कार व्यवहार को अधिक

नियमित करते हैं।''

4. वंचना-तृप्ति सम्बन्धी प्रस्तावना : ''निकट अतीत में व्यक्ति जिस तरह का पुरस्कार पा चुका है, उस पुरस्कार की अगली इकाई उसके लिए कम मूल्यवान हो जाती है।'' कोई व्यक्ति जो प्रचुर सम्मान पा चुका है, पुनः उससे कम प्रभावित होता है।

5. आक्रामकता - अनुमोदन सम्बन्धी प्रस्तावना : (अ) व्यक्ति जैसे पुरस्कार की आशा करता है, वैसा पुरस्कार न मिलने पर, या जैसे दण्ड की आशा नहीं करता है, वैसा दण्ड मिल जाने पर, आक्रामक व्यवहार करता है। (ब) व्यक्ति तब प्रसन्न होकर अनुमोदन करता है जब उसे आशा से अधिक पुरस्कार मिल जाता है या जिस दण्ड की कल्पना वह करता हो, वह दण्ड नहीं मिलता है।

6. विवेकशीलता सम्बन्धी कथन : ''वैकल्पिक क्रियाओं के बीच चुनाव में व्यक्ति उस विकल्प को चुनना चाहेगा, जिसमें मूल्यवान परिणाम प्राप्त करने की सम्भावना अधिक हो।'' इसका सूत्र इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

कर्म = मूल्य × सम्भाविता (action = value x probabilty)

होमन्स के अनुसार उचित विकल्प पर अधिक बल देना विवेकशीलता है।

होमन्स के सभी कथन ऐसे निगमनमूलक सामान्यनुमान कहे जा सकते हैं जो मनोवैज्ञानिक नियमों पर आधारित हैं; मगर समाजवैज्ञानिक दृष्टि से सामाजिक व्यवहारों का विश्लेषण करते हैं। होमन्स के कथनों की व्याख्या पर आधारित सामान्य नियम इस प्रकार हैं :

1- लोग उस गतिविधि को अधिक करते हैं, जिसका पुरस्कार मूल्यवान होता है।

2- लोग उस गतिविधि को अधिक करते हैं, जिससे सफलता मिलने की सम्भावना अधिक होती है।

3- खेतिहर समाज की तुलना में औद्योगिक समाज में साक्षरता के आधार पर अधिक पुरस्कार मिलते हैं।

4- इसलिए औद्योगिक समाज में लोग शिक्षा की तरफ अधिक झुकते हैं।

5- अतः जनसंख्या की ऊंची प्रतिशत दर साक्षरता प्राप्त करना चाहेगी।

6- शिक्षा के प्राविधान में प्रत्यक्ष या परोक्ष धन लगता है।

7- खेतिहर समाज की तुलना में औद्योगिक समाज के लोग अधिक अमीर होते हैं।

8- इसलिए बड़ी संख्या में लोग शिक्षा प्राप्त करने में समर्थ होते हैं (सरकारी या व्यक्तिगत मदद से) और एक बड़ा भाग बिना किसी मदद के अपनी शिक्षा का व्यय वहन करने में समर्थ होता है।

9- अधिक लोग शिक्षा प्राप्त करना, सफलता प्राप्त करने के बराबर समझते हैं।

10- पूर्वोक्त नियम 1 और 2 के अनुसार अधिक संख्या में लोग शिक्षा प्राप्त करना चाहेंगे।

11- चूंकि उनका चिन्तन सामान्यतया सही है, औद्योगिक समाज का एक बड़ा भाग वास्तव में शिक्षा प्राप्त कर लेगा। अर्थात खेतिहार समाज की तुलना में औद्योगिक समाज में साक्षरता दर स्पष्टतः अधिक होगी।

3.3 पीटर एम0 ब्लाऊ का सिद्धान्त

होमन्स की तरह ही, ब्लाऊ ने भी आनुभविक कार्य, विशेष रूप से संगठनात्मक शोध से शुरूआत की। ब्लाऊ की पहली पुस्तक, दि डायनामिक्स ऑफ ब्यूरोक्रेसी (1955), एक सरकारी कल्याण अभिकरण का अध्ययन है। नीली कमीज वाले कामगारों (blue-collar workers) के पिछले संगठनात्मक अध्ययनों में एक अनौपचारिक कार्य समूह की खोज की गयी थी जो कार्य की गति पर नियंत्रण रखता है। ब्लाऊ भी उसी तरह का एक अनौपचारिक समूह खोजते हैं जो श्वेत कमीज धारी कामगारों के कार्य की गति को नियंत्रित करता है। उन्होंने विशेषरूप से उन सम्बन्धों पर जोर दिया जिसमें पुराने अनुभवशील कामगार शामिल हैं और जो नवागुन्तकों को परामर्श देकर बदले में सम्मान प्राप्त करते हैं। यह विनिमय सम्बन्धों का एक प्रमुख उदाहरण है। ब्लाऊ यह भी पाते हैं कि निश्चित कालक्रम में संवाद सम्बन्धों का एक विशिष्ट प्रतिमान होता है। जब लोग प्रथम बार मिलते हैं तो वे स्वयं को यथा सम्भव अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाने की कोशिश करते हैं। ब्लाऊ की व्याख्या यह है कि वे अपना विनिमय मूल्य अधिकतम सम्भव सीमा तक ऊंचा करना चाहते हैं, जिससे दूसरे लोग उनसे अन्तःक्रिया के लिए इच्छुक हों।

3.3.1 विनिमय के मौलिक सूत्र

ब्लाऊ (1964) ने सामान्यीकरण करते हुए नियमों का एक समुच्चय निर्मित किया, जिसमें कुछ होमन्स (1961) से लिये गये हैं।

1- व्यवहार प्रत्याशित लाभ से निश्चित होता है : अर्थात् जिस कार्य से पुरस्कार की प्रत्याशा होती है, उसे अधिक किया जाता है और किसी कार्य को उस सीमा तक हतोत्साहित किया जाता है जिस सीमा तक उससे नुकसान की उम्मीद रहती है। लाभ का सूत्र इस प्रकार बनाया जा सकता है-

$$\text{लाभ} = \text{प्रत्याशित लाभ} - \text{कार्य की लागत } (P = R - C)$$

लोग उन व्यक्तियों से अन्तःक्रिया करना पसन्द करेंगे जिनसे सर्वाधिक पुरस्कार मिलने की आशा होगी। ब्लाऊ ने यहाँ होमन्स द्वारा निर्मित 'सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त' भी लागू किया है। वह खूबसूरत महिला जिसके पास पहले से ही ढेर सारे प्रशंसक हैं, वह मित्रता के सम्बन्धों से तृप्त है और किसी दूसरे साधारण व्यक्ति से मित्रता नहीं करना चाहेगी। यह प्रक्रिया मुख्यतया अनौपचारिक मित्रता के सम्बन्धों तक सीमित हैं। कार्य-परिवेश (Work-setting) में चुनाव की गुंजाइश न होने पर असमान अन्तःक्रिया में शामिल होना विवशता हो जाती है। इसी धारणा के आधार पर ब्लाऊ ने 'शक्ति के सिद्धान्त' का विकास किया है।

2- पारस्परिकता का नियम (The Norm of Reciprocity) : जब व्यक्ति किसी से कोई पुरस्कार प्राप्त करता है तो बदले में समान और समानुपातिक पुरस्कार देता भी है। यह पारस्परिकता का सामाजिक नियम है। इसका परिणामी नियम यह हो सकता है : **2a) पारस्परिकता के नियम का उल्लंघन होने पर लोगों को गुस्सा आता है। 2b) प्राकृतिक व्यवहार (Habitual) कृतज्ञतापरक (obligatory) हो जाता है।** किसी व्यवहार के बार-बार दुहराये जाने की प्रक्रिया के आधार पर ही नैतिक मानकों का विकास होता है।

3- स्वच्छ विनिमय का नियम (The Norm of Fair Exchange) : लोग आशा करते हैं कि पुरस्कार की लागत और अनुपात दोनों पक्षों के लिए बराबर हो। ब्लाऊ की यह धारणा समाजवादी या समानतापरक (egalitarian) विचारधारा से प्रभावित नहीं है; अपितु उनका आशय है कि लोग पात्रता के आधार पर पुरस्कार के वितरण की उम्मीद करते हैं। अधिक योगदान करने वाले को अधिक पुरस्कार मिलना चाहिए। पुरस्कार का स्वरूप सम्पत्ति, प्रतिष्ठा और शक्ति यथासन्दर्भ हो सकती है। मानकों के उल्लंघन पर परिणामी नियम लागू होता है- 3a) किसी को उसकी पात्रता/

योग्यता से अधिक पुरस्कार मिल जाने पर लोगों को गुस्सा आता है; और ऐसे पुरस्कार की प्राप्ति कर जिसको उन्होंने अर्जित नहीं किया है, वे स्वयं अपराधबोध महसूस करते हैं। यह **वितरण न्याय का नियम है।**

4- कुछ सामाजिक सम्बन्धों में सन्तुलित विनिमय दूसरे सम्बन्धों में असन्तुलित विनियम पैदा करता है-

प्रत्येक अन्तः क्रिया में कर्त्ता अपनी लागत और प्रयास के बदले उचित पुरस्कार प्राप्त करना चाहते हैं। लेकिन किसी विनिमय विशेष की कीमत में वे पुरस्कार भी सम्मिलित किये जाते हैं जो किसी के साथ विनिमय न किये जाने के कारण छोड़ दिये जाते हैं। विल से शादी करने का आशय है टाम से शादी का विचार त्यागना या सैली से निकट मित्रता का मतलब है विल्मा के साथ मिश्रित होने का समय घटाना। एक विनिमय सम्बन्ध को सन्तुलित करने में दूसरे विनिमय सम्बध असन्तुलित हो जाते हैं। ब्लाऊ का मानना है कि सामाजिक जीवन का गतिविज्ञान इसी प्रक्रिया का अनुसरण करता है। व्यक्ति अपने विनिमय को सन्तुलित करना चाहता है, लेकिन वैसा करने में दूसरे सम्बन्धों को असन्तुलित कर लेता है, जिसकी क्षतिपूर्ति फिर दूसरे सम्बन्धों की कीमत पर की जा सकती है, और इसी तरह ये क्रम चलता रहेगा।

3.3.2 पुरस्कार के प्रकार

लोगों के अन्दर दूसरों को जितने तरह के पुरस्कार देने की क्षमता होती है, उसी के आधार पर उनका श्रेणीकरण होता है। पुरस्कार मुख्यतया चार होते हैं; (1) धन (पैसा); (2) अनुमोदन-अर्थात् मित्रता, समूह सम्बद्धता; (3) सम्मान (प्रतिष्ठा); और (4) आज्ञाकारिता (Compliance)। ब्लाऊ के अनुसार सामाजिक विनिमय में धन की भूमिका न्यूनतम होती है और विनिमय का निर्णय अधिकांशतया अन्य तीन के द्वारा होता है।

3.3.3 विनिमय और शक्ति

शक्ति विनिमय की उन दशाओं में प्रकट होती है जब एक व्यक्ति (या पक्ष) के पास ऐसी सेवाएं होती हैं जिसकी आवश्यकता दूसरे पक्ष को होता है और साथ ही दूसरे पक्ष के पास बदले में देने के लिए आज्ञापालन के सिवा कुछ नहीं होता। प्रभावी पक्ष का उन पुरस्कारों पर सापेक्ष एकाधिकार होता है; उनको प्राप्त करने के कोई वैकल्पिक साधन नहीं होते। पुरस्कार का भी अति वांछित होना आवश्यक है-अधीनस्थ का कार्य उसके बिना नहीं चल सकता। विनिमय सम्बन्ध में जो पक्ष शक्तिशाली होता है, वह साधन सम्पन्न भी होता है और पुरस्कार पर रोक लगा सकता है। दूसरों पर रोके हुए पुरस्कार का कर्ज लाद सकता है और अवसर मिलने पर कर्ज चुकाने की माँग कर सकता है। अधीनस्थ व्यक्ति जो एहसान से दबा होता है, कर्ज चुकाने के लिए मजबूर होगा। शक्तिशाली और अधीनस्थ के बीच शक्ति-सम्बन्ध इसी प्रकार के होते हैं।

अधीनस्थ बिना पुरस्कार पाये भी दाम-चुकाता रहता है केवल इसलिए कि एक शक्तिशाली व्यक्ति का हाथ उसके सिर पर है, वह सुरक्षित है। इच्छा न होने पर भी सत्ताधारी से मातहती के सम्बन्ध चलते रहते हैं।

3.4 समालोचना

विवेकशीलता पर होमन्स द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावनाएं उनकी विनिमय योजना को उसी तरह की आलोचनाओं के समक्ष ला देती हैं; जैसी उपयोगितावाद के लिए की जाती हैं। क्या वास्तविक जीवन में कर्त्ता विवेकपूर्ण ढंग से कीमत और पुरस्कारों की संगणना करता है? होमन्स आंशिक रूप से इसका

उत्तर देते हैं कि लोग कीमत, पुरस्कार, पुरस्कार मिलने और दण्ड से बचने की सम्भावना की पूर्व गणना करते हैं और तद्नुसार कार्य का निर्णय करते हैं। प्रकार्यविदों का तर्क है कि व्यक्ति पूर्व अनुभवों के आधार पर अपने मूल्यों की स्थापना करते हैं। विवेकशीलता, व्यक्तिगत मूल्यों की संगणना के संदर्भ में निर्धारित होती है। आलोचकों का दूसरा प्रश्न इस प्रकार है-क्या सारी मानवीय क्रियाएं पूर्वगणना पर आधारित होतीं हैं? क्या व्यक्ति प्रत्येक स्थिति में हमेशा लागत और पुरस्कारों का मूल्यांकन करता है? आलोचकों का तर्क है कि पूर्व गणना (Prior Calculation) के बिना भी व्यक्ति को कभी-कभी पुरस्कार मिल जाता है। जैसे उपहार, दान आदि में धन मिलना या बिन माँगे पुरस्कृत होना।

इसके अतिरिक्त आलोचना के कुछ अन्य बिन्दु भी है :

पुनरुक्ति की समस्या (The Issue of Tautology)

विनिमय सिद्धान्त में प्रयुक्त आधार अवधारणाएं परस्पर एक-दूसरे के सन्दर्भ में परिभाषित की गयी हैं जिससे पुनरूक्ति दोष उत्पन्न होता है। जैसे-मूल्य, पुरस्कार और क्रिया की परिभाषा। मूल्यवान संतोष (gratification) पुरस्कार है। मूल्य पुरस्कार की मात्रा (degree) या सबलीकरण (reinforcement) है। पुरस्कार खोजने वाली गतिविधि कार्य है। प्रश्न उठता है कि क्या इन पुनरूक्तिपरक स्वयं सिद्ध कथनों (axioms) से सिद्धान्त का निर्माण हो सकता है? होमन्स इस चक्रक दोष (Circularity) को स्वीकार करते हैं लेकिन समस्या को निगमनमूलक निष्कर्ष द्वारा हल करना चाहते हैं। उनका कहना है कि "निगमनमूलक व्यवस्था में ऐसा पुनरूक्ति प्रयोग हो सकता है जिसका निष्कर्ष पुनरूक्ति न हो"।

सरलीकरण की समस्या (The Issue of Reductionism)

किसी घटना की व्याख्या करने की एक पद्धति यह है कि सरल करते-करते उस घटना के सबसे सरल (elementary form) भाग पर पहुँचा जाय, फिर उस छोटे या अति सरल भाग की विशेषताओं को जानकर पूरी घटना का विश्लेषण किया जाय। ऐसे में प्रश्न उठता है कि क्या ईट से इमारत की व्याख्या हो सकती है? होमन्स ने सामाजिक व्यवहार के अति सरल या मौलिक आकारों को निकालने के बाद उन्हें परस्पर जोड़ने का प्रयास किया है।

3.5 सारांश

इस इकाई का प्रारम्भ विनिमय सिद्धान्त की ऐतिहासिक वंशावली की खोज से होता है, जिसमें उपयोगितावाद तथा अमेरिकी और फ्रांसीसी धाराओं का विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् होमन्स की आगमनात्मक योजना का विशद वर्णन तथा निगमनात्मक योजना में रूपान्तरण की यात्रा कालक्रम में विवेचित है। उसके वाद होमन्स के विनिमय प्रारूप की मूल प्रस्तावनाओं की व्याख्या की गयी है। होमन्स की ही निरन्तरता में ब्लाऊ द्वारा प्रतिपादित विनिमय के मौलिक सूत्र का विवेचन, पुरस्कारों के प्रकार तथा विनिमय में शक्ति की भूमिका का वर्णन है। अन्त में विनिमय सिद्धान्त की समालोचना भी प्रस्तुत की गयी है तथा कुछ मौलिक आवधारणाओं की परिभाषा दी गयी है।

3.6 इकाई की मौलिक अवधारणाएं

होमन्स के द्वारा दी गयी कुछ अवधारणाएं उन्हीं के द्वारा संशोधित परिभाषाओं के स्वरूप में इस प्रकार है:

1- उत्तेजना (Stimulus) - पर्यावरण के वे सूचकांक जिन पर एक सावयव क्रियात्मक प्रत्युत्तर

देता है।

2- क्रिया (Action) - पुरस्कार पाने और दण्ड से बचने के लिए सावयव द्वारा उत्सर्जित व्यवहार।

3- पुरस्कार (Reward) - उत्तेजना की वह क्षमता जो सावयव को तुष्ट करने या उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए होती है।

4- दण्ड-उत्तेजना की वह क्षमता जिससे सावयव को नुकसान या चोट पहुँचायी जा सके या आवश्यकताओं की संतुष्टि को रोका जा सके।

5- मूल्य - उत्तेजना द्वारा धारण की जाने वाली पुरस्कार की मात्रा।

6- कीमत (cost) - छूट गये पुरस्कार या दण्ड जो किसी क्रिया के लिए मिला।

7- बोध (Perception)- पुरस्कार और कीमत को देखने, तौलने और मूल्यांकन करने की क्षमता।

8- अपेक्षा (Expectation) - पुरस्कार, दण्ड या कीमत का वह उत्तर जो एक सावयव एक उत्तेजना विशेष के साथ सम्बद्ध करता है। ये होमन्स द्वारा "एलिमेन्ट्री एक्सचेन्ज प्रिंसिपल्स' में प्रयोग की गयी मुख्य अवधारणाएं हैं।

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. होमन्स, जार्ज सी0 (1950) दि ह्यूमन ग्रुप, न्यूयार्क : हारकोर्ट, वेस एण्ड को।
2. होमन्स, जार्ज सी0 (1961) सोशल बिहेवियर-इट्स एलिमेन्ट्री फार्मस, न्यूयार्क, हारकोर्ट, ब्रेस एण्ड वर्ल्ड।
3. होमन्स जार्ज सी0 (1967) दि नेचर ऑफ सोशल साईंस, न्यूयार्य, हारकोर्ट, बेस एण्ड वर्ल्ड।
4. (1967) फन्डामेन्टल सोशल प्रासेसेज इन सोशियोलाजी, सं0 एन0 जे0 स्मेल्सर, न्यूयार्क : जान विली एण्ड कम्पनी।
5. ब्लाऊ, पीटर एम0 1955, दि डायनमिक्स ऑफ ब्यूरोक्रेसी, शिकागो, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।
6. 1964, एक्सचेन्ज एण्ड पावर इन सोशल लाइफ, न्यूयार्क, विली।
7. 1977 इनइक्वलिटी एण्ड हेक्टोजिनाइटी: ए प्रिमिटिव, थियरी ऑफ सोशल स्ट्रक्टर, - न्यूयार्क, फ्री प्रेस।
8. कालिन्स, आर0 1997, थियरेटिकल सोशियोलॉजी, भारतीय संस्करण रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर।
9. टर्नर, जे0 एच0, 1987, दि स्ट्रक्चर ऑफ सोशियोलाजिकल थियरी, भारतीय संस्करण रावत,पब्लिकेशन्स, जयपुर।
10. श्रीवास्तव, हरिश्चन्द्र, 1991, आधुनिक समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

3.8 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय

1. विनिमय सिद्धान्त के मूल स्रोत किन पूर्व सिद्धान्तों में देखे जा सकते है?
2. होमन्स की आगमनत्मक योजना का क्या आशय है?
3. निगमनात्मक योजना क्या है?
4. होमन्स का विवेकशीलता सम्बन्धी कथन क्या है?
5. पीटर एम0 ब्लाऊ पुरस्कारों का वर्गीकरण किस प्रकार करते हैं?
6. विनिमय और शक्ति के बीच क्या सम्बन्ध है?

दीर्घ उत्तरीय

1. होमन्स का विनिमय प्रारूप सामाजिक व्यवहारवाद से विवेकशील चुनाव तक की यात्रा है, समझाइए।
2. ब्लाऊ का विनिमय सिद्धान्त होमन्स के सिद्धान्त में क्या वृद्धि करता है, विस्तार से वर्णन कीजिए।
3. विनिमय सिद्धान्त की सीमाओं की विवेचना कीजिए।

इकाई -4 : घटना क्रिया विज्ञान : परिभाषा, प्रत्यय एवं प्रकृति। अल्फ्रेड शुत्ज एवं इरविंग गॉफमैन के विचार

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 घटना क्रिया विज्ञान : प्रत्यय, परिभाषा एवं प्रकृति

4.3 अल्फ्रेड शुत्ज का प्रघटनाशास्त्रीय अन्तःक्रियावाद

4.3.1 शुत्ज पर विविध बौद्धिक प्रभाव

4.3.2 मैक्स वेबर का 'वर्स्टेहेन' दृष्टिकोण-समालोचना एवं अन्तर्वैषयिकता की समस्या

4.3.3 सांकेतिक अन्तःक्रियावाद का प्रभाव

4.4 घटना क्रिया विज्ञान के मुख्य प्रभाव

4.4.1 ज्ञान भण्डार का सिद्धान्त : विशेषताएँ

4.5 इरविंग गॉफमैन के विचार

4.5.1 कर्मकाण्ड और एकता

4.5.2 नाट्यशास्त्र

4.5.3 'संपूर्ण संस्था' की अवधारणा

4.6 समालोचना

4.7 सारांश

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.9 सम्बन्धित प्रश्न

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप जान सकेंगे कि,

- घटना-क्रिया-विज्ञान के प्रत्यय एवं प्रकृति से क्या आशय है?
- अल्फ्रेड शुत्ज के प्रघटनाशास्त्रीय अन्तःक्रियावाद पर किन बौद्धिक धाराओं का प्रभाव है?
- ज्ञान भण्डार का सिद्धान्त क्या है?
- इरविंग गॉफमैन का घटना-क्रिया-विज्ञान में क्या योगदान है?

4.1 प्रस्तावना

मनुष्य की जिज्ञासा उसके चारों ओर छिपे रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए उसे प्रेरित करती है। इसी प्रवृत्ति के कारण वह अज्ञात को ज्ञात करने के लिए सदा तत्पर रहता

है। यह तत्परता

मानव की सभ्यता, ज्ञान एवं प्रगतिशील प्रकृति की परिचायिका हैं। उसमें अज्ञात को जानने की, नवीनतम को ढूँढ़ निकालने की और अपने ज्ञान भण्डार की निरन्तर श्रीवृद्धि करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। उसने दुनिया के हर मूर्त-अमूर्त वस्तुओं, घटनाओं को प्रतीकात्मक अर्थ एवं परिभाषा से बाँध रखा है और इन्हीं की परिधि में वह अन्तः क्रिया करता है, व्याख्या करता है, प्रत्युत्तर देता है, आविष्कार और सृष्टि करता है। इस क्रिया, प्रतिक्रिया और अन्तःक्रिया के बीच वह घटनाओं की वास्तविकता जानने का प्रयास भी करता है। उसके इस प्रयास का प्रतिफल ही घटना-क्रिया-विज्ञान है।

4.2 घटना-क्रिया-विज्ञान : प्रत्यय, परिभाषा एवं प्रकृति

घटना-क्रिया-विज्ञान (Phenomenology) शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द फेन्यीन (Phainein) से मानी गयी है जिसका अर्थ है 'दिखाना'। 'फेनोमेनालाजी' 'घटना जैसे दिखती है उसका उसी स्वरूप में अध्ययन' से सम्बन्धित है। घटना-क्रिया-विज्ञान सामाजिक घटनाओं के अध्ययन का एक विशिष्ट पद्धतिशास्त्र है। इसे घटना-क्रिया-विज्ञान इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह सामाजिक घटनाओं का अध्ययन कर्ता की क्रियाओं व दृष्टिकोण के सन्दर्भ में करता है। जर्मनी के दार्शनिक व गणितज्ञ एडमण्ड हसर्ल (Edmund Husserl) (1859-1938) ने 1913 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'आइडियाज : जनरल इन्ट्रोडक्शन टू प्योर फेनोमेनोलाजी' में इस शब्द का प्रथम प्रयोग किया और इस उपागम को शैक्षणिक आन्दोलन के रूप में प्रचारित किया। इसी कड़ी में अल्फ्रेड शुत्ज, इरविंग गॉफमैन, एटकिन्सन, पीटर बर्जर एवं थामस लकमैन आदि चिन्तकों ने इस पद्धतिशास्त्र को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

समाजशास्त्र में प्रघटनाशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का उद्‌भव प्रत्यक्षवादी पद्धतिशास्त्र के उग्र विकल्प के रूप में हुआ। यह परिप्रेक्ष्य प्रत्यक्षवाद की बहुत सी मान्यताओं को खारिज करता है। उनका तर्क है कि प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों की विषय-वस्तु मौलिक रूप से भिन्न होती है। परिणामतः प्राकृतिक विज्ञानों की अध्ययन पद्धति व मान्यताएं मनुष्य के अध्ययन के लिए पर्याप्त नहीं हैं। प्राकृतिक विज्ञानों का सम्बन्ध पदार्थ से होता है। पदार्थ के व्यवहार का अध्ययन वाह्य अवलोकन द्वारा आसानी से हो सकता है। अणुओं और परमाणुओ में न तो चेतना होती है और न अर्थ तथा उद्देश्य, जो उनके व्यवहार को निर्देशित कर सके। पदार्थ सामान्यतया अचेतन रूप में वाह्य उत्तेजना पर प्रतिक्रिया करता है या वैज्ञानिक भाषा में 'व्यवहार' करता है। परिणाम-स्वरूप प्राकृतिक वैज्ञानिक उसके व्यवहार की व्याख्या, अवलोकन, मापन और बाह्य तर्कों के आरोपण द्वारा कर सकता है।

पदार्थ की विशेषताओं के विपरीत मनुष्य के अन्दर चेतना, विचार, भावना,

अर्थ, इरादा और स्वयं के होने की जागरूकता होती है। परिणामतः वह वाह्य उत्तेजना पर प्रतिक्रिया मात्र नहीं करता; वह सामान्य रूप से केवल व्यवहार नहीं करता बल्कि क्रिया करता है। मनुष्य की क्रिया उसके द्वारा घटना को प्रदान किये जाने वाले अर्थ अनुरूप होती है। अतः समाजवैज्ञानिक बाहर से क्रिया का अवलोकन मात्र नहीं करता और न ही उस पर कोई बाह्य तर्क आरोपित करता है। उसके लिए उस आन्तरिक तर्क की व्याख्या करना अनिवार्य है जो कर्ता के कार्यों का निर्देशन करता है। प्रघटनाशास्त्र या घटना-क्रिया-विज्ञान (Phenomenology) मनुष्य के व्यवहार के व्याख्यात्मक अध्ययन की चुनौती का प्रत्युत्तर है।

4.3 अल्फ्रेड शुत्ज का प्रघटनाशास्त्रीय अन्तःक्रियावाद

यद्यपि घटना-क्रिया-विज्ञान की शुरूआत जर्मन दार्शनिक एडमण्ड हसर्ल की परियोजना (Project) के तौर पर हुयी, लेकिन इसका पद्धतिशास्त्रीय विस्तार एवं नया स्वरूप अल्फ्रेड शुत्ज के प्रयासों का प्रतिफल है। शुत्ज ने हसर्ल से ही अवधारणा लेते हुए उसको अन्तःक्रियात्मक विश्लेषण में रूपान्तरित किया जिसका आधुनिक अन्तःक्रियावाद पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। 1939 में शुत्ज को अमेरिका जाना पड़ा, जहाँ उनका सम्पर्क अमेरिकी अन्तःक्रियावादियों से हुआ जिसने उनके दृष्टिकोण को कुछ प्रभावित किया। शुत्ज का घटना-क्रिया-विज्ञान, हसर्ल का उग्र घटना-क्रिया-विज्ञान, मैक्सवेबर का क्रिया सिद्धान्त और अमेरिकी अन्तःक्रियावाद का मिश्रण है।

4.3.1 शुत्ज पर विविध बौद्धिक प्रभाव

अल्फ्रेड शुत्ज मुख्य रूप से हसर्ल के क्रान्तिकारी घटना-क्रिया-विज्ञान, मैक्सवेबर की वर्सटेहेन प्रणाली और सांकेतिक अन्तः क्रियावाद से जुड़े चिन्तकों-जी0एच0मीड, डब्ल्यू0आई0 थॉमस आदि से प्रभावित थे। इन बौद्धिक प्रभावों का विश्लेषण क्रमिक रूप से आगे दिया गया है।

4.3.2 मैक्सवेबर का 'वर्सटेहेन' (Verstehen) दृष्टिकोण-समालोचना एवं अन्तर्वैषयकिता की समस्या

शुत्ज का कार्य अपने समकालिक मैक्सवेबर की समालोचना के साथ शुरू होता है जिन्होंने अपने अधिकांश अध्ययनों में सामाजिक क्रिया की अवधारणा का प्रयोग किया। सामाजिक क्रिया उस समय होती है जब कर्त्तागणों में एक-दूसरे के प्रति चेतन जागरूकता होती है और जब वे सर्वनिष्ठ स्थितियों (Common Situations) को अर्थ प्रदान करते हैं। वेबर के अनुसार समाज के विज्ञान को अर्थ के स्तर पर सामाजिक वास्तविकता को समझने का प्रयास करना चाहिए। समाजशास्त्रीय अध्ययन (inquiry) को लोगों की चेतना में घुसकर यह खोज करनी चाहिए कि वे दुनिया को कैसे देखते और परिभाषित करते हैं? इसके लिए वेबर ने सहानूभूतिपरक अन्तरावलोकन पर आधारित

'वर्स्टेहेन' पद्धति का आविष्कार किया। अनुसन्धानकर्ताओं को स्थितियों में पर्याप्त संलग्नता रखनी चाहिए ताकि वे कर्त्ता की वैषयिक दुनिया के अन्दर जाने में सक्षम हो सकें।

शुत्ज की पहली प्रमुख कृति वेबर की क्रिया की अवधारणा को सम्बोधित करती है। उनका विश्लेषण समालोचनात्मक और विस्तृत है जिसका संपूर्ण प्रस्तुतीकरण यहाँ न सम्भव है और न ही आवश्यक है। शुत्ज की मुख्य समालोचना वेबर की वर्स्टेहेन पद्धति के प्रयोग की असफलता पर है और साथ ही यह भी अन्वेषण करना चाहती है कि क्यों और किन प्रक्रियाओं के माध्यम से कर्त्ता सर्वस्वीकृति (Common) अर्थ तक पहुँचते हैं। वेबर की पद्धति पर शुत्ज के प्रश्न हैं कि एक स्थिति में क्यों और किस तरह कर्त्ता सामान्य वैयक्तिक दशाओं को प्राप्त करते हैं? वे किस तरह विश्व की सामान्य अवधारणा का निर्माण करते हैं? इसे 'अन्तर्वैषयिकता' की समस्या कहते हैं और यह शुत्ज की बौद्धिक योजना का केन्द्रीय भाग है।

शुत्ज के चिन्तन और कार्य पर हसर्ल के प्रघटनाशास्त्रीय विचारों का गहरा प्रभाव है। धीरे-धीरे उन्होंने हसर्ल से अलग हटते हुए घटनाक्रिया विज्ञान को दर्शनशास्त्र से अलग किया और समाजशास्त्रियों को सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक वास्वविकता का आनुभविक अध्ययन करने का मार्ग प्रशस्त किया। यह सामाजिक वास्तविकता थी-अन्तर्वैषयिकता की रचना और अनुपालन, अर्थात बहुत अन्तःक्रियात्मक व्यक्तियों के बीच सामान्य वैषयिक जगत का निर्माण।

4.3.3 सांकेतिक अन्तःक्रियावाद का प्रभाव

अमेरिका-देशान्तरगमन के साथ ही शुत्ज का घटना-क्रिया-विज्ञान प्रारम्भिक सांकेतिक अन्तःक्रियावादियों-विशेषकर जी0 एच0 मीड और डब्ल्यू0 आई0 थामस के प्रभाव में आ गया। लेकिन इनका कितना प्रभाव शुत्ज के विचारों पर पड़ा-यह स्पष्ट नहीं है। प्रारम्भिक सांकेतिक अन्तःक्रियावादियों के सामान्य अर्थ निर्माण की प्रक्रिया, शुत्ज की अन्तर्वैषयिकता बोध की इच्छा के समान थी। इस तरह शुत्ज डब्ल्यू0 आई0 थामस की 'स्थिति की परिभाषा' से तात्कालिक सादृश्यता स्थापित करते हैं, क्योंकि यह अवधारणा कर्त्ता की स्थितियों के प्रति उन्मुखन पर बल देती है और भी, थामस की यह मान्यता, कि स्थितियों की परिभाषा अतीत के अनुभवों से सीखी जाती है और वर्तमान अन्तःक्रियाओं में परिवर्तित होती है, शुत्ज की अन्तर्वैषयिकता की प्रक्रिया की अवधारणा को प्रभावित करती है। मीड की मान्यता भी शुत्ज को प्रभावित करती है कि मस्तिष्क अन्तःक्रिया से उत्पन्न होने वाली एक सामाजिक प्रक्रिया है जो भविष्य की अन्तःक्रिया को सरल बनाती है। मीड की भूमिका-ग्रहण की अवधारणा ने शुत्ज को सीधे प्रभावित किया। शुत्ज ने इस प्रक्रिया पर विशेष रूचि दिखायी जिसके द्वारा कर्त्ता एक -दूसरे की भूमिका जान लेते हैं और एक -दूसरे को एक निश्चित तरह से व्यवहार करने के लिए प्ररूपित (Typify) कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त मीड की 'सामान्यीकृत अन्य' की

अवधारणा भी शुत्ज को प्रभावित करती है जिसके तहत कर्ता पूरे समुदाय की भावनाओं का ज्ञान करता है या दूसरे शब्दों में 'सामान्य वैषयिक स्थितियों' की जानकारी प्राप्त करता है। यद्यपि प्रारम्भिक सांकेतिक अन्तःक्रियावादियों की अवधारणा और शुत्ज के घटना-क्रिया-विज्ञान में पर्याप्त सादृश्यता है, फिर भी शुत्ज ने समाजशास्त्रीय अन्वेषण की ऐसी रूपरेखा विकसित की जो प्रायः मीड प्रेरित अन्तःक्रियावाद को चुनौती देती है।

4.4 घटना-क्रिया-विज्ञान के मुख्य प्रश्न या मुद्दे

शुत्ज पर बौद्धिक प्रभावों के विश्लेषण के बाद उनके सिद्धान्त के अनुप्रयोग का विवेचन आवश्यक है। दुर्भाग्य से जब वे अपने विचारों का व्यवस्थित समन्वय प्रारम्भ कर रहे थे, उसी समय उनका देहान्त हो गया। परिणामस्वरूप, उनके सामूहिक कार्यों में किंचित खंडित किन्तु सुझावात्मक रुपरेखा मिलती है। वेबर, हसर्ल और अन्तःक्रियावादियों का उनका प्रारम्भिक विश्लेषण कई आधार मुद्दों (Key Issues) को जन्म देता है। (1) किस प्रकार कर्त्ता सामान्य वैयक्तिक जगत का निर्माण करते हैं? (2) 'सामाजिक व्यवस्था कैसे बनी रहती है' पर इस निर्माण का क्या निहित प्रभाव है?

4.4.1 ज्ञान-भण्डार का सिद्धान्त : विशेषताएं

शुत्ज का मानना है कि सभी मनुष्य अपने मस्तिष्क में नियमों, सामाजिक रीति-रिवाजों, उचित व्यवहार की अवधारणाओं एवं अन्य सूचनाओं का संकलन रखते हैं जिससे उनको सामाजिक जगत में क्रिया करने का निर्देश मिलता है। हसर्ल की 'जीवन-विश्व' (Lifeworld) की अवधारणा को आगे बढ़ाते हुए शुत्ज इन नियमों, उपकरणों, अवधारणाओं तथा सूचनाओं के योग को 'व्यक्ति के ज्ञान का भण्डार' कहते हैं। यह ज्ञान भण्डार लोगों को एक सन्दर्भ परिधि या उन्मुखन प्रदान करता है जिसके द्वारा अपने चतुर्दिक विश्व पर बुद्धिमत्तापूर्वक क्रिया करते हुए वह घटनाओं की व्याख्या करता है।

इस ज्ञान भण्डार की प्रमुख विशेषताओं पर शुत्ज ने विशेष प्रकाश डाला है, जो निम्नलिखित हैः

1- व्यक्तियों की वास्तविकता उनका 'ज्ञान भण्डार' है। समाज के सदस्यों के लिए उनका 'ज्ञान भण्डार' सर्वोच्च यथार्थ का निर्माण करता है। यह वास्तविकता सभी सामाजिक घटनाओं को स्वरूप प्रदान करती है तथा उन्हें नियंत्रित करती है तथा निर्देशित करती है। पर्यावरण में दूसरों के साथ व्यवहार करते हुए कर्त्तागण ज्ञान-भण्डार और वास्तविकता बोध का प्रयोग करते हैं।

2- हसर्ल के साथ शुत्ज इस बात पर सहमत थे कि ज्ञान-भण्डार का अस्तित्व, जो घटनाओं को सच्चाई की चेतना प्रदान करता है, सामाजिक जगत को एक सर्व-स्वीकृत चरित्र प्रदान करता है। ज्ञान भण्डार चेतन परिलक्षण की वस्तु न होकर मान्यताओं और प्रणालियों का अन्तर्निहित समुच्चय होता है जो अन्तःक्रिया के

समय व्यक्तियों द्वारा चुपचाप प्रयोग किया जाता है।

3- ज्ञान-भण्डार सीखा जाता है। सामान्य सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश में यह समाजीकरण द्वारा सीखा जाता है, लेकिन वही इस विश्व में कर्त्ता के लिए वास्तविकता बन जाता है।

4- लोग कुछ मान्यताओं की छाया में कार्य करते है जिससे 'परिप्रेक्ष्यों की पारस्परिकता' की चेतना का निर्माण होता है। अर्थात् वे लोग, जिनके साथ कर्त्ता का व्यवहार होता है, कर्त्ता के ज्ञान-भण्डार की जानकारी रखते हैं।

5- ज्ञान-भण्डार का अस्तित्व, समाजीकरण द्वारा उसे प्राप्त करना तथा परिप्रेक्ष्यों की पारस्परिकता को प्रेरित करने वाली क्षमता सभी मिलकर कर्त्ताओं को एक स्थिति में एक अर्थबोध या पूर्वधारणा प्रदान करती है कि दुनिया सभी के लिए एक जैसी है और सभी के लिए एक समान विशेषताएं उपस्थित करती है। समान विश्व की यह धारणा प्रायः विश्व को एकता के सूत्र में बाँधती है।

6- समान विश्व की पूर्वधारणा कर्त्ताओं को 'प्ररूपण' की प्रक्रिया में भाग लेने की अनुमति प्रदान करती है। व्यक्तिगत तथा गहरे सम्बन्धों को छोड़कर अधिकांश स्थितियों में क्रिया परस्पर प्ररूपण से प्रारम्भ होती है: कर्त्ता अपने ज्ञान भण्डार को एक-दूसरे को श्रेणीकृत करने और इन प्ररूपणों को प्रत्युत्तर देने के लिए प्रयोग करते हैं। प्ररूपण के द्वारा कर्ता अपनी दुनिया में प्रभावपूर्ण व्यवहार कर सकते हैं। प्ररूपण से सामाजिक जगत में प्रवेश सरल हो जाता है; यह समंजन को सरल कर देता है क्योंकि यह मनुष्यों को एक- दूसरे को श्रेणियों के रूप में या विशेष प्रकार की विशेष वस्तु के रूप में व्यवहार करने की अनुमति देता है।

शुत्ज के विचारों में यूरोप के घटना-क्रिया-विज्ञान और अमेरिका के अन्तःक्रियावाद के प्रत्यय का मिश्रण स्पष्ट है। शुत्ज ने घटना-क्रिया-विज्ञान में तीन तत्त्व जीव जगत, स्वाभाविक अभिवृत्ति तथा अन्तर्व्यक्तिनिष्ठता का विवेचन किया है जो घटना-क्रिया-विज्ञान की आधारशिला है।

4.5 इरविंग गॉफमैन के विचार

शुत्ज के घटना-क्रिया विज्ञान की धारा को इरविंग गॉफमैन के विचारों और कार्यों से बल मिला। गॉफमैन वैयक्तिक आचरण को व्यक्ति का वैयक्तिक गुण न मानकर समाज और सामाजिक व्यवस्था की उपज मानते हैं। जार्ज हरबर्ट मीड की विरासत के अतिरिक्त गॉफमैन पर एवरेट ह्यूज (E. Hughes) का भी प्रभाव था, जो व्यवसाय पर अपने अध्ययनों के लिए प्रसिद्ध हैं। व्यवहार के आधारभूत प्रतिमान और संस्थात्मक संरचनाओं में प्रतीयमान असंगतताओं की सादृश्यता प्रकट देखी जा सकती है। ह्यूज के इस विचार का अनुप्रयोग काफी सीमा तक गॉफमैन के प्रारम्भिक निबन्ध "ऑन कूलिंग

दि मार्क आउट'' में स्पष्ट है । मानसिक अस्पतालों के अपने अध्ययन में गाफमैन ने ह्यूज की 'सम्पूर्ण संस्था' की अवधारणा का प्रयोग किया।

4.5.1 कर्मकाण्ड और एकता

गाफमैन ने अपने प्रारम्भिक पत्रों के संग्रह (1967) के शीर्षक के लिए 'इन्टरएक्शन रिचुअल' शब्द का निर्माण किया। गाफमैन के विचार से व्यक्ति और समाज के बीच का सम्बन्ध कर्मकाण्ड के माध्यम से होता है। कर्मकाण्ड सम्बन्धी विचारों के लिए गाफमैन दुर्खीम के ऋणी हैं। उनका कथन है कि आधुनिक समाज में 'स्व' उसी तरह एक पवित्र वस्तु बन जाता है जिस तरह आदिम समाजों के सामूहिक प्रतीक दुर्खीम की 'दि एलिमेन्ट्री फार्म्स ऑफ रिलीजियस लाइफ' में कार्य करते हैं। दुर्खीम की पवित्र वस्तुएं समाज के देवी-देवता स्वयं यथार्थ अस्तित्व में नहीं होते, अपितु वे संरचना को प्रतिलक्षित करने वाले प्रतीक मात्र होते हैं। यदि आज के समाज का केन्द्रीय पवित्र तत्त्व 'स्व' है, तो यह अवास्तविक है। गाफमैन का 'स्व' कोई इस तरह की वस्तु नहीं है जो सामाजिक अन्तःक्रिया की प्रक्रिया में उत्पन्न होता है, बल्कि यह प्ररुपजन्य आधुनिक मिथक है। यह समाज ही है जो व्यक्ति को स्वयं की एक निश्चित तस्वीर पेश करने के लिए बाध्य करता है। सत्यनिष्ठ, आत्म-संगत और सम्मानजनक होने की तस्वीर भी समाज की ही बाध्यता का प्रतिफल है। लेकिन वही सामाजिक व्यवस्था क्योंकि यह हमें कई जटिल भूमिकाओं के बीच आगे-पीछे करती है, हमें हमेशा कुछ-कुछ असत्यशील, असंगत और असम्मानजनक भी बनाती है। किसी निश्चित क्षण पर हमारी स्वाभाविक भूमिका की अपेक्षा भूमिका-अभिनय करने की आवश्यकता हमें अभिनेता बना देती है। 'स्व' तो प्रतिदिन की एक विचारधारा है जो समाज में कारणात्मकता और नैतिकदायित्व का समावेश करती है। ठीक उसी तरह जैसे जनजातीय संरचना वाले समाजों में नैतिक उत्तरदायित्व व्यक्ति का न अवस्थित कर छायाओं और देवताओं पर आरोपित किया जाता है।

4.5.2 नाट्य शास्त्र

गाफमैन की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक, 'दि प्रजेन्टेशन ऑफ सेल्फ इन एवरीडे लाइफ' (1959) प्रायः समाज का नाट्यशास्त्र स्वरूप उद्धृत करने के लिए जानी जाती है। जीवन इस अर्थ में एक रंगमंच की तरह है कि यह अभिनय, अभिनयकर्ता और श्रोता / दर्शक से बना है। स्टेज पर अभिनीत हर क्रिया अभिनय के दौरान एक क्षण के लिए वास्तविकता हो जाती है। यह स्वरूप उग्र सापेक्षवाद (Radical Relativism) प्रतीत होता है, क्योंकि यह वास्तविकता को सामाजिक निर्माण के क्षणभंगुर काल के रूप में दखता है जो अभिनय समाप्त होते ही समाप्त हो जाता है। फिर भी गाफमैन अपने इस स्वरूप को दुर्खीम की तर्ज पर प्रस्तुत करना चाहते हैं। नाट्यशास्त्र एक कर्मकाण्ड है। यह सामान्य वास्तविकता की भावना का निर्माण करता है, लेकिन वह वास्तविकता आवश्यक रूप से क्षणिक नहीं होती। कर्मकाण्ड अपनी सफलता की सीमा तक सामाजिक प्रतीकों का निर्माण करते हैं जिनमें नैतिक बल की क्षमता अन्तर्निहित होती हैं। उन प्रतीकों में विश्वास करते हुए, कम से कम एक बार सहभागी कर्मकाण्ड से बाहर आते हैं। सामाजिक वास्तविकता का केवल निर्माण ही नहीं हो रहा है बल्कि उसे सही स्थान पर अवस्थित भी किया जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि कर्मकाण्डों में उत्पीड़न के गुण होते

हैं।

4.5.3 'सम्पूर्ण संस्था' की अवधारणा

1950 के उत्तरार्द्ध में इरविंग गाफमैन का अन्तःक्रियात्मक परिप्रेक्ष्य से किया गया अध्ययन किसी भी संगठन का पहला बड़ा अध्ययन कहा जा सकता है। उन्होंने वाशिंगटन की एक मानसिक अस्पताल में अन्तःक्रिया का अवलोकन एक वर्ष तक किया। उनके अध्ययन का उद्देश्य अन्तःवासियों की सामाजिक दुनिया के नजरिये को समझना था। मानसिक अस्पताल से साम्यता रखने वाले अन्य संगठनों को भी अध्ययन में शामिल किया गया था। उन संगठनों में जेल, ध्यान कैम्प, अनाथालय, मठ और सेना की बैरक आदि शामिल हैं जिन्हें गाफमैन ने 'संपूर्ण संस्था' की संज्ञा दी है। एक संपूर्ण संस्था को आवास और कार्य के ऐसे स्थल के रूप में परिभाषित किया जाता है जहाँ लम्बे समय से वृहत्तर समाज से कटे हुए लोग बड़ी संख्या में समान स्थितियों में रहते हैं और साथ-साथ एक थोपी गयी औपचारिक रूप से शासित जिन्दगी व्यतीत करते हैं।

4.5 समालोचना

घटना-क्रिया विज्ञान का प्रमुख योगदान यह रहा है कि इस उपागम के माध्यम से सामाजिक यथार्थ का दर्शनशास्त्रीय स्वरूप उभर करके आया है। घटना-क्रिया विज्ञान ने प्रथम बार व्यक्ति को दिन-प्रतिदिन की क्रियाओं के सन्दर्भ में अध्ययन का बिन्दु माना और साथ ही आम-जीवन व सामान्य ज्ञान जैसे आयामों को महत्व दिया। इस पद्धतिशास्त्र ने वेबर के 'वर्सटेहन' (Verstehen) संबोध की पुनः स्थापना की। शुट्ज ने इस संबोध को अधिक परिष्कृत किया। इस परिप्रेक्ष्य ने भाषा, संचार एवं अनेक ऐसे प्रघटनाओं का विश्लेषण किया जिनको अब तक समाजशास्त्रियों ने अछूता छोड़कर रखा था। इस तरह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने में इस उपागम का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

यह भी उल्लेखनीय है कि इस उपागम के आधार पर व्यावसायिक समस्याओं का अध्ययन बहुत सीमित रहा है। यह भी सही है कि 'स्व' के समीक्षात्मक विश्लेषण में कठिनाईयाँ हैं। चेतना की जटिलताओं को मस्तिष्क से पकड़ना ही दुष्कर हो जाता है। घटना-क्रिया-विज्ञान की गणना लघु-स्तरीय उपागम में की जाती है, अतः वृहत् अध्ययन इस उपागम से करना कठिन है। हालांकि घटना-क्रिया विज्ञानी इससे सहमत नहीं है। शुत्ज द्वारा प्रस्तुत व्याख्या प्याज की भिन्न-भिन्न परतों को खोलने के समान हैं मार्क्सवादी इस उपागम को तुच्छीकरण (Trivialization) के लिए जिम्मेदार मानते हैं। फिर भी यह सत्य है कि घटना-क्रिया-विज्ञान ने समाजशास्त्र में नवीन दिशा दी व विज्ञानवाद के प्रभुत्व को चुनौती दी।

4.7 सारांश

इस इकाई के प्रारम्भ में घटना-क्रिया-विज्ञान के प्रत्यय, परिभाषा एवं प्रकृति का

विवेचन किया गया है। तत्पश्चात अल्फ्रेड शुत्ज के अन्तःक्रियात्मक परिप्रेक्ष्य पर विविध बौद्धिक प्रभावों की व्याख्या की गयी है जिसमें मैक्सवेबर एवं सांकेतिक अन्तःक्रियावादियों का प्रभाव प्रमुख है। शुत्ज के ज्ञान-भण्डार की अवधारणा की प्रमुख विशेषताएं बिन्दुवार विवेचित की गयी हैं। तत्पश्चात् इरविंग गाफमैन के विचारों का विश्लेषण कर्मकाण्ड, नाट्यशास्त्र और सम्पूर्ण संस्था के सन्दर्भ में किया गया है। अन्त में उक्त परिप्रेक्ष्य की समालोचना प्रस्तुत की गयी है।

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. A. Schutz, The Phenomenology of the Social World, London : Heinemann 1972.
2. नरेन्द्र कुमार सिंधी, समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर 1998.
3. Bert. N. Adams & R. A. Sydie, Sociological Theory, Vistaar Publications, New Delhi, 2002.
4. Randall Colins, Theoretical Sociology, Rawat Publications, Jaipur 1997.
5. J. H. Turner, The Structure of Sociological theory, Rawat, Jaipur, 1987.
6. Goffman, Erving, 1959. The Presentation of self in Everyday Life. New York: Doubleday 1961. Asylums N. York Doubleday

   1967. Interaction Ritual N. York Doubleday.

4.9 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय-

1. घटना-क्रिया-विज्ञान का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. घटना-क्रिया-विज्ञान किन मुख्य प्रश्नों पर आधारित है?
3. ज्ञान भण्डार का सिद्धान्त क्या है?
4. इरविंग के नाट्यशास्त्रीय विश्लेषण का संक्षिप्त निरूपण किजिए।

दीर्घ उत्तरीय

1. शुत्ज पर विविध बौद्धिक प्रभावों की विवेचना कीजिए।
2. घटना-क्रिया-विज्ञान के विकास में शुत्ज एवं इ0 गाफमैन के विचारों का परिचय दीजिए।

इकाई - 5 : लोकविधि विज्ञान का प्रत्यय, एच0 गारफिन्केल का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 लोकविधि विज्ञान की उत्पत्ति

- 5.2.1 ब्लूमर का अन्तःक्रियावाद और लोकविधि विज्ञान
- 5.2.2 गॉफमैन का नाट्यशास्त्रीय विश्लेषण और लोकविधि विज्ञान
- 5.2.3 अल्फ्रेड शुत्ज, प्रघटनाविज्ञान (घटना क्रियाविज्ञान) और लोकविधि विज्ञान

5.3 लोकविधि विज्ञान की प्रकृतिः तत्त्वमीमांसाशास्त्र या पद्धतिशास्त्र?

5.4 लोकविधि विज्ञान : अवधारणाएं और सिद्धान्त

- 5.4.1 परावर्ती (reflexive) क्रिया और अन्तःक्रिया
- 5.4.2 अर्थ की सूचकांकता (indexicalty)

5.5 कुछ सामान्य अन्तःक्रियात्मक पद्धतियाँ

5.6 दो सामान्य लोकविधिशास्त्रीय प्रस्थापनाएं

5.7 लोकविधि वैज्ञानिक अन्वेषण की विविधताएं :

- i) एच0 गारफिन्केल का सिद्धान्त
- ii) अन्य दृष्टिकोण

5.8 नवीन संदर्श (पैराडाइम) या महत्त्वपूर्ण अनुपूरक दृष्टिकोण

5.9 सारांश

5.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

5.11 सम्बन्धित प्रश्न

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप जान सकेंगे कि,

- लोकविधि विज्ञान की उत्पत्ति का प्रेरणा स्रोत क्या है?
- लोकविधि विज्ञान की वास्तविक प्रकृति क्या है? यह वास्तव में पद्धतिशास्त्र है या दर्शनशास्त्र की कोई विधा है?
- लोकाविधि विज्ञान की मूल अवधारणाएं और सिद्धान्त क्या हैं?
- लोकविधि वैज्ञानिक अन्वेषण की विविधता में एच0 गारफिन्केल का क्या योगदान है?
- प्रस्तुत उपागम के अन्य योगदानपरक दृष्टिकोण क्या हैं?

- लोकविधि विज्ञान एक सर्वथा नया संदर्श (पैराडाइम) है या महत्त्वपूर्ण अनुपूरक दृष्टिकोण?

5.1 प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सांकेतिक अन्तःक्रियावाद, विनिमय सिद्धान्त, घटनाक्रिया विज्ञान (फेनोमेनॉलाजी) आदि सिद्धान्तों के विकास की कड़ी में लोकविधि विज्ञान या नृजातिपद्धतिशास्त्र (Ethnomethodology) सर्वाधिक नवीन नाम है। उल्लेखनीय है कि ये सारे सिद्धान्त संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम की मान्यताओं पर प्रतिक्रिया स्वरूप उभरे थे। यूँ तो लोकविधि विज्ञान, अन्तःक्रियावाद के प्रघटनाशास्त्रीय स्वरूप का अग्रिम विस्तार ही है; फिर भी लोकविधि वैज्ञानिक उनके दिये जाने वाले ऐसे लेबल (Label) पर ऐतराज करते हैं। वास्तव में, वे स्वयं को एक नये चरमपंथी संदर्श (Radical Paradigm) के प्रस्तोता के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं जिसने अब तक प्रकार्यवाद से सांकेतिक अन्तःक्रियावाद तक, सामाजिक यथार्थ की अस्तित्वमान अवधारणाओं को चुनौती दी हैं।जैसा कि नामावली से स्पष्ट है लोकविधि विज्ञान का सम्बन्ध उन लोक (नृजातीय) पद्धतियों के परीक्षण से है जो लोगों द्वारा आपसी व्यवहार एवं अन्तःक्रिया में प्रयोग की जाती है।

जोनाथन एच0 टर्नर ने यह प्रश्न उठाया है कि क्या कारण है कि लोकविधि वैज्ञानिक स्वयं को सैद्धान्तिक रूपावली का मसीहा मानते हैं? इसका उत्तर लोकविधि वैज्ञानिकों की इस तर्कयुक्ति में है कि उन्होंने एक ऐसे वैकल्पिक यथार्थ की खोज की है जिसको अब तक प्रचलित सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्यों द्वारा अवधारणाबद्ध नहीं किया जा सका है। हसर्ल (Husserl) और शूट्ज (Schutz) के सिद्धान्तों से प्रेरणा लेते हुए वे एक प्रश्न खड़ा करते हैं; किस तरह समाजशास्त्री और मनुष्यों का दूसरा समूह एक-दूसरे के लिए इस धारणा का निर्माण और पोषण करता है कि सामाजिक जगत की एक वास्तविक तस्वीर होती है? इस प्रश्न के प्रस्तुतकर्त्ताओं के लिए और अधिक वास्तविक प्रघटना उन जटिल विधियों (कार्यपद्धतियों) के इर्द-गिर्द घूमती है जिनका प्रयोग लोग (सामान्य और समाजशास्त्री दोनों) जाने-अनजाने 'वाह्य सामाजिक यथार्थता' के निर्माण, संरक्षण और परिवर्तन के लिए करते हैं। वास्तव में, समाज को एक तन्तु में बाँधने वाला तत्त्व, मूल्य, मानक, सामान्य परिभाषा, विनिमय, भूमिका समझौता, हित संगठन या वर्तमान सामाजिक सिद्धान्त नहीं है, बल्कि वह तो 'सामाजिक व्यवस्था' की धारणा निर्मित करने वाली लोगों की प्रकट-अप्रकट पद्धति है।

लोकविधि विज्ञान संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम के विरोध में एक दूसरा पक्ष प्रस्तुत करता है। इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रवर्तक गारफिंकेल माने जाते हैं जिन्होंने 1967 में इस उपागम का नामकरण किया। तत्पश्चात अनेक सामाजशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की व्याख्या की व विकास में योदान दिया। हालाँकि लोकविधि विज्ञान पर पहली पुस्तक 1969 में प्रकाशित हुई लेकिन इसकी उत्पत्ति के बीज इसके पूर्ववर्ती सिद्धान्तों में देखे जा सकते हैं।

5.2 लोकविधिविज्ञान की उत्पत्ति

घटना-क्रिया-विज्ञान और मीड-प्रेरित प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावाद से सूत्र ग्रहण करते हुए इन सिद्धान्तों के विचारों के विस्तार की परिणति लोकविधिविज्ञान में हुयी। इसके बावजूद, इन चिन्तन-सम्प्रदायों के विचारों का विस्तार करते हुए लोकविधि विज्ञान विश्व की एक भिन्न तस्वीर प्रस्तुत करने का दावा करता है। प्रस्तुत सिद्धान्त का मूल्यांकन उन परिप्रेक्ष्यों के सन्दर्भ में करना आवश्यक है जिनसे यह अपने को अलग करना चाहता है बावजूद इस तथ्य के कि अब भी उन्हीं से इसने पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है।

5.2.1 ब्लूमर का अन्तःक्रियावाद और लोकविधिविज्ञान

हरबर्ट ब्लूमर का अन्तःक्रियावाद, अन्तःक्रियावाद की निर्मित और परिवर्तनशील प्रकृति पर जोर देता है। चूंकि कर्त्ता प्रचुर प्रतीकात्मक क्षमता से युक्त होते हैं, इसलिए वे (अ) स्थितियों में नये तथ्यों का समावेश करने में, (ब) स्थितियों को पुनर्परिभाषित करने में, और (स) अपनी संयुक्त क्रियाओं का संयोजन करने में सक्षम होते हैं।

ये विचार इंगित होते हैं कि विभिन्न स्थितियों में अन्तःक्रिया करते हुए कर्त्तागण किस तरह अर्थ और परिभाषाओं की रचना करते हैं। यहाँ गुरुत्व (emphasis) अन्तःक्रिया की प्रक्रिया पर है और इस पद्धति पर कि आपस में व्यवहार करते हुए कर्त्तागण कैसे सर्वनिष्ठ अर्थों का निर्माण करते हैं। अन्वेषण की इस पंक्ति का अनुसरण लोकविधिवैज्ञानिक भी करते हैं। साथ ही लोकविधि वैज्ञानिक अन्तःक्रिया और स्थिति विशेष में अर्थ-निर्माण पर विशेष जोर देते हैं। लेकिन गुरुत्व बिन्दु (emphasis) सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण अन्तर (Shift) है जो अल्फ्रेड शुत्ज के 'जीवन-विश्व' के विश्लेषण के अनुरूप प्रतीत होता है। किस विधि से लोग यह भाव पैदा करते हैं कि विश्व सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण साझे हैं? और किस तरह लोग इस धारणा (अनुमान) तक पहुँचते हैं कि एक वस्तुनिष्ठ वाह्य विश्व का अस्तित्व है? ब्लूमर का अन्तःक्रियावाद अर्थ-रचना की प्रक्रिया पर दबाव डालता है, लेकिन साथ ही यह एक बाह्य विश्व-व्यवस्था के अस्तित्व को स्वीकारता भी है। "लोकविधिविज्ञान", एडमण्ड हसर्ल के शब्दों में,"इस मुद्दे को निलम्बित कर देता है या कोष्ठकबद्ध करता है कि मानकों, भूमिकाओं, मूल्यों और विश्वासों से निर्मित किसी जगत का अस्तित्व है या नहीं। बजाय इसके यह इस बात पर ध्यान केन्द्रित करता है कि किस प्रकार अन्तःक्रिया कर्त्तागणों में एक वास्तविक विश्व का भाव पैदा करती है।"

5.2.2 गॉफमैन का नाट्यशास्त्रीय विश्लेषण और लोकविधि विज्ञान

बहुत से लोकविधिवैज्ञानिकों को पॉल अट्टेवेल (Paul Attewall) की यह तर्क-युक्ति सदमा पहुँचाती है कि प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावादी इरविंग गॉफमैन का कार्य लोकविधि-विज्ञान के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा-स्रोत रहा है। गॉफमैन के कार्य को प्रायः अन्तःक्रियावाद का नाट्यशास्त्रीय सम्प्रदाय इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह उन तौर-तरीकों पर प्रकाश डालता (Focus) है जिसके माध्मय से कर्त्तागण किसी दिये हुए सामाजिक परिदृश्य में अपनी छाप (प्रभाव) बनाने के लिए विभिन्न हाव-भाव और मुखाकृति का निर्माण करते हैं। गॉफमैन प्रभाव प्रबन्धन (impression-management)

की प्रक्रियां विशेष पर बल देना चाहते हैं, न कि क्रिया के उद्देश्य या लक्ष्य पर। गॉफमैन का अधिकांश विश्लेषण इस कारण अन्तःक्रिया के स्वरूप पर केन्द्रित है, न कि उस संरचना पर जिसका यह निर्माण, पोषण और परिवर्तन करता है। उदाहरण के लिए गॉफमैन ने गहरी अन्तर्दृष्टि के साथ उन प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया है कि किस प्रकार कर्त्तागण अपनी अवधारणाओं को वैध ठहराते हैं, कैसे हाव-भाव द्वारा अपनी क्रिया को न्यायसंगत दर्शाते हैं, किसी समूह में अपनी सदस्यता का प्रदर्शन कैसे करते हैं, सामाजिक दूरी का प्रदर्शन कैसे करते हैं। शारीरिक लांछनो से समंजन किस तरह करते हैं, और किस तरह अन्तर्वैयक्तिक रीति से बहुत सी अन्य स्थितियों को तोड़ते-मरोड़ते हैं। सामाजिक परिदृश्य के प्रबन्धन से सम्बन्धित यह पहलू लोकविधि विज्ञानीय विश्लेषण में भी महत्त्वपूर्ण है। गॉफमैन के इस दृष्टिकोण से लोकविधि वैज्ञानिक सहमत हैं जिसके द्वारा सामाजिक स्थितियों में कर्त्तागण प्रभाव का निर्माण करते हैं, लेकिन उनकी रूचि व्यक्ति के प्रभाव - प्रबन्धन में न होकर उस प्रक्रिया से है जिससे कर्त्तागण सामान्य वास्तविकता की धारणा का निर्माण करते हैं। इस प्रकार लोकविधि वैज्ञानिक अन्तःक्रियात्मक तकनीकों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, लेकिन वे अपने विश्लेषण में गॉफमैन से भिन्न सवाल करते है कि किस तरह अन्तर्वैयक्तिक तकनीक सामाजिक वास्तविकता के बोध का पोषण करती है?

5.2.3 अल्फ्रेड शुत्ज, प्रघटनाविज्ञान और लोकविधि-विज्ञान

शूट्ज के घटना-क्रिया-विज्ञान ने हसर्ल के दार्शनिक उपक्रम से प्रघटनाशास्त्र को मुक्त कराया। शुट्ज ने 'अन्तःक्रिया किस प्रकार सर्वोच्च वास्तविकता का निर्माण और संरक्षण करती है', के अध्ययन के महत्त्व की जोरदार वकालत की। उनका सम्बन्ध उस प्रक्रिया से भी था कि कर्त्तागण किस तरह परिप्रेक्ष्यों की पारस्परिकता प्राप्त करते हैं और किस तरह वे एक सर्वमान्य जगत का निर्माण करते हैं जिससे सामाजिक जीवन को एक व्यवस्था प्राप्त होती है।

विश्व की इसी सर्व-स्वीकृत (Taken for -granted) प्रकृति पर बल और कर्त्ता के वास्तविकता-बोध को बनाये रखने के लिए इस जीवन-जगत का महत्त्व ही लोकविधि-वैज्ञानिकों का मुख्य प्रतिपाद्य हैं। वास्तव में, बहुत सी लोकविधिवैज्ञानिक अवधारणाएं हसर्ल और शुत्ज के घटना, क्रिया विज्ञान से या तो उधार ली गयी है या अंगीकृत की गयी हैं। फिर भी, लोकविधि वैज्ञानिक घटना-क्रिया-विज्ञान के विश्लेषण को उस स्तर तक अंगीकृत करते हैं कि कर्त्ता की उन पद्धतियों (Practices) से कैसे सामाजिक व्यवस्था संरक्षित होती है जिनका प्रयोग उस बोध (Sense) के निर्माण के लिए किया जाता है कि वे एक ही जीवन-जगत के साझेदार हैं।

5.3 लोकविधि विज्ञान की प्रकृति : तत्त्वमीमांसाशास्त्र या पद्धतिशास्त्र ?

कुछ लोकविधि वैज्ञानिकों के लेखन की अस्पष्टता से लोकविधि विज्ञान को समझने में भ्रमात्मक स्थिति उत्पन्न हुई है, जिससे गलत दिशा में व्याख्याएं होती रही हैं। इसी तरह की एक व्याख्या यह कहती है कि लोक विधि-विज्ञान वर्तमान समाजशास्त्रीय

सैद्धान्तीकरण में 'सुधार' (Corrective) का प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि यह वैज्ञानिक अन्वेषणकर्त्ताओं में अभिनति के स्रोत का संकेत करता है। इस दृष्टि से यह अनुमानित होता है कि लोकविधि विज्ञान, न केवल अनुसंधानकर्त्ताओं की बल्कि उनके निरीक्षित परिणाम (Observation) को स्वीकार करने वाले वैज्ञानिक समुदाय की अभिनति (Biases) का उद्घाटन करने के द्वारा अनुसंधानकर्ताओं के अवलोकन की विश्वसनीयता और वैधता का परीक्षण करने का माध्यम बन सकता है। उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति में लोकविधि विज्ञान की उपादेयता सिद्ध होने के बाद भी यह उल्लेखनीय है कि यह लोक-विधि विज्ञान का मुख्य उद्देश्य नहीं है, क्योंकि लोकविधि वैज्ञानिकों का बल (emphasis) अनुसंधान-कर्त्ताओं के अवलोकन की विश्वसनीयता और वैधता के प्रश्न पर न होकर वैज्ञानिक अनुसंधानकर्त्ताओं और सामान्यजन द्वारा प्रयोग की जाने वाली उन पद्धतियों पर है जिनका प्रयोग उनमें से प्रत्येक द्वारा समझे और विश्वास किये जाने वाले विश्व-व्यवस्था सम्बन्धी वैध और विश्वसनीय कथनों के समुच्च्य का निर्माण, संरक्षण और सम्भवतः परिवर्तन के लिए किया जाता है। 'लोकविधि वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में पद्धतिशास्त्र का उद्देश्य ज्ञान के लिए उत्तम, पक्षपात रहित या सही वैज्ञानिक खोज सम्बन्धी समस्या का समाधान करना नहीं है; अपितु लोकविधि विज्ञान का सम्बन्ध उन सामान्य पद्धतियों से है जो लोगों द्वारा, चाहे वे वैज्ञानिक हों, गृहपत्नी हों, बीमा प्रतिनिधि हों या श्रमिक हों, उन स्थितियों में व्यवस्था के बोध-निर्माण हेतु प्रयोग की जाती है जिनमें वे अन्तःक्रिया कर रहे होते हैं।

लोकविधि विज्ञान पर टिप्पणियों की भ्रमपूर्ण समझ का दूसरा सम्बन्धित स्रोत वे जन हैं जो यह मानते हैं कि यह परिप्रेक्ष्य 'सहभागी निरीक्षण' की तरह सामान्य अनुसंधान पद्धतियों का प्रयोग करता है जिसका उद्देश्य कुछ रुढ़ नियमों, धारणाओं और समूह में सदस्यों के कर्मकाण्ड का खुलासा करना है। यह व्याख्या लोकविधि विज्ञान को प्रतीकात्मक अन्तः क्रियावादी परिप्रेक्ष्य के शोधोन्मुख चर (Variant) में रुपान्तरित करती हुई प्रतीत होती है। अन्तःक्रियाशील व्यक्तियों की प्रतीकात्मक दुनिया का निरीक्षण या उसमें सहभागिता के लिए विभिन्न तकनीकों के प्रयोग द्वारा स्थितियों की परिभाषा, मानकों का उद्भव और सामाजिक क्रिया के नियन्त्रण की अधिक शुद्ध जानकारी प्राप्त की जा सकती है। यद्यपि लोकविधि वैज्ञानिक अन्तःक्रियाशील व्यक्तियों का अध्ययन करने के लिए निरीक्षण और सहभागी पद्धतियों का प्रयोग करते हैं, लेकिन उनका उद्देश्य प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावादियों के उद्देश्य से मेल नहीं खाता है। समाजशास्त्रीय सैद्धान्तीकरण के सभी प्रभावी स्वरूपों की तरह, अन्तःक्रियावादी मानते हैं कि सामान्य परिभाषाएँ, मूल्य और मानक अन्तःक्रिया से ही उत्पन्न होते हैं, जो लोगों की विश्व-दृष्टि और आपसी अन्तःक्रिया को नियमित करने में मदद करते हैं। अन्तःक्रियावादी का मुख्य उद्देश्य उन दशाओं की जानकारी करना है जिनके अधीन अनेकानेक प्रकट-अप्रकट परिभाषाएं, मानक और मूल्य उत्पन्न होते हैं और इससे वे इस समस्या के समाधान तक पहुँचते हैं कि सामाजिक संगठन किस तरह सम्भव है? इसके विपरीत, लोकविधिवैज्ञानिकों की रूचि इस बात में होती है कि लोग किस प्रकार इस मान्यता पर सहमत हो जाते हैं कि नियम, परिभाषा और मूल्य जैसी वास्तविकताएं भी अस्तित्व में हैं। नियम और परिभाषाएं कैसे उत्पन्न होती है, यह लोकविधिवैज्ञानिकों की चिन्ता का विषय नही है,

उनके पास इससे भी अधिक मौलिक प्रश्न है कि किस प्रकार की पद्धतियों के माध्यम से लोग यह देख सकते हैं, वर्णन कर सकते हैं या जोरदार ढंग से कह सकते हैं कि नियम और परिभाषाएँ भी होती हैं? लोग अपने विश्वास का प्रयोग किस तरह करते हैं कि परिभाषाएं और नियम ही एक-दूसरे के लिए सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण करते हैं?

पुनः, लोकविधिविज्ञान की पद्धतियाँ वैज्ञानिक समाजशास्त्र की किसी नयी या संशोधित (improved) तकनीक की जानकारी नहीं देती जिसके द्वारा लोगों की स्थितियों या सामाजिक संरचना के मानकों की और अधिक शुद्ध तस्वीर बनायी जा सके। लोकविधिवैज्ञानिक के निर्माण, संरक्षण और उसमें परिवर्तन के अध्ययन के आधार पर सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व का विश्लेषण करते हैं।

5.4 लोकविधिविज्ञान : अवधारणाएं और सिद्धान्त

अल्फ्रेड शूट्ज ने एक आधारभूत वास्तविकता-सर्वोच्च का प्रतिपादन किया जिसके तहत् मनुष्य का दिन-प्रतिदिन का कार्य-व्यवहार सम्पन्न होता है। समकालिक लोकविधि वैज्ञानिक इस बात में कम रूचि रखते हैं कि एकल या बहुल वास्तविकताओं, जीवन-विश्व या प्राकृतिक विचारों का अस्तित्व है या नहीं। लोकविधि वैज्ञानिक विश्लेषण में अधिकाधिक महत्त्व उन अवधारणाओं और सिद्धान्तों के विकास का है जो इस तथ्य की व्याख्या करने में मदद कर सकें कि लोगों का वास्तविकता-बोध किस प्रकार निर्मित, संरक्षित और परिवर्तित होता है? जे0 एच0 टर्नर के अनुसार लोकविधि विज्ञान अभी तक एकीकृत अवधारणाओं और प्रस्तावनाओं का विकास नहीं कर सका है, फिर भी, इसके वृहद परिप्रेक्ष्य में एक अवधारणात्मक कोर (Core) दिखायी पड़ता है जिसकी समीक्षा इसके प्रमुख तत्त्वों के आधार पर की जा सकती है।

5.4.1 परावर्ती क्रिया और अन्तःक्रिया

अधिकतर अन्तःक्रिया वास्तविकता की एक खास दृष्टि (vision) को बनाये रखने के लिए की जाती है। उदाहरण के लिए देवताओं के प्रति निर्देशित कर्मकाण्डीय गतिविधि इस विश्वास को बल देती है कि देवतागण दिन-प्रतिदिन के कार्य को प्रभावित करते हैं।। इस तरह की कर्मकाण्डीय गतिविधि परावर्ती क्रिया का एक उदाहरण हैं; यह वास्तविकता सम्बन्धी एक निश्चित दृष्टिकोण को बनाये रखने के लिए की जाती हैं। यहाँ तक कि जब तथ्य किसी विश्वास को खण्डित करते प्रतीत होते हैं; मानव-अन्तःक्रिया उस खण्डित विश्वास को भी जायज ठहराती है। उदाहरणार्थ, जब गहन प्रार्थना और कर्मकाण्डीय गतिविधि के बावजूद देवताओं की वांछित कृपा नहीं प्राप्त होती, तो भी उस विश्वास को निरस्त करने की बजाय भक्त आत्म स्वीकृति देता है कि सम्भवतः उसने कठिन प्रार्थना नहीं की या उसका उद्देश्य उचित नहीं था अथवा ईश्वर के पास इससे भी बड़ी कोई योजना होगी। इस तरह का व्यवहार परावर्ती हैं; यह विश्वास के सप्रमाण गलत होने की स्थिति में भी उसको मान्यता देता है और बल प्रदान करता है।

अधिकतर मानव-अन्तःक्रियाएं परावर्ती होती हैं। मनुष्य एक दूसरे के हाव-भाव शब्दों और दूसरी सूचनाओं की इस तरह व्याख्या करता है कि वास्तविकता की एक खास दृष्टि का पोषण हो सके। विश्वास और ज्ञान-पुञ्ज को बनाये रखने के लिए विरोधी साक्ष्यों

की भी परावर्ती व्याख्या की जाती है। इस प्रकार परावर्तन की अवधारणा इस तथ्य पर विशेष प्रकाश डालती है कि अन्तः क्रिया की प्रक्रियाओं में किस प्रकार लोग यह धारणा बनाकर चलते हैं कि वे एक विशेष वास्तविकता से निर्देशित हो रहे हैं। अधिकतर लोकविधि वैज्ञानिक अन्वेषण इसी प्रश्न को सम्बोधित करता है कि परावर्ती अन्तःक्रिया कैसे घटित होती है?

5.4.2 अर्थ की सूचकांकता

अन्तः क्रियाशीलता सदस्यों द्वारा आदान-प्रदान किये जाने वाले हाव-भाव, संकेत, शब्द और अन्य सूचनाएं एक सन्दर्भ विशेष में अर्थ ग्रहण करती हैं। संदर्भ की किसी जानकारी के अभाव में जैसे अन्तःक्रियाशील सदस्यों के जीवन-वृत, उनके निर्धारित उद्देश्य, उनके अतीत के अन्तःक्रियात्मक अनुभव आदि को जाने बिना सम्भव है कि अन्तःक्रिया करने वाले व्यक्तियों के प्रतीकात्मक संवाद की गलत व्याख्या कर ली जाय। अन्तः क्रियात्मक जीवन के इस तथ्य को सूचकांकता की अवधारणा से इंगित किया जाता है। यह कहना कि कोई अभिव्यक्ति पूर्व सूचक (indexical) है, इस बात पर बल देना है कि उस अभिव्यक्ति का तात्पर्य एक सन्दर्भ विशेष से बँधा हुआ है।

सूचकांकता की यह प्रघटना इस समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट करती है कि एक सन्दर्भ में कर्त्तागण किस तरह उस संदर्भ विशेष की वास्तविकता की दृष्टि (vision) का निर्माण करते हैं। वे ऐसी अभिव्यक्ति का विकास करते हैं जिससे स्थिति-विशेष की सत्यता के सम्बन्ध में उनकी सामान्य दृष्टि बन सके। इस प्रकार सूचकांकता की अवधारणा एक अन्वेषणकर्त्ता के ध्यान को वास्तविक अन्तःक्रियात्मक सन्दर्भों की ओर निर्देशित करती है ताकि यह पता चल सके कि व्यवहार के नियमन, निर्देशन, निर्माण और पोषण के लिए किस प्रकार कर्त्तागण सूचक अभिव्यक्तियों यथा-शब्दों, शारीरिक हाव-भाव, और अन्य संकेतों की रचना करते हैं।

5.5 कुछ सामान्य अन्तःक्रियात्मक पद्धतियाँ

साधारण नियमों को विशिष्ट स्थिति में किस तरह से लागू किया जाता है, इसका निर्धारण व्याख्यात्मक प्रक्रिया के आधार पर होता है। लोकविधि वैज्ञानिकों द्वारा चिन्हित की गयी ऐसी कई तकनीकों और पद्धतियों को ऐरन सिकोरल ने कुछ सूत्रों में संक्षेपित किया है-(a) सामान्य स्वरूप की खोज (b) परिप्रेक्ष्यों की पारस्परिकता, और (c) प्रभाति अभिग्रहण।

a) **सामान्य स्वरूप की खोज** :- यदि अन्तःक्रिया करने वाले सदस्य यह समझते हैं कि सत्यता की अस्पष्टता के कारण उनकी अन्तःक्रिया प्रभावित हो रही है तो वे उस संदर्भगत स्थिति में ऐसे संकेत प्रकट करेंगे कि वे सामान्यता की तरफ लौट सकें। कर्त्तागणों के पास हर स्थिति में सामान्य स्वरूप की एक धारणा होती है या वैसी धारणा का निर्माण करने के लिए वे प्रेरित होते हैं और उनकी अधिकांश क्रियाएं इसी स्वरूप की प्राप्ति के लिए होती हैं।

b) **परिप्रेक्ष्यों की पारस्परिकता** :- शुट्ज से इस अवधारणा को ग्रहण करते हुए नृजातिवैज्ञानिकों ने यह प्रतिपादित किया कि कर्तागण इस धारणा के तहत कार्य करते

हैं कि यदि वे एक- दूसरे का स्थान ग्रहण कर लें तो उनके अनुभव भी परस्पर एक जैसे होंगे। सिकोरल के अनुसार सामाजिक क्रिया की व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि हममें परिप्रेक्ष्य की पारस्परिकता हों जिससे कि एक- दूसरे की क्रियाओं व संचारों को समझा जा सके। 'अ', 'ब' की क्रिया को तभी समझ सकता है जबकि वह 'ब' के दृष्टिकोण से स्वयं की क्रिया को समझनें का प्रयास करे और 'ब' को 'अ' की क्रिया तभी समझ में आयेगी जब 'ब' भी ऐसा ही करे।

c) प्रभाति सिद्धान्त का प्रयोग (Using the etcetera principle) :- वास्तविक अन्तः क्रिया का परीक्षण करने में बहुत कुछ अनकहा (unsaid) रह जाता है। दूसरे को हाव-भाव या कार्य-बोध सम्बन्धी आवश्यक सूचना के लिए कर्त्ता को या तो स्वयं ही खाली स्थान की पूर्ति (fill in) करनी होती है या फिर कुछ इन्तजार करना (wait for) पड़ता है। जब कर्त्तागण ऐसा करते हैं वे प्रभाति सिद्धान्त का प्रयोग कर रहे होते हैं। हमारे दिन- प्रतिदिन के व्यवहारों में हम जिन लोगों से निरन्तर मिलते रहते हैं उनके अस्पष्ट कथन एवं शारीरिक हाव-भाव उनके मन्तव्य की अभिव्यक्ति कर देते हैं जिनका अर्थ हम सही लगाने में इसलिए सक्षम होते हैं क्योंकि हमें उनका पूर्व अनुभव होता है। किसी कथन के बाद बोला जाने वाला सामान्य सा मुहावरा 'आप जानते हैं' दूसरे को सूचना देता है कि वह 'मैं नहीं जानता' कहकर अन्तःक्रिया और स्थिति के वास्तविकता-बोध को बाधित न करे।

ये तीन सामान्य लोक पद्धतियाँ लोकविधि वैज्ञानिकों के अन्वेषण का विषय है। इसके अतिरिक्त बहुत सी अन्य लोकपद्धतियां भी हैं। कुछ लोकविधि वैज्ञानिकों के अनुसार प्रभाति सिद्धान्त का अन्तिम लक्ष्य उन दशाओं का निश्चय करना है जिनके अधीन वास्तविकता-बोध के निर्माण, परिरक्षण एवं परिवर्तन के लिए इसका और दूसरी अन्य अन्तर्वैयक्तिक तकनीकों का प्रयोग किया जायेगा। जे0 एच0 टर्नर लोकविधिविज्ञान सम्बन्धी साहित्य में कुछ इसी तरह की प्रस्थापनाओं की खोज का दावा करते हैं जिनका वर्णन अग्रिम पंक्तियों में किया जा रहा है।

5.6 दो सामान्य लोकविधि शास्त्रीय प्रस्थापनाएं

लोक विधिशास्त्रीय प्रस्थापनाएं कई अनुमानों पर आधारित हैं : (1) सामाजिक व्यवस्था उन तकनीकों के प्रयोग से सम्भव होती हैं जो कर्त्ता को सामान्य सच्चाई की हिस्सेदारी का बोध कराती हैं। (2) सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए सामान्य वास्तविकता का सार उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कर्त्तागणों द्वारा तकनीकों के सामान्य समुच्चय की स्वीकृति। इन्हीं मान्यताओं के साथ टर्नर ने लोक विधिशास्त्रीय प्रस्थापनाओं के दो उदाहरणों का स्वरूप प्रस्तुत किया है :

1. कर्त्तागण अन्तः क्रियात्मक तकनीकों, यथा-प्रभाति सिद्धान्त, सामान्य स्वरूप की खोज, परिप्रेक्ष्यों की पारस्परिकता के प्रयोग पर सहमति में जितने विफल होंगे उतनी ही अन्तःक्रिया के बाधित होने की सम्भावना होगी और इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था के संरक्षण की भी कम सम्भावना होगी।

2. अन्तःक्रिया भिन्न-भिन्न आधारों, वास्तविकता की रुढ़ दृष्टियों पर जितनी

आगे बढ़ेगी, उतनी ही अन्तःक्रिया के बाधित होने की सम्भावना होगी, और इस प्रकार सामाजिक व्यवस्थाओं के संरक्षण की भी कम सम्भावना होगी।

इन प्रस्थापनाओं को सामान्य नियमों के रूप में देखा जा सकता हैं जिनसे और विशिष्ट प्रस्थापनाओं का विकास किया जा सकता है कि किस प्रकार कर्त्तागण वास्तविकता बोध का निर्माण, संरक्षण और परिवर्तन करते हैं।

5.7 लोकविधिवैज्ञानिक अन्वेषण की विविधताएं

(1) एच.गारफिन्केल का सिद्धान्त -

हरोल्ड गारफिन्केल की 'स्टडीज इन इथनोमेथेडोलॉजी' ने लोकविधि विज्ञान को एक विशिष्ट सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य के रूप में मजबूती से स्थापित कर दिया। यद्यपि यह पुस्तक औपचारिक सैद्धान्तिक कथन नहीं है, फिर भी इसमें निहित अध्ययनों और टिप्पणियों ने लोकविधि वैज्ञानिक अन्वेषण के परिप्रेक्ष्य (domain) का निर्धारण किया। परवर्ती लोकविधिशास्त्रीय अनुसन्धान और सिद्धान्त गारफिन्केल की अन्तर्दृष्टि से ही प्रारम्भ होते हैं और उसे विभिन्न दिशाओं में ले जाते हैं

गारफिन्केल के कार्यों ने लोक विधिविज्ञान को एक ऐसी अन्वेषण-विधा के रूप में स्थापित किया जिसका उद्देश्य विश्व की अपनी समझ के लिए लोगों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली पद्धतियों की जानकारी प्राप्त करना है। वे वास्तविकता-निर्माण करने वाले वाहन के रूप में भाषा पर पर्याप्त बल देते हैं। गारफिन्केल की दृष्टि में अन्तःक्रिया करने वाले व्यक्तियों द्वारा स्वयं की क्रियाओं की व्याख्या का प्रयास-अर्थात् दूसरों के समक्ष स्वयं का मौखिक प्रतिनिधित्व ही वास्तव में वह प्राथमिक विधि है जिसके द्वारा विश्व का निर्माण किया जाता है। गारफिन्केल के शब्दों में, अन्तःक्रिया करना अन्तःक्रिया के बारे में बताना है; या दूसरे शब्दों में, कर्त्ता द्वारा प्रयोग की जाने वाली प्राथमिक लोक-तकनीक का मौखिक वर्णन है। इस प्रकार वास्तविकता बोध के निर्माण के लिए लोग अपने 'लेखे-जोखे' का प्रयोग करते हैं।

गारफिन्केल सूचकांकता पर पर्याप्त बल देते हैं- अर्थात् उनका बल इस तथ्य पर है कि सदस्यों का वृतान्त एक खास सन्दर्भ और स्थिति से आबद्ध हैं। उनका कहना है कि कोई कथन कहने से अधिक सूचित करता है और ऐसे कयासों को प्रस्तुत करता है जो किसी स्थिति-विशेष में ही समझे जा सकते हैं। अन्तर्वैयक्तिक संवादों-संकेतों की सूचक प्रकृति पर जोर देने वाले गारफिन्केल प्रथम समाजवैज्ञानिक थे जिन्होंने इस बात पर बल दिया कि वास्तविकता के अर्थ का निर्माण करने के लिए लोग वृतान्तों का प्रयोग करते हैं।

वर्तमान लोकविधिविज्ञान की आधारशिला सुनिश्चित करने के अतिरिक्त गारफिन्केल और उनके सहयोगियों ने कई रोचक आनुभविक अध्ययन किये जिसका उद्देश्य वास्तविकता सम्बन्धी उनकी प्रस्तावनाओं की पुष्टि करना था। उनमें से एक आनुभविक अध्ययन 'ब्रीचिंग एक्सपेरीमेन्ट' (Breeching Experiment) के नाम से जाना जाता है जिसमें अन्तःक्रिया की सामान्य प्रक्रिया को उद्देश्पूर्ण तरीके से बाधित किया जाता है। उदाहरणार्थ, गारफिन्केल ने संवादों की एक शृंखला की जानकारी दी है जिसमें प्रयोगकर्ता

चुने हुए कर्त्ताओं (subject) के प्रत्येक कथन को चुनौती देते हैं। इसकी परिणति संवादों की एक श्रृंखला में होती हैं जिसका स्वरूप कुछ इस प्रकार है :

कर्त्ता : मेरे पास एक चौरस (चपटा) टायर (flat tire) था।

प्रयोगकर्त्ता : आपके पास एक चौरस टायर था, इसके आपका क्या आशय है?

कर्त्ता : आपका क्या आशय है, से आपका क्या आशय है?

एक चौरस टायर एक चौरस टायर होता है। मेरा आशय यही था, कुछ विशेष नहीं। क्या मूर्खतापूर्ण (crazy) सवाल है।

इस संवाद में कर्त्ता ने 'सामान्य स्वरूप की खोज' और प्रभाति सिद्धान्त का प्रयोग किया है। ब्रीचिंग (Breeching) की सहायता से कर्त्तागणों को वास्तविकता निर्माण की प्रक्रिया से सम्बद्ध होने के लिए बाध्य करके, गारफिन्केल, प्रक्रिया अवरोध के वाद निहित लोकविधियों की खोज करना चाहते थे।

अन्य शोध-उपक्रमों से भी वास्तविकता-निर्माण हेतु अन्तः क्रिया की प्रक्रिया में सदस्यों द्वारा प्रयोग की जाने वाली पद्धतियों पर प्रकाश पड़ता है। एक उदाहरण में एक छात्र अपनी प्रेमिका के साथ अपने सम्बन्धों को लेकर चिन्तित था। वह यहूदी था और प्रेमिका अन्य मतावलम्बी (Gentile) थी। उसे इस सम्बन्ध पर एक तरफ अपने माँ-बाप की प्रतिक्रिया की चिन्ता थी और दूसरी तरफ शादी और बच्चों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं की। उसके प्रश्न इन्हीं चिन्ताओं से सम्बन्धित थे। इस तथ्य के बावजूद, कि उसको प्राप्त उत्तर अनियोजित, बिना सन्दर्भ के, और कभी-कभी पूर्व उत्तर के विपरीत थे, छात्र को वे मददगार, तर्कपूर्ण और भावपूर्ण लगे। परामर्शी सत्र के और भी समान मूल्यांकन अन्य छात्रों द्वारा किये गये। प्राप्त प्रत्येक उत्तर पर छात्रों की टिप्पणी से गारफिन्केल कुछ इस प्रकार निष्कर्ष निकालते हैं। छात्रों ने उन उत्तरों का भी अर्थ लगाया जहाँ कोई अर्थ था ही नहीं। जहाँ उत्तर प्रतिकूल या आश्चर्यजनक लगे, वहाँ छात्रों ने अनुमान कर लिया कि परामर्शदाता को उनके सम्बन्ध में पूरे तथ्यों की जानकारी नहीं है।

गारफिन्केल के इन उदाहरणों से लोकविधि विज्ञान सम्बन्धी अन्वेषण की सामान्य प्रकृति एवं उद्देश्यों की जानकारी प्राप्त होती है। वास्तविकता की अन्तर्वस्तु के स्थान पर वास्तविकता निर्माण की प्रक्रिया या पद्धति पर केन्द्रित करके लोकविधि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया गया शोध सम्भवतः इस प्रश्न का अधिक रोचक और समीचीन उत्तर दे सकता है कि "समाज क्यों और कैसे सम्भव है" गारफिन्केल के अध्ययनों ने विविध शोध और सैद्धान्तिक खोजों को प्रोत्साहित किया है जिसमें से कुछ एक प्रमुख आगे दी जा रही हैं।

ii) अन्य दृष्टिकोण

हार्वे सैक्स (Harvey Sacks) का भाषायी विश्लेषण

1976 में अपनी असामयिक मृत्यु के पूर्व तक हार्वे सैक्स लोकविधिविज्ञान के प्रभावशाली लोगों में रहे। हार्वे सैक्स उन प्रथम लोकविधि वैज्ञानिकों में से एक थे जिन्होंने समाजशास्त्र की प्रघटनाशास्त्रीय समालोचना का संग्रह करके उसका प्रयोग सैद्धान्तिकरण का वैकल्पिक स्वरूप निर्मित करने में किया। सैक्स की समालोचना का सार इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता हैः समाजशास्त्री यह मानते हैं कि भाषा सामाजिक विश्व के

सिद्धान्त और अवधारणाओं के निर्माण में प्रयोग किया जाने वाला एक संसाधन है। फिर भी, यथार्थता के बिन्दु पर समाजशास्त्री संसाधन और विषय को मिश्रित कर रहे हैं। भाषा के प्रयोग के द्वारा समाजशास्त्री एक यथार्थ की रचना कर रहे हैं; उनके शब्द असम्बद्ध वाहन न होकर वास्तविक समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए अन्वेषण के विषय हैं।

इस समाजशास्त्रीय समस्या पर सैक्स का समाधान घटना-क्रिया-विज्ञानियों की तरह हैं यदि भाषा के विशुद्ध लक्षण समझ लिए जाय तब विषय-वस्तु को संसाधन से मिलाये बिना एक वस्तुनिष्ठ समाजविज्ञान का अस्तित्व सम्भव हो सकता है। इस प्रकार सैक्स लोकविधिविज्ञान को औपचारिक भाषाशास्त्र की दिशा में ले जाते हैं और वही धारा सतत् प्रवाहित होती हुई वर्तमान लोकविधि-विज्ञान को आच्छादित करती प्रतीत होती है।

ऐरन सिकूरल (Aaron Cicourel) का संज्ञानात्मक दृष्टिकोण

अपनी पुस्तक 'मेथड एण्ड मेजरमेन्ट इन सोशियोलाजी' में ऐरन सिकूरल ने सैक्स की तर्ज पर समाजशास्त्र पर हमला किया। उनका तर्क है कि गणित के प्रयोग से भाषा से जुड़ी समस्या का समाधान नहीं हो सकता, क्योंकि गणित एक ऐसी भाषा है जो अनिवार्य रूप से उस प्रघटना से साम्यता नहीं रखती है जिसका यह वर्णन करती है। उसी तरह सांख्यिकी का प्रयोग भी प्रघटना को विद्रूप (distort) करता हैः घटनाओं का परिगणन, औसत आँकलन या अन्यथा छेड़छाड़ प्रघटना से निकलने वाले ज्ञान पुञ्ज को विद्रूप करने जैसा है।

कुछ कम कड़े स्वर में, सिकूरल गारफिन्केल के इस कथन पर भी उंगली उठाते हैं कि 'अन्तःक्रिया और मौखिक वृत्तान्त एक ही प्रक्रिया है।' सिकूरल की मान्यता है कि मानव जिस मात्रा में देखता, अनुभव करता और महसूस करता है उसे वह शब्दों के माध्यम से उसी मात्रा में प्रेषित नहीं कर सकता। विभिन्न स्थितियों में संवाद के लिए मनुष्य 'बहुल-प्ररूपों' का उपयोग करता है। मौखिक वृतान्त अन्तःक्रिया की यथार्थ अभिव्यक्ति का कच्चा और अधूरा अनुवाद है। इन्हीं प्रस्थापनाओं के आधार पर सिकूरल लोकविधि विज्ञान के अपने ब्रांड (brand) को 'संज्ञानात्मक समाजशास्त्र' (Cognitive Sociology) नाम से अभिहित करते हैं।

गारफिन्केल से प्रेरणा लेते हुए सैक्स और सिकूरल की ही तर्ज पर जिमरमैन, पोलनर और वीडर ने लोकविधि विज्ञान सम्बन्धी स्थितिपरक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है जिसमें वास्तविकता-निर्माण हेतु सार्वभौमिक लोक पद्धतियों पर विशेष बल दिया गया है।

5.8 नवीन संदर्श (पैराडाइम) या महत्त्वपूर्ण अनुपूरक दृष्टिकोण

लोकविधि विज्ञान ने, निश्चित रूप से अन्तर्वैयक्तिक प्रक्रियाओं की उस शृंखला का उद्घाटन किया है जिसे अवधारणाबद्ध करने में पारस्परिक अन्तःक्रियावादी असफल रहे हैं। टर्नर भी मानते हैं कि सामाजिक व्यवस्था का भाव अभिव्यक्त करने में लोगों द्वारा प्रयोग की जाने वाली अन्तर्निहित पद्धतियाँ सामाजिक अन्तःक्रिया और संगठन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। लोकविधि विज्ञान का सैद्धान्तिक लक्ष्य उन उत्पत्तिकारक दशाओं की जानकारी प्राप्त करना है जिनके अधीन विविध लोकविधियों का लोगों द्वारा प्रयोग

किया जाता है।

लोकविधि विज्ञान के विभिन्न दृष्टिकोणों का अनुशीलन इस तथ्य को उजागर करता है कि लोकविधि वैज्ञानिकों की किञ्चित प्राप्तियाँ (finding) विश्व सम्बन्धी उनके तत्वमीमांसीय दृष्टि का उतना समर्थन नहीं करती जितना कि अन्तःक्रियात्मक अवधारणाओं का। वास्तव में, लोक विधि वैज्ञानिकों के निष्कर्ष बड़ी खूबसूरती से प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावादियों, भूमिका सिद्धान्तकारों और अन्य सैद्धान्तिक परम्पराओं के साथ मिश्रित हो जाते हैं। अस्तु, जैसा जे0 एच0 टर्नर मानते हैं कि लोकविधि वैज्ञानिकों ने अपने सिद्धान्तों का अतिकथन किया है। इसमें कोई शंका नहीं कि लोगों की सामान्य जगत सम्बन्धी समान धारणा अन्तःक्रिया और संगठन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं, लेकिन यह एक मात्र अन्तःक्रियात्मक गतिकी (dynamic) नहीं है। अस्तु, लोकविधिवैज्ञानिकों का दावा कि अन्वेषण का उनका परिक्षेत्र ही एक मात्र सच्चाई है, हास्यास्पद लगता है।

5.9 सारांश

इस इकाई के प्रारम्भ में लोकविधिविज्ञान के मूल प्रेरणास्रोतों का विवेचन किया गया है जिसके तहत अन्तःक्रियावादी और घटनाक्रिया-विज्ञानीय सिद्धान्तों के प्रकाश में लोकविधि विज्ञान के तत्त्वों की समीक्षा की गयी है। तत्पश्चात् इसके दर्शनशास्त्रीय झुकाव का भी विश्लेषण किया गया है। इसी क्रम में लोकविधिविज्ञान की विभिन्न अवधारणाओं और सिद्धान्तों का तर्कयुक्त विवेचन करते हुए गारफिन्केल तथा अन्य लोकविधि वैज्ञानिकों के दृष्टिकोणों का विवेचन-परीक्षण किया गया है। अन्त में निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि लोकविधि विज्ञान यद्यपि लोकपद्धति सम्बन्धी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सच्चाई का उद्घाटन करता है, फिर भी उसे स्वतन्त्र संदर्श (पैराडाइम) न मानकर अन्तःक्रियावाद की परम्परा का अनुपूरक विस्तार माना जाना चाहिए।

5.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. Herbert Blumer, Human Behaviour and social process. Boston : Houghton Mifflin. 1962.
2. Paul Attewell, "Ethnomethodology Since Garfinkel", Theory and Society, (1974) pp. 179-210
3. Harold Garfinkel, Studies in Ethnoethodology: Englewood Cliffs, N.J. : Prentice-Hall, 1967.
4. Norman K. Denzin, "Symbolic interactionism and Ethnomethodology', American Sociology Review 34 (Dec. 1969), pp. 922-34.
5. Aaron V. Cicourel, Cognitive Sociology; London : Macmillan, 1973.
6. Harvey Sacks, Studies in interaction; N. York : Free Press, 1972.
7. Aaron V. Civourel, Method and Measurement in Sociology, New York: Free Press, 1964.
8. J. H. Turner, The Structure of Sociological Theory: Rawat Publications, Jaipur 1987.
9. नरेन्द्र कुमार सिंधी, समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर

1998

10. The Polity Reader in Social Theory, Polity Press, U.K., 1994.

11. हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, आधुनिक समाजवैज्ञानिक सिद्धान्त परिचय, उ0 प्र0 हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1982।

5.11 संबंधित प्रश्न

लघु उत्तरीय -

1- लोकविधि विज्ञान और अन्तःक्रियावाद की तुलना कीजिए।

2- लोकविधि विज्ञान के विकास में शुत्ज की क्या भूमिका है?

3- परावर्ती क्रिया और अन्तःक्रिया में क्या सम्बन्ध है?

4- अर्थ की सूचकांकता से क्या आशय है?

दीर्घ उत्तरीय -

1- लोकविधिविज्ञान के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन कीजिए।

2- लोकविधि वैज्ञानिक अन्वेषण में हेरोल्ड गारफिन्केल के योगदान की समीक्षा कीजिए।

3- 'लोकविधि विज्ञान अध्ययन की पद्धति है या कि दर्शन शास्त्र की कोई विधा? समालोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

खण्ड

5

ज्ञान का समाजशास्त्र एवं उत्तर आधुनिकतावाद

इकाई- 1 5

ज्ञान के समाजशास्त्र की अवधारणा, कार्ल मनहाइम का प्रस्तुतीकरण, कार्ल पोपर का समालोचनात्मक पक्ष

इकाई- 2 10

उत्तर आधुनिकता : प्रत्यय एवम् विविध स्वरूप, आधुनिकता एवं उत्तर-आधुनिकता में अंतर

इकाई- 3 18

मिशेल फूको की शक्ति एवम् ज्ञान संबंधी विचार की समालोचना

इकाई- 4 25

उत्तर-आधुनिकता एवम् नारीवादी विमर्श

इकाई- 5 33

एन्थनी गिडेन्स, बार्डेयू एवम् जैक्स देरिदा के उत्तर-आधुनिकता सम्बन्धी विमर्श

खण्ड-5 ज्ञान का समाजशास्त्र एवं उत्तर आधुनिकतावाद

इस खण्ड में निम्नलिखित इकाइयाँ हैं -

इकाई - 1 ज्ञान के समाजशास्त्र की अवधारणा, कार्ल मैनहीम का प्रस्तुतीकरण, कार्ल पापर का समालोचनात्मक पक्ष ।

इकाई - 2 उत्तर आधुनिकता : प्रत्यय एवं विविध स्वरूप, आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता में अन्तर ।

इकाई - 3 मिशेल फुको की शक्ति एवं ज्ञान सम्बन्धी विचार की समालोचना।

इकाई - 4 उत्तर आधुनिकता एवं नारीवादी विमर्श ।

इकाई - 5 एन्थनी गिडेन्स, बार्डेयू एवं जैक्स देरिदा के उत्तर आधुनिकता सम्बन्धी विमर्श।

इकाई - 1 ज्ञान के समाजशास्त्र की अवधारणा, कार्ल मनहाइम का प्रस्तुतीकरण, कार्ल पोपर का समालोचनात्मक पक्ष

इकाई की रूपरेखा-

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 ज्ञान के समाजशास्त्र की अवधारणा

1.3 कार्ल मनहाइम की कृतियाँ

1.4 कार्ल मनहाइम का ज्ञान का समाजशास्त्र

1.5 कार्ल मनहाइम का आलोचनात्मक पक्ष

1.6 कार्ल पोपर का समालोचनात्मक पक्ष

1.7 सारांश

1.8 बोध प्रश्न

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

ज्ञान का समाज विज्ञान ज्ञान तथा अस्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचना करता है। मनुष्य के विचार शुद्ध बुद्धि से उत्पन्न नहीं होते, बल्कि ऐतिहासिक परिस्थिति से उत्पन्न होते हैं। इस संदर्भ में हम समाज विज्ञान में किस प्रकार ज्ञान के समाजशास्त्र को समझा जाता है उसकी चर्चा करेंगे। यह हम इस इकाई को पढ़ने के बाद् समझ सकेंगे।

इसके मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं -

- ज्ञान के समाजशास्त्र की अवधारणा क्या है?
- ज्ञान के समाजशास्त्र में कार्ल मनहाइम का योगदान क्या है?
- ज्ञान के समाजशास्त्र का आलोचनात्मक पक्ष क्या है?

1.1 प्रस्तावना

ज्ञान अथवा विज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है, इसके स्वरूप निर्धारण में समाज और संस्कृति की क्या भूमिका है, आदि विषयों को लेकर ज्ञान के समाजशास्त्र का जन्म हुआ है। समाजशास्त्र की यह शाखा ज्ञान अथवा चिंतन की प्रणालियों तथा सामाजिक - सांस्कृतिक कारकों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करती है। ज्ञान का समाजशास्त्र इस मान्यता पर आधारित हैं कि सभी प्रकार का ज्ञान धार्मिक, दार्शनिक, कानूनी, राजनीतिक, आदि समाज की उपज है। अर्थात ज्ञान के उद्भव एवम् विकास पर तत्कालीन सामाजिक - सांस्कृतिक कारकों का प्रभाव पड़ता है। विगत वर्षों में समाजशास्त्र के नवीन उपागम तथा 'मानवीय समाजशास्त्र' का विकास इस बात की पुष्टि करते हैं कि ज्ञान का आधार समाज है।

1.2 ज्ञान के समाजशास्त्र की अवधारणा

ज्ञान के समाजशास्त्र की व्यवस्थित रूप में उत्पत्ति उन्नींसवीं शताब्दी में हुई, किन्तु इसका अस्पष्ट रूप पहले से ही किसी न किसी रूप में विद्यमान था। प्रसिद्ध दार्शनिक बेकन ने बहुत पहले ही यह लिखा था कि "प्रकृति की भाँति मानव मस्तिष्क पर लिंग, आयु, स्थान, स्वास्थ्य, बीमारी,

सुन्दरता व कुरूपता आदि आन्तरिक कारकों के साथ राज्य, कुलीनता, परिवार, धन, आवश्यकता, समृद्धि, पतन, पद, प्रतिष्ठा, आदि बाह्य कारकों का भी पड़ता है।'' समाजशास्त्र की एक पृथक शाखा के रूप में आधुनिक ज्ञान के समाजशास्त्र की स्थापना सन् 1920 में हुई । इसकी उत्पत्ति एवम् विकास पर दो भिन्न प्रमुख बौद्धिक धाराओं - मार्क्स एवम् दुर्खाइम की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है।मार्क्स के अनुसार, ''मानव का समस्त ज्ञान शोषित एवम् शोषक वर्गों के विरोधी चेतन अथवा अचेतन हितों द्वारा विकृत होता है।''

फ्रांस में एमाइल दुर्खाइम ने ज्ञान की उत्पत्ति को एक अन्य दृष्टिकोण से देखने का यत्न किया है। दुर्खाइम के अनुसार, 'हमारे बोध तथा अनुभव क्रम के प्रमुख तत्व (स्थान, दिशा, समय, कारणता आदि) सामाजिक संरचना की उपज तथा उसके भाग हैं जो सामाजिक जीवन के जीवन्त रूप को बनाने तथा बनाए रखने में सहायता करते हैं।

1.3 कार्ल मनहाइम की ज्ञान के समाजशास्त्र से संबंधित कृतियाँ

(i) Ideology and Utopia (1936)

(ii) Essays on the Sociology of Knowledge (1952)

1.4 कार्ल मनहाइम का ज्ञान का समाजशास्त्र

ज्ञान के समाजशास्त्र को पिछले वर्षों में ठोस आधार देने तथा पल्लवित करने में कार्ल मनहाइम की दो उपर्युक्त कृतियाँ हैं। उन्होंने लिखा है कि ज्ञान के समाजशास्त्र में ज्ञान एवम् अस्तित्व के सम्बन्धों का विश्लेषण किया जाता है। उनके मतानुसार, समस्त विचार जिसमें सत्य भी सम्मिलित है, सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होते हैं - प्रत्येक ऐतिहासिक युग विशेष की अपनी विचार शैली होती है, क्योंकि विचार तथा सामाजिक संरचना के बीच एक सीधा संबंध होता है।एक व्यक्ति केवल अपनी मानसिक क्षमता के कारण ही विचारों को प्रस्तुत कर रहा है, यह सोचना गलत है। संभव है कि वह समूह द्वारा प्रभावित होकर सोचता है और विचारों को प्रस्तुत करता है। मनहाइम ने इस संबंध में महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि यदि ज्ञान समाज की उपज है तो फिर वस्तुपरक ज्ञान किस प्रकार संभव है? यदि यह संभव नहीं है तो इसका तात्पर्य यह है कि हम शून्यवाद के घेरे में फंस गये हैं।

मनहाइम, वेबर और मार्क्स दोनों से प्रभावित थे। उनके अधिकांश लेखन इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि उन्होंने मार्क्स के 'वर्ग कारकों' और वेबर के 'प्रस्थिति समूहों' की भिन्न सामाजिक स्थितियों के संदर्भ में ज्ञान की व्याख्या की है। उदाहरणार्थ, उन्होंने विभिन्न व्यक्तियों की भविष्यगत आशाओं में उद्भूत कल्पनालोकीय विचारों की यथास्थिति से लाभार्जित व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित विचारों से तुलना की है। मनहाइम ने विचारों के संदर्भ में पीढ़ीगत अन्तरों पर भी विशेष ध्यान दिया है। सामाजिक वर्ग की भाँति व्यक्ति की पीढ़ी भी व्यक्ति की सामाजिक और ऐतिहासिक काल में एक विशिष्ट स्थान प्रदान करती है, फलस्वरूप व्यक्ति एक विशिष्ट प्रकार से सोचने-समझने का अभ्यस्त हो जाता है।

मनहाइम ने कई भिन्न-भिन्न विषयों पर पर्याप्त लेखन किया है उसमें समाजशास्त्रीय दृष्टि से ज्ञान के समाजशास्त्र के प्रति किया गया उनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनके समस्त लेखन को दो चरणों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम चरण में उन्होंने ज्ञान के समाजशास्त्र को विकसित करने में अपना योगदान किया है। (1) उन्होंने इस बात पर बल दिया कि ज्ञान के समाजशास्त्र का विकास संभव है क्योंकि सामाजिक संरचना और ज्ञान के स्वरूपों में एक सह संबंध होता है तथा कुछ विशिष्ट समूहों की सदस्यता आस्थाओं को प्रभावित करती है। (2) मनहाइम ने ज्ञान के समाजशास्त्र के सापेक्षिक प्रभावों को भी जानने का यत्न किया है। उनका विचार था कि यदि सभी विश्वास

या आस्थाएं समाज का प्रतिफल है, तो फिर वास्तविक विश्वासों का कोई स्थान नहीं है और न ही सत्य का कोई स्वतंत्र मापदण्ड ही हो सकता है। उन्होंने इस समस्या के समाधान के लिए कई प्रयोग किये। आरम्भ में उन्होंने सामाजिक रूप में स्वतंत्र प्रस्थापनाएं प्रस्तुत की किन्तु बाद में यह स्वीकार किया कि यह उनकी प्रारम्भिक सोच थी कि 'वास्तविकता का निर्धारण सामाजिक मूल में होता है' यह गलत है। (3) मनहाइम ने ज्ञान की वैचारिकी की मार्क्सवादी व्याख्याओं को अस्वीकार कर दिया है जिनके संबंध में उनका विचार था कि मार्क्सवादी व्याख्याएं समस्त ज्ञान को वर्ग की सदस्यता में रूपान्तरित कर देती है । मनहाइम के दृष्टिकोण से ज्ञान के स्वरूपों को कई सामाजिक समूहों और प्रक्रियाओं (जैसे पीढ़ी, पंथ, वर्ग और प्रतिस्पर्धा) के साथ जोड़ा जा सकता है।

मनहाइम ने 'ज्ञान के समाजशास्त्र' की नींव अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'Ideology and Utopia' में रखी। इस पुस्तक से प्रकट होता है कि वे तत्कालीन नव मार्क्सवादी विचारक जार्ज ल्यूकाक्स से बहुत प्रभावित थे, किन्तु उन्होंने ल्यूकाक्स की वैचारिकी को यथावत् स्वीकार नहीं किया। उन्होंने ल्यूकाक्स के मार्क्सवादी वैचारिक ढांचें को नया रंग दिया। मनहाइम ने ल्यूकाक्स के इस विचार को स्वीकार किया कि मनुष्यों का चिन्तन उनके सामाजिक अस्तित्व (जीवन) से निर्धारित होता है किन्तु इसे वास्तविक ज्ञान नहीं कहा जा सकता । वास्तविक ज्ञान या चेतना प्राप्त करने की क्षमता सर्वहारा वर्ग में नहीं होती । मनहाइम के अनुसार केवल बुद्धिजीवी या मनीषी ही यह स्पष्ट करने में समर्थ है कि मनुष्यों का चिन्तन उनकी सामाजिक संरचनाओं, प्रथाओं और आंकांक्षाओं से किस प्रकार प्रभावित होता है। वे ही इस ज्ञान के प्रभाव को अलग-अलग स्पष्ट कर सकते है। इस प्रकार वे 'वास्तविक ज्ञान' की खोज करने में समर्थ हैं । मनहाइम के 'ज्ञान के समाजशास्त्र' के अनुसार किसी जन समुदाय के सामाजिक जीवन की परिस्थितियों से निर्धारित होने वाला 'मिथ्या ज्ञान' दो प्रकार का होता है। (1) **विचारधारा** - यह एक ऐसी मिथ्या चेतना है जो वर्तमान को उचित मानकर उसे बचाये रखने और संरक्षण के लिए प्रेरित करती है। (2) **कल्पना लोक-** यह एक मिथ्या ज्ञान है जो वर्तमान व्यवस्था को असहाय मानता है और परिवर्तन के लिए प्रेरित करता है। यह ऐसे काल्पनिक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है,जिन्हें यथार्थ के धरातल पर साकार नहीं किया जा सकता। अपने इसी चिन्तन के आधार पर मनहाइम ने मार्क्स के 'वर्ग विहीन समाज' के सिद्धान्त को 'कल्पना लोक' मानते हुए उसे 'मिथ्या ज्ञान' की श्रेणी में रखा है।

1.5 कार्ल मनहाइम का आलोचनात्मक पक्ष

समस्त ज्ञान का अनिवार्यतः एक वैचारिक चरित्र होता है - मनहाइम की इस धारणा की कटु वैचारिक आलोचना हुई है। उनके ऊपर सापेक्षवाद के शिकार हो जाने का आरोप लगाया गया है।

मनहाइम ने ज्ञान के कारणों (Epistemology) के विषय में दिये गये तर्कों को स्पष्ट नहीं किया है। उनका यह मानना है कि स्पष्ट रूप यही ज्ञान का कारण होगा। उन्होंने स्वयं इसे प्रमाणित करने का प्रयत्न नहीं किया है। उनके लेखनों से पता चलता है कि उन्होंने कहीं भी परिणामों के बारे में व्याख्या नहीं की है।

मनहाइम ने परिणामों की भी व्याख्या नहीं की है, चूँकि मनहाइम ने स्वयं इसे व्यवहार पर नहीं उतारा इसलिए यह एक दार्शनिकता के स्तर पर ही सीमित रह गया। यह तो यह हुआ कि मनहाइम केवल भाषण देने में ही रह गये उसे प्रामाणिकता के स्तर पर नहीं देख पाये। मनहाइम वास्तविकता निष्पक्षता की बात को नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक ज्ञान से संबंधित बात को अनेक दृष्टिकोणों से समझना चाहिये न कि वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से। एक ही बात को समझने के लिए कई दृष्टिकोण हो सकते हैं, अतः उन सभी दृष्टिकोणों का उपयोग करना चाहिए ताकि विभिन्न प्रकार के ज्ञान का पता लगेगा अर्थात ज्ञान के साधनों की उचित व्याख्या की जा सकती है। मनहाइम का मानना

है कि मात्र आनुभाविक अवलोकन से ज्ञान प्राप्त नहीं होता, और उन्होंने समस्त दृष्टिकोणों को ही वस्तुनिष्ठ समझ लिया है। वास्तव में ज्ञान दो तरह से निर्धारित होता है। (1) दृष्टिकोण से निर्धारित ज्ञान तथा (2) अवलोकन से निर्धारित ज्ञान। मनहाइम ने दृष्टिकोण से निर्धारित ज्ञान को ही वास्तविक मान लिया है। उनके समस्त लेखन में वस्तुनिष्ठता तथा ज्ञान का उचित विश्लेषण नहीं है, यह उनके लेखन की एक बहुत बड़ी कमी है।मनहाइम के 'ज्ञान के समाजशास्त्र' में निष्पक्षता की भी कमी है। उन्होंने अपनी बात को केवल शब्दों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है, जोकि वास्तविकता से परे है।मनहाइम ने सामाजिक संबंधों की व्याख्या की है। जबकि वास्तव में संबंध विचार तथा वास्तविकताओं से संबंधित होते है। किन्तु उनके लेखन में तथ्य के ज्ञान का अभाव है, तथा मूल्यों की बात भी आंशिक रूप से पायी जाती है।

1.6 कार्ल पॉपर का समालोचनात्मक पक्ष

कार्ल पॉपर के अध्ययन अनुसंधान के प्रमुख विषय सामाजिक दर्शनशास्त्र और विज्ञान के दर्शन रहे हैं। सत्य के उद्घाटन और प्रस्थापना के लिये विज्ञान का प्रयोग कैसे किया जाना चाहिये, विज्ञान के दर्शन से जुड़े इस विषय में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध 'मिथ्याकरण' की अवधारणा प्रस्तुत की है। इस अवधारणा के अनुसार, विज्ञान का प्रमुख लक्ष्य प्राकल्पनाओं की रक्षा करना नहीं अपितु उनका खंडन करना है। विचारधारा के विपरीत, विज्ञान की अन्तिम कसौटी 'मिथ्याकरण' ही है। उन्होंने अपने यह विचार ''वैज्ञानिक अन्वेषण के तर्क'' The Logic of Scientific Discovery (1934) नामक अपनी प्रसिद्ध कृति में व्यक्त किये और इसका विस्तृत विवेचन Conjuctures and Refutations : The Growth of Scientific Knowledge" (1963) नामक ग्रन्थ में किया है। उन्होंने इन ग्रन्थों में वैज्ञानिक ज्ञान के स्वरूप के बारे में तार्किक प्रत्यक्षवादियों के इस विचार का खण्डन किया है कि समस्त ज्ञान तात्कालिक अनुभव पर आश्रित होता है तथा वैज्ञानिक ज्ञान की कसौटी उसके सत्यापन किये जाने की क्षमता है। यही कसौटी विज्ञान को तत्वमीमांसा या पराभौतिकी से अलग- थलग करती है। विज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान की इन मान्यताओं के विपरीत पॉपर ने कहा है कि ''वैज्ञानिक ज्ञान की कसौटी उसकी सत्यापनशीलता नहीं है, अपितु उसकी 'मिथ्यापनशीलता' है। अतः 'पराभौतिकीय ज्ञान अर्थहीन नहीं होता, वह बहुधा विज्ञान का पूर्व संकेत देता है। इसी प्रकार पॉपर ने तार्किक प्रत्यक्षवादियों की 'आगमन पद्धति' अर्थात 'विशिष्ट से सामान्य की ओर' से भी अपनी असहमति प्रकट करते हुए 'निगमन पद्धति' अर्थात 'सामान्य से विशिष्ट की ओर' का समर्थन किया है। पोपर का इस संबंध में तर्क है कि 'वैज्ञानिक अन्वेषण शुद्ध प्रेषण अवलोकन' से प्रारम्भ नहीं किया जा सकता, बल्कि स्वयं प्रेक्षण अवलोकन किन्हीं सैद्धान्तिक पूर्व मान्यताओं से किसी न किसी रूप में निर्देशित होता है, अर्थात हमारा प्रेक्षण चयनात्मक होता है।। 'निगमन पद्धति' का समर्थन करते हुये पॉपर ने कहा कि यदि किसी विषय पर हमारे समक्ष दो प्राक्कल्पनाएं हों तो हमें उस प्राक्कल्पना को परीक्षण के लिए चुनना चाहिए जिसके 'मिथ्यापन' की संभावना अधिक हो ताकि उसका उत्तरोत्तर संशोधन करते हुए हम सत्य के निकट पहुँच सके। पॉपर ने यथार्थवाद और 'पद्धतिवादी व्यक्तिवाद' का भी समर्थन किया है।

पॉपर के विचारों की आलोचना

पॉपर के विज्ञान संबंधी विचारों को चुनौतियाँ देकर यह कहा गया है कि उनके विचार कृत्रिम और अस्वाभाविक हैं, क्योंकि व्यावहारिक रूप में वैज्ञानिक अपने विचारों का बचाव परीक्षण (सत्यापन) की प्रक्रिया द्वारा करते हैं, न कि खण्डन -मण्डन की प्रक्रिया द्वारा। यह विद्यमान वैचारिक प्रारूपों (Paradigms) का भंजन नहीं, अपितु उसे बनाये रखने का प्रयास करते हैं ।

1.7 सारांश

ज्ञान के उद्भव एवम् विकास या तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों का प्रभाव पड़ता

है। ज्ञान के विकास पर मार्क्स तथा दुर्खाइम की विचारधाराओं की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। मनहाइम का विचार है कि मार्क्सवादी व्याख्याएं समस्त ज्ञान को दो वर्ग की सदस्यता में रूपान्तरित कर देती है। मनहाइम के अनुसार समाज में जो ज्ञान की रचना होती है, वह समाज के संगठन, अर्थात उसकी संस्कृति और संरचना द्वारा निर्धारित होती है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति क्या जानते हैं, यह उनकी प्रस्थिति पर निर्भर करता है, जो समाज की संरचना में उनकी होती है। साथ ही सामाजिक वर्ग जैसे कारक भी ज्ञान की रचना को प्रभावित करते हैं, किन्तु यह पूर्णतः वर्ग जैसे कारक से ही निर्धारित नहीं होती हैं बुद्धिजीवी वर्ग यह स्पष्ट करने में समर्थ है कि मनुष्यों का चिन्तन उनकी सामाजिक संरचनाओं , प्रथाओं और आकांक्षाओं से किस प्रकार प्रभावित होता है। इस तरह 'वास्तविक ज्ञान' को ज्ञात किया जा सकता है।

पॉपर के अनुसार विज्ञान का प्रमुख लक्ष्य प्राक्कल्पनाओं की रक्षा करना नहीं अपितु उनका खंडन करना है। यह खंडन निगमन पद्धति द्वारा किया जा सकता है जिसमें 'मिथ्यापन' की संभावना अधिक होती है। ज्ञानोदय काल (Enlightenment era) ने आधुनिकता को इसलिए जन्म दिया है कि मनुष्य ने पहली बार यह सोचा कि ज्ञान की उत्पत्ति कहाँ से हुई है।ज्ञान के सिद्धान्त का दर्शन ज्ञानोदय काल का महत्वपूर्ण मुद्दा था। मुख्य बात यह है कि हम वस्तुओं को कैसे जानते हैं और उनके बारे में क्या जानते हैं? यह सम्पूर्ण क्षेत्र दर्शन का था इसमें एक ओर तर्क या विवेक (Rationality) था और दूसरी ओर आनुभाविकी (Empirism)। इन दोनों ही परम्पराओं के समर्थक भी थे और विरोधी भी। इसी बहस ने आधुनिकता को जन्म दिया जिसकी चर्चा हम अगली इकाई में करेंगे।

1.8 बोध प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

प्र.1 ज्ञान के समाजशास्त्र पर एक लेख लिखिए।

प्र.2 कार्ल मनहाइम के ज्ञान के समाजशास्त्र की समीक्षा करते हुए, उसका आलोचनात्मक पक्ष प्रस्तुत कीजिए।

प्र.3 कार्ल पोपर के ज्ञान के समाजशास्त्र के प्रस्तुतीकरण की समालोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र.1 'ज्ञान के समाजशास्त्र' की स्थापना किस सन् में हुई ?

(अ) 1918 (ब) 1920 (स) 1925 (द) 1922

प्र.2 पॉपर तथा मनहाइम के अतिरिक्त ज्ञान के समाजशास्त्र की किसने चर्चा की है?

(अ) पारसन्स (ब) दुर्खाइम (स) पेरेटो (द) सोरोकीन

प्र.3 'Ideology and Utopia' पुस्तक के लेखक कौन हैं?

(अ) मार्क्स (ब) पोपर (स) मनहाइम (द) दुर्खाइम

प्र.4 मनहाइम के अनुसार 'मिथ्या ज्ञान' दो प्रकार का होता है, पहला विचारधारा तथा दूसरा -

(अ) सापेक्षवाद (ब) सत्यता (स) कल्पना लोक (द) व्यवहारिक

प्र.5 'The Logic of Scientific Enquiry' के लेखक कौन हैं?

(अ) मनहाइम (ब) ल्यूकाक्स (स) मार्क्स (द) पॉपर

प्र.6 'सर्वहारा वर्ग' की अवधारणा किस समाजशास्त्री ने दी है?

(अ) दुर्खाइम (ब) वेबर (स) मनहाइम (द) मार्क्स

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

(1) ब (2) स (3) स (4) स (5) द (6) द

इकाई - 2 उत्तर आधुनिकता : प्रत्यय एवम् विविध स्वरूप, आधुनिकता एवं उत्तर-आधुनिकता में अंतर

इकाई की रूपरेखा-

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 आधुनिकता क्या है?

2.3 उत्तर-आधुनिकता क्या है?

2.4 उत्तर-आधुनिकता की अवधारणा

2.5 उत्तर-आधुनिकता के विविध स्वरूप

2.6 आधुनिकता एवम् उत्तर आधुनिकता में अंतर

2.7 सारांश

2.8 बोध प्रश्न

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको आधुनिकता की अवधारणा से अवगत कराना है। इस धारणा ने किस प्रकार उत्तर-आधुनिकता को आगे बढ़ाया है इस विषय पर चर्चा की जायेगी। उत्तर-आधुनिकता के प्रत्यय के स्पष्टीकरण हेतु विभिन्न समाजशास्त्रियों एवम् उनके दृष्टिकोणों की समीक्षा की गई है। इस इकाई का उद्देश्य है कि आप -

- आधुनिकता की अवधारणा को समझ सकें,
- उत्तर आधुनिकता के अर्थ तथा विशेषताओं को रेखांकित कर सकें,
- उत्तर-आधुनिकता के संबंध में विभिन्न समाजशास्त्रियों के योगदान का विश्लेषण कर सकें।
- उत्तर-आधुनिकता के विभिन्न स्वरूपों का अवलोकन कर सकें, तथा
- उत्तर-आधुनिकता एवम् आधुनिकता में अंतर कर सकें।

2.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र में आधुनिकता की अवधारणा बहुत पुरानी है। आधुनिकता का प्रयोग बहुत सारे अर्थों में किया जाता है। समाजशास्त्र में आधुनिकता को तार्किकता के साथ जोड़कर समझा जाता है। आधुनिकता को विवेक या बुद्धिसंगति के केन्द्रीय लक्षणों के रूप में इंगित किया जाता है। आधुनिकता ने जिन धारणाओं को विज्ञान के दायरे में रखकर देखा, उत्तर-आधुनिक विचारकों ने उन धारणाओं का खण्डन किया। उत्तर-आधुनिकता की विचारधारा ने प्रचलित मिथकों को तोड़ा तथा इस बात पर बल दिया कि समाज के यथार्थ को समझने के लिए विखंडन की आवश्यकता है। समाज की विभिन्नता को इसी विखण्डन के आधार पर समझा जा सकता है।किसी भी समाज में संस्कृति बहुलता होती है। अर्थात कला, साहित्य तथा व्यवहार में विभिन्नतायें दृष्टिगत होती हैं। इन विभिन्नताओं को विभिन्नता के रूप में ही समझना अनिवार्य है। महान एवं दीर्घ वृत्तान्तों के आधार पर विभिन्नता को नहीं समझा जा सकता। इस प्रकार बहुलता को समझने के लिए अब उत्तर आधुनिकतावादी सिद्धान्त को पर्याप्त सफलता मिली है और इसकी अपनी अलग पहचान भी बन गई है। इसे आगे के पृष्ठों में स्पष्ट किया

जा रहा है।

2.2 आधुनिकता क्या है?

आधुनिकता की समुचित व्याख्या ज्ञानोदय सिद्धान्त द्वारा की जा सकती है। ज्ञानोदय एक ऐतिहासिक घटना है। इसने एक आधुनिक समाज की शुरूआत की । उस समय के प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन विज्ञान की खोज की दृष्टि से धर्म को संदेह की नजर से देखते थे। उन्होंने कहा कि सत्य को जानने का एक ही तरीका है - विज्ञान। वस्तुनिष्ठता ही ज्ञान का स्रोत है। परिणामतः न्यूटन की इस विचारधारा ने लोगों के मन में परम्परागत सत्य के प्रति अविश्वास पैदा कर दिया। ज्ञानोदय काल विज्ञान की क्रान्ति का काल था वस्तुतः न्यूटन के समकालीन विचारक जॉन लॉक (John Locke) थे। लॉक ने समाज को देखने के लिए मानवीय समझ (Human Understanding) का आश्रय लिया। इसी काल में ब्रिटेन और फ्रांस में रूसो, मॉन्टेस्क्यू, वाल्टेयर तथा डेविड ह्यूम ने अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किये। प्रमुख अर्थशास्त्री एडम स्मिथ की यह स्थापना थी कि बाजार में आदमी का व्यवहार विवेकपूर्ण या तार्किक (Rational) होता है। वह किसी वस्तु को खरीदने से पहले उसके अधिकतम लाभ या उपयोग की बात सोचता है। ज्ञानोदय सिद्धान्त का केन्द्रीय दर्शन तर्क भी (Reason) था। यह तर्क जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगत होता है अतः जहाँ विज्ञान और समाज विज्ञानों में समाज को देखने का तरीका बदल गया था वहीं दर्शनशास्त्र में भी एक नई चहल-पहल आ गई थी। इसी युग में सत्य (truth) की खोज पर विशेष बल दियां गया। जर्मनी के दर्शनशास्त्री ईमेन्यूअल कॉत (Immanul Kant) का कहना था कि स्थान (Space) और समय (Time) अपने आप में कुछ नहीं है, मनुष्य उन्हें जो भी अर्थ देता है, वही सही और सत्य है। ज्ञानोदय काल ने आधुनिकता को जन्म दिया । अब एक ओर तर्क या विवेक (Rationality) था और दूसरी ओर आनुभाविकी (Empiricism) । इन दोनों ही परम्पराओं के समर्थक भी थे और विरोधी भी।

अतः ज्ञानोदय सिद्धान्तवेत्ताओं का कहना था कि आधुनिकता का आधार तर्क, ज्ञान, आनुभाविकी और विज्ञान है।

पीटर हेमिल्टन (Peter Hamilton) ने भी यह स्थापित किया है कि आधुनिकता की सही परिभाषा ज्ञानोदय काल में हुई वैज्ञानिक और वैचारिक क्रान्ति द्वारा दी जा सकती है। ज्ञानोदय का मुख्य तर्क (Reason) और बुद्धिसंगति (Rationality) है। अर्थात आधुनिकता विवेकपूर्ण व्यवहार है। आधुनिकता का अर्थ है - अनुभव (Experience)। प्राकृतिक तथा सामाजिक दुनिया के विषय में हमारी जो भी समझ है, उसका आधार हमारा अनुभव या आनुभाविकी है। यह आनुभाविक तथ्य (Empirical facts) इन्द्रियों द्वारा परखे जा सकते हैं। सभी प्रकार के मानवीय ज्ञान के विकास में या उसकी वृद्धि में वैज्ञानिक ज्ञान ही एक मात्र कुंजी है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि हमारे विकास के रास्ते प्रत्यक्षवाद (Positivism) के माध्यम से ही संभव है।

वेबर ने आधुनिक समाज के आदर्श प्रारूप का निर्माण किया है। वे एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जो अधिकारीतंत्रात्मक और बुद्धिसंगत (Bureaucratic and rational) होगा। उनका विचार है कि ज्यों -ज्यों बुद्धिसंगति विकसित होगी, व्यक्ति परम्पराओं के बंधने से मुक्त होता जायेगा। वेबर ने आधुनिकता के कतिपय लक्षणों का उल्लेख किया है। इन लक्षणों में वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद (Scientific Positivism), पूँजीवाद, बाजार, वर्ग, बुद्धि संगति तथा राजनैतिक वैचारिकी सम्मिलित है।

मैक्स वेबर को दर्शनशास्त्र के नव कांतवादी (Neo-Kantism) सम्प्रदाय का लेखक माना जाता है। उनके विचारों का केन्द्र स्वतंत्रता (Freedom) थी। वे कहते हैं कि आदमी को परम्पराओं से मुक्त करने के लिए बुद्धि संगति अर्थात विवेक और तर्क आवश्यक है। यह आधुनिकता द्वारा ही संभव है। जार्ज रिटजर भी आधुनिकता के समकालीन विचारक है। वे वेबर की अवधारणा को एक

नये दबाव के साथ प्रस्तुत करते हैं। उनकी मान्यता है कि हम जिसे बुद्धि संगति या विवेक कहते हैं इसके कई स्वरूप हैं । उदाहरण के लिए समकालीन समाज में जिसे अमेरिकीकरण (American-ization), मेक्डोनालीइजेशन (McDonalization) और फास्ट फूड (Fast food) फैशन कहते हैं, वह और कुछ न होकर बुद्धि संगति (Rationality) का ही एक रूप है।

2.3 उत्तर-आधुनिकता क्या है?

उत्तर-आधुनिकता का अविर्भाव इसी शताब्दी में प्रायः साठ के दशक में यूरोप में हुआ था। उत्तर-आधुनिकतावाद एक ऐसा संश्लेषणात्मक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त है जो विभिन्न ज्ञान शाखाओं से तथ्यों और अवधारणाओं को लेकर भविष्य के समाज के बारे में एक एकीकृत विचारधारा प्रस्तुत करता है। यह भविष्य के समाज के बारे में सिद्धान्त बनाने का ऐसा प्रयास है जो दर्शनशास्त्र, साहित्यशास्त्र, कला, शिल्पकला, आदि में बहुत कुछ ग्रहण कर अपने निश्चित संदर्श में वस्तुओं को व्यवस्थित करता है। यह भी सत्य है कि इस तथाकथित सिद्धान्त का अविर्भाव विकसित और पूंजीवादी देशों की जीवनपद्धति से जुड़ा हुआ है।

उत्तर-आधुनिकतावाद का जन्म आधुनिकतावाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ है। यह आधुनिकतावादी दृष्टि को नकारता है और सर्वप्रथम इस बात पर सर्वाधिक बल देता है कि सत्य, सौन्दर्य, और नैतिकता वस्तुपरक यथार्थताएं नहीं हैं । इनका वस्तुपरक अस्तित्व उनके संबंध में हमारे सोचने, लिखने और बातचीत करने के भी परे अधिक कुछ नहीं है। सामाजिक जीवन कोई ऐसी वस्तुपरक यथार्थता नहीं है जिसकी खोज संभव है। समाज, समुदाय और परिवार का कोई अचल स्वरूप नहीं है। यह हमारी बातचीत की निरन्तर धाराओं, अमूर्त प्रतिरूपों (Models), कथाओं और अन्य प्रतीकों को प्रकट करने वाले स्वरूप मात्र हैं। इस परिप्रेक्ष्य की यह मान्यता है कि विज्ञान के द्वारा सत्य की पहचान करके बेहतर विश्व की इच्छित रचना करने का लक्ष्य मात्र एक भुलावा है। आधुनिकतावादियों के मतानुसार इस दृष्टिकोण ने न केवल समाजशास्त्र को अपितु कई अन्य सामाजिक और भौतिक विज्ञानों के अस्तित्व को ही खतरे में डाल दिया है। जीन फ्रैन्कोइस ल्योटार्ड (Jean Francois Lyotard) ने अपनी पुस्तक The Post Modern Condition (1984) में आधुनिकतावाद पर कड़ा प्रहार करते हुए उत्तर आधुनिकतावादी विचारों की अपनी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। ल्योटार्ड ने समाजशास्त्र में प्रचलित अन्य सिद्धान्तों जैसे वृहत सिद्धान्तों (Grand Theories) के प्रणेताओं पारसन्स,मर्टन, होमन्स आदि की कड़ी आलोचना करते हुये कहा है कि इनके सिद्धान्त लम्बे -लम्बे विवरणों से भरे पड़े हैं जिनका सामाजिक जीवन की यथार्थता से कोई प्रत्यक्ष सरोकार नहीं है।इस परिप्रेक्ष्य ने प्रकार्यवाद और मार्क्सवाद दोनों को समान रूप से अपनी आलोचना के तीरों का निशाना बनाया है। उत्तर-आधुनिकतावादी लेखकों ने ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों (साहित्य, कला, वास्तुशिल्प, चित्रकला, दर्शनशास्त्र) की सभी पुरातन सीमाओं को तोड़ कर नये सिद्धान्तों नये प्रारूप (Paradigm), प्रतिरूप (Models), विकसित करने का यत्न किया है। इन लेखकों ने मार्क्सवाद नारी आन्दोलन और पारम्परिक सिद्धान्तों की नई व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। उत्तर आधुनिकतावादी विचारकों में विशेष उल्लेखनीय हस्ताक्षर केलनर (Kellner) (1980), ल्योटार्ड (Lyotard) (1984), बोड्रिलार्ड (Baudrillard) (1984), बोगार्ड (Bogard) (1990), जेमसन (Jameson) (1984) मुख्य हैं। इन विचारकों नें पहले दो दशक में उत्तर आधुनिकता की व्याख्या सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में की है। यद्यपि अधिकांश विचारक यह स्वीकार करते हैं कि आज की अवस्था में उत्तर आधुनिकता एक सुसंगत (Coherent) सिद्धान्त नहीं है फिर भी इन विचारकों ने उत्तर आधुनिकता को परिभाषित करने का प्रयास अवश्य किया है।

जार्ज रिटजर (1994) उत्तर-आधुनिकतावादियों द्वारा की गई कतिपय महत्वपूर्ण परिभाषाओं का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं : वास्तव में उत्तर आधुनिक सिद्धान्त विविध क्षेत्रों में देखने को

मिलता है। यह क्षेत्र है कला, वास्तुकला, साहित्य, फिल्म, दर्शन, सांस्कृतिक सिद्धान्त, सामाजिक सिद्धान्त, आदि। रिटजर का मानना है कि उत्तर आधुनिक सामाजिक सिद्धान्त उत्तर आधुनिक समाज के विकास से जुड़ा है। यद्यपि उत्तर आधुनिकता की परिभाषा के संबंध में पर्याप्त विवाद है फिर भी यह सुनिश्चित है कि उत्तर आधुनिक समाज की जो छवि उभर रही है वह आधुनिक समाज से भिन्न है। उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता की ही प्रतिक्रिया या प्रतिफल है। इस स्पष्ट स्वीकारोक्ति के बावजूद उत्तर आधुनिक एवम् आधुनिक समाज मूलतः किस सीमा तक भिन्न हैं, यह अभी सुनिर्धारित नहीं हो सका है। आधुनिकता के गर्भ से उत्तर आधुनिकता का अविर्भाव तो हो रहा है किन्तु उत्तर आधुनिक समाज का भावी रूप कैसा होगा, उसकी संरचना कैसी होगी इस पर भी उत्तर आधुनिकतावादी एकमत नहीं है।

ल्योटार्ड ने उत्तर आधुनिक समाज की संभावित रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की है -

एक उत्तर-आधुनिकतावादी व्यक्ति अमरीका में रहता हुआ पाश्चात्य संगीत से मोहित होता है। अपने दोपहर के भोजन में मैक्डोनाल्ड डिश लेता है और रात्रि भोजन में वह किसी विदेशी पाक प्रणाली से बना खाना खाता है। अमरीका में वह पेरिस का बना इत्र लगाता है और उसका ज्ञान टी.वी. खेलों तक सीमित होता है। समाज में साहित्यकार, कलाकार और आलोचक क्या कुछ कर रहे हैं, इसके प्रति उत्तर आधुनिक व्यक्ति बेखबर होता है। ऐसे समाज में लोग कामचोर व आलसी बन जाते हैं। इस युग में लोगों की पसंद-नापसंद पूर्णतया अस्त-व्यस्त होती है।

2.4 उत्तर-आधुनिकतावाद की अवधारणा

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि उत्तर आधुनिकता की अवधारणा की कोई सर्वसम्मत परिभाषा नहीं है। अलग-अलग संदर्भों में भिन्न-भिन्न व्याख्याएं की गई हैं जिनकी चर्चा हम अगले पृष्ठों में करेंगे। डेविड हारवे (David Harvey) ने अपनी पुस्तक कन्डीशन ऑफ पोस्टमाडर्निटी (The Condition of Post-Modernity) (1984) में उत्तर आधुनिकता के कतिपय मुद्दों को प्रस्तुत किया है जो उसके लक्षणों को स्पष्ट करते हैं।

(अ) उत्तर आधुनिकतावाद की संस्कृति (Culture of Post-Modernism)

उत्तर आधुनिकतावाद एक सांस्कृतिक प्रारूप (Paradigm) है जो कि सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक प्रक्रियाओं से जुड़ा हुआ है। इसकी अभिव्यक्ति जीवन के विभिन्न पक्षों अर्थात कला, साहित्य, दर्शन आदि में देखने को मिलती है। इस संस्कृति को सामाजिक आयोजन और आर्थिक परिवर्तन में देखा जा सकता है। इसका अस्तित्व प्रत्यक्षवाद, उत्तर संरचनावाद के साथ ही विखण्डन में भी पाया जाता है।

(ब) उत्तर आधुनिकता बहु आयामी है (Post-Modernity is multidimensional) -

उत्तर आधुनिकता में बहुलता है । इस संस्कृति में स्थानीयता और विखण्डन (Fragmentation) होता है, उदाहरण के लिए फूको कहते हैं कि शक्ति का कोई एक स्वरूप नहीं होता - यह अलग -अलग स्वरूपों में स्थित होती है।

(स) उत्तर आधुनिकता विखण्डन में दिखाई देती है (Post-Modernity is seen in Fragmentation) -

उत्तर आधुनिकता की प्रकृति विखण्डन की है। यह अनिरन्तरता है। यह समानता (Uniformity) की अपेक्षा विविधता (Difference) को स्वीकार करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि उत्तर आधुनिक समाज विविध होता है, और इसमें किसी प्रकार की समानता नहीं होती।

है। बाहरी रूप ही प्रभावपूर्ण होता है और यही उत्तर आधुनिकता की विशेषता है। इसमें उपभोक्ता को दिखावट द्वारा बहकाया जाता है। संकेत ही बाजार में विनिमय का आधार होते हैं। इन संकेतों ने एक नये उपभोग समाज का निर्माण किया है। बोडिलार्ड के अनुसार समाज वस्तुतः संचार की प्रचुरता और उपभोक्ताओं का समाज है।

(5). उत्तर-आधुनिकता का रचनात्मक पहलू

उत्तर आधुनिकता के अविर्भाव का बहुत बड़ा कारण यह समझा जाता है कि यह आधुनिकता का विरोधी है। उत्तर आधुनिकता मनुष्य की भावनाओं और आध्यात्मिकता पर भी जोर देता है। आधुनिकता ने पवित्रता, करिश्मा, मानवीय एकता, रोमान्स सभी पर प्रश्न चिह्न खड़े कर दिये थे। समुदाय प्रेम, स्त्रियों की कोमलता, स्नेह आदि उत्तर-आधुनिकता के केन्द्रीय विषय रहे हैं। उत्तर आधुनिक काल ने धर्म को मनोविज्ञान और राजनीति के साथ जोड़ा है।

2.6 आधुनिकता एवं उत्तर-आधुनिकता में अन्तर

उत्तर आधुनिकतावादियों ने उत्तर आधुनिक समाज की जो छवि बनायी है वह आधुनिक समाज से भिन्न है। मुख्य बात यह है कि जहाँ आधुनिकता को विवेकशीलतां से जोड़ा जाता है, वहीं सामान्यतया यह समझा जाता है कि उत्तर आधुनिकतावाद तर्कहीन (Irrational) है तथा इसमें लचीलापन अधिक है। उत्तर आधुनिकता के कुछ ऐसे तत्व हैं जो एक संश्लेषणात्मक (Synthetic) सिद्धान्त का रूप देते हैं। ल्योटार्ड और अन्य उत्तर आधुनिकतावादी सिद्धान्तवेत्ता भव्य संश्लेषणात्मक सिद्धान्तों की कटु आलोचना करते हैं । इसी संदर्भ में वे मार्क्स तथा पारसंस के वृहद सिद्धान्तों को अस्वीकार करते है तथा इन सिद्धान्तों को महान वृत्तान्त (Grand narratives) के नाम से पुकारते हैं। यह महान वृत्तान्त जिन्हें सी. राइट मिल्स (C. Wright Mills) भव्य सिद्धान्त (Grand theories) कहते हैं वे कभी भी उत्तर आधुनिकतावादियों को रास नहीं आते। मत्य सिद्धान्तवेत्ता पूरे समाज के सम्पूर्ण स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। उत्तर आधुनिकतावादी विभिन्न सैद्धान्तिक संदर्शों को एक संश्लेषणात्मक रूप में रखना पसन्द करते हैं। यह सिद्धान्त समाज की विभिन्नता के प्रति हमें संवेदनशील बनाना चाहता है। इसी कारण आधुनिक और उत्तर आधुनिक समाजों की तुलना कठिन है। वास्तविकता यह है कि उत्तर आधुनिक युग आधुनिक युग से बहुत आगे निकल गया है। इसका एक मात्र उद्देश्य छोटे -छोटे स्थानीय वृत्तान्तों को एक सूत्र में पिरोकर सिद्धान्त का स्वरूप देना है। इस संदर्भ में महान वृत्तान्त जो किसी महान परम्परा के अनुरूप है, उत्तर आधुनिकतावादियों के लिए तिरस्कृत है। आधुनिक और उत्तर आधुनिक समाजों की तुलना के उपसंहार में जार्ज रिटजर अपनी पुस्तक Contemporary Sociological Theory (1994) में लिखते हैं : "इस भाँति उत्तर आधुनिकतावाद सामान्यतया महान वृत्तान्तों को अस्वीकार करता है और भव्य सिद्धान्तों की विशेषकर उपेक्षा करता है। आधुनिकता ने विज्ञान को महत्व दिया, जबकि उत्तर आधुनिकता मानवतावाद को महत्व देती है।"

आधुनिकता के अन्तर्गत तर्क को प्रधानता दी गयी है जबकि उत्तर आधुनिकता ने भावना को प्रधानता दी है। भावना का मानवीय जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। तार्किकता, मात्र बौद्धिक व यांत्रिक होती है। आधुनिकता ने प्रतिस्पर्द्धा को महत्व दिया,जबकि उत्तर आधुनिकता ने साकल्पना को। आधुनिकता ने व्यक्तिवाद के विपरीत उत्तर आधुनिकता सामूहिकता को महत्व दिया है। व्यक्तिवाद किसी स्तर पर स्व -परक एवं स्वार्थमय हो जाता है। परिवार की संस्था के लिए व्यक्तिवाद घातक व अहितकारी हो जाता है। समूह में व्यक्ति की क्षमताओं का विकास सार्थक होता है एवम् व्यक्ति स्वयं को सुरक्षित पाता है। अतः कुल मिलाकर आधुनिकता तार्किक व्यवहारों का प्रतिनिधित्व करती है जबकि उत्तर आधुनिकता में लोक व्यवहारों के मानवीय पक्षों की समीक्षा होती है।

2.7 सारांश

ज्ञानोदय काल ने ही आधुनिकता को जन्म दिया। आधुनिकता का आधार तर्क, ज्ञान, आनुभाविकता और विज्ञान है। मेकडोनेल्डीकरण, फास्ट फूड, क्रेडिट कार्ड, आदि इस बुद्धिसंगत समाज के प्रतीक हैं। उत्तर आधुनिकता की प्रक्रिया में विखण्डन की अवधारणा एक केन्द्रीय अवधारणा है। उत्तर आधुनिकता की एक और सर्व-सम्मत विचारधारा संस्कृति विषयक है। सभी इस बात में सहमत हैं कि उत्तर आधुनिकता संस्कृति प्रधान है। यह संस्कृति लोक संस्कृति है - लोक कला, लोक साहित्य और लोक संगीत या पॉप संगीत इसके अंग हैं। इसी संस्कृति का अंग अति उपभोक्तावाद भी है। उत्तर आधुनिकता की अवधारणा बहुलवादी है। इसमें प्रजातंत्र है, अर्थ-व्यवस्था है, विखण्डन है, संस्कृति और राजनीति है, साहित्य है, कला और धर्म है। इन सबसे आगे भावनाएँ हैं, मनोभाव हैं। आधुनिकतावाद को जहाँ विवेक के साथ जोड़ा जाता है वहीं पर उत्तर आधुनिकतावाद को अविवेकशील अर्थात भावनाओं तथा मनोभावों के साथ जोड़कर देखा जाता है।

2.8 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 आधुनिकता क्या है? आधुनिकता तथा उत्तर आधुनिकता में अंतर बताइये।

प्र.2 उत्तर-आधुनिकता क्या है? उत्तर-आधुनिकता के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र.1 निम्नलिखित में से आधुनिकता के लिए कौन प्रमुख है?

(अ) मनोभाव (ब) मनोवेग (स) विवेक (द) कला

प्र.2 वेबर के आदर्श प्रारूप को निम्नलिखित में से किस व्याख्या में देखा गया है?

(अ) नौकरशाही (ब) सिनेमा (स) परिवार (द) चर्च

प्र.3 नव-कांतवादियों के विचारों का केन्द्र कौन है?

(अ) नियम (ब) कानून (स) स्वतंत्रता (द) औपचारिकता

प्र.4 जीन फ्रेंकोज ल्योटार्ड की प्रसिद्ध पुस्तक कौन सी है?

(अ) Post-Modern condition (ब) Post-Modern Society
(स) Risk Society (द) Global Society.

प्र.5 फूको ने उत्तर आधुनिकता के लिए किसका विरोध किया ?

(अ) लघु घटनाऐं (ब) महान वृत्तान्त
(स) लघु सिद्धान्त (द) लघु जीवन शैली

प्र.6 जेमसन को हम किस श्रेणी में रखेंगे।

(अ) उदारवादी उत्तर-आधुनिकवेत्ता (ब) कट्टरवादी आधुनिक वेत्ता
(स) निश्चयवादी आधुनिक वेत्ता (द) मार्क्सवादी उत्तर-आधुनिकवेत्ता

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र.1	(स)	प्र.2	(अ)	प्र.3	(स)
प्र.4	(अ)	प्र.5	(ब)	प्र.6	(ब)

इकाई - 3 मिशेल फूको की शक्ति एवम् ज्ञान संबंधी विचार की समालोचना

इकाई की रूपरेखा-

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 फूको का बौद्धिक मूल

3.3 फूको की प्रसिद्ध कृतियाँ

3.4 फूको का उत्तर-आधुनिकतावाद

3.5 फूको - ज्ञान तथा विमर्श

3.6 फूको की शक्ति की अवधारणा

3.7 फूको पर आलोचनात्मक टिप्पणी

3.8 सारांश

3.9 बोध प्रश्न

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य शक्ति एवं ज्ञान संबंधी विचारों का विश्लेषण तथा उनकी विचारधारा का विवेचन करना है। शक्ति एवम् ज्ञान संबंधी विचार को समझने में फूको के विश्लेषण से आपका परिचय करवाया जायेगा। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप -

- फूको के ज्ञान तथा विमर्श की विचारधारा को समझ सकेंगे।
- फूको की शक्ति की अवधारणा में उसके योगदान का विश्लेषण कर पायेंगे, तथा
- फूको के विचारों की एक आलोचनात्मक टिप्पणी करने में सक्षम होंगे।

3.1 प्रस्तावना

फूको एक फ्रांसीसी विचारक के रूप में जाने जाते हैं। वह न केवल एक दार्शनिक बल्कि सामाजिक विचारक तथा समाजशास्त्री थे। यद्यपि उनका प्रचुर लेखन प्राप्य है किन्तु इस इकाई में हम उनके शक्ति एवम् ज्ञान संबंधी विचारों को लेकर आगे चलते हैं। फूको आज के विमर्शों की बुनियाद को अतीत में खोजते हैं। फूको ने अपनी कृतियों में बुनियादी मुद्दे को खोजने का प्रयास किया है। कामुकता, पागलपन, ज्ञान, शक्ति आदि विमर्शों की बुनियाद को फूको ने विश्लेषित किया है। फूको यह मानते हैं कि पुरातत्व विज्ञान मनुष्य के अतीत के जीवन और गतिविधियों का अध्ययन करता है। इसके अध्ययन के लिए वे पुरातत्व के माध्यम से ज्ञान के विमर्श को समझना चाहते हैं। वस्तुओं को देखकर उनके पीछे जो विमर्श है, इसका पता लगाना ही फूको का उद्देश्य है। शक्ति की अवधारणा का वे कोई पृथक अस्तित्व नहीं मानते, क्योंकि यह सदैव सामाजिक सम्बन्धों में पाई जाती है। शक्ति अपने प्रभाव में तटस्थ होती है। बल या सामर्थ्य की तरह परिचालित और क्रियान्वित होती है। शक्ति

की अवधारणा को आगे बढ़ाते हुये फूको कहते हैं कि ज्ञान को कभी भी शक्ति से पृथक नहीं किया जा सकता।

3.2 फूको का बौद्धिक मूल

फूको ने अपनी कृतियों में कई प्रकार के सिद्धान्तों का समावेश किया है। इस कारण यह पता लगाना बड़ा कठिन लगता है कि उन पर किस विचार का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। उनकी विशेषता यह है कि वे विभिन्न विचारकों के सिद्धान्तों को लेते हैं फिर उन्हें अपने सैद्धान्तिक सूत्रीकरण (Formulation) में ढाल देते हैं। इस कठिनाई के होते हुए भी फूको पर कई तत्कालीन विचारकों का प्रभाव दिखाई देता है। उदाहरण के लिए वे वेबर की तार्किकता (Rationality) से अत्यधिक प्रभावित थे। इसी तरह उनकी कृतियों में मार्क्स का प्रभाव प्रखर रूप से दिखाई देता है। वे समाजवाद से अभिभूत थे और उन्होंने "अपनी विद्यार्थी राजनीति को मार्क्सवाद पर ही चलाया"। मार्क्स से प्रेरित होकर उन्होंने शक्ति की सूक्ष्म राजनीति (Micro Politics of Power) की अवधारणा को विकसित किया। शायद मार्क्स का फूको पर बहुत बड़ा प्रभाव अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में है। फूको के कृतित्व पर कई विचारधाराओं के प्रभाव देखे जा सकते हैं। उन्हें प्रभावित करने वाले विचारकों में शायद बहुत बड़ा प्रभाव जर्मनी के नित्से (Nietzsche) का था। नित्से को नाजीवाद और उत्तर आधुनिकतावाद के साथ जोड़ा जाता है। उन्होंने परम्परागत नैतिकता को चुनौती दी और नैतिकता की नींव डाली। यह नई नैतिकता शक्ति और प्रभुत्व पर आधारित थी। फूको की कृतियों में शक्ति की व्याख्या इस धारणा से आई है। नित्से की रूचि ज्ञान और शक्ति के सम्बन्धों को जानने मात्र की थी। फूको ने इस प्रबंध को आगे बढ़ाया उसकी स्थापना की कि जिसके पास ज्ञान है उसके पास शक्ति है। वे कहते हैं कि उत्तर आधुनिक समाज में ज्ञान ही उत्पादन का साधन है अर्थात अधिकाधिक ज्ञान अधिक उत्पादन शक्ति का आधार है।

3.3 फूको की प्रसिद्ध कृतियाँ

फूको के लेखन को एक ओर अत्यंत गूढ़ और मौलिक माना जाता है तो दूसरी ओर उसे निराशाजनक भी कहा गया है। उनकी कृतियों को पर्याप्त सम्मान मिला है और वे अत्यंत लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं। फूको की पुस्तकों की जनप्रियता इसी से सिद्ध होती है कि पुस्तक जगत में उनकी पुस्तकों संबंधी अनेक समीक्षाओं, आलोचनाओं और विश्लेषणों की बाढ़ आ गई है। इसमें एक अत्यंत महत्वपूर्ण पुस्तक अलेन शेरेदान ने अपनी पुस्तक "Focault The will to Truth (1980)" द्वारा लिखी गई है जिसमें उनके साहित्य का सर्वाधिक व्यवस्थित, सरल और सहानुभूतिपूर्ण सिंहावलोकन प्रस्तुत किया गया है। फूको की प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित हैं -

- The Birth of Clinic (1963)
- Madness and Civilization (1965)
- The Order of Things (1966)
- The Archaeology of knowledge (1969)
- Discipline and Punishment (1975)
- History of Sexuality, Two volumes (1976)
- Power/Knowledge : Selected Interviews and Other Writings (1980)

- The Care of the Self (1986)

3.4 फूको का उत्तर-आधुनिकवाद

फूको का तर्क है 'कि ज्ञानोदय और पुनर्जागरण अपने उद्विकास की अवस्था में सही थे। वे व्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्षधर थे। लेकिन ज्ञानोदय का एक दूसरा पहलू भी है। इस दूसरे पहलू का सरोकार मनुष्य को नियंत्रण में रखना है, उसे अनुशासन में बांधना है तथा उसकी हरकतों पर निगाह रखना है। इस सन्दर्भ में वे शक्ति, वैचारिकी और विमर्श (Discourse) के पारस्परिक संबंधों को आधुनिक संगठनात्मक व्यवस्था के सन्दर्भ में देखते हैं। विमर्श का अर्थ किसी एक वस्तु के बारे में लोगों से बातचीत करने के तरीके या सोचने की पद्धति से हैं। ये तरीके मिलजुल कर लोगों की सामान्य धारणा को बनाते हैं । उदाहरण के लिए पागलपन एक विमर्श है और यह विमर्श किसी व्यक्ति विशेष से नहीं वरन् सामान्य लोगों के विमर्श से आता है। फूको का तात्पर्य केवल विमर्श की व्याख्या करना ही नहीं है वे इसके अर्थ को भी स्पष्ट करने के बाद कहते हैं कि लोग शक्ति का प्रयोग विमर्श के माध्यम से करते हैं । होता यह है कि सबसे पहले शक्ति होती है। यह शक्ति अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखती। इसे अर्थपूर्ण बनाने के लिए विमर्श को काम में लिया जाता है। वस्तुओं के बारे में लोगों की अभिवृत्तियाँ बदली जाती हैं । यह बदलने का काम शक्ति करती है। शक्ति विमर्श के माध्यम से काम करती है। यह शक्ति ही है जो विमर्श के माध्यम से अपराध, पागलपन और कामुकता के बारे में हमारी अभिवृत्तियों को बदलती है।पहले पागलों के बारे में हमारा विमर्श था कि ईश्वर ने उन्हें ऐसा बनाया है और वस्तुतः वे समाज में रहने के काबिल नहीं हैं। उनका स्थान तो पागलखाना ही है। यह विमर्श है। अब मनोरोग चिकित्सक आये। उनके पास मनोरोग का विशिष्ट ज्ञान है, इस रोग के निदान में वे प्रवीण हैं। उन्होंने अपनी इस योग्यता की शक्ति द्वारा परम्परागत विमर्श को चुनौती दी, मनोरोगियों को दुरस्त किया और उनकी इस दक्षता ने पागलपन के बारे में जो विमर्श था, उसे बदल दिया। इस भाँति विमर्श के माध्यम से शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। शक्ति और विमर्श , एक -दूसरे से जुड़े हुए हैं। इस सम्बन्ध को जोड़ने का काम फूको ने किया। चूँकि फूको के सिद्धान्तों की धुरी विमर्श है। वह यह कहते हैं कि पिछले कालों की तुलना में हमारे वर्तमान विमर्श में बहुत बड़ा अन्तर आया है। विमर्श का यह बदलाव ही आधुनिक समाज को उत्तर आधुनिक समाज बना देता है। फूको की बहुत बड़ी समस्या अन्य उत्तर आधुनिकतावादी विचारकों की तरह ज्ञान मीमांसा की थी। वे जानना चाहते थे कि ज्ञान का उद्गम क्या है, दूसरे सिद्धान्त क्या हैं, और इसी खोज में उन्होंने विमर्श की अवधारणा को रखा है। अपने सिद्धान्त में - वैयक्तिक अध्ययनों में वे ज्ञान और शक्ति के संगठन की चर्चा करते हैं। सामाजिक नियंत्रण के क्षेत्र में शक्ति, ज्ञान और विमर्श की बहुत बड़ी भूमिका है और इसी पर उत्तर आधुनिक समाज का निर्माण होगा।

3.5 फूको : ज्ञान तथा विमर्श

The Archaeology of Knowledge (1969) फूको की आरम्भिक कृतियों में से एक है। उत्तर आधुनिक विचारकों की एक बड़ी विशेषता ज्ञान मीमांसा है। यह लेखक यह जानने में रूचि रखते हैं कि ज्ञान की प्रकृति क्या है; इसके स्रोत कौन से हैं, इसका अध्ययन क्या है? यदि हमें ज्ञान के बारे में समुचित जानकारी मिल जाये तो हम मनुष्य जीवन को अधिक सक्षम, सुन्दर और सुखमय बना सकते हैं। फूको ने भी ज्ञान की खोज अपनी पुस्तक The Archaeology of knowledge में की है। वैसे पुरातत्व का क्षेत्र इतिहासकारों का है। अपने आप भी पुरातत्व एक पृथक ज्ञान शाखा है। इसके अन्तर्गत अतीत के ध्वंसावशेषों, वस्तुओं, दस्तकारी, मकानों आदि का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। एक तरह से पुरातत्व विज्ञान मनुष्य के अतीत के जीवन और गतिविधियों का अध्ययन करता है। इसी प्रकार इस पुस्तक में फूको ज्ञान के मुद्दे को उठाते हैं इसके

अध्ययन के लिए वे एक विशिष्ट विधि को अपनाते हैं। वे पुरातत्व के माध्यम से ज्ञान के विमर्श को समझना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में फूको की जिज्ञासा अतीत के ज्ञान के विमर्श के प्रति है।

पुरातत्व शास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो अपनी खोज को कतिपय नियमों और सिद्धान्तों के अनुसार करता है।यह सिद्धान्त इतिहास सम्मत होते हैं, तथा इनके निर्धारण की एक वैधता भी होती है। पुरातत्व विधि से प्राप्त वस्तुओं और तथ्यों में फूको की कोई रूचि नहीं है, क्योंकि पुरातत्व तो तमाम भौतिक वस्तुओं को उजागर करता है उदाहरण के लिए मिट्टी के बर्तनों में भोजन पकाना, शानदार स्नानागार, पानी के विकास के लिए नालियाँ और ऐसी ही बहुत सारी रहन -सहन संबंधी विविध जानकारियाँ। फूको इन वस्तुओं के अध्ययन द्वारा किसी विशेष सत्य और अर्थ को समझने की चेष्ठा करते हैं। उनका विमर्श यह जानना है कि पुरातत्व की वे कौन सी प्राविधियाँ, और सिद्धान्त हैं जो लोगों की सोच को प्रभावित, नियमित और नियन्त्रित करते हैं। वस्तुओं को देखकर उनके पीछे जो विमर्श होता है उसे ज्ञात करना फूको का उद्देश्य है। वास्तव में Archaeology of knowledge पुस्तक लिखने के दो वर्ष बाद (1971) फूको ने एक लम्बा व्याख्यान दिया। इस व्याख्यान का केन्द्र बिन्दु था : दि आर्डर ऑफ डिस्कोर्स (The order of Discourse) । इसमें उन्होंने विमर्श के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये। यहाँ उन्होंने भविष्य की कृतियों का एजेण्डा रखते हुए कहा कि उनका उद्देश्य शक्ति की वंशावली (Geneology of power) को व्यवस्थित रूप से जानना है। यदि समग्रता से देखा जाये तो फूको की सभी कृतियों में संवाद है जिसके तीन कोण हैं : शक्ति (Power), ज्ञान (Knowledge) और विषय या व्यक्ति (Subject)। 1970 के दशक में उन्होने जो कृतियाँ लिखीं उनकी पुनरावृत्ति के सारांश में यही त्रिकोण विद्यमान दिखता है। फूको के Archaeological Studies में प्रमुख रूप से दो सैद्धान्तिक विचारधाराएं उभर कर आई थीं। प्रथम के अन्तर्गत संवाद का रचनात्मक दृष्टिकोण (Constructive view) है जिसमें समाज संरचना, अनेक आयामों पर संभावित होती है। संवाद वस्तुओं के ज्ञान, सामाजिक विषय एवम् 'स्व' के स्वरूप, सामाजिक संबंध एवं संबोधात्मक ढाँचों का निर्माण करता है। दूसरे, समाज व संस्थाओं की संवाद शैलियों की अंतःनिर्भरता पर बल दिया गया है। संवाद शैली तथा भाषायी विश्लेषण दोनों एक नहीं हैं। कथनों का विश्लेषण, संवाद शैली में निहित है। मौखिक अभिव्यक्तियों का विश्लेषण भी किया जाता है, पर यह विश्लेषण प्राक्कथनों के तार्किक विश्लेषण, वाक्यों के व्याकरणात्मक विश्लेषणों से परे है।

विमर्श के गठन की प्रक्रिया, अन्तः विमर्श (Intra-discourse) संबंधों के आधार पर निर्मित होती है। फूको ने वार्तालापों के संरचनात्मक,मुखारात्मक (Articulate) पक्षों को संस्थात्मक व सामाजिक संवाद क्रम (Order of discourse) में विवेचित किया है। बोलने वाले की प्रस्थिति, सत्ता-स्थिति, वर्ग व सुनने वाले की पृष्ठभूमि, स्व-स्वरूप, कर्ता की विषयपरकता के आयामों को फूको ने उभारा है। हमारी बातचीत के माध्यम से हम वार्तालाप करने वाले की पृष्ठभूमि, लिंग-भेद, व्यवसाय, शिक्षण स्तर, व व्यक्तित्व के आयामों को जान सकते हैं, दूसरे अर्थों में यह विविध आयाम की प्रकृति और अंतर्वस्तु को प्रभावित करते हैं।

संबंधों के निर्माण की भी एक प्रक्रिया होती है। संबोध, फूको के अनुसार श्रेणियों में बनते हैं। उसमें कतिपय तत्व होते हैं,संबोध की परिभाषा की जाती है। कथनों के क्षेत्र में (field of statements) संबोध प्रकट होते है एवं परिचालित (Circulate) होते हैं। संवाद के संबोधों का निर्माण बाह्य शक्तियों द्वारा होता है।

संवाद शैली का प्रभाव संदर्भगत होता है। भौतिकशास्त्रियों की गोष्ठियों में व्यक्ति के लिंग, आयु व जाति व धर्म का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता है। समाजशास्त्र में उदाहरण के लिए महिलाओं की प्रस्थिति की बहस में अक्सर कई पुरूष एक पक्ष में व महिलाएँ दूसरे पक्ष में हो जाती है। सत्य

कार्य विधिक (Procedural) व्यवस्था के माध्यम से उत्पादित (Produced) होता है, वितरित होता है, परिचालित (Circulate) होता है और कथनों (Statements) का निर्माण करता है। यह पुरातात्विक विधि (Archaeological Method) है। दूसरी ओर जब सत्य को शक्ति अवस्था (System of Powers) से जोड़ा जाता है,जो कि उसका निर्माण करता है व बनाए रखता है यह वंशावली विधि (Geneological Method) है। इस प्रकार वंशविज्ञान का प्रभाव पुरातत्व विज्ञान पर स्पष्ट दिखता है।

3.6 फूको की शक्ति की अवधारणा

उत्तर-आधुनिकता इतिहास में आवाजों को बहुलता में सुना जाता है। यह बोधगम्यता को प्रक्रियात्मक रूप से प्राप्त करता है। यह आधारभूत समायोजनों (Foundational Arguments) को अस्वीकार करता है। फूको की यह मान्यता है कि ज्ञान के सभी तरीके शक्ति प्राप्त करने के साधन हैं। उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों जैसे - मैडनेस एण्ड सिविलाइजेशन (Madness and Civilization) द हिस्ट्री ऑफ सेक्सुआलिटी (The History of Sexuality) की रचना की । इनके अध्ययनों से शक्ति के विचार को समझने में आसानी होती है। फूको ने विश्रृंखला क्षेत्र (Discourse field) का विचार भी प्रस्तुत किया । सामाजिक संरचनाएं एवम् प्रक्रियाएं, संस्थाओं एवम् व्यवहारों के माध्यम से व्यवस्थित होती हैं जैसे कानून, राजनैतिक व्यवस्था, चर्च, परिवार, शिक्षण व्यवस्था, जन संचार यह सब किसी विशिष्ट विश्रृंखल क्षेत्र में स्थित हैं और उनके माध्यम से संचरित (Structured) होते हैं। फूको ने विश्रृंखल क्षेत्र संबोध का उपयोग भाषा, सामाजिक संस्थाएं, विषयपरकता व शक्ति के मध्य सम्बन्धों को समझने के दृष्टिकोण से किया। विश्रृंखला क्षेत्र के अन्तर्गत विविध तुलनात्मक तरीकों से विश्व को अर्थ देने व सामाजिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं को व्यवस्थित करने के उपाय निहित हैं। व्यक्ति पूर्ण रूप से उसको समझने के लिए अपना अर्थ प्रदान करने के लिए स्वतंत्र होता है।

शक्ति फूको के लिए नकारात्मक तत्व नहीं है। वे उसे सकारात्मक तत्व मानते हैं। शक्ति जब व्यक्ति के हाथों में आ जाती है तब वह नकारात्मक हो जाती है। व्यक्ति उसका उपयोग अपने अहम, लाभ अथवा स्व-श्रेष्ठता के लिए करता है। शक्ति को व्यक्ति का गुणधर्म अथवा संपत्ति नहीं वरन् सामाजिक संरचना व संस्कृति का तत्त्व बनाना चाहिए। शक्ति को संरचना का तत्व बनाने से वह व्यक्ति से विलग होकर समूहगत हो जाती है। उदाहरणार्थ प्रजातंत्र में एक राजा के हाथ में शक्ति व सत्ता न होकर लोक सभा व विधान सभाओं में शक्ति निहित होती है। इस व्यवस्था में सत्ता व शक्ति संरचनात्मक होने पर भी केन्द्रीकृत हो जाती है। अतः पंचायत व्यवस्था के माध्यम से विकेन्द्रित करके अन्य व्यवस्थाओं की स्थापना की जाती है। पंचायत व्यवस्था के माध्यम से स्थानीय लोगों की प्रत्यक्ष भागीदारी द्वारा समस्याओं का निदान संभव होता है। इसकी योजनाओं का आधार भी स्थानीय परिवेश के अन्तर्गत निर्मित होता है। जनता तथा जनमत की भागीदारी क्रियान्वयन एवम् मूल्यांकन दोनों से ही जुड़ जाते हैं। इस व्यवस्था में आरक्षण द्वारा कमजोर श्रेणियों का भी समुचित प्रतिनिधित्व हो जाता है और जिसमें परिपेक्ष्य (Perspective) के निर्माण में मदद मिलती है। इसमें सभी पक्षों की सोच को जोड़ा जाता है। समितियों के माध्यम से निर्णय की प्रक्रिया को एक सामूहिक शक्ति प्रदान करने की प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त शक्ति को संस्कृति का अंग भी बनाना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि उसके मानदण्डात्मक, मूल्यगत आयामों को प्रतीकों, प्रथाओं, परम्पराओं के माध्यम से समुदाय, समूहों में एक संस्थात्मक स्वरूप प्रदान किया जाता है। उदाहरण के लिए, विवाह के नियम प्रतिबंध, सात फेरों का विधान इत्यादि। प्रथाओं के द्वारा समूह विशेष की स्वीकृति है। अतः यह संस्कृति का अंग बन जाता है। कार्य संस्कृति के अन्तर्गत सरकारी दफ्तरों व निजी संस्थाओं में भेद, स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। शक्ति जब संस्कृति का अंग बन जाती है तब यह व्यक्तियों के व्यवहारों के माध्यम से परिलक्षित होती है।

फूको, मार्क्स एवम् फ्रायड के शक्ति के विचारों का विरोध करते हैं । वे शक्ति को सर्जनात्मक ताकत मानते हैं। मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) आत्मस्वीकृति (Confession) का तरीका है, अपराध विरोध (Protest) का स्वरूप है। फूको के कथन नवीन व्यवस्थाओं को प्रस्तुत करते हैं। इन कथनों द्वारा पूर्व मान्य व स्वीकृत अर्थों को चुनौती दी गयी है। आत्मस्वीकृति की विद्या मनोचिकित्सकों द्वारा अपनाई जाती है। प्रत्यक्ष रूप से आत्मस्वीकृति के माध्यम से चिकित्सक मन के विभिन्न पक्षों को समझने का प्रयास करते हैं, दूसरी ओर इस प्रक्रिया में व्यक्ति अभिव्यक्ति के द्वारा अपने मन को हल्का महसूस करता है। उसके मन का बोझ विलिन हो जाता है। इसी तरह अपराध के द्वारा प्रकट करने से सामूहिक अथवा व्यक्तिगत पीड़ा व समस्याओं की समझ प्राप्त होती है। फूको ने संवाद शैली विश्लेषण को लोकप्रिय बनाने में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान किया है। फूको ने संवाद शैली के सामाजिक सिद्धान्त का निरूपण किया जिसमें शक्ति व संवाद शैली सम्बन्धों का निरूपण किया गया। उन्होंने संवाद शैली विमर्श के द्वारा ही चिकित्सा क्षेत्र में परिवर्तन आने की भी चर्चा की है। अर्थात् उनका यह मानना है कि शक्ति संबंध व शक्ति संघर्ष संवाद शैली के सामाजिक व्यवहारगत आयाम व उसके संस्थात्मक आयामों को किस प्रकार परिवर्तित करते हैं।

3.7 फूको पर आलोचनात्मक टिप्पणी

फूको के विश्लेषण की आलोचना इसलिए की गई है क्योंकि उन्होंने अपने सम्पूर्ण विमर्श में शक्ति को अत्यधिक महत्व दिया है। फूको ने क्रियाकलापों को संरचनात्मक अर्थ में प्रस्तुत किया है जबकि क्रिया -कलाप व संरचना परस्पर भिन्न होते हैं। क्रिया- कलापों द्वारा संरचनाओं का निर्माण होता है। संरचना किस तरह से क्रिया -कलापों में प्रकट होती है, उसे केवल अभिग्रहीत नहीं करना चाहिये, वरन् वे क्रिया कलापों में किस प्रकार प्रविष्ट होती है, उसको समझने का प्रयास करना चाहिए।

3.8 सारांश

फूको ने उत्तर-आधुनिकतावादियों की एक पूरी की पूरी पीढ़ी को प्रभावित किया है। चिकित्सा का इतिहास मनोरोग विज्ञान क्षेत्र में, कामुकता का इतिहास,और आधुनिक समाज की सामाजिक नियंत्रण विधियाँ फूको की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। उनके अध्ययन में पुरातत्व विज्ञान को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। वे पुरातत्व के द्वारा ज्ञान के विमर्श को समझना चाहते है। उनका सम्पूर्ण विमर्श शक्ति, ज्ञान और व्यक्ति के बीच संवाद को समझना है। फूको यह जानना चाहते हैं कि ज्ञान का उद्गम क्या है, दूसरे सिद्धान्त क्या हैं और इसी खोज में उन्होंने विमर्श की अवधारणा को रखा। सामाजिक नियंत्रण के क्षेत्र में शक्ति, ज्ञान और विमर्श की बहुत बड़ी भूमिका है और इसी पर उत्तर आधुनिक समाज का निर्माण होता है। विमर्श के गठन की प्रक्रिया, अन्तः विमर्श (Intra-discourse) संबंधों के आधार पर निर्मित होती है। फूको शक्ति को सर्जनात्मक ताकत मानते हैं। शक्ति जब व्यक्ति के हाथों में आ जाती है तब वह नकारात्मक हो जाती है। अतः उनके अनुसार शक्ति को सामाजिक संरचना व संस्कृति का तत्त्व बनाना चाहिए। फूको पहली बार शक्ति की अवधारणा को सामाजिक धरातल पर रखते हैं। उत्तर आधुनिकता के सिद्धान्त निर्माण में आने वाले कई वर्षों तक शक्ति, ज्ञान और व्यक्ति का फूको का त्रिभुज मार्गदर्शक की तरह काम करेगा।

3.9 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 फूको के उत्तर आधुनिकतावाद के सिद्धान्त की समीक्षा कीजिये ।

प्र.2 फूको की शक्ति की अवधारणा को उदाहरण सहित समझाइये।

प्र.3 फूको की ज्ञान संबंधी अवधारणा का विवेचनात्मक विश्लेषण कीजिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र.1 निम्नलिखित में से किसने फूको की विचारधारा को प्रभावित किया?

(अ) नीत्से (ब) पारसन्स (स) मर्टन (द) गिडिंग्स

प्र.2 फूको के ज्ञान का केन्द्र बिन्दु क्या है?

(अ) अधिक ज्ञान अधिक उग्र (ब) अधिक ज्ञान अधिक उत्पादन शक्ति

(स) अधिक उत्पादन अधिक ज्ञान (द) अधिक उत्पादन अधिक स्वास्थ्य

प्र.3 निम्नलिखित में से कौन व्यक्ति फूको के विमर्श (Discourse) की विषय-वस्तु है?

(अ) छात्र (ब) धनाढ्य (स) पागल (द) युवा

प्र.4 फूको ने शक्ति की अवधारणा को समझने के लिए निम्नलिखित में से किस पर बल दिया?

(अ) नकारात्मक पहलू (ब) सकारात्मक पहलू (स) निरपेक्ष (द) दमनकारी

प्र.5 फूको 'ज्ञान प्राप्ति' के लिए किस पक्ष पर बल देते हैं?

(अ) तुलनात्मक पक्ष (ब) पुरातत्व पक्ष (स) आनुभाविकता (द) काल्पनिकता

प्र.6 निम्नलिखित में से किस पुस्तक के लेखक फूको हैं?

(अ)	मैडनेस एंड सिविलाइजेशन	Madness and Civilization
(ब)	पावर्टी	Poverty
(स)	पावर स्ट्रक्चर	Power Structure
(द)	हिस्टोरिकल नॉलेज	Historical Knowledge

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र. 1 (ग) प्र. 2 (ब) प्र.3 (स) प्र.4 (अ)

प्र.5 (ब) प्र.6 (अ)

इकाई - 4 उत्तर-आधुनिकता एवम् नारीवादी विमर्श

इकाई की रूपरेखा-

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 नारीयता

4.3 नारीवाद

4.4 नारीवाद चिन्तन की प्रमुख धाराएँ

(अ) लिबरल फेमिनिज्म

(ब) रेडिकल फेमिनिज्म

(स) मनोविश्लेषणात्मक नारीवाद

(द) मार्क्सवादी / समाजवादी नारीवाद

4.5 उत्तर आधुनिक नारीवाद

4.6 नारीवाद एवम् उत्तर-आधुनिकतावाद : बटलर, हारावे तथा रिचर्डसन का योगदान

4.7 नारीवाद एवम् उत्तर आधुनिकतावाद : फूको के विचार

4.8 नारीवाद एवम् उत्तर आधुनिकतावाद : बार्डेयू का योगदान

4.9 सारांश

4.10 बोध प्रश्न

4.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको नारीवाद की धारणा से निकले उन मुद्दों से परिचित कराना है जो नारीवाद के विमर्श की धुरी है। नारीवाद विमर्श के विकास में विभिन्न विचारों का प्रार्दुभाव हुआ और उत्तर आधुनिक नारीवाद भी इस विमर्श का अंग बना। अतः इस संदर्भ में इस इकाई के अन्तर्गत दो मुद्दे मुख्य रूप से रेखांकित किये जायेंगे।

- नारीवाद का प्रत्यय, एवम्
- नारीवाद तथा उत्तर आधुनिकता में विभिन्न विचारकों का योगदान.

4.1 प्रस्तावना

पिछले कुछ दशकों में नारी संबंधी विमर्श ने बौद्धिक जगत में महत्वपूर्ण एवम्-केन्द्रीय स्थिति प्राप्त की है। इस परिप्रेक्ष्य में नर एवम् नारी के संबंधों तथा प्रस्थितियों की असमानता का प्रश्न भी महत्वपूर्ण रूप से उभरा । इसको समझने के लिए सिद्धान्तों द्वारा विश्लेषण की आवश्यकता पर बल

दिया गया। नारी संबंधों को किसी एक विषय-विशेष से जोड़ना अथवा उसे विषयगत सीमा में बांधना अनुचित और अतार्किक जान पड़ा। नारी अध्ययन की विषय वस्तु संज्ञानात्मक (Cognitive) आधार पर अनेक विषयों से आबद्ध रही है। अध्ययन -अध्यापन एवम् अनुसंधान हेतु नारी विषयक अनुशासन (Discipline) एक स्वतंत्र विषय के रूप में स्थापित हो गया है।

4.2 नारीयता

नारीयता समाज व संस्कृति के द्वारा नारी का वह विशिष्ट निर्माण है जिसके माध्यम से उसकी प्रस्थिति, भूमिका, पहचान, सोच मूल्य, आदर्श एवम् अपेक्षाओं को गढ़ा जाता है। नारीयता के निर्माण की प्रक्रिया समाज की संस्थाओं, सांस्कृतिक मूल्यों व व्यवहारों, प्रथाओं, रीतियों, लिखित व मौखिक ज्ञान परम्पराओं, धार्मिक अनुष्ठानों व नारी अपेक्षित विशिष्ट मूल्यों से स्थापित होती है।

4.3 नारीवाद

नारीवाद (feminism) वह विचार है जो कि स्त्री-पुरूष की असमानता को अस्वीकार करके नारी के सबलीकरण की प्रक्रिया को बौद्धिक व क्रियात्मक रूप से प्रस्तुत करता है। इसलिए नारीवाद एक विचारधारा भी है और आंदोलन भीं।

4.4 नारीवादी चिन्तन की प्रमुख धाराएँ

नारीवादी के सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य मूलरूप से स्त्रियों को समानता व उनके सबलीकरण को बल देकर महिला एवम् पुरूष के मध्य व्याप्त सामाजिक असमानता को नकारना है।

(अ) लिबरल फेमिनिज्म (Liberal Feminism) -

इस की मूल प्रपत्तियाँ जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) की क्लासिक रचना The Subjection of Women (1867) से ली गयी थी। इस ग्रन्थ में मिल ने बताया था कि भार ढोना आदि कुछ गतिविधियाँ ऐसी है जिनमें स्त्रियाँ पुरूषों से उन्नीस पड़ती हैं - स्त्री और पुरूष के बीच जीवशास्त्रीय विषमताएं अवश्य हैं, पर बौद्धिक और नैतिक क्षमताएं दोनों की बराबर हैं। आगे चलकर उन्होंने कहा कि स्त्री और पुरूष की मानसिक और स्वभावगत जो विशिष्टताएं हैं, वे भी साझे की (androgynous) हो जानी चाहिए - पुरूषों में स्त्रियोंचित और स्त्रियों में पुरूषोचित गुणों का भी समावेश हो तो व्यक्तित्व आदर्श बनता है और ऐसा न भी हो, तब भी स्त्रियों को विकास के अवसर बराबर दिया जाना निहायत जरूरी है। इसी की व्याख्या करते हुए जेम्स स्टर्बा (James Sterba) कहते हैं कि उभयलिंग व्यक्तित्व का जो आदर्श मिल रखते हैं, विकास के समान अवसर मिले बिना उस तक पहुँचना असम्भव है। इस संदर्भ में वे आगे कहते हैं कि दफ्तर, मिल आदि सभी कार्यस्थलियों के काम के घण्टे कुछ इतने लचीले होने चाहिए कि माँ और बाप दोनों बारी-बारी से बेबी सिटिंग कर सकें - ऐसा नहीं हो कि बच्चों को दिन भर सिर्फ माँ का साथ मिले। 'Public Men/ Private women की धारणा बचपन के ही दिनों से आदमी के मन में अपना घर बनाती है। इसे पनपने न देने में यह कदम बहुत सहायक होगा --- यहीं, इसी बिन्दु पर Sterba, Mill से अलग हो जाते हैं। इंग्लैण्ड में "न्यूक्लिर डिसआर्मामेण्ट" के पक्ष में लिबरल फेमिनिस्टों ने जोरदार पहल की थी।

सामाजिक सुधारों का महत्व रेखांकित करने के पश्चात - सांस्कृतिक समीक्षा का नया सिद्धान्त भी इन स्त्रियों ने दिया। सिमोन द बोउआर (Simon de Beauvoir) की पुस्तक The Second Sex (1953) में कहा गया है कि स्त्री पैदा नहीं होती, स्त्री बना दी जाती है। बेटी फ्रायडन की पुस्तक द फेमिनीन मिस्टीक (The Feminine Mystique) (1963) में उन्होंने मध्यवर्गीय और उच्चवर्गीय महिलाओं की स्थिति का मूल्यांकन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि जैसे-जैसे पुरूष प्रभुत्व सम्पन्न हुए, स्त्रियाँ "भोली, अबोध बच्ची" (Baby women) के रूप में गौरवान्वित की जाने लगीं- ऐसी 'अबोध परी बच्ची जिसे लगातार संरक्षण की आवश्यकता है। उनके अभेद्य गुड़िया/परीतत्व, उनकी झिलमिल रहस्यमयता पर ऐसे अनूठे कसीदे पढ़े गये कि वे बेचारी उन्हीं को सुरक्षित रखने की फिराक में अपने मूल जाग्रत स्वरूप को बिसरा बैठी।

(ब) रैडिकल फेमिनिज्म (Radical Feminism)

रैडिकल फेमिनिज्म विचारकों का मानना है कि पुरूषों के साथ 'साम-दाम-दण्ड-भेद' आजमाते रहने से स्त्रियों का दमन नहीं रूक सकता। लड़ाई पुरूष से नहीं, पितृसत्तात्मक समाज से होनी चाहिए। योजनाबद्ध ढंग से इसकी एक -एक संस्था में - खासकर परिवार, चर्च (कोई भी धार्मिक निकाय) और विश्वविद्यालय आदि में वैधानिक, राजनीतिक और आर्थिक ढंग से संरचनात्मक परिवर्तन घटित कराये जाने चाहिए। त्यागमयी मातृशक्ति का बिम्ब ये स्त्रियों के लिए सबसे अधिक त्रासद मानती है। इनका कहना है कि इसे जरूरत से ज्यादा तूल देकर हर उस स्त्री के मनोबल पर प्रहार किया है जो बच्चे पैदा नहीं कर सकतीं या पैदा नहीं करना चाहती और विवाह तथा मातृत्व आदि के बन्धन से आजाद रहकर दूसरी तरह का जीवन जीना चाहती है। इस चिन्तन के समर्थन में शुलामिथ फायरस्टोन (Shulamith Firestone) (1970) की पुस्तक The Dialectic of Sex : The Case For Feminist Revolution में वे गर्भधारणा को 'बार्बोरिक' कहती है और सामान्य प्रसव को 'at best necessary and untolerable, at worst like a shitting a pumpkin' अपने शुक्राणु या डिम्ब से जन्में शिशु के लिए अंधप्रेम को भी सामाजिक न्याय की दृष्टि से बाधक मानती हैं। उनका कहना है कि किसी तकनीकी विधि (Technological fix) से गर्भधारण को नियम नहीं, अपवाद बना डालना चाहिये। बाद की रैडिकल फेमिनिस्ट्स की राय यह है कि स्त्रियों की गर्भधारण की क्षमता उनके विकास में बाधक नहीं, बाधक है प्रजनन और शिशु संरक्षण (bearing and rearing) पर पुरूषों का सीधा नियंत्रण, जिसे तोड़ने के लिए औरतों को निम्नांकित सुविधाएं उपलब्ध कराने की बात की गयी। (1) गर्भनिरोध और गर्भपात संबंधी निर्णय उनके हों (2) और यह निर्णय भी कि अपने बच्चों को वे अकेली पालना चाहती है, अथवा पति, माँ या अपने किसी रिश्तेदार के सहयोग से या फिर सरकारी/गैर-सरकारी डे-केयर केन्द्रों/बेबी सिस्टर्स आदि की सहायता से।

पोर्नोग्रैफी, वेश्यावृत्ति, बलात्कार, मारपीट, सती, पर्दा, डायवर्स दहन इन बहुत सारे शोषणों की आधारभूमि चूँकि नारी देह है बहुत सारे सेक्स स्टीरियोटाइप (Sex Stereotype) तोड़ने की कोशिशें की और स्त्रियों के लिए कौमार्य आत्मतृप्ति (autoeroticism) या Lesbianism का औचित्य भी प्रमाणित किया।

(स) मनोविश्लेषणात्मक स्त्रीवाद (Psychoanalytic Feminism)

फ्रायड (Freud) का यह मानना है कि शिश्न बोध होते ही पुरूषों में प्राक्एडीपीय अवस्था के आत्यन्तिक मातृमोह से मुक्त होने की कठिन प्रक्रिया शुरू हो जाती है। जो उन्हें सामाजिकता, अनुशासनप्रियता तथा निर्णयात्मकता से भर देती हैं। स्त्रियों को इस प्रक्रिया से गुजरना ही नहीं पड़ता इसलिए वे कम अनुशासित,कम सामाजिक, कोमल और कमजोर रह जाती हैं

नैन्सी चोदोरोव (Nancy Chodorow) अपनी पुस्तक The Production of Mothering : Psychoanalysis and the Sociology of Gender (1978) में लिखती हैं कि स्त्रियों को माँ से अलग अपना व्यक्तित्व दर्शाने की जरूरत नहीं होती (शारीरिक तादात्म्य बोध के कारण) तो इसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर अच्छा ही पड़ता है - जिनसे भी उनका जुड़ाव होता है, उनसे यह जुड़ाव पूरा होता है, किसी तरह के भावनात्मक स्खलन का शिकार वे जल्दी नहीं होती।पर हाँ , समर्पित और विलीन होने की उनकी यह क्षमता कई बार उनकी स्वतंत्र अस्मिता के विकास में बाधक हो जाती हैं ।

(द) मार्क्सवादी / समाजवादी नारीवाद (Marxist/Socialist Feminism) -

हालाँकि मार्क्सवादी और समाजवादी नजरिए में थोड़ा फर्क है, पर सभी के सन्दर्भ में दोनों का मूल ग्रन्थ है। फ्रेडरिक एंजेल्स (Fredrick Engels) का The origin of the Family, Private Property, and the State,जो यह मानता है कि स्त्री का शोषण वहाँ से शुरू हुआ है जहाँ से वैयक्तिक सम्पत्ति का प्रावधान/उत्पादन के साधनों पर जिन थोड़े से लोगों का प्रभुत्व हुआ, वे मर्द थे और Corporate capitalism तथा Imperialism उपनिवेशवाद के साथ-साथ पुरूषों का प्रभुत्व होने लगा।

समाजवादी नारीवाद विचारधारा वाले यह नहीं मानते कि औरतों का कामकाजी होना ही उन्हें पुरूषों के समकक्ष बना देगा। Marxist Feminists यह मानती है कि स्त्रियों की इस दुर्दशा की जिम्मेदार उत्पादन की संरचना (Structure of production) है।हार्टमैन (Hartmann), मार्क्सवादी विश्लेषण पर टिप्पणी करते हुए कहती हैं कि, 'वर्ग', 'रिजर्व आर्मी ऑफ लेबर', 'वेज लेबर' आदि अवधारणाएँ इसकी व्याख्या नहीं कर पातीं कि स्त्रियाँ अधीनस्थ हुई कैसे। जो रिश्ता मजदूरों का पूंजीपतियों से होता है, कमोबेश वही रिश्ता स्त्रियों का पुरूषों से होता है।

4.5 उत्तर-आधुनिक नारीवाद (Post Modernity and Feminism)

लगभग चालीस वर्षों के सफर ने नारीवादी सिद्धान्तकारों को आलोचनात्मक सामाजिक सिद्धान्तों तक पहुँचा दिया है। आलोचनात्मक सिद्धान्तों की चुनौतियाँ नारीवादी सिद्धान्त को उत्तर आधुनिकता के सिद्धान्त तक पहुँचा कर आगे बढ़ी है। यद्यपि यहाँ तक पहुँचने में उसे बहुत से उपनिवेशवादी, उदारवादी, क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का सामना करना पड़ा है। उपनिवेशवादियों के अतिरिक्त नारीवाद के उत्तर आधुनिकवादी सिद्धान्त को स्त्री समलैंगिकता (Lesbianism) तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उपागमों को भी अपनाना पड़ा। आज नारीवाद और उत्तर आधुनिकतावादी सिद्धान्त के अन्तर्गत स्त्री तथा लिंग की नये सिरे से व्याख्या की जाती है। इसके समर्थक विचारकों में ल्योटार्ड (Lyotard) को प्रमुख माना गया है जो नारीवादी विचारक उत्तर आधुनिकतावादी विचारों से प्रभावित हैं । उनका मानना है कि पुरूष प्रधानता, पितृसत्तात्मकता तथ लैंगिक अन्तर के आधार

पर नारीवादी सिद्धान्त को मान्यता नहीं दी जा सकती। इनका मानना है कि नारीवाद मूलवाद (Essentialism) से परे हैं। जिसमें स्त्रियों के अपने अनुभव और विशेषताएं होती हैं और यह विशेषताएं पुरूषों से पूर्णतया भिन्न होती हैं। यह लिंग श्रेणियाँ (Gender Categories) अन्य सामाजिक श्रेणियों की तरह ही विखण्डित तथा सापेक्षिक है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार अश्वेत महिलाएं जो कि गंदी बस्तियों में रहती हैं वह अमीर श्वेत महिलाओं से अधिक भिन्न हैं अपेक्षाकृत अश्वेत तथा गरीब पुरूषों से । इसका तात्पर्य यह है कि समस्त महिलाओं को एक श्रेणी में रखकर उनका विवेचन नहीं किया जा सकता। इन समस्त महिलाओं में मात्र शारीरिक स्तर पर लिंगगत समानता होती है, उनके अनुभव तथा अनुभव स्त्रोत भिन्न -भिन्न होते हैं। इसकी विस्तृत विवेचना आगे के पृष्ठों में की जायेगी।

उत्तर आधुनिकता मान्यताओं के मूल में केन्द्रबहुलता है। वर्ग, नस्ल और संस्कृतियों के अनुसार स्त्री का अनुभूतिमण्डल भी बदलता रहता है और किसी एक केन्द्रीय, सतत् ठोस सत्य की उद्घोषणा स्त्री-सन्दर्भ में भी सम्भव है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था ही सामान्यीकरण का दम भर सकती है क्योंकि उसे बातों की सूक्ष्म तरंग पकड़ने का अभ्यास नहीं रहा। उसने द्विपद विलोमों की शृंखला सी खड़ी कर रखी है और उन्हीं खानों में फिट करके वह चीजों को तौलती -परखती है। ऐसे द्विपद विलोमों (Binary opposites) की एक सूची हम सहज बना सकते हैं ।

पुरूष / स्त्री

सजग / सुस्त

संस्कृति / प्रकृति

दिन / रात

ऊँचा / नीचा

लिखित / मौखिक

इस सूची से सहज जाहिर होता है कि द्विपदों में एक ऊँचे से संबंधित है तो दूसरा नीचे से, एक मूल तो दूसरा उसकी विकृति/प्रकृति और स्त्रियों की मान्यता अभी तक दोयम दर्जे वाली चीजों में है। भाषा भी पितृसत्तात्मक समाज की भाषा बनी हुई है और वह स्त्रियों के साथ न्याय नहीं करती, उनके प्रति पूर्वाग्रह रखती है। इसलिए स्त्रियों को चाहिए कि भाषात्मक प्रयोगों द्वारा भाषा की सरहदें भी तोड़ें।

उत्तर-आधुनिकतावादी व्याख्याओं की विविधता व बाहुलता में विश्वास करते हैं। इस दृष्टिकोण से नारी की एक नहीं, अनेक पहचानें (Identifies) होती है। उत्तर आधुनिक नारीवादी 'शक्ति' व 'मुक्ति' को आधार मानते हैं । उनके अनुसार 'यथार्थ' शक्ति से परे नहीं है। सत्य की परिभाषा शक्ति से संबद्ध है। हर समाज सत्य की अपनी परिभाषा करता है। उत्तर आधुनिकता की अवधारणा औरत 'क्या है' के स्थान पर औरत के "अर्थ" को महत्त्व देती है। मूलवाद (Essentialism) को नकारने की प्रवृत्ति उत्तर आधुनिकता का वैचारिकीय अंग है। औरतों के अनुभव भिन्न- भिन्न होते हैं, अर्थात उनमें विविधता होती है और उनके स्त्रोत भी अनेक होते हैं। उत्तर आधुनिकता शक्ति के विभिन्न केन्द्रों से सरोकार रखती है, अर्थों को भिन्नता, व्याख्याओं के अन्तर, इच्छाओं में एकरूपता नहीं विविधताओं के रूप में देखती हैं। पुरूष और महिला का अन्तर प्राकृतिक नहीं है वह समाज द्वारा आरोपित है। इसमें सिद्धान्त की आन्तरिक एकरूपता नहीं है। विश्व का एक रूप नहीं है। ऐसी स्थिति में भी एकरूपता संभव नहीं है। वस्तुतः उन सिद्धान्तों से भी अधिक जटिल है जिनकी रचना विश्व को समझने

के लिए हुई है।

नारीवाद ने मनोचिकित्सा, आयुर्विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञानों के उन संबंधों और सिद्धान्तों की आलोचना की है जिनके द्वारा महिलाओं को शक्तिहीन बनाया या माना जाता है। स्त्रियों की नियति पत्नीत्व या मातृत्व मात्र है । इसे मान्यता देने वाले वैज्ञानिक और आयुर्विज्ञान सिद्धान्तों का भी नारीवाद विरोधी है। इसी के साथ स्त्रियों के अस्तित्व को भावुक, संवेदनशील, दयालु तथा देखरेख करने वाले प्राणी के रूप में स्थापित करने वाले दृष्टिकोण को भी नारीवाद में नकारा गया है। नारीवाद ने विज्ञान के प्रभावी स्वरूप को समझा और उत्तर वैज्ञानिक (Post Scientific) ज्ञानमीमांसा की सार्थक विवेचना की।

समलैंगिक (Homosexual) और विषमलैंगिक (Hetrosexual) संबंधों की विवेचना करते हुए यह स्थापित किया गया कि विषमलैंगिक संबंधों को पुरूष समाज स्वीकृत और संस्थागत से स्त्री परं हावी अर्थात् प्रभावी रहता है।

4.6 नारीवाद एवम् उत्तर-आधुनिकतावाद : बटलर, हारावे तथा रिचार्डसन का योगदान

उत्तर-आधुनिकतावादी नारीवादी चिन्तन में जूडिथ बटलर (Judith Butler) डोना हारावे (Donna Haraway) तथा लारेल रिचर्डसन (Laurel Richardson) का योगदान है। बटलर का मानना है कि समाज में व्यवस्था इस प्रकार की है कि कुछ संस्कृतियों को ही पहचान दी जाती है अन्य संस्कृतियों को पीछे छोड़ दिया जाता है। पहचान व्यक्ति की प्रघटना है और इस प्रघटना को कड़े रूप से नियंत्रित किया जाता है। कहने का अर्थ है कि किस व्यक्ति या किस रूप को पहचान देनी है, यह बहुत ही व्यवस्थित, नियोजित तथा नियंत्रित तरीके से किया जाता है। नियंत्रण कों संस्थाओं के माध्यम से किया जाता है। संस्थाओं के माध्यम से नियंत्रण को एक तरह से समाज द्वारा औपचारिक स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। उदाहरण के लिए समाज में उन्हीं नारीत्व (Womanhood) को व्यक्त करने की मन्जूरी होती है जो नारीयता (Feminity) को दर्शाते हैं। अन्य स्त्रियों के व्यवहारों को स्वार्थपरक अथवा पुरूष विरोधी मानकर दर्शाया नहीं जाता है। इस तरह बटलर के अनुसार पहिचानित श्रेणियाँ (Identifical categories) केवल व्याख्यायित ही नहीं वरन् उनको मानवीय माना जाता है।

हारावे के मतानुसार उत्तर आधुनिकता नारीवाद विचार, राजनीति तथा ज्ञान मीमांसाओं (Epistemiologies) की विद्यमानता तथा स्थिति पर निर्भर करता है। जिस तरह का प्रतिपादन तथा अनुवाद नारी के बारे में किया जायेगा वही नारीवाद का चिन्तन बन जाता है।

रिचर्डसन उत्तर-आधुनिकता नारीवाद को विमर्श के रूप में देखते हैं। उनका मानना है कि नारी को 'प्रतिनिधित्व' प्रदान करने के मुददों पर ही उसकी स्थिति का सही रूप प्रस्तुत करते हैं। यह 'प्रतिनिधित्व के मुद्दे' विशेष रूप से श्रेणियों में प्रतिकृत (Reproduce) होते हैं। रिचर्डसन इस बात से पूर्णतया समानता रखती हैं, कि नारीवाद को समझने के लिए विविध विधियों तथा विविध आयामों को देखना होगा।

4.7 नारीवाद एवम् उत्तर-आधुनिकतावाद : फूको के विचार

फूको को उत्तर-आधुनिकतावादी विचारक के रूप में महत्वपूर्ण माना जाता है। वह यह मानते

हैं कि आधुनिक व्यवस्थित समाज में,Body (शरीर) को जबरदस्ती थोपा गया है। अर्थात् निर्धारण की प्रक्रिया स्वतः नहीं होती। यह निर्धारण प्रत्यक्ष रूप से निगरानी में किया जाता है। फूको के अनुसार यह प्रशासनिक तरीके, आज्ञाधीन शरीर (Docile Bodies) पैदा करती हैं और यह आज्ञाधीन शरीर वही व्यवहार करता है जिस व्यवहार की समाज इनसे अपेक्षा रखता है। फूको ने अपनी अन्य रचनाओं में कामुकता का उल्लेख किया है। उनका मानना है कि कामुकता को शारीरिक क्रिया के रूप में तथा आनंद के स्रोत के रूप में देखा गया है। फूको के द्वारा कई खण्डों में लिखी गयी पुस्तकें हिस्ट्री आफ सेक्सुआलिटी (History of Sexuality) के अन्तर्गत यह दर्शाया गया है कि शरीर, आधुनिक समाजों में द्विशक्ति (Bipower) बन गया है। शरीर की रचना को द्विशक्ति के रूप में समझकर वास्तविकता का पता लगाया जाता है। फूको ने शरीर को अलैंगिक (Non-gendered) श्रेणी में डालकर समझने का प्रयास किया है ताकि वह किसी भी पूर्वाग्रह से मुक्त हो। किन्तु लूइस मेकने (Louis McNay) ने फूको के अनुसार शरीर को अलैंगिक श्रेणी में रखने पर आपत्ति व्यक्त की है वह कहते हैं कि उदाहरण के लिए जेल में पुरूषों के अध्ययन के लिए उनके अनुभवों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं है, वरन् यह देखना कि वहाँ पर किस तरह महिलाओं को नियंत्रित किया जाता है। और वह महिलाएं किस तरह पुरूषों को प्रभावित करती हैं । हालाँकि फूको की रचनायें यह बताती हैं कि शरीर पर किस तरह लैंगिक निर्माण (Gender construction) कार्य करता है और इसके परिणामस्वरूप शरीर के द्वारा लिंग भेद दिखाई देता है।

4.8 नारीवाद एवम् उत्तर-आधुनिकतावाद : बार्डेयू का योगदान

पीयर बार्डेयू यह मानते हैं कि लगभग प्रत्येक समाज में महिलाओं को निम्न सामाजिक स्थिति प्राप्त है। इस असमान सामाजिक स्थिति का जायजा लेने के लिए उन्होंने प्रतीकार्य विनिमयों की आर्थिकता (Economies of Symbolic Exchanges) का सहारा लिया। प्रतीकार्य विनिमयों की आर्थिकता से तात्पर्य यह है कि प्रत्येक युग अथवा समाज में स्त्रियों को किसी न किसी रूप में एक वस्तु के रूप में स्वीकारा गया है और उसी के साथ उसके मूल्य जुड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए आज भी पुरूष, विवाह योजना के प्रमुख पात्र हैं और इस बात पर जोर दिया जाता है कि यह वैवाहिक युद्धनीति (Matrimonial Strategy) बनाई रखी जाये तथा इसे आगे बढ़ाया जाये। महिलाएं हमेशा ही विवाहों में एक वस्तु के रूप में समझी जाती हैं और उन्हें एक चक्रीय प्रतीक के रूप में समझा जाता है। यह महिलाओं का एक प्रतीकात्मक प्रकार्य समझा जाता है और उनसे यह आशा की जाती है कि वह इन प्रतीकात्मक मूल्यों की रक्षा करें। यह प्रतीकात्मक मूल्य जो महिलाओं में नारीत्व तथा सतीत्व रूप में रहते हैं इन सबसे महिलाओं के भौतिक मूल्य तथा आर्कषण को बढ़ावा मिलता है। अतः सारांश में पुरूष आधिपत्य आर्थिक प्रतीकों के तर्क पर आधारित है। महिलाओं तथा पुरूषों में असमानता सामाजिक स्तर पर निर्मित होती हैं जोकि नातेदारी तथा विवाह संस्थाओं से बंधी हुई होती हैं। इस सामाजिक निर्मित असमानता को हम व्यक्ति तथा वस्तु, कर्ता तथा साधन के रूप में देख सकते हैं। यह आर्थिक सापेक्षिक स्वतंत्रता प्रतीकों की पूंजी के रूप में है जो कि यह स्पष्ट करती है कि किस तरह पुरूष अपने वर्चस्व को उत्पादन के साधनों में परिवर्तन होने के बावजूद भी बनाये रखता है। फूको के अनुसार महिलाओं की स्वतंत्रता तभी संभव है जब वह एकजुट होकर प्रतीकात्मक संघर्ष के माध्यम से वस्तुनिष्ठ संरचनाओं को चुनौती दें और पूंजी प्रतीकों की उत्पादकता तथा पुनरूत्पादकता पर प्रश्न चिन्ह लगा दें।

4.9 सारांश

नारीवादी विमर्श एक अत्यंत जटिल तथा बहुआयामी विषय है। इसको समझने के लिए विविध

दृष्टिकोणों की प्रचुरता है। कुछ दृष्टिकोण नारीवाद को जैविक अंतर के रूप में देखते हैं तो कुछ लोग इसे सारात्व तथा सार्वभौमिक रूप में देखने का प्रयास करते हैं। नारीवाद को समझने के लिए संरचनात्मक तथा सांस्कृतिक कारणों का भी सहारा लिया गया है। आलोचनात्मक सिद्धान्त ने चुनौती देते हुए इसे उत्तर आधुनिकतावाद के मोड़ पर ला खड़ा कर दिया। उत्तर आधुनिकतावादी नारीवाद प्रणेता फूको, बार्डेयू अपने विचारों से अवगत कराते हुए कहते हैं कि समस्त महिलाएँ केवल शारीरिक स्तर पर ही समान होती हैं उनके अनुभव तथा स्रोत भिन्न -भिन्न होते हैं, अतः इस विभिन्नता को समझने के लिए उनके विभिन्न अनुभवों तथा स्रोतों का सहारा लेना पड़ेगा। उत्तर आधुनिकता में आन्तरिक एकरूपता को नकारा गया है। उत्तर आधुनिकतावादी विचारक यह मानते हैं कि पुरूष तथा महिला का अन्तर प्राकृतिक नहीं है यह तो समाज द्वारा गढ़ा गया है। उत्तर आधुनिकतावादी नारीवादी विमर्श में विकेन्द्रीकरण विभेद व विनिर्माण का प्रयोग किया जाता है।

4.10 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 नारीवाद एवं उत्तर आधुनिकतावाद पर एक विस्तृत लेख लिखिए।

प्र.2 उत्तर-आधुनिकतावाद के नारीवाद सिद्धान्त में फूको तथा बार्डेयू के विमर्श की विवेचन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र.1 मूलवाद (Essentialism) में -------- आयाम को महत्त्व दिया है। -

(अ) प्राणीशास्त्रीय (ब) मनोवैज्ञानिक (स) सांस्कृतिक (द) राजनैतिक

प्र.2 निर्वचनात्मक सिद्धान्त में महिला की विमुक्ति से जुड़े प्रश्नों को ------- कारणों में ढूंढ़ने का प्रयास किया गया।

(अ) जैवकीय (ब) मनोवैज्ञानिक (स) संरचनात्मक (द) शारीरिक

प्र.3 उत्तर आधुनिक नारीवादी ------ को आधार मानकर विवेचना करते हैं ।

(अ) मनोविज्ञान (ब) राजनैतिक (स) प्राणीशास्त्रीय (द) शक्ति व मुक्ति

प्र.4 उत्तर आधुनिक नारीवादी विमर्श ---- को संबोधित करता है।

(अ) विभेद (ब) समानता (स) इतिहास (द) दार्शनिकता

प्र.5 फूको ने अपनी पुस्तक ---------- में उत्तर आधुनिकतावादी नारीवादी विचारों को समझाया है।

(अ) यूटोपिया (ब) हिस्ट्री आफ सेक्सुआलिटी (स) कामुकता (द) बॉडी

प्र.6 बार्डेयू ने उत्तर आधुनिकतावादी नारीवाद विमर्श को समझने के लिए ------ का सहारा लिया।

(अ) बाजार (ब) पूंजी (स) प्रतीकार्य विनिमयों की आर्थिकता (द) विनिमय

4.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

प्र.1 (अ) प्र.2 (स) प्र.3 (द) प्र.4 (अ)

प्र. 5 (ब) प्र. 6 (स) ।

इकाई - 5 एन्थनी गिडेन्स, बार्डेयू एवम् - जैक्स देरिदा के उत्तर-आधुनिकता सम्बन्धी विमर्श

इकाई की रूपरेखा-

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 एन्थनी गिडेन्स के उत्तर-आधुनिकता संबंधी विमर्श

5.3 पीयर बार्डेयू के उत्तर-आधुनिकता संबंधी विमर्श

5.4 जैक्स देरिदा के उत्तर-आधुनिकता संबंधी विमर्श

5.5 सारांश

5.6 बोध प्रश्न

5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

उत्तर आधुनिकतावादी विचारों के संदर्भ में गिडेन्स, बार्डेयू तथा देरिदा के नाम अति महत्वपूर्ण है। इन विचारकों के उत्तर आधुनिकतावादी दृष्टिकोण का इस इकाई में विश्लेषण किया गया है। इन विचारकों के योगदान से स्पष्ट होता है कि उत्तर आधुनिकतावाद एक नये सिद्धान्त के रूप में किस प्रकार अपना स्थान बना चुका है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आपको निम्नलिखित बिन्दु स्पष्ट होंगे -

- गिडेन्स के उत्तर आधुनिकता संबंधी विमर्श
- बार्डेयू के उत्तर आधुनिकता संबंधी विमर्श
- देरिदा के उत्तर आधुनिकता संबंधी विचारों पर विमर्श ।

5.1 प्रस्तावना

गिडेंन्स ने उत्तर आधुनिकता को एक सिद्धान्त के विकल्प रूप में प्रस्तुत किया और आग्रह किया कि आधुनिकता को Reflexive समाज कहते हैं। Reflexivity एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा संस्थाएं और व्यक्ति ज्ञान का संचय करते हैं। इस परिवर्तन के कारण आधुनिक व्यवस्था और सामाजिक संगठन बराबर बदल रहे हैं। गिडेन्स आधुनिक समाज को बराबर एक जैसा बनाने पर जोर देते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए कि दुनिया का समाज दूसरे समाज से भिन्न हो । स्वसमता Reflexivity आनी चाहिए। इसके विपरीत बोर्डेयू वैज्ञानिकों, तकनीशियनों द्वारा बुद्धि संगति की अवधारणा को स्वीकार करने के पक्ष में थे। किन्तु साथ ही में वे किसी भी प्रकार के आधिपत्य को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। बोर्डेयू ज्ञान को नये सिरे से निर्मित करने के पक्षधर थे और इसी विचारधारा को आगे बढ़ाने के लिए कई तरह की अध्ययन विधियों को अपनाना चाहिए। देरिदा का समस्त उत्तर आधुनिकतावादी विश्लेषण विखण्डनवादी की अवधारणा पर आधारित है। वह पहले से ही विद्यमान ज्ञान को विखण्डित करके समाज को समझने के पक्षधर हैं। विखण्डन की प्रक्रिया के लिए आवश्यक है कि मूल पाठों का आलोचनात्मक अध्ययन हो। उनका मानना है कि यथार्थ की खोज दर्शन में नहीं आम जीवन में होनी चाहिए।

5.2 एन्थनी गिडेन्स के उत्तर आधुनिकता संबंधी विमर्श

एक विचारक के सन्दर्भ में गिडेन्स का बहुत बड़ा योगदान है। गिड़ेन्स केवल समाजशास्त्री ही नहीं एक राजनीतिज्ञ भी हैं। वे ब्रिटेन की लेबर पार्टी के सदस्य रहे हैं। गिडेन्स ने 19वीं शताब्दी के तीन बड़े विचारकों : मैक्स वेबर, दुर्खीम और कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों का विश्लेषणात्मक प्रस्तुतीकरण किया है। इन विषयों पर उनकी पुस्तकें Nationa-State and violence (1985), A Contemporary Critique of Historical Materialism (1981), Profiles and Critiques in Social Theory (1983), The Constitution of Society: Outline of the theory of structuraction (1984), Capitalism and Modern Social Theory (1992), The Consequences of Modernity (1990) अपने आप में कीर्तिमान हैं। उपरोक्त शास्त्रीय सिद्धान्त को आत्मसात् करने के बाद गिडेन्स स्वयं भी सिद्धान्त निर्माण की ओर अग्रसर हुए। गिडेन्स का सिद्धान्त विलम्बित आधुनिकता (late Modernity) से जुड़ा है। विलम्बित आधुनिकता से उनका अभिप्राय बाद में आई हुई आधुनिकता से है। इस आधुनिकता को कई समाजशास्त्री, उत्तर आधुनिकता (Post Modernity) भी कहते हैं। गिडेन्स ने आधुनिकता के परिणामों (Consequences of Modernity) (1990) नामक पुस्तक में उत्तर आधुनिकता की समाज में एक सिद्धान्त के रूप में आलोचना की है।इसके विकल्प के रूप में उनका विचार है कि आधुनिकता को स्वसमता (Reflexivity) और 'उच्च आधुनिकता' को समाज के विकास के एक निश्चित स्तर या चरण के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये। गिडेन्स का अपना मत है कि आधुनिकता का अपना इतिहास है जबकि प्रजातंत्र, पूंजीवाद आदि। फिर भी उनकी इच्छा से अलग एक तात्कालिक आधुनिकता है। गिडेन्स उद्विकास और प्रकार्यवाद के प्रचंड विरोधी हैं। आर्थिक निर्धारणवाद को भी वे अस्वीकार करते हैं और उन्होंने मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का खण्डन किया है। उनकी धारणा है कि सारी दुनिया के लिए सामान्य सामाजिक नियमों का निर्माण कदापि संभव नहीं हैं वे आधुनिकता के प्रबल समर्थक तथा उत्तर आधुनिकता का विरोध करते हैं । फिर भी बिना अपनी इच्छा को ध्यान में रखे, विलम्बित आधुनिकता (Late modernity) का सिद्धान्त उन्हें उत्तर आधुनिकतावादी विचारक की संज्ञा तो प्रदान करता हैं । आधुनिकता की चर्चा करते हुए गिडेन्स कहते हैं कि ई0 1600 के बाद यूरोप में जिस समाज का प्रादुर्भाव हुआ, वह आधुनिकता का समाज था। इसमें कई सामाजिक संस्थाओं के बीच आदान- प्रदान था। आधुनिकता में पूंजीवाद, उद्योगवाद, राष्ट्रवाद तथा उद्योगकृत युद्ध संस्थाएं होती हैं और उनके मध्य अन्तःक्रिया होती है। अन्तःक्रिया के फलस्वरूप इन चारों संस्थाओं का वैश्वीकरण होता है। गिडेन्स ने अपनी पुस्तक Nation-State and violence (1985) में आधुनिकता के निम्नलिखित लक्षणों की चर्चा की है।

(1) समय और स्थान की धारणा में परिवर्तन (Change in the Concept of Time and Space) :

आज दुनिया के सभी क्रियाकलाप एक ही समय और स्थान पर नहीं होते। परम्परागत समाज में समय और स्थान में पृथकता नहीं थी। उस समाज में एक ही छत के नीचे परिवार के लोग रहते थे किन्तु आज यह संभव नहीं है। परिवार के लोग बिखर गये हैं । समय और स्थान दोनों की अवधारणाएं बदल गई हैं । प्रत्येक तकनीकी अनुसंधान तुरंत ही दुनिया के कोने -कोने तक पहुँच जाता है। दूरियाँ सिमट गई हैं । आज के युक्तायुक्त समाज में हम एक ही समय में विभिन्न स्थानों से जुड़ जाते हैं। जब कभी एक जगह भूकंप आता है तो उसी क्षण दुनिया उससे रूबरू हो जाती है। कोई भी बहुराष्ट्रीय कम्पनी एक ही समय और स्थान में अपनी वस्तुओं के दाम घटा या बढ़ा सकती है।

(2) सामाजिक व्यवस्था के विस्तृत संबंध (Extended Relations of Social System):

गिडेन्स कहते हैं कि संबंधों का बदलाव दो स्तरों पर हुआ है। एक स्तर तो प्रतीकात्मक

(Symbolic) है, और दूसरा विशेषतत्व का (Expert)। यह दोनों स्तर मिलकर एक अमूर्त व्यवस्था (Abstract System) बना देते हैं, जहाँ वस्तुओं का विनिमय प्रतीकों के माध्यम से होता है। यह माध्यम समय और स्थान को जोड़ देते हैं। विशेषज्ञता के क्षेत्र में भी काफी असर हुआ है। जिस कार में हम बैठते हैं उसे बनाने वाले कई विशेषज्ञ हैं, जैसे पुर्जे बनाने वाला, पुर्जों को जोड़ने वाला, बाजार में लाने वाला इत्यादि। अतः एक वस्तु में कई विशेषज्ञों का ताना-बाना हैं और इसी तरह समय, स्थान और विस्तृत सामाजिक संबंध एक-दूसरे से जुड़ गये हैं।

(3) आधुनिक समाज की स्वसमता (The Reflexivity of Modern Society)

गिडेन्स आधुनिक समाज को एक स्वसम (Reflexive) समाज बनाना चाहते हैं। स्वसम समाज से उनका तात्पर्य एक ऐसे समाज से हैं जिसमें समाज की संस्थाएं तथा व्यक्ति ज्ञान का संचय करते हैं और इस ज्ञान का प्रयोग समाज को संगठित तथा परिवर्तित करने में किया जाता है। उनका मानना है कि समाज को एक जैसा बनाना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिये कि दुनिया का एक समाज दूसरे समाज से भिन्न हो। कोई भी समाज आईने में अपना बिम्ब देखे तो उसकी छवि एक ही होनी चाहिए। गिडेन्स कहते हैं कि सूचना समाज में रहने का अर्थ है हमारी सामाजिक सोच में वृद्धि। स्वसमता का अर्थ है जिस समाज और परिस्थितियों में हम रहते हैं जीवन-यापन करते हैं उनके बारे में निरन्तर सोचना और चिंता करना। गिडेन्स इसी समाज को Reflexive Society कहते हैं। ऐसे समाज में स्वसमता की वृद्धि का यह मतलब नहीं है कि आधुनिक समाज में ज्ञान का अधिक संचय हो गया है और हम समाज को अपने नियंत्रण में रखने में अधिक सक्षम हो गये हैं। वास्तविकता में ऐसा कुछ भी नहीं है।

(4) तात्विक सुरक्षा के लिये आधुनिकता के परिणाम (The Consequences of Modernity for Ontological Security)-

समाज में जब संस्थाओं में ज्ञान की अत्याधिक वृद्धि हो जाती है और आम आदमी के काम काज में इन संस्थाओं का दखल बढ़ जाता है तब एक खास तरह का सन्देह इन संस्थाओं के प्रति जागृत हो जाता है। यहाँ तक कि राज्य के प्रति सन्देह भी होने लगता है। गिडेन्स आग्रह करते हैं कि आधुनिकता ने समाज और उसकी वस्तुओं के प्रति उसमें अविश्वास पैदा कर दिया है। उनके लिए विश्वास (Trust) की अवधारणा अत्यधिक महत्वपूर्ण है । विश्वास का टूटना आधुनिकता का एक बहुत बड़ा परिणाम है। विश्वास का गहरा सम्बन्ध तात्विक सुरक्षा (Ontological Security) से है। यह सुरक्षा मनुष्य के अस्तित्व से जुड़ी है। यदि यह सुरक्षा न मिले तो शायद मनुष्य का जीवित रहना ही सम्भव नहीं होगा। संसार में कोई भी यथार्थता है तो यह विश्वास है। विश्वास अपने आप में अमूर्त होता है।

(5) पहचान का संकट (Identity in Crisis) -

गिडेन्स सोचते हैं कि पिछले 30-40 वर्षों में हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व को ही आधुनिकता ने झकझोर दिया है। हमारी सुरक्षा की भावना तिरोहित हो गई है। इस अनिश्चितता या असुरक्षा ने हमारी पहचान को धुंधला कर दिया है। व्यक्ति की पहचान को बनाये रखने के लिए उसे तात्विक सुरक्षा (Ontological Security) अवश्य मिलनी चाहिये।

(6) प्लास्टिक कामुकता (Plastic Sexuality)-

हमारा आधुनिक संस्थाओं का ज्ञान एक ऐसी कामुकता की ओर ले जाता है। जहाँ व्यक्ति अपनी स्वयं की पहचान को बनाये रखने में जुटा रहता है। अब कामुकता (Sexuality) का संबंध प्रजनन मात्र से नहीं रहा। पहले कामुकता का सबसे बड़ा उद्देश्य संतान उत्पत्ति करना था। आज यह पहचान कहीं खो गयी है। अब व्यक्ति अपने आप को शारीरिक और व्यक्तित्व स्तर पर ऐसा विकसित करना चाहता है कि उसकी अपनी अलग पहचान बन सके। इस पहचान को गिडेन्स प्लास्टिक

कामुकता कहते हैं आधुनिक संस्थाओं और व्यक्तियों में स्थानीय और वैश्विक स्तर पर आने वाली बुनियादी परिवर्तन की पर्यायवाची है। परिवर्तन की यह प्रक्रियायें व्यक्तियों में अपनी पहचान बनाने के लिए जोर देती है।

5.3 पीयर बोर्डेयू के उत्तर आधुनिकता संबंधी विमर्श

पीयर बोर्डेयू की शिक्षा-दीक्षा दर्शनशास्त्र में हुई, किन्तु उन्होंने मुख्यतः एक समाजशास्त्री और मानवशास्त्री के रूप में कार्य किया। उनका देश फ्रांस है और उनका कार्य-क्षेत्र अल्जीरिया के आदिवासी रहे हैं। उन्होंने मुख्यतः एक ज्ञान संस्कृति और शक्ति के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों पर अध्ययन अनुसंधान किया है।वे विशेषतः समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों और संस्कृति के क्षेत्र में अपने योगदानों के लिए बहुत चर्चित रहे हैं। बोर्डेयू ने व्यक्तियों और सामाजिक व्यवस्थाओं के मध्य जो खाई दिखाई देती है उसे पाटने के लिए सिद्धान्त विकास का कार्य किया। बोर्डेयू ने विविध विषयों पर लिखा तथा सन् 1970 के दशक में बार्डेयू ने अपने विषयों में संस्कृति, वर्ग और शक्ति को सम्मिलित किया। अपने सम्पूर्ण लेखन में उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाया है। यह विचार उनकी लोकप्रिय पुस्तकों डिस्टिंक्शन (Distinction) (1979), द लॉजिक ऑफ प्रैक्टिस (The Logic of Practice) (1980) में निहित है। उनकी अन्य चर्चित पुस्तकें लेंगवेज एण्ड सिम्बोलिक पावर (Language and Symbolic Power) (1990), होमो एकेडमिक्स (Homo Academics) (1984), द स्टेट नोबिलिटी (The State Nobility) (1989), तथा द रूल्स आफ आर्ट (The Rules of Art) (1992) है। अपनी बाद की कृतियों में बार्डेयू ने प्रतीकात्मक वस्तुओं (Symbolic Goods) का विस्तृत विवरण दिया है।। इन पुस्तकों में उन्होंने आम लोगों के उत्पीड़न धर्म, सिद्धान्त, चित्रकला आदि पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। यदि हम बार्डेयू की सम्पूर्ण कृतियों का लेखा-जोखा करें या उनकी समीक्षा करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि वे समाज विज्ञान को ऐसी शक्ति बनाना चाहते हैं जो प्रतीकों को एक शक्ति की तरह स्थापित करे और दूसरी ओर वे समाज के द्वारा सामाजिक न्याय तथा नागरिक नैतिकता को ऊँचा उठाना चाहते हैं।

बार्डेयू क्लासिकल समय से चली आ रही अवधारणाओं के कटु आलोचक थे। उनके अनुसार परम्परागत आधिपत्य को चुनौती दी जानी चाहिए थी। वे वैज्ञानिकों, बुद्धिजीवियों और तकनीशियनों द्वारा स्वीकृत बुद्धिसंगतता की अवधारणाओं को स्वीकार करने के पक्ष में थे। वे मनुष्य के व्यवहार को विज्ञान में देखना चाहते थे। दूसरा, वे किसी भी प्रकार के आधिपत्य को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। बोर्डेयू ने सामाजिक क्रिया, संरचना और ज्ञान को दो स्तरों पर बताया है। उनका मानना है कि समाजशास्त्र में वस्तुनिष्ठता और व्यक्तिनिष्ठता, भौतिक और प्रतीकात्मक व्यवस्थाओं सूक्ष्म और वृहत के अन्तर को सैद्धान्तिक स्तर पर पृथक करके देखा जाता है।

बोर्डेयू वैज्ञानिक विचारों और व्यावहारिकता को अलग-अलग नहीं मानते। उनका कहना है कि ये दोनों यानि वैज्ञानिक विचार और व्यवहार संश्लिष्ट (Synthetic) हैं। इसी कारण वे अपने सर्वेक्षण में सांख्यिकीय विधियों और प्रत्यक्ष अवलोकन विधि का मिले-जुले रूप में प्रयोग करते हैं। बोर्डेयू के अनुसार समाज खण्डनात्मक (Agnoistic) है, जिसमें सभी स्थानों पर प्रतियोगिता दिखती है। जीवन के सभी स्तरों पर गला काट प्रतियोगिता होती है। यही समाज का खण्डनात्मक स्वरूप है। बोर्डेयू, मैक्स वेबर की तरह अपनी प्रतिष्ठा के लिए धन, प्रस्थिति और शक्ति को स्वीकार नहीं करते वे प्रतिष्ठा का मुख्य आधार दूसरे लोगों का निर्णय मानते हैं। यदि समाज के लोग प्रतिष्ठा देते हैं तो वह वास्तविक प्रतिष्ठा हैं, पूंजी से प्रतिष्ठा नहीं बनती।

बोर्डेयू की मान्यता है कि हमें ज्ञान का नए सिरे से निर्माण करना चाहिये। इस निर्णय के लिए हमें वस्तुओं को मापने के तरीके खोजने पड़ेंगे । यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि समाजशास्त्र को तत्काल स्वीकार नहीं किया जा सकता। आधुनिकता के माध्यम से समाजशास्त्र का निर्माण किया

जाना चाहिए। मापन हेतु वे कहते हैं कि हमें अध्ययन की कई विधियां एक साथ अपनानी चाहिए तभी हम सामाजिक यथार्थता को समझ सकेंगे।

बोर्डेयू ने अपनी सांस्कृतिक पूँजी (Cultural Capital) में फ्रांस की संस्कृति का विश्लेषण किया है। इस विश्लेषण में वे शिक्षा पद्धति का प्रयोग करते हैं । उनका यह सिद्धान्त मार्क्सवाद से प्रभावित है। बोर्डेयू का तर्क है कि वस्तुतः इसमें निम्न वर्गों का कोई दोष नहीं है बल्कि शिक्षा पद्धति का दोष है। शिक्षा पद्धति उच्च वर्गों के लिए होती है और यही शिक्षा पद्धति निम्न वर्गों की संस्कृति को हीन भावना से देखती है। उच्च शिक्षा द्वारा उच्च संस्कृति और उच्च संस्कृति से भी अधिक धन या पूंजी अर्जित होती है। यही सब उनके सांस्कृतिक पूंजी (Cultural Capital) के सिद्धान्त में निहित है। इस संस्कृति में वे सांस्कृतिक पुनर्उत्पादन (Cultural Reproduction) और हेबिट्स (Habitus) की चर्चा भी करते हैं।

बोर्डेयू के अनुसार शिक्षण व्यवस्था का बहुत बड़ा कार्य यह है कि यह संस्कृति का पुनरूत्पादन करती है। इसका अर्थ यह है कि उच्च वर्गों में इतनी क्षमता या शक्ति होती है कि वे अपनी संस्कृति को निम्न संस्कृतियों पर लाद देते हैं और निम्न संस्कृतियाँ उच्च वर्गों की इस संस्कृति को वैधता देती हैं। विडम्बना यह है कि निम्न वर्ग की संस्कृतियाँ उच्च वर्ग की संस्कृति को अपनी संस्कृति कहती हैं। बोर्डेयू की सांस्कृतिक पुनरूत्पादन की यह व्याख्या स्वेच्छाचारी है। किसी भी संस्कृति को ऊँचा या नीचा बताने के लिए कोई वैज्ञानिक आधार नहीं होता । यहाँ पर पहुँचकर बोर्डेयू एक नई अवधारणा देते हैं। इसे वे सांस्कृतिक पूंजी (Cultural Capital) कहते हैं। सांस्कृतिक पूंजी इसलिए है कि वह शिक्षा पद्धति के मांध्यम से ही है अर्थात व्यक्ति अधिक धन प्राप्त कर सकता है, अधिक शक्ति ले सकता है।सांस्कृतिक पूंजी सम्पूर्ण समाज में समान रूप से बँटी हुई नहीं होती। कई लोग उच्च शिक्षा को प्राप्त करके भी गरीब बने रहते हैं, लेकिन कुछ लोगों की पृष्ठभूमि ऐसी होती है कि वे इसका लाभ ले जाते हैं और इस तरह समाज में गैर-बराबरी आ जाती हैं। उच्च वर्गों की संस्कृति में बराबर जो इजाफा होता है वही सांस्कृतिक पुनरूत्पादन है।

बोर्डेयू ने अपनी पुस्तक रिप्रोडक्शन इन एजूकेशन (Reproduction in Education) (1977) में आदतों (Habits) की अवधारणा को रखा है।आदतों का संबंध जीवन पद्धति से है जिसके अन्तर्गत किसी विशिष्ट सामाजिक समूह के मूल्य और आकांक्षाएं आती हैं। लोग अपने अनुभव के आधार पर अपनी आदतों को विकसित करते हैं। वे अपने अनुभव के आधार पर सीख जाते हैं कि उन्हें किन वस्तुओं की अपेक्षा करनी चाहिए। इन अपेक्षाओं को कैसे पूरा करना चाहिए और इन्हें प्राप्त करने के लिए कौन सी विधियाँ अपनानी चाहिये। प्रत्येक समूह के अपने-अपने अलग अनुभव होते हैं और इसलिए प्रत्येक समूह की अलग-अलग आदतें भी होती हैं। आदतों का यह तात्पर्य नहीं है कि इनमें कोई परिवर्तन न होता हो। आदतें बनती बिगड़ती रहती हैं, किन्तु बोर्डेयू का कहना है कि सांस्कृतिक पुनरूत्पादन में आदतों की भूमिका किसी भी अर्थ में कम नहीं होती। बोर्डेयू उत्तर आधुनिकता को एक फैशन मात्र मानते हैं । उनकी दृष्टि में समाज विज्ञान ज्ञान का एक उद्यम है। और समाजशास्त्र जैसा समाज विज्ञान बुद्धि संगतता के माध्यम से सामाजिक यथार्थ को समझ सकता है।

5.4 जैक्स देरिदा के उत्तर-आधुनिकता संबंधी विमर्श

देरिदा उत्तर आधुनिकतावाद के विचारक समझे जाते है। देरिदा उच्च कोटि के भाषाविद् रहे हैं। इनका जन्म 1930 में अल्जीरिया में हुआ तथा देहांत सन् 2005 में हो गया। देरिदा ने मूल रूप में अपनी पुस्तकें फ्रेंच भाषा में लिखी हैं। देरिदा ने अपने समकालीन उत्तर आधुनिक विचारकों की तरह ही ज्ञान मीमांसा की समस्या को अपनी कृतियों में उठाया है। इस संदर्भ में ल्योटार्ड और बोड्रिलार्ड का उल्लेख आवश्यक है। यह तीनों विचारक एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। यों तो इन

तीनों की विषय-वस्तु ज्ञान मीमांसा ही है तथापि समानता होते हुये भी देरिदा की अपनी एक पृथक पहचान है। बोड्रिलार्ड और ल्योटार्ड का कहना है कि उत्तर आधुनिकता इतिहास की विशेष अवस्था मात्र है जिसमें वृत्तान्तों ने अपनी प्रासंगिकता खो दी है। परन्तु देरिदा की स्थिति पृथक है देरिदा का तर्क है कि ज्ञान की मीमांसा उसके विशुद्ध रूप में ही होनी चाहिए। इसलिए उन्हें विशुद्ध ज्ञान मीमांसक (Pure Epistemiologists) कहा जाता है। उनका गहन प्रभाव बोड्रिलार्ड, ल्योटार्ड और लेक्लाऊ पर है।

देरिदा प्रमुख रूप से अपने विखंडनवादी (Deconstructionism) सिद्धान्त के लिए जाने जाते हैं। यह अपने आप में घटनाक्रियावाद है। विखंडनवाद की शुरूआत साहित्य, कला, फिल्म समीक्षा और सिद्धान्त में हुई, किन्तु बाद में इस दर्शन ने सामाजिक क्षेत्र को भी प्रभावित किया। विखण्डनवाद ने सर्वाधिक प्रहार विभिन्न क्षेत्रों मे पूर्व स्थापित, चिर-परिचित परम्परिक धंधों पर किया है। विखण्डनवादी दर्शन के अनुसार ये ग्रन्थ सामाजिक यथार्थ को पूर्ण रूप से प्रकट करने में अक्षम हैं। विखण्डनवाद का तात्पर्य ही यही है कि इन ग्रन्थों में लिखित तथ्य समाज के प्रटिघन्न यथार्थ को प्रकट नहीं करते। अतः विखण्डनवाद इसके निहित अव्यक्त अर्थ को खोजने और उन्हें विश्लेषित करने पर बल देता है। देरिदा का उत्तर आधुनिकता संबंधी समस्त विश्लेषण उनकी 'विखण्डनवादी' अवधारणा पर आधारित हैं जिनकी अनेक तर्कसंगत व्याख्याएं की गई हैं। स्वयं देरिदा कहते हैं कि विखंडनवाद न तो कोई विधि है और न ही कोई सुविचरित निर्णय, यह तो 'अनिर्णीत' आशिष्ट अभिव्यक्ति है। प्रघटनाओं का विश्लेषण करते हुए देरिदा की मान्यता है कि सभी अर्थ सापेक्षिक और अल्पकालिक होते हैं। 'विखण्डन' शब्दों के अर्थ को समझने का एक उपागम या एक विधि है जिसमें शब्दों को अन्य शब्दों के साथ जोडकर अर्थ निकाला जाता है। इसमें शब्दों को किसी घटना वि .ष के साथ नहीं जोड़ा जाता अर्थात जिसके बारे में हम सोचते हैं कि यह शब्द उक्त घटना वस्तु को परिलक्षित करता है। संकेतन (Signifier) के सदैव अनेक अर्थ होते हैं तथा पूर्ण या सत्भाषी अर्थ सदैव विरामित (Deferred) अर्थ होता है। सत्य के विविध अर्थ होते हैं जो व्यक्ति के समक्ष चयन के लिए अनेक विकल्प प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए शेक्सपीयर की Merchant of Venice कहानी का एक पाठ हैं, पाठ पढ़ने के बाद इसमें कुछ अर्थ स्पष्ट (Explicit) होते हैं, लेकिन कुछ अर्थ ऐसे होते हैं जो हमारे लिए अस्पष्ट (Implicit) होते हैं। ऐसी स्थिति में विखण्डन का पहला काम है जो अस्पष्ट है उसके अर्थ को बाहर निकालना या स्पष्ट करना। स्पष्ट करने पर जो अर्थ तर्क या कारण (Reason) की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता उसका विखण्डन करना है। इस भाँति विखण्डन की प्रक्रिया पाठ से अस्पष्ट की है। अतः देरिदा के अनुसार मूल पाठ उसके निर्देश, संकेत, अनिश्चितता आदि के सन्दर्भ में पढ़ना। ऐसा करते हुए यह देखना कि इसमें कौन से अर्थ स्पष्ट हैं और कौन से अस्पष्ट । अस्पष्ट अर्थ को निकालना और तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरने पर उसे अस्वीकार करना ही विखण्डन है। देरिदा आगे महत्वपूर्ण बात यह भी कहते हैं कि हमें स्पष्ट होने के लिए या अस्पष्ट का विखण्डन करने के लिए दूसरे मूल पाठों के साथ इस मूल पाठ का संबंध देखना चाहिये। इससे हमें पता चल जायेगा कि मूल पाठ किस तरह अस्पष्ट पाठ को हाशिये पर ले जाता है और स्पष्ट पाठ कितना अस्पष्ट और अधूरा है। इससे देरिदा यह जानना चाहते हैं कि विखण्डन के द्वारा हम किस तरह मूल पाठ को उसकी कमजोरियों के साथ देख सकते हैं। इसके संदर्भ में उनका यह मानना है कि मूल पाठ में जो सत्य होता है, उसकी काफी जांच-पड़ताल नहीं होती। लोग इसको सत्य मानकर ही चलते हैं। इसका विखण्डन होना चाहिये। हमें एक मूल पाठ की तुलना दूसरे मूल पाठ से करनी चाहिए। इससे सत्य का ज्ञान हो जायेगा। उन्होंने विखण्डन को इस सम्पूर्ण अवधारणा को व्याकरण के माध्यम से विकसित किया है। उनका कहना है कि किसी भी मूल पाठ का केवल एक ही अर्थ हो ऐसा नहीं होता। जैसे व्याकरण किसी भी मूल पाठ के लेखक से ऊपर उठकर जाती है, वैसे ही मूल पाठ का अर्थ भी बदल जाता है। इस तरह मूल का अर्थ उसका लेखक निकालता है। वह पाठक के हाथ में पहुँचते ही बदल जाता हैं । यह सब व्याकरण के शब्दों

की वजह से होता है। जिसकी देरिदा वकालत करते हैं और उन्हें कई बार वैयाकरणी (Grammatologist) भी कहा जाता है।

उत्तर आधुनिकता का सुझाव है कि पाठक और आलोचक को मूल पाठ का अध्ययन अपने व्यक्तिगत अर्थ के आधार पर करना चाहिये। इस अध्ययन में यह देखना चाहिये कि मूल पाठ में कहाँ-कहाँ असंगततता है, प्रतिवाद है और विरोध है। शब्दों का अर्थ सन्दर्भ में खोजना चाहिये। वे कहते हैं कि सत्य यानि वस्तुनिष्ठता (Obejctivity) की खोज दर्शन में नहीं आम जीवन में भी होनी चाहिये।

देरिदा की विखंडन की अवधारणा भेद (Difference) के तर्क पर आधारित है। भेद इनकी अवधारणा का मुख्य बिन्दु (Key position) है। इसमें दो अर्थ निहित होते हैं, पहला अर्थ मतभेद (Differ) होना है और दूसरा अर्थ स्थगित (Defer) करना है। अतः विखण्डन के लिए भेद अनिवार्य है। देरिदा ने भेद की अवधारणा को विखण्डन के विमर्श में रखा है। भेद को समझाते हुए देरिदा एक उदाहरण देते हैं । यदि हम आज एक पत्र डाक द्वारा डालते हैं तो वह लगभग तीन दिन में मिलता है। यह तीन दिन का समय जो पत्र की प्रतीक्षा का है, वस्तुतः डालने और प्राप्त करने का भेद या अन्तर (Difference) है। देरिदा का भेद से तात्पर्य यह है कि विखण्डन की आज जो स्थिति है वह एक मध्यवर्ती (Intermediate) स्थिति है, अन्तिम स्थिति नहीं।

देरिदा के अनुसार दर्शनशास्त्र के सन्दर्भ में भेद का अर्थ मतभेद और स्थगन दोनों से है। देरिदा भाषा की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि लिखना भाषा का एक लेखाचित्र है। इसे भाषा का ग्राफिक स्वरूप भी कहते हैं। लिखकर अपनी स्मरण शक्ति को बनाये रखा जाता है। इतना होने पर भी लिखना हमेशा वाणी (Speech) से गौण है अर्थात दूसरे स्थान पर है। मूलरूप से वाणी ध्वनिक (Phonic) अर्थात ध्वनि विज्ञान से जुड़ी हुई है। वाणी हमारे विचारों के अधिक निकट है। इसका जुड़ाव हमारे विचारों, संवेगों और मनोवृत्तियों का सत्य होना है। देरिदा भेद का अन्तर करते हुए कहते हैं कि जो कुछ लिखा जाता है उसमें अशुद्धता (Impurity) होती है । इसी कारण वह लिखावट (Text) को नकारते हैं। अपनी विखण्डन की अवधारणा को देरिदा इसी अशुद्ध और शुद्ध अर्थात् लिखावट और वाणी के अन्तर के रूप में देखते हैं । देरिदा विखण्डन के शब्दों को अन्य शब्दों के साथ जोड़कर उसका अर्थ ढूँढने को कहते हैं। वह कहते हैं कि भाषा का अर्थ किसी मूर्त वास्तविकता या सत्य में नहीं खोजा जा सकता। यह अर्थ केवल भाषा व स्वयं के सन्दर्भ में ही खोजा जा सकता है। इसकी रचना सामाजिक रूप में होती है।

5.5 सारांश

उत्तर आधुनिकता का जन्म आधुनिकतावाद की प्रक्रिया के फलस्वरूप हुआ। यह आधुनिकतावादी दृष्टि को नकारता है और सर्वप्रथम एवम् सर्वाधिक रूप में इस बात पर बल देता है कि सत्य, सौन्दर्य और नैतिकता वस्तुपरक यथार्थताएं नहीं है। इस इकाई में हमने गिडेन्स, बोर्डेयू, देरिदा के उत्तर आधुनिकतावादी विचारों पर विमर्श प्रस्तुत किया है। गिडेन्स ने उत्तर आधुनिकता के परिणामों की चर्चा करते हुए उत्तर आधुनिकता की आलोचना की है। वे कहते हैं कि आधुनिकता को परावर्तकता और उत्तर आधुनिकता को समाज के विकास के एक निश्चित स्तर या चरण के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये। बोर्डेयू उत्तर आधुनिकता को एक फैशन मात्र मानते हैं, उनकी दृष्टि में समाज विज्ञान ज्ञान का एक उद्यम है। समाजशास्त्र जैसा समाज विज्ञान बुद्धि संगतता के माध्यम से सामाजिक यर्थाथता को समझ सकता है। देरिदा उत्तर-आधुनिकता के सन्दर्भ में ज्ञान मीमांसा की चर्चा करते हैं। वह

कहते हैं कि ज्ञान की मीमांसा विशुद्ध रूप में होनी चाहिए और यह विशुद्धता विखण्डता के द्वारा प्राप्त की जानी चाहिए।

5.6 बोध प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

प्र.1 गिडेन्स के उत्तर-आधुनिकता का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

प्र.2 बोर्डेयू के उत्तर आधुनिकता संबंधी विमर्श की समीक्षा कीजिए।

प्र.3 देरिदा के उत्तर आधुनिकता संबंधी विमर्श पर एक लेख लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र.1 गिडेन्स अपने आधुनिक समाजों के विश्लेषण में किसकी चर्चा को शामिल करते हैं?

(अ) होमो सेक्सबिलिटी (ब) प्लास्टिक सेक्सेबिलिटी

(स) लेसबियन (द) हांईपर सेक्सबिलिटी

प्र.2 गिडेन्स आधुनिक समाज को किस प्रकार का समाज बनाना चाहते हैं?

(अ) पारदर्शी समाज (ब) आत्म निर्भर समाज

(स) निर्भर समाज (द) रिफ्लेक्सिव (परावर्ती समाज)

प्र.3 निम्नलिखित में से किस पुस्तक के रचयिता गिडेन्स हैं?

(अ) Consequences of Modernity (ब) Post Modernity

(स) Late Modernity (द) After Modernity

प्र.4 बोर्डेयू की प्रसिद्ध पुस्तक कौन सी है?

(अ) Language and Symbolic Power

(ब) Symbolic Interaction (स) Nation-State and Violence

(द) The Knowledge and Power

प्र.5 बोर्डेयू के अनुसार समाज़ का स्वरूप किस प्रकार का है?

(अ) सरल (ब) खण्डात्मक (स) विशिष्ट (द) समग्र

प्र.6 बोर्डेयू अपने सांस्कृतिक पूंजी के सिद्धान्त में ---- की चर्चा करते हैं।

(अ) हेविटस (ब) पूंजी (स) तकनीकी (द) श्रम

प्र.7 देरिदा का उत्तर आधुनिकता संबंधी विश्लेषण निम्न में से किस अवधारणा पर आधारित है?

(अ) लॉजिक आफ प्रैक्टिस (ब) वर्ग संस्कृति

(स) डिकंस्ट्रक्शनिज्म (द) सांस्कृतिक संरचनावाद

प्र.8 देरिदा विखण्डन को समझने के लिए निम्न में से किस को आवश्यक मानते हैं?

(अ) मूल पाठों का आलोचनात्मक अध्ययन (ब) सांस्कृतिक पहंचान

(स) तकनीकी पहलू (द) संरचनात्मक पहलू

5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र. 1 (ब) प्र.2 (द) प्र.3 (अ) प्र.4 (अ) प्र.5 (ब)

प्र.6 (अ) प्र.7 (स) प्र.8 (अ)।